भगवद्गीता और महात्मा गाँधी
के
समाज-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन

दर्शनशास्त्र में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की

डी० फिल्० उपाधि

हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

पर्यवेक्षक
डॉ० नरेन्द्र सिंह
रीडर

शोधिका
नीलम सिंह
आई०सी०पी०आर०-जे०आर०एफ०

दर्शनशास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

२००२

समर्पित श्रद्धांजलि

'पिता'

की

प्रेरणामयी

वंदनीय स्मृतियों को !

प्राक्कथन

भारतीय दर्शन हमारी राष्ट्रीय संस्कृति की आत्मावगति है। यह भारत को मात्र एक भूखण्ड या एक भौगोलिक इकाई ही नही, बल्कि मनुष्य की मनुष्यता के अभिषेक रूपेण उसकी दृष्टि में चराचर सृष्टि की पारस्परिकता और प्रशांत समरसता की अभिलाषा एवं परिभाषा के कलेवर में प्रतिष्ठापित करता है। भारतीयता का अर्थ है- पुरातन से अद्यतन का सभ्यतामूलक अनुभव, धरती और आकाश के संधिरेखीय चेतना-क्षितिज पर नवनूतन आविष्कार, चिन्तन में ईश्वरीय आस्था और कर्म में सकरूण संवेदन तथा निष्ठा।

भारतीयता के इस अर्थ के प्रकाशपुन्ज स्वरूप भगवद्गीता और महात्मा गाँधी दो प्राचीन और अर्वाचीन मील के पत्थर है। जहाँ एक ओर गीता उपनिषदों एवं ब्रह्मसूत्रों के साथ सर्वाधिक महत्वपूर्ण 'प्रस्थानत्रयी' का भाग बन शताब्दियों से मानव को उसकी दृष्टि अंधकारमय हो जाने और सम्यक् कर्म-विकल्प चुनते समय स्वयं को द्वंद्व में पाने पर इस दुविधा का प्रतिनिधित्व करती हुई उसका निदान भी उत्प्रेरित करती आयी है; वही दूसरी ओर गाँधी का पदार्पण भी तब हुआ जब भारतीय समाज अध्यात्म तथा उसकी महान सांस्कृतिक विरासत के समस्त दावों के कहीं एक सघन संशय मे था कि भारतीय सभ्यता का उत्कृष्ट तत्व सर्वदा के लिये मिट चुका है। यह जड़ता की वह स्थिति थी जिसमे तत्कालीन समाज ग्रसित था। १९वी शती के अंत में भारतीय आत्मा को पाश्चात्य सभ्यता के सम्मुख परिभाषित करने एवं सांस्कृतिक आध्यात्मिक चेतना के स्तर पर समृद्ध बनाने का महती कार्य गाँधी ने किया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध भगवद्गीता और महात्मा गाँधी के समाज-दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन करने का एक उपक्रम है। समाज-दर्शन समाज, उसकी संस्थाओं और समस्याओं की दार्शनिक गवेषणात्मक अभिव्यक्ति है। सामाजिक आदर्शों की अपनी एक ऐतिहासिक घटनाओं से प्रभावित पृष्ठभूमि होती है, जिसके अंतर्गत वर्तमान विचारधारा अपने पूर्ववर्ती विचारपद्धति से सम्बद्ध होती है।

गाँधीवादी समाज-दर्शन मूलत: अपनी पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि गीता में निहित है। गीता से गाँधी की तुलना में उस मूल स्रोत का अन्वेषण समाविष्ट हैं जिसे गाँधी ने अपने युग के नये संदर्भों मे समझा, व्याख्यायित तथा व्यावहारिक रूप में कार्योजित किया। यह तुलनात्मक अध्ययन हिन्दू दर्शन के सजीव पर्यावरण में किया गया है, जो मात्र एक बौद्धिक उपक्रम न होकर, एक समग्र जीवन जीने की प्रक्रिया है, जिसमें जीवन तथा दर्शन एक दूसरे के परस्पर समानान्तर एवं समाहारी हैं। चूँकि इस 'हिंदू पर्यावरण' का प्रभाव दोनों पर ही दृष्टिगोचर है, अत: तुलना के संदर्भ में इसका विवेचन समीचीन मान कर चला गया है।

समाज के दार्शनिक विवेचन के सन्दर्भ में तुलनात्मक अभिगम (एप्रोच) का श्रेष्ठतम गन्तव्य दार्शनिक स्वज्ञान प्राप्ति रहा है, जिसके माध्यम से समग्र वैयक्तिक प्रवृद्धता और सामाजिक परिपक्वता सम्बद्ध हो सके, जो समाज में सहचरी सक्रिय तथा प्रज्ञावान सामुदायिकता सुनिश्चित कर सके। तुलनात्मक अध्ययन प्रविधि में तुलना स्थान के आर-पार ही नहीं, अपितु काल के आर-पार भी की जाती है। प्रस्तुत शोध का विषय ऐसी ही ऐतिहासिक तुलना पर केन्द्रित है। गीता और गाँधी दोनों

के समाज-दर्शन के तुलनात्मक अध्ययन का तात्पर्य एक प्रकार की सामाजिक क्रिया या उसी क्रिया के समान या उससे भिन्न सामाजिक क्रियाओं से तुलना कर, उनको क्रियाशील करने वाले कारको का विश्लेषण कर बोधगम्य करने हेतु समूचे सामाजिक आचरण के एक या अधिक प्रामाणिक सामान्यीकरणों को निर्मित करने का प्रयास करना है। इस प्रकार का अध्ययन विभिन्न स्तरों पर होने वाले विभिन्न घटनाचक्रों का अभिज्ञान भी कराता है।

समाज-दर्शन के प्राथमिक प्रश्नों जैसे- संगठित जीवन का स्वरूप क्या है? समाज का वास्तविक अर्थ क्या होता है? इत्यादि के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत शोध के प्रत्ययात्मक आधार को स्पष्टीकृत करना अभीष्ट माना गया है। चूँकि समाज मानवों के आपसी सम्बन्धों का वह निश्चित परिक्षेत्र है, जोकि मानवीय क्रियाओं से उत्पन्न होता है, इसीलिए मानव अस्तित्व तथा समाज के मध्य संबंध की व्याख्या अनिवार्य है। व्यापक परिमाण पर इस सामाजिक प्रक्रिया को निर्देशित करने वाले 'सामाजिक मूल्य' व्यक्ति के साहचर्य जीवन के आधार होते हैं। सैद्धांतिक रूप से, प्रस्तुत शोध में व्यक्ति तथा समाज के सह-अस्तित्ववादी मूल्यों को सम्मिलित करते हुए सामाजिक व्यवस्था के तीन पहलुओं- संस्थायीकरण (institutionalisation), शक्ति-समीकरण (power-equation), एवं प्राधिकारिक वैधता (authoritative legitimacy)–को गीता और गाँधी के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त, समाज-दर्शन के अन्य तात्विक बिन्दुओ जैसे सामाजिक संविदा, वैयक्तिक अधिकार, सामाजिक दायित्व तथा न्याय-आदर्श आदि का समावेश किया गया है, जिससे गीता के कर्म, स्वधर्म, वर्णाश्रम, लोकसंग्रह तथा सामाजिक-राजनीतिक विचारों का गाँधी की कर्म, वर्णाश्रम, सर्वोदय, ट्रस्टीशिप, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक समानता आदि विचारों से सही अर्थों में तुलना सम्भव हो सके।

उपरोक्तोल्लिखित प्रत्ययात्मक आधार पर कतिपय प्रश्न अवश्यंभावी रूप से निर्मित होते हैं। इन शोध-प्रश्नों के द्वारा शोध विषय के विविध उपांगों को नियोजित करते हुए सामाजिक संस्थाओं की न्यायोचित मान्यताओं, अनेक सारभूत एवं महत्वपूर्ण तात्विक संकल्पनाओं और उनके अंतर-संबंध का प्रारम्भिक परीक्षण कर विशद विवेचना का अभिविन्यास हुआ है।

इस क्रम में, प्रथम शोध-प्रश्न, सामाजिक साहचर्य जीवन की प्रकृति को बोध ग्राह्य करने का प्रयत्न करता है। मानव प्रकृति के विविधायाम- रीतियाँ (पद्धतियॉ), आवश्यकताएँ और स्वतन्त्रता - ये सभी सामाजिक ढाँचें से सापेक्षीय संलग्नता में अवस्थित होते हैं। शोध का मूल प्रश्न मानव और समाज के सहअस्तित्विक सम्बंध के स्वरूप को लेकर है।

दूसरा तर्कसंगत प्रश्न है कि साहचर्य जीवन के वे साहचर्य मूल्य क्या हैं, जिनकी ओर सामाजिक प्रक्रिया अग्रसर होती है और जो स्पष्टीकरण तथा स्वऔचित्यता की अपेक्षा करते हैं।

तीसरे, सामाजिक संस्थाओं में निहित शक्ति-समीकरण और उनकी प्राधिकारिक वैधता का प्रश्न उठता है, जिसके अधीन सामाजिक प्रक्रिया के माध्यमों को नियमन के साथ-साथ उद्देश्यों (मूल्यों) के मापदंडों पर आंका जाएगा।

अगले प्रश्न में सामाजिक नियंत्रण को सामुदायिक आचार संहिता और मूल वैयक्तिक अधिकारों के दायरे मे समझना होगा। सामाजिक कानून, संस्थाओं की सहायता से सामाजिक नियमन का एक अभिकर्ता है, परन्तु वो प्रत्येक व्यक्ति पर कुछ शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्रदान करता है। इस सन्दर्भ में तुलनात्मक अध्ययन के अंतर्गत सामाजिक विधि की प्रकृति और

उसके द्वारा प्रदत्त अधिकारों का अध्ययन होगा।

पाँचवे, सामाजिक दायित्व का प्रश्न–न्यायोचित युक्तियों मे पूर्ववर्ती कारक जैसे साहचर्य समाज के प्रति, समाज और राज्य के प्रति दायित्व बोध वाले मुद्दों को उठाता है। इन दायित्वों की प्रकृति क्या है? उनकी सीमाएँ क्या है? क्या परिस्थितियॉ है जिनके अधीन इनका विघटन संभव है? सामाजिक परिवर्तन की दिशा एवं दशा क्या होगी?

अंतिम प्रश्न आधारभूत स्वत:स्फूर्त आदर्श की संकल्पना की व्याख्या करता है जिसकी संज्ञा 'सामाजिक न्याय' है।

इस शोध का अर्थ–मेरे लिए–भारतीय चिंतनधारा के दो अद्वितीय स्तम्भ–भगवद्गीता एवं महात्मा गाँधी–के रहस्यों और उनसे जुड़े प्रश्नों को सुलझाना उतना नहीं, जितना नई परिप्रेक्ष्यात्मक पारिस्थितिकी मे उद्घाटित होते अप्रत्याशित पक्षो के वृहद सन्दर्भ में उन पर पुनर्विचार करते हुए उनका नये सिरे से सामना करना है। शोध विद्या एक प्रकार का चक्रव्यूह है, जहाँ संशय और आस्था हर अँधेरे कोने, हर अप्रत्याशित मोड़ पर एक-दूसरे के सामने क्षत-विक्षत, लहूलुहान खड़े दिखाई देते हैं। वहाँ यदि 'सिनिसिज़्म' के लिए स्थान नहीं है, तो परम विश्वासों की गुंजाइश भी नहीं है।

अमरीकी कवि वाल्ट व्हिटमैन ने प्रतीकात्मक-सांकेतिक भाषा मे अमरीका के आत्मकथ्य के रूप मे कहा था कि मैं विराट् हूँ और इसलिए आत्मविरोध मुझमें सहज ही आत्मसात् है। कहना न होगा कि भारत जैसी विराट् सभ्यता और भारत जैसा प्राचीन, विशाल और बहुआयामी देश, और फिर हमारे समय जैसा उलझनों और आत्मविरोधों से भरा हुआ समय, इन दोनों के संगम में विरोधाभास स्वाभाविक है। लेकिन मुझे लगता है जैसे किसी जादुई खेल से आज इक्कीसवीं शती के प्रारम्भ तक पहुँचते-पहुँचते हमारा देश वहीं पहुँच गया है, जहाँ से उसकी यात्रा शुरू हुई थी; अंतर इतना ही है–और वह बड़ा अंतर है–कि जहाँ पहले पके हुए विश्वास थे, वहाँ अब संदेह के कॉटे दिखाई देने लगे हैं, जहॉ पहले अपने को पाने का सपना था, वहाँ आज सब-कुछ खो जाने की पीड़ा है। इतिहास के गर्त से पाँच हजार वर्ष पुरातन महायात्रा के पद-चिह्न यत्र-तत्र विलुप्त हो गये थे, मिट गये थे। आँखों से ओझल हो गये थे, विवेकानंद, गाँधी, श्री अरविंद आदि मनीषियों ने बीच के समस्त झाड़-झंखाड़ हटाकर उसे दुबारा से एक पवित्र और प्रशस्त मार्ग में परिणत किया था। यह वह हमारी सभ्यता का खोया हुआ रास्ता था, जिसने पहली बार पूरे आत्मविश्वास के साथ पश्चिम की आधुनिक सभ्यता के सम्मुख एक नितांत अनूठा, मानवदर्शी (मानव-केंद्रित नहीं) विकल्प उपस्थित किया था। इस रास्ते पर चलकर हमने अपनी भूली हुई पहचान, अपने चेहरे, अपने 'निज' को पहचाना था।

स्वतन्त्रता पाने के पचास वर्ष पूर्व जिस भारतीय सांस्कृतिक जागरण की शुरूआत हुई थी, क्या आज–पचास वर्ष बाद–हम उस नवोन्मेष की कोई छाप अपने में देख पाते हैं? हमारे पूर्वजों ने 'आत्म-बोध' का जो अनमोल रत्न हमारे हाथो में सौंपा था, क्या हमने उसे कंकर समझकर दुबारा मिट्टी में नहीं मिला दिया? हमने अपने को कैसा बना दिया? क्या यह वह 'छवि' है जिसे हमने बीसवीं शती के प्रारंभ में पुन: स्मृत किया था और अब भुला दिया है? उस सभ्यता का क्या होता है जो जीवित रहते हुए भी आत्म-विस्मृत हो जाती है?

ये प्रश्न जब भावात्मक पीड़ा और कुहासे से फूटकर बाहर तर्क के आलोक में आते है तब भाषा, परंपरा, धर्म जैसी

अवधारणाएँ सिर्फ बौद्धिक विलास के खेल न रहकर एक सभ्यता को जीवित रहने की शर्त, मूल प्रतिज्ञा बन जाते हैं। हम पुनः उन प्रत्ययों की खोजबीन करते हैं जो एक समय में हमारी जातीय अस्मिता के चिह्न, संस्कृति के प्रतीक और सभ्यता के स्मृति-संकेत थे। यदि मैं इस शोध में पुनः उन प्रत्ययों और प्रश्नों की ओर लौटने के लिए प्रेरित हुई हूँ, तो इसलिए कि वे भारतीय सभ्यता के केंद्रीय-भाव थे, जिनसे आज हम छिटककर इतनी दूर चले गए हैं। रास्ता तलाशने की शुरूआत उस जगह से शुरू होनी चाहिए, जहाँ हम अपनी राह से भटक गए थे।

इतनी बड़ी पृष्ठभूमि मेरी अपनी कोई बिसात भी नहीं है, न मुझे इस विषय में कोई आत्मप्रवंचना है, और समय के लाखों-करोड़ों चश्मदीद गवाहों में एक गवाह की गवाही का कोई असर इतिहास के निर्माताओं पर पड़े न पड़े, उस गवाह को अपनी बात कहने का हक़ तो बनता है। लेखक और गवाह ईमानदारी से केवल इतना ही कह सकते है कि हम अपनी समझ में, अपनी सीमित समझ के दायरे में सच्चाई बयान करने की कोशिश कर रहे हैं। इस शोध में प्रस्तुत सामग्री के विषय में मेरा दावा बस इतना ही है कि मैंने अपना सच बयान करने की विनीत चेष्टा की है। समय के साथ हमारे संवाद में यदि हम समय के सच को समझ सकें और हमारी समझ से पाये हुए और हमारी अंतरात्मा में अनुभव हुए सच को अभिव्यक्ति दे सकें तो हम शायद कह सकते हैं कि समय के साथ हमारा संवाद सार्थक हुआ।

प्रस्तुत शोध के दौरान अनेक गणमान्य व्यक्तियों और संस्थाओं का सहयोग निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण रहा है, जिसकी आदरणीय स्वीकृति मेरे लिए अनिवार्य नैतिक कर्तव्य है। सर्वप्रथम तथा सर्वोपरि, अंतरतम पूज्यनीय कृतज्ञता के साथ मैं अपने शोध निर्देशक - डॉ० नरेन्द्र सिंह के स्फूर्तिमय निर्देशन, अमूल्य समालोचनात्मक टिप्पणी, प्रबुद्ध परामर्श एवं निरन्तर सृजनात्मक प्रोत्साहन को नमन करती हूँ, जिन्होंने मेरे इस अध्ययन के स्पष्टीकरण और परिमार्जन में अत्यंत सहायता की है।

भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद (I.C.P.R.), नई दिल्ली के तत्वाधान में कनिष्ठ शोध वृत्ति (J.R.F.) योजना, २०००-०२ के अधीन किया गया मेरा यह शोध इस संस्थान के पदाधिकारियों और कर्मचारियों के समयबद्ध रचनात्मक सहयोग का भी आभारी है।

मैं अपने दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के समस्त गुरुजनों की आभारी हूँ जिन्होंने मेरे बौद्धिक-आधार का निर्माण किया है। प्रस्तुत शोध के विभिन्न पहलुओं पर परिचर्चा तथा अपनी टिप्पणी और प्रतिक्रियाओं के द्वारा उदार अपरिहार्य सहायता के लिए मै गाँधीवादी विचारक डॉ० रामजी सिंह, पूर्व सांसद, पूर्व निदेशक, गाँधी विद्या संस्थान, भीखनपुर, भागलपुर (बिहार); डॉ० राम लाल सिंह, भूतपूर्व प्रोफेसर, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डॉ० राकेश चन्द्रा, रीडर, दर्शनशास्त्र विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय; प्रो० राजेन्द्र प्रसाद, दर्शनशास्त्र विभाग, उत्कल विश्वविद्यालय, भुवनेश्वर; डॉ० अरविन्द शर्मा, मैकगिल विश्वविद्यालय, मान्ट्रियल (कनाडा), प्रो० गंगाधर, अध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, बी.एच.यू., वाराणसी, प्रो० रामाश्रय रॉय, गाँधीवादी विचारक कृष्णराज मेहता एवं रामचन्द्र राही, साधना केन्द्र, राजघाट, वाराणसी, डॉ० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० बनवारी लाल शर्मा, निदेशक, गाँधी शांति अध्ययन संस्थान, गाँधीभवन, इलाहाबाद, और डॉ० भानु प्रताप सिंह, दर्शनशास्त्र विभाग, जे.एन.यू., नई दिल्ली की विशेष रूप से ऋणी हूँ।

अपने शोध-सम्बंधी सन्दर्भ-प्रलेखो और अन्य सामग्री की खोज में सहायता प्रदान करने के लिए मैं भारतीय दार्शनिक अनुसंधान परिषद् पुस्तकालय, लखनऊ; गाँधी मेमोरियल पुस्तकालय, राजघाट, लाल बहादुर शास्त्री संस्कृत विश्वविद्यालय पुस्तकालय, तीनमूर्ति फाउंडेशन पुस्तकालय, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय पुस्तकालय, नई दिल्ली; सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय पुस्तकालय, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय पुस्तकालय, गाँधी अध्ययन संस्थान पुस्तकालय, राजघाट, ज्ञान-प्रवाह : सेंटर फॉर कल्चरल स्टडीज़, गाँधी अध्ययन संस्थान : काशी विद्यापीठ, वाराणसी; इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, गाँधी भवन शांति अध्ययन एवं शिक्षा संस्थान, इलाहाबाद संग्रहालय पुस्तकालय; हिन्दी साहित्य सम्मेलन पुस्तकालय तथा उत्तर प्रदेश केन्द्रीय राजकीय पुस्तकालय, इलाहाबाद के पुस्तकालयाध्यक्षों, कनिष्ठ अधिकारियों तथा समस्त कर्मचारियों को धन्यवाद देती हूँ।

विगत वर्षों में, भारतीय दर्शन पर संवाद और परिचर्चाओं के माध्यम से ज्ञानार्जन सुलभ कराने के लिए मैं अपने उन सहपाठियों और मित्रों को भी यहाँ याद करती हूँ, जो सीधे तौर पर इस अध्ययन में शामिल न होते हुए भी परोक्ष रूप से निरन्तर उत्प्रेरित करते रहे। ये हैं–मंजूश्री श्रीवास्तव, आराधना मिश्रा, मंजू त्रिपाठी एवं प्रीति मुखर्जी इत्यादि।

अंत में, कुछ व्यक्तिगत धन्यवाद। हमेशा की तरह, मेरे स्व० पिता डॉ० प्रेम नारायण सिंह (वनस्पति विज्ञान विभाग, इ.वि.वि.) जो मेरे प्रत्येक कार्य की प्रेरणास्रोत रहे, माँ, भाई, बहनो का अगाध स्नेह, अतुलनीय है। साथ ही, मुझे अपने ससुराल पक्ष का भी निरन्तर सहयोग मिला, जिनमें विशेष रूप से नानी जी, मौसी, मौसाजी श्री राणा प्रताप (रजिस्ट्रार, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी) तथा अम्मा जिन्होंने मुझे पारिवारिक दायित्वों से मुक्त रखकर मुझे मेरे अध्ययन के लिये समुचित समय, प्रोत्साहन और सहयोग दिया। मेरे पति डॉ० योगेन्द्र चन्द्र सिंह (प्रवक्ता, राजनीति शास्त्र) के सक्रिय रचनात्मक सहयोग के बिना यह दुष्कर कार्य संभव नहीं था। उन्होंने मेरे शोधाध्ययन में न सिर्फ सहयोग बल्कि परामर्श, परिचर्चा आदि के द्वारा विषय के स्पष्टीकरण में भी सहायता दी। उनके मित्रों में डॉ० प्रदीप शर्मा एवं डॉ० शम्भु दत्त पांडे की भी आभारी हूँ। मैं अपने बेटे ईशान के प्रति भी क्षमाप्रार्थी हूँ जिसके एकाधिकृत शैशवकाल को मुझे शोधाध्ययन मे अपरिहार्य कारणवश प्रयुक्त करना पड़ा। इस शोध प्रबन्ध के टंकण एवं मुद्रण के श्रमसाध्य कार्य के लिये श्री सुदेश श्रीवास्तव (सेन्चुरी कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स, अल्लापुर, इलाहाबाद) को धन्यवाद।

नीलम सिंह

इलाहाबाद २००२

(नीलम सिंह)

दर्शनशास्त्र विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि और परिचय

भारतीय चिन्तन मे *'दर्शन'* धर्म और नीति से सम्बद्ध है जो उसके सामाजिक सन्दर्भ को स्पष्ट करता है। *'दर्शन'* यहाँ मात्र बौद्धिक विलास नहीं, वह अनुभूत्यात्मक एवं व्यावहारिक है। इसका अर्थ यह नहीं कि यहाँ ज्ञानमीमांसा तथा तत्वमीमांसा की अवहेलना की गई है, बल्कि वे भी सम्यक् जीवन के निर्माण और सामाजिक व्यवहार की शुद्धि के उपकरण हैं। सामाजिक जीवन और उसकी प्रणाली के शास्त्रीय विवेचन में भारतीय मानस सर्वप्रथम मानवीय अस्तित्व और उसकी चरम गति सम्बन्धी अनिवार्य तत्वमीमांसीय प्रश्नों को उठाता है तथा इन्हीं प्रश्नों के आधार पर संसार की विभिन्न घटनाओं, अन्य मनुष्यों तथा वस्तुओं के साथ उसके सम्बन्धों के स्वरूप को गढ़ने और परिभाषित करने का प्रयास करता है।

भारतीय समाज मानव अस्तित्व और चरम गति के तात्विक आधार के रूप में कतिपय सर्वमान्य तथ्यों को स्वीकार करता है। *'पुरुष सूक्त'* में इन्हें *'प्रथम धर्म'* कहा गया है। इसके तीन प्रमुख पक्ष हैं : *प्रथम*–सम्पूर्ण जीवन अखण्ड है और एक है, *द्वितीय,* जीवन निरन्तर प्रवाहित हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि जीवन का अर्थ अतीत और भविष्य के अगणित जन्मों की श्रृंखला की एक कड़ी के रूप में ही समझा जा सकता है, चाहें वह उस शृंखला की अंतिम कड़ी ही क्यों न हो। वर्तमान जीवन तो अतीत के जन्मों से भावी जन्म की ओर अग्रसर होने की एक संधि अवस्था मात्र है जो तब तक चलती रहती है, जब तक *'मोक्ष'* वर्तमान जीवन में प्राप्त न हो जाय। *तीसरा* पक्ष है कि सम्पूर्ण स्थितियाँ, सारे के सारे स्थायी भाव, सम्पूर्ण तत्व जहाॅ ठहरे हुए हैं, वहाँ से विस्थापित होकर जो कुछ भी होना चाहते हैं, वह होने की प्रक्रिया एक है, उसी एक के कारण सब एक दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं, एक दूसरे से जुड़े हुए सबसे जुड़ने लगते है। श्रीमद्भगवद्गीता मे इसी को *'सात्विक ज्ञान'* कहा गया है– *''समस्त भूतों में (सत्ताओं में) एक न चुकने वाला, एक निरन्तर अनथक होने की प्रक्रिया देखता है और यह देखते हुए भी यह भी देखता है कि पदार्थ और प्राणी अलग-अलग बॅटे दिखते हैं, पर उनमें कोई एक हैं जो अविभक्त दिखता है, किसी में कम या किसी में अधिक ऐसा नहीं सबमें बराबर बँटा, ऐसा भी नहीं। सबमें समूचा दिखता है, वही सात्विक ज्ञान है।''*[१] इस प्रकार भारतीय दृष्टि में *'स्रष्टा'* या *'ब्रह्म'* के साथ मनुष्य के सम्बन्धों का जो स्वरूप है, वही इस बात को भी परिभाषित करता है कि अन्य मनुष्यों के साथ, या एक तरह से जड़ और चेतन सम्पूर्ण सृष्टि के साथ उसके सम्बन्धों का स्वरूप क्या हो।

भारतीय दर्शन में व्याप्त इन विचारों के सन्दर्भ में सामान्यत: यह गलत धारणा बना ली जाती है कि भारतीय विचारक जगत की मूल प्रकृति से सम्बन्धित अमूर्त आध्यात्मिक समस्याओं के चिन्तन में इतने अधिक डूबे रहे हैं कि उन्होंने सामाजिक संगठन जैसी सांसारिक एवं अधिक व्यावहारिक समस्याओं के विषय में किसी गम्भीर चिन्तन का प्रयास नहीं किया। यद्यपि इन्हीं विचारों का यदि सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाये तो स्पष्ट होता है कि भारतीय मनीषियों ने सामाजिक संगठन से सम्बन्धित समस्याओं का पर्याप्त गम्भीरता के साथ चिन्तन-मनन करते हुए अपने द्वारा कल्पित मानवीय जीवन एवं व्यवहारों के यथासम्भव उत्कृष्टतम संगठन को साकार करने के लिए सामाजिक सम्बन्धों की एक व्यवस्थित योजना या रूपरेखा को भी विकसित किया है। भारतीय मानस में यदि मानव जीवन एक ओर अखण्डित है, तो वह यह भी स्वीकार करता है कि जीवन

कुछ मूलभूत सामाजिक सिद्धान्तों और मूल्यों के द्वारा सुसम्बद्धता से संचालित होता है। समस्त भारतीय विचार-परम्परा में जहाँ मानव जीवन के चार पुरुषार्थ–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्वीकृत है, वहीं उन्हें आश्रमों के माध्यम से समाज के सन्दर्भ में मानव के जीवन-व्यापार के निर्धारण, नियमन, व्यवस्थापन और संचालन की बात को सृष्टि में रखकर गढ़ा गया है। सामान्यतया किसी भी समाज के ऋषि, मनीषी, पैगम्बर या समाज सुधारक ऐसे जीवन-पद्धति के अन्वेषण में प्रयत्नशील होते हैं, जिससे मानव का लोक-व्यवहार सम्यक् हो सके।

भारतीय सामाजिक चिन्तनधारा प्राचीन काल से ही समग्रता के जीवन-दर्शन पर आधारित रही है। इसमें *'लौकिकता' (सामाजिक जगत)* और *'पारलौकिकता' (लोकोत्तर)* की अवधारणा परम्परया निहित है। यहाँ *'लोक' (समाज)* का विस्तृत अर्थ–इसमें रहने वाले मनुष्य, अन्य प्राणी, स्थावर संसार के पदार्थ तथा उनमें स्थित सम्बन्ध–से द्योतित होता है। *'समाज'* समस्त जीवन-कर्मो का आश्रय-स्थल है। अदृश्य कर्म-विपाक के आधार पर उपरोक्त अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में कर्म, जन्म एवं पुनर्जन्म की विशद व्याख्या यहाँ देखने को मिलती है, किन्तु अधिकार का दावा प्रस्तुत नहीं है। इसका अर्थ समाज की अवहेलना कदापि नहीं है, क्योंकि *'लोक' (समाज)* के भीतर से ही *'लोकोत्तर'* का मार्ग निर्मित होता है। समग्रता के जीवन दर्शन पर आधारित होने के कारण यहाँ वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों को समान महत्व दिया गया है। वैयक्तिकता और सामाजिकता दोनों मानवीय *'स्व'* के अनिवार्य अंग है। मनुष्य की मनुष्यता इन दोनों का अतिक्रमण करने में है। वस्तुत: मनुष्य एक ही साथ सामाजिक और वैयक्तिक दोनों ही है।

मानव व्यक्तित्व में राग और द्वेष के तत्व अनिवार्य रूप से उपस्थित होते हैं। रागात्मकता से उसमें सामाजिकता का विकास होता है, तो द्वेष से वैयक्तिकता या स्वहित की दृष्टि विकसित होती है। वैयक्तिकता की भावना मनुष्य को स्वार्थी बनाती है तथा सामाजिकता के विकास से व्यक्ति परोपकारी होता है, किन्तु जब व्यक्ति वीत-राग या वीत-द्वेष होता है, तब वह *'अतिसामाजिक'* होता है। वीतरागता की साधना में अनिवार्यत: *'स्व'* की संकुचित सीमा को तोड़ना होता है। वे व्यक्ति जो समाज या लोकहित के लिए *'लोक' (समाज)* से स्वयं को पृथक् करके दूरगामी दृष्टि से सोचते हैं और अपने जीवन में आत्मसात करते हैं, वे ही *'अतिसामाजिक'* या *'लोकोत्तर'* होते हैं। सभी महान कालजयी विभूतियाँ जैसे–राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, गाँधी आदि इसीलिये *'लोकोत्तर'* कहलाये क्योंकि वे परम लौकिक, वीतराग, अति सामाजिक एवं स्वयं को अकिञ्चनता की अंतिम सीमा तक नि:श्व कर चुके हैं, जिनमें *'स्व'* कुछ रह नहीं गया है और जो केवल *'पर'* और *'परात्पर'* हो गये हैं–अर्थात् लोक-सत्ता के भाव मे अन्त:रूपान्तरित हो गये। कहने का तात्पर्य यह है कि उनका व्यवहार ही अन्तत: उस सामाजिक व्यवहार का द्योतक है, जो किसी समन्वित और सुसम्बद्ध जीवन मूल्य और नियम को इंगित करता है।

भारतीय मनीषी सामाजिक संगठन की रूपरेखा निर्धारित करते समय मनुष्य से एक सामाजिक इकाई के रूप में सर्वोत्कृष्ट ढंग से काम करने की अपेक्षा करते हैं। उनके अनुसार मानव जीवन एक शिक्षण और आत्म-अनुशासन का जीवन है इसलिए सामाजिक संगठन के निर्धारण में; मनुष्य की प्राकृतिक क्षमता, गुण, प्रवृत्ति के स्वरूप तथा उसके उचित प्रशिक्षण और विकास–इन दो अनिवार्य पक्षों पर ध्यान दिया गया है। भारतीय परम्परा में *'वर्ण'* और *'आश्रम'* की दोनों व्यवस्थाएँ, जिनका सम्बन्ध संक्षिप्त रूप में क्रमश: मानव की मूल-प्रकृति तथा उसके विकास से है, प्राचीन भारतीय सामाजिक संगठन की

सिद्धान्त-रचना की मूलभूत इकाईयाँ हैं। *'वर्ण'* और *'आश्रम'* की दोनों व्यवस्थाएँ, मानव जीवन और उसके क्रिया-कलापों के विषय मे एक विशेष प्रकार के *'समाज-दर्शन'* को अथवा एक मूलभूत या सुनिश्चित दृष्टिकोण को प्रदर्शित करती हैं।

भारतीय समाज में स्थित जीवन-दर्शन के मूलभूत दृष्टिकोण सतत विकास की परम्परा के द्योतक हैं। यहाँ चिन्तन षड्दर्शनों से अलग हटकर भी हुए हैं जिसमें सामाजिक संदर्भ उपस्थित है। सामाजिक चेतना का विकास भारतीय चिन्तन में शनैः-शनैः परिलक्षित होता है। सामाजिक चेतना की पृष्ठभूमि वैदिक काल से ही प्रारम्भ दिखती है, इस युग में जनमानस में सामाजिक चेतना को जागृत करने का प्रयत्न किया गया है जबकि इसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि औपनिषदिक युग में प्रस्तुत है।

खण्ड (क) भगवद्गीता

(अ) बौद्धिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि

गीता के पूर्व आर्यसभ्यता का फैलाव और उसके बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्वरूप का निर्धारण, निरूपण और रूपांकन एक हद तक हो चुका था। आर्य-धर्म की अवधारणाओं का मूल स्रोत वेद में उपस्थित था। इसके अतिरिक्त ज्ञान और विद्या की अनेक विधाएं उपनिषद्, योगशास्त्र, सांख्यशास्त्र, ब्रह्मसूत्र और स्मृतियों के रूप में गीता से पूर्व अस्तित्व में थी। इस तरह जीवन और जगत की समस्याओं को समझने तथा सुलझाने के साथ ही इनमें सामाजिक संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ भी मिलते हैं।

(i) वेद

भारतीय चिन्तन की प्रवर्तक वैदिक-धारा में सामाजिकता का तत्व उसके प्रारम्भिक काल से ही उपस्थित है। वेदों में सामाजिक जीवन की संकल्पना के व्यापक सन्दर्भ हैं। यहाँ सहयोगपूर्ण सामाजिक जीवन के लिये ही वैदिक ऋषि प्रार्थना करते हुए कहते हैं– *'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्'* अर्थात् हम साथ-साथ मिलकर चलें, मिलकर बोलें, हमारे मन साथ-साथ विचार करें– कहने का तात्पर्य है हमारे जीवन-व्यवहार में सहयोग, वाणी में समस्वरता और विचारों में समानता हो।[२] इस प्रकार के विचार निःसन्देह एक सुसंस्कृत सामाजिक जीवन और समाज-निष्ठा का निरूपण करते हैं। आगे, पुनः *ऋग्वेद* में कहा गया– *'आप सबके निर्णय समान हों, आप सब की सभा भी सबके लिये समान हो अर्थात् सबके प्रति समान व्यवहार करे। आपका मन भी समान हो और आपकी चित्तवृत्ति भी समान हो, आपका मन एक रूप हो, आपके संकल्प एक हों, आपके हृदय एक हो ताकि आप मिलजुल कर अच्छी तरह से कार्य कर सकें।'*[३] वैदिक समाज-दर्शन का आदर्श था– *'शत हस्तः समाहर, सहस्रहस्तः सीकर'* अर्थात् सैकड़ों हाथों से एकत्र करो और हजार हाथों से बाँटो। इसमें बाँटने से तात्पर्य सामाजिक दायित्व का बोध है, न कि दया या कृपा का। इस प्रकार वैदिक युग सहयोग एवं सहजीवन के संकल्प हेतु समाज में *'ऋत्'* की अवधारणा स्वीकार करता है। *'ऋत्'* समाज में नैतिक पक्ष को उजागर करता है तथा अव्यवस्था, अधर्म और अन्याय के विरुद्ध है। वेदों में *'ऋत्'* सत्य का असत्य, ज्ञान का अज्ञान, व्यवस्था का अव्यवस्था पर विजय का प्रतीक है।

वैदिक मानव की मूल खोज सत्य, प्रकाश और अमृत तत्व की थी। इनकी मान्यता थी कि सत्य ही समाज को धारण करता है। जैसा कि *ऋग्वेद* में कहा गया है– *'सत्येनोत्तभिता भूमि'*। इस सत्य, प्रकाश और अमृततत्व तक पहुँचना ऋत्पथ

से सम्भव था। इन पथों को तय करने के लिये कालान्तर में विभिन्न यज्ञों और तपों का प्रावधान किया गया, जिनका विवेचन ब्राह्मण ग्रन्थो, आरण्यक और उपनिषदों में हुआ।

(ii) ब्राह्मण

ब्राह्मण ग्रन्थों द्वारा यज्ञ की महत्ता बढ़ गई। यज्ञ लौकिक और पारलौकिक सुख के साधन हो गये, किन्तु पंच महायज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ तथा तीन ऋण-ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण–की अवधारणा में भी सामाजिक चिन्तन का भाव स्थित रहा। इनके द्वारा भी मनुष्य, सृष्टि और समाज में अटूट सम्बन्ध बनाने की कोशिश की गई। इसके अतिरिक्त इष्ट-पूर्त धर्म यानि यज्ञ और लोकोपयोगी कर्म द्वारा भी व्यष्टि और समष्टि के मध्य नजदीकी सम्बन्ध बनाने का प्रयास किया गया।

(iii) उपनिषद्

वैदिक पृष्ठभूमि वाले समाज के लिये दार्शनिक आधार का प्रस्तुतीकरण औपनिषदिक चिन्तन में हुआ। औपनिषदिक युग में ऋषि *'एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा', 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'* तथा *'ईशावस्यमिदं सर्वम्'* के रूप में एकत्व की अनुभूति करने लगा। औपनिषदिक चिन्तन में वैयक्तिकता से ऊपर उठकर सामाजिक एकता के लिए अभेद निष्ठा का सर्वोत्कृष्ट तात्विक आधार प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार वेदों की समाज-निष्ठा जहाँ बहिर्मुखी थी, वहीं उपनिषदों में अन्तर्मुखी हो गई। भारतीय दर्शन में यह अभेद निष्ठा ही सामाजिक एकत्व की चेतना एवं सामाजिक समता का आधार बनी। *ईशावस्योपनिषद्* में ऋषि कहता है– *'जो सभी प्राणियों में अपने को और सभी प्राणियों को अपने में देखता है वह अपनी एक एकात्मकता की अनुभूति के कारण किसी से घृणा नहीं करता'*। सामाजिक जीवन के विकास का आधार यही एकात्मकता की अनुभूति है और जब एकात्मकता की दृष्टि का विकास हो जाता है तो घृणा और विद्वेष के तत्व स्वत: समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार औपनिषदिक ऋषियों ने एकात्मकता की चेतना को जागृत कर सामाजिक जीवन के विनाशक घृणा एवं विद्वेष के तत्वों को समाप्त करने का प्रयास किया। इसके साथ *ईशावस्योपनिषद्* के प्रारम्भ में समष्टि को प्रधानता देने के लिये वैयक्तिक अधिकार का निरसन किया गया है, लेकिन यह वैयक्तिक अधिकार की समाप्ति नहीं अपितु सीमा है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करने की बात है क्योंकि प्रकृति में जो भी उपलब्ध है, उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अत: उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपभोग करो। सम्भवत: सामाजिक चेतना के विकास के लिये यह एक महत्वपूर्ण कथन है क्योंकि यहाँ *'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'* में समग्र सामाजिक चेतना केन्द्रित है।

(iv) सांख्य, योग एवं स्मृतिशास्त्र

गीता के पूर्व सांख्य, योग और स्मृतिशास्त्र का भी अस्तित्व था। इनमे क्रमश: वैज्ञानिकता तो थी, किन्तु ब्रह्म के स्वरूप का ठीक निरूपण नहीं हो पाया। पुनः, हठयोग के रूप में योगशास्त्र की समस्या सम्मुख थी। स्मृतियों में वर्णव्यवस्था, आश्रम-व्यवस्था तथा राजधर्म, कुलधर्म आदि बातों का उल्लेख तो रहा, किन्तु ये शास्त्र व्यवस्था-प्रधान और देशकाल बाधित होने के कारण विश्वदृष्टि के अभाव से ग्रसित रहे।

(v) महाकाव्य

गीता पूर्व दो महाकाव्य–रामायण तथा महाभारत–में भी सामाजिक जीवन मूल्यों की व्यापक चर्चा दिखाई पड़ती है। रामायण वस्तुत: राम-रावण का जातीय संघर्ष नहीं, बल्कि विपरीत जीवन मूल्यों और मान्यताओं के अन्तर-अलगाव का संघर्ष भी है। महाभारत में भी कौरव–पाण्डव युद्ध के माध्यम से नीति, अनीति, समाज, राज-व्यवस्था और पुरुषार्थों का गहन विवेचन किया गया है। महाकाव्यों में वर्णित चरित्र नायकों ने समाज में मनुष्य के लिये आदर्श, मर्यादा और नीति के मानक स्थापित किये। महाकाव्यों ने समाज-दर्शन के सन्दर्भ में मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन में विभिन्न आदर्शो और मूल्यो की स्थापना करने में अहम भूमिका निभायी। इनके फलस्वरूप अवतारवाद का बीजारोपड़ भी हुआ, लेकिन साथ ही व्यक्तिगत नैतिक जिम्मेवारी को छोड़कर भगवान-भरोसे होने, रहने की प्रवृत्ति के विकास की सम्भावना बढ़ी। इस प्रकार गीता के पूर्व वैराग्य, निवृत्तिपरक ग्रन्थों के कारण समाज में भाग्यवाद तथा संन्यासवृत्ति का प्रचलन अत्यधिक हो गया।

गीता की उपर्युक्त बौद्धिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि से स्पष्ट होता है कि भारत मे सामाजिक चेतना के बिन्दु प्रारम्भ से ही उपस्थित रहे हैं। साथ ही मत और विचारो के खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति, दुरूह दार्शनिक विवेचन, निवृत्ति या वैराग्य वृत्ति जैसे कारक भी समाज में थे। वैदिक धर्म के गूढ़ तत्वों का सूक्ष्म विवेचन भी उपनिषदों में था। चूँकि ये उपनिषद् भिन्न-भिन्न ऋषियों द्वारा भिन्न-भिन्न समय में निर्मित हुए, अत: इनमें विचारैक्यता का समावेश नहीं है। किन्तु गीता के पूर्व *'वेदान्त सूत्रों'*[६] में सब उपनिषदों की विचारैक्यता कर दी गई। वैदिक धर्म के तत्वज्ञान में फिर भी एक न्यूनता दृष्टिगोचर होती है। *लोकमान्य तिलक* का कहना है– *''उपनिषदों का ज्ञान प्राय: वैराग्यविषयक अर्थात् निवृत्तिविषयक है; और वेदान्तसूत्र तो सिर्फ उपनिषदों का मतैक्य करने के ही उद्देश्य से बनाये गये हैं। इसलिये उनमें भी वैदिक प्रवृत्ति मार्ग का विस्तृत तात्विक विवेचन कहीं भी नहीं है। प्रवृत्तिमार्ग–प्रतिपादक भगवद्गीता ने ही सर्वप्रथम वैदिक धर्म की तत्वसंबंधी इस न्यूनता की पूर्ति की।''*[७]

श्रीमद्भगवद्गीता व्यासकृत महाभारत ग्रन्थ के *'भीष्मपर्व'* का एक अंश है। पच्चीसवें अध्याय से बयालिसवें अध्याय तक गीता कही गई है। इस ग्रन्थ में सब उपनिषदों का सार आ गया है, इसी से इसका पूरा नाम *'श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषत्'* है।[८] इसमें कुल अट्ठारह अध्याय और सात सौ श्लोक है। महाभारत के गर्भ से निकली भगवद्गीता के उद्भव और विकास की प्रक्रिया विवादास्पद ही रही है। विवाद के अनेक बिन्दु हैं जैसे कि गीता मूल महाभारत का अभिन्न अंग थी या नहीं। *टालबायज़ ह्वीलर* के अनुसार कृष्ण और अर्जुन युद्ध के मैदान मे उभयपक्षीय सेनाओं की उपस्थिति में दार्शनिक विवाद मे संलग्न हो विश्वसनीय नहीं है।[९] *तेलंग* इसी प्रकार का विचार रखते हुए गीता को एक स्वतन्त्र ग्रन्थ मानते हैं, जिसे महाभारत रचनाकार ने अपने प्रयोजन के निमित्त महाभारत में सम्मिलित कर लिया है।[१०] महाभारत में गीता का उल्लेख अनेक स्थलों पर होने से इसे महाभारत का ही एक अंश मानने में कोई कठिनाई नहीं है।[११] महाभारत और गीता में भाषा शैली की समानता और विचारों की एकरूपता के आधार पर भी इनके एकत्व को स्वीकार किया जा सकता है।[१२]

गीता की रचना काल के सन्दर्भ में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। *तेलंग* इसकी रचना ईसा से तीन सौ वर्ष से अधिक प्राचीन मानते हैं।[१३] *सर आर० जी० भण्डारकर* के अनुसार गीता कम से कम चौथी शताब्दी ईसा पूर्व की है। *गार्ब* प्रारम्भिक गीता को ईसा के पहली दूसरी सदी का मानते हैं।[१४] *हिल* के अनुसार भी गीता का रचनाकाल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व मानना

चाहिए।[१५] लेकिन *डॉ० एस० राधाकृष्णन* के अनुसार *''यदि हम गीता को पाँचवी शताब्दी ईसा पूर्व का मान लें तो हमारा मत कुछ अधिक अनुचित न होगा।''*[१६]

महाभारत और उसका अंश होने के कारण गीता के रचनाकार व्यास माने जाते है, लेकिन इस बात के लिये कोई प्रमाण नहीं है।

गीता श्रुति है या स्मृति–यह भी विवाद का बिन्दु रहा है। भारतीय आध्यात्मिक परम्परा में श्रुति मान्य आधिकारिक ग्रन्थ हैं, जबकि स्मृति उसके आश्रित हैं। गीता को एक श्रुति के साथ-साथ एक स्मृति मानने में और यह सुनिश्चित करने में कि इस ग्रन्थ का कौन सा पहलू दूसरे पहलू का अधिक्रमण करता है, से उठे विरोधाभास तथा अनियमितता को समायोजित तभी किया जा सकता है जब हम जीवन के एकत्व की वेदान्ती अवधारणा को ध्यान में रखें। इसके अनुसार सम्पूर्ण सापेक्ष एवं निरपेक्ष ज्ञान मे एकता है और यह रेखांकित करता है कि स्मृति कुछ और नहीं, अपितु श्रुति की ही क्रमिक निरन्तरता है। श्रुति अमूर्त सत्य के ज्ञान का व्यक्तिगत बोध है तथा सामाजिक व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये स्मृति उसकी अभिव्यक्ति है।

उपर्युक्त तर्क के आलोक में गीता की संरचना जहाॅ श्रुतिमय है, वहीं उसका प्रकार्यात्मक पहलू स्मृतिमय है। जब वह सनातन आध्यात्मिक मूल्यो को प्रस्तुत करती है, तब उसे श्रुति माना जाता है तथा जब उसके आधार पर वह एक सम्यक् समाज के निर्माण के आदर्श को पुष्ट करती है, तब उसे स्मृति माना जाता है। श्रुति और स्मृति–ये दो पहलू गीता में अविभाज्य और अन्तर्निर्भर है। यदि यह ग्रन्थ केवल स्मृति होता और मानव कृत, जैसी की स्मृतियाॅ होती हैं, तो वह उनकी ही तरह अब तक आप्रासंगिक होकर इतने आदर और प्रभाव का हकदार नहीं हो पाता। परन्तु, यह सिर्फ एक मर्त्य मानव का बौद्धिक प्रयास नहीं है। *स्वामी चिन्मयानन्द* ने उचित ही कहा है *''यदि गीता सिर्फ कृष्ण की प्रज्ञा का उपसंहार होती तो उसमें उपदेशित जीवन मूल्य, यदि वे वर्तमान में जीवाश्म नहीं होते तो आने वाले समयों में निश्चित रूप से पुराने पड़ जाते।''*[१७] परन्तु, गीता का श्रुत्यात्मक स्वरूप ही है जो उसके चिरन्तन सत्यों को जीवित रखे हुए है एवं गीता स्मृति के रूप में सभी कालों में सारगर्भित बनी हुई है। गीता के निरपेक्ष आध्यात्मिक मूल्य समाज के संरचनात्मक आधार के संविधान हैं।

गीता पर उपर्युक्त विवादों के अतिरिक्त विद्वत समाज के लिये इसके आकर्षण का अधिक महत्वपूर्ण पहलू गीता का दर्शन है।

(ब) गीता दर्शन : एक परिचय

गीता देश-काल परिस्थिति सापेक्ष कृति हुए भी कालजयी तथा सार्वकालिक कृति है। गीता की दृष्टि वैयक्तिक साधना को समाज के सन्दर्भ में रखकर देखने और दिखाने की है, जिसकी कसौटी है–लोकसंग्रह। समाज दृष्टाओं और स्रष्टाओं ने गीता ज्ञान का प्रयोग समाज के नवजागरण और नवीनीकरण के लिये बार-बार किया। गीता का मुख्य उद्देश्य भी उसके सामाजिक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है– चौथे अध्याय के सातवें श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जब-जब धर्म की हानि होगी तब ईश्वर या ब्रह्म का अवतार होगा और सामाजिक अव्यवस्था को ठीक रूप दिया जायेगा।[१८]

नवयुग धर्म के निरूपण और निर्धारण की आधारशिला *'गीता'* ने सदियों से समाज के कायाकल्प की प्रक्रिया में अहम

भूमिका निभायी है। गीता उस जिज्ञासा की भी समीचीन एवं युगानुरूप शब्दावली और संदर्भ प्रस्तुत करती है, जो तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियो से लेकर आज की संघर्षमयी परिस्थितियों में मानव मस्तिष्क को उद्वेलित करते हैं। समाज-दर्शन के दृष्टिकोण से गीता जहाॅ (वैयक्तिक जीवन और सामाजिक आह्वान के मध्य) दुविधा का प्रतिनिधित्व करती है, वहीं उसका निदान भी करती है। मानव द्वन्द्व के प्रतीक अर्जुन के रूप में गीता सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न को हल करने का प्रयत्न करती है। यह है– *'धर्मसमुद्ध्यच्चते'* को सुनिश्चित करने का प्रश्न–जिसका एकमात्र मार्ग निष्काम कर्ममार्ग की सतत साधना है।

गीता प्राचीन काल से ही हर युग में विचारको की दृष्टि के केन्द्र मे रही। समय-समय पर गीतोपदेश के विवेचन और विश्लेषण से इसका सामाजिक और आध्यात्मिक पक्ष अधिक स्पष्ट हुआ है। जहाॅ तक गीता के सामाजिक दर्शनात्मक पहलू की बात है, तो गीता के अधिकांश प्राचीन भाष्यकारों और व्याख्याकारों ने इसके आध्यात्मिक पक्ष अर्थात् मनुष्य के व्यक्तिगत मोक्ष को सामने रखकर उसके साधनभूत ज्ञान, कर्म और भक्ति पर विचार किया। अत: इससे गीता का सामाजिक पहलू पृष्ठभूमि में ही रह गया। *बाल गंगाधर तिलक* की पुस्तक *'गीता रहस्य'* ने कर्मयोग पर आधारित इहलोकवादी दृष्टि से गीता पर विचार कर उसे एक नया आयाम दिया। महात्मा गाँधी और उनके अनुयायियों ने गीता के समाजशास्त्रीय ज्ञान पर ज्यादा गहराई से विचार किया। गीता के आदर्श पुरुष की परिकल्पना हिंसा-अहिंसा की समस्या तथा स्वधर्म-स्वकर्म की महत्ता आदि ऐसे आयाम हैं, जिनमें उसका समाज-दर्शन प्रतिबिम्बित होता है।

गीता पर समाजशास्त्रीय चर्चा सामान्यत: वर्ण-व्यवस्था से जुड़ी है। कृष्ण की उद्घोषणा से प्रतीत होता है कि गीता चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का समर्थन करती है।[११] अठ्ठारहवें अध्याय में चारों वर्णों के लिये अलग-अलग कर्म निर्धारण का काम भी गीता करती है। द्रष्टव्य यह है कि गीता उस काल में स्वीकृत और प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का विवरण देती है। अठ्ठारहवे अध्याय में वर्णित चातुर्वर्ण्य कर्म गणना का आधार यही है। इसी प्रकार चौथे अध्याय में भी वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति में गुण-कर्म की विशेष भूमिका मानी गई है। इन सबका अर्थ गीता की वर्ण-व्यवस्था का वर्तमान जाति-व्यवस्था का समर्थक या विरोधी होना नहीं है।

गीता के समाजशास्त्रीय ज्ञान का व्यापक उद्देश्य कर्मवाद से फलासक्ति को निकाल कर कर्मवाद और कर्मसंन्यास के विभेद को मिटाना है। गीता ने यज्ञ और लोकसंग्रह की नई विवेचना कर जन साधारण के दैनिक कार्य को भी यज्ञमय बनाया। साथ ही, सम्पूर्ण सृष्टि को परमात्मा के विस्तार और प्रकटीकरण के रूप में देखकर भूतमात्र के बीच एकत्व-समत्व बोध के रूप में एक महान सत्य का उद्घोष किया। यही नहीं, बल्कि इस एकत्व बोध के कारण भूतमात्र की सेवा अपरिहार्य बना दी। नवें अध्याय ने तो फल सहित कर्म को परमात्मा को अर्पित करने के क्रान्तिकारी और लोककल्याणकारी अवधारणा द्वारा मानव मुक्ति का द्वार ही खोल दिया।

गीता के उत्तरार्द्ध विशेषकर चौदहवें, सोलहवें और सतरहवें अध्याय उसके समाजशास्त्रीय ज्ञान के हृदय स्थल हैं, इनमें समाजशास्त्रीय लौकिक ज्ञान भरा पड़ा है। गीता त्रिगुण-विभेद और उनकी महिमा का विशद वर्णन, विवेचन करती है। चौदहवें अध्याय में यह स्थापना रखी गई है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति ही सभी कर्मों का आदि स्रोत है। त्रिगुणों की अलग-अलग महिमा है। सत्व से प्रकाश, रज से प्रवृत्ति और तम से मोह पैदा होता है। *''इस तीन लोक में ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो*

प्रकृति की इस त्रिगुण रचना से मुक्त हो।''[२०]

सोलहवाँ अध्याय समाज को दैवी और आसुरी वृत्ति के आधार पर दो वर्णों में विभक्त करता है। स्पष्टत: जिस समाज में आसुरी वृत्तियों का बाहुल्य और दैवी वृत्तियों का ह्रास होगा, उसका विनाश अपरिहार्य है। इस स्थिति में व्यक्ति के साथ-साथ समाज का भी विघटन और बिखराव होगा।

गीता सत्रहवें अध्याय में यज्ञ, जप और दान को त्रिगुणों के आधार पर तीन भागों सात्विक, राजसिक और तामसिक में विभक्त करती है। साथ ही स्पष्ट करती है कि जप, यज्ञ, तप, दान आदि भी स्वार्थ के लिये नहीं, बल्कि परार्थ और परमार्थ के लिये ही करना चाहिये।

गीता स्वभाव, संस्कार और संचित कर्म की मानव जीवन में अहम् भूमिका स्वीकार करती है, लेकिन साथ ही मनुष्य के लिये आदर्श निरूपण कर उसके तरफ स्वप्रयास के द्वारा बढ़ने को भी उतना ही महत्व देती है। अपनी प्रकृति के मुताबिक ही मनुष्य में श्रद्धा और विश्वास का स्वरूप निर्धारित होता है। मनुष्य अपनी श्रद्धा के अनुरूप बनता है अर्थात् जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही बनता है।[२१] अत: गीता त्रिगुण-विभेद का तथ्यपरक वर्णन कर ही संतोष नहीं करती; वह उनसे सम्बन्धित तत्वपरक ज्ञान भी देती है। वह उनसे मुक्ति का लक्ष्य भी तय करती है और वहाँ तक जाने का मार्ग भी दिखाती है।

समकालीन युग में भी गीता का समाजशास्त्रीय अध्ययन समाज में प्रचलित प्रचण्ड विवाद जैसे–व्यक्तिगत आज़ादी बनाम सामाजिक न्याय और इनसे जुड़े समाज और राज्य संस्था के उद्भव, विकास और कार्य की अलग-अलग अवधारणाएँ; पवित्र बनाम अपवित्र और इनसे निकले विभिन्न प्रश्न, जिसमें धर्म बनाम राजनीति भी समाहित है; और परम्परा बनाम परिवर्तन तथा इससे निर्गत संस्थागत ढाँचे की विभिन्न समस्याएँ, आदि की गुत्थियों को खोलता है। भूतमात्र के बीच एकत्वबोध करा कर गीता मनुष्य, समाज, प्रकृति और परमात्मा को एक सूत्र में बाँधती हैं। इस प्रक्रिया में वह मनुष्यकृत समस्त अन्तर्विरोधों और विसंगतियों को मिटाती है। इस ज्ञान के पश्चात् व्यक्ति और समाज तथा मनुष्य और प्रकृति के मध्य तनाव समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार गीता इहलोकवादी और परलोकवादी दृष्टिगत भेद को भी अस्वीकारती है। यज्ञ और लोकसंग्रह की अवधारणा द्वारा वह *'अपवित्र'* तथा *'पवित्र'* के भेद को मिटाती है। इस भेद के मिटते ही परम्परा बनाम परिवर्तन और उससे जुड़े सम्पूर्ण प्रश्न असंगत हो जाते हैं। इस प्रकार गीता के समाजशास्त्रीय ज्ञान में गीता की सम्यक् समन्वयात्मक दृष्टि परिलक्षित होती है।

गीता की दृष्टि विश्वरूपी तथा कालजयी समन्वय का प्रतीक है। गीता ने अपने पूर्वकाल में प्रचलित मतवादों के खण्डन-मण्डन से अधिक उनमें सम्यक् समन्वय लाने का प्रयत्न किया। पुराने मतवादों का प्रयोग भी गीता ने समन्वयकारी विचार के लिये संघटक तत्व के रूप में किया। गीता के सिद्धान्त और सोच इसी दुनिया के लिये है, इसी जीवन के लिये हैं। यानि इहलोकवाद गीता की विश्वरूपी दृष्टि का एक प्रमुख तत्व है। इसका कोई अपना अलग स्वप्न लोक नहीं है। स्वर्ग को पृथ्वी पर उतारने की अपेक्षा, पृथ्वी को ही क्रमिक रूप से सुधार कर बेहतर बनाना है। अन्य शब्दों में, इसकी दृष्टि प्रवृत्तिमार्गी है। गीता के मूल चिन्तन का साधारण जन के लिये भी अर्थवान और प्रासंगिक होना इसकी विश्वात्मक दृष्टि का एक आयाम

है। इसमें लक्ष्य से अधिक मार्ग का महत्व है, सिद्धान्त को जीवन में उतारने पर अधिक जोर है। इसमें आदेश से अधिक सन्देश है जो मनुष्य की सद्वृत्ति, सद्बुद्धि और सदाशयता का आह्वान है।

(स) भाष्य

गीता की कालजयी विश्वदृष्टि किसी एक सम्प्रदाय, समुदाय, धर्म या देश से आबद्ध नहीं हैं; इसका सन्देश सर्वदेशीय, सार्वकालिक और सम्पूर्ण मानव जाति के लिये है। भारतीय सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन भी जब-जब अंधकार में निमग्न हुआ, गीता ने निरन्तर प्रेरणा- स्रोत का कार्य किया; इसीलिये समाज-द्रष्टाओं ने गीता ज्ञान का उपयोग समाज के नवजागरण और नवीनीकरण के लिये बार-बार किया। सम्भवत: यही कारण है कि हर युग में इस पर प्रत्येक संप्रदाय के आचार्यों और समाज विचारकों ने भाष्य एवं टीकाएँ लिखी।

गीता के सन्दर्भ में मुख्य विवाद भाष्यकारो के मध्य यह रहा है कि गीता में किस बात का उपदेश दिया गया है? यथार्थत: गीता में ज्ञान, भक्ति, कर्म तथा योग का अनन्यतम वर्णन किया गया है। विवाद यह है कि गीता में इनमें से किसे प्रमुखता प्रदान की गई है।

आचार्यों की परम्परा में अद्वैतवेदांती *शंकराचार्य* का गीता भाष्य सर्वाधिक प्राचीन भाष्य है। तत्वज्ञान की दृष्टि से यही सबसे अधिक मान्य है। शंकर के पूर्वकालीन टीका में गीता का अर्थ ज्ञानकर्म-समुच्चय अर्थात् प्रवृत्ति विषयक किया गया है। शंकराचार्य कृत गीता भाष्य के उपोद्घात से स्पष्ट है कि उन्हें वैदिक कर्मयोग का उपर्युक्त सिद्धान्त मान्य नहीं था, इसलिये उसका खण्डन करने और अपने मत के अनुसार गीता का तात्पर्य करने के लिये ही उन्होंने गीता भाष्य की रचना की है। उनके अनुसार *'ज्ञान'* ही पूर्णता को प्राप्त करने का सर्वोच्च साधन है। कर्म, भक्ति तथा योग *'ज्ञान'* की ओर ही ले जाते हैं।

विशिष्टाद्वैतवादी *रामानुज* का गीता भाष्य उनके अपने दार्शनिक दृष्टिकोण के अनुरूप भक्ति को महत्व देता है। गीता पर *मधुसूदन सरस्वती* के भाष्यों को *'गूढ़ार्थ दीपिका'* कहा जाता है। उन्होंने गीता को कर्मकाण्ड, उपासना काण्ड और ज्ञानकाण्ड में विभक्त किया है एवं भक्ति (भागवत भक्ति निष्ठा) को मध्य में अवस्थित करते हुए उसे सभी आपदाओं के हरक के रूप में मान्यता प्रदान की है। *'गीता तात्पर्य ग्रन्थ'* एवं *'अमृत तरंगिणी गीता'* में *(वल्लभवादी) व्याख्या* निहित है; साथ ही यह संप्रदाय स्वानुभूति के रूप में भक्ति को परमविधि मानने पर बल देता है। इसके अतिरिक्त *यमुनाचार्य* तथा *मध्वाचार्य* ने अपने भाष्यों में गीता की आस्तिकवादी व्याख्या प्रस्तुत की है। ये सभी भाष्य प्राचीन विचारकों के अत्यन्त आध्यात्मिक दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हैं, जिन्होंने इन भाष्यों के माध्यम से देशीय आध्यात्मिक परम्पराओं को निरन्तर सिंचित करते हुए अक्षुण्ण बनाये रखा। यह भक्ति परम्परा मध्ययुगीन भाष्यों में क्रमिक रूप से परिलक्षित होती है, जिनमें *'ज्ञानेश्वरी'* की प्रभावशीलता सर्वोपरि है।

आधुनिक युग में विभिन्न विद्वानों ने अपने नूतन भाष्यों में गीता के उपदेशों के नये आयाम प्रस्तुत किये और प्राचीन व्याख्याओं की आभा को धूमिल किये बिना इनके साथ सांस्कृतिक आयाम को संयुक्त करके सांस्कृतिक परिदृश्य को अधिक सारगर्भित बनाने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम *तिलक* अपनी युगदृष्टात्मक रचना *'गीता रहस्य'* में गीता को कर्मयोग के विज्ञान के दृष्टिकोण से देखते हैं। स्पष्टत: उन्होंने बताया है कि आध्यात्मिक प्रज्ञा और भक्तिभाव से कर्मयोग का समन्वय गीता का

परमोद्देश्य है।[२२] *तिलक* के अनुसार गीता *''सम्पूर्ण सांसारिक कार्यों को सम्पादित करना चाहिए''*[२३] ऐसा उपदेश देती है तथा इसी पर बल देने मे तिलक के भाष्य की मौलिकता अन्तर्निहित है। तिलक का ये योगदान है जिसने स्वाधीनता संग्राम में भारतीयो के व्यावहारिक जीवन पर प्रभाव डालते हुए उन्हें सामाजिक अकर्मण्यता और राजनीतिक निष्क्रियता के रूढ़िवादी तन्द्रा से जागृत किया।

गीता पर *राधाकृष्णन* के दृष्टिकोण उनकी पुस्तक *'भगवद्‌गीता'*[२४] के प्राक्कथन और उनके ग्रन्थ *'भारतीय दर्शन'* में मिलते है। जब पाश्चात्य विचारक भारत के सांस्कृतिक मूल्यों के विरुद्ध घोर भ्रांत धारणा प्रसारित करते हुए उनके अर्थों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत कर रहे थे, ऐसे समय में भारत को एक संस्कृत विद्वान की आवश्यकता थी जिसकी सांस्कृतिक विरासत भारतीय तो हो, लेकिन साथ ही जो हमारे सांस्कृतिक मूल्यों की व्याख्या पाश्चात्य व्याख्यामूलक प्रविधियों के अनुसार करने में हस्तसिद्ध हो। राधाकृष्णन का भाष्य इस सामाजिक, सांस्कृतिक आवश्यकता की सिद्धि करता है। *डा० राधाकृष्णन* इंगित करते हैं कि *''जिस सन्दर्भ में गीता की प्रस्तुति को माना जाता है वो स्पष्टत: उसके मुख्य प्रयास-जीवन की समस्याओं का निराकरण तथा सम्यक् आचार की उत्प्रेरणा को रेखांकित करता है।''*[२५]

गीता पर एक अन्य प्रमुख भाष्य दैवानुप्राणित समाज के मसीहा *श्री अरविन्द* कृत है। अपने उत्तम भाष्य *'एसेज़ ऑन दि गीता'* मे उन्होंने मानव व्यक्तित्व तथा महामानव की उद्‌भावना की ओर सभ्यता के विकास से सम्पृक्त समस्याओं के प्रति एक समन्वयात्मक समायोजनकारी दृष्टिकोण पर बल दिया है। वे स्पष्ट रूप से इंगित करते हैं कि एक दैवीय जीवन जीने के अधीन *''प्रथम चरण कर्मयोग–कर्मो के स्वार्थ रहित आहुति का है, द्वितीय चरण ज्ञानयोग–स्व अभिज्ञान का .... तृतीय चरण भक्तियोग का''*[२६] है। ये एकीकृत अभिगमनात्मक दृष्टिकोण मानव व्यक्तित्व को विखण्डित होने तथा कठोर खाँचों में बँधने से बचाते हुए संतुलित विकास के लिये मानवता के बौद्धिक, सामाजिक, नैतिक, जैविक और मनोवैज्ञानिक विकास के प्रति एक एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता महिमामंडित करता है।

विभिन्न भाष्यों, जिनका हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पुनरूत्थान में अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा है, के अतिरिक्त महात्मा गाँधी कृत *'अनासक्ति योग'* भी है; जिसमें गीता का एक अभिनव समाजशास्त्रीय रूपायन दिया गया है।

गीता पर इन विविध भाष्यों के संक्षिप्त ब्यौरे से यह प्रमाणित होता है कि उसके मूल तत्व सनातन या चिरन्तन महत्व के हैं, जिनका प्रयोग सम्प्रभावी रूप से बौद्धिक, आध्यात्मिक, भावनात्मक तथा सांस्कृतिक समस्याओं के समाधान के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त किया जाता रहा है।

खण्ड (ख) महात्मा गाँधी

(अ) बौद्धिक एवं सांस्कृतिक परिवेश

मानव सभ्यता के इतिहास में कोई भी विचारक खाली स्लेट पर कार्य नहीं करता। उसकी पृष्ठभूमि उसके अपने समाज में निहित होती है। महात्मा गाँधी जो भारतीय संस्कृति एवं हिन्दू परम्परा के एक महान युगपुरुष माने जाते हैं, निश्चय ही उनके विचारों की पृष्ठभूमि इस समाज में निहित है। गाँधी का जीवन परिपूर्ण व्यस्तता, साधना तथा वैराग्य का जीवन है। उनकी

मृत्यु पर *लन्दन टाइम्स* ने सम्पादकीय में लिखा कि *"भारत को छोड़कर कोई अन्य देश और हिन्दू धर्म को छोड़कर कोई दूसरा धर्म गाँधी को जन्म नहीं दे सकता था। यह सच है कि गाँधी में वे सभी गुण निहित हैं जिसे हम लोग भारतीयता समझते हैं अर्थात् वे भारत के श्रेष्ठतम् आदर्श पुरुष थे।"*[२७] उन्होंने असंख्य लोगों के साथ ही अपने प्रसिद्ध समकालीनों का गहरा विश्वास और प्यार पाया। अपने जीवन में शायद ही किसी व्यक्ति ने उतनी प्रसिद्धि पायी जितनी कि गाँधी ने पायी। उनके अपने आलोचक जरूर थे, लेकिन शत्रु कोई नहीं। उन्हें बुद्ध, ईसा, सुकरात और मध्यकालीन भक्ति संतों की श्रेणी में रखा गया है। *दलाईलामा, ई० एम० फॉस्टर* और *लार्ड सैमुअल* जैसे विभिन्न व्यक्तियों ने उन्हें बीसवीं सदी का महानतम व्यक्ति माना है। *आइन्सटाइन* ने अनुमान लगाया कि आने वाली पीढ़ियां शायद ही ये विश्वास करें कि उनके जैसा कोई हाड़–मॉस का व्यक्ति कभी पृथ्वी पर चलता था। भारतीय जनमानस द्वारा उन्हें *'महात्मा'* के रूप में पूजा जाता था। इसके साथ ही उन्हें एक धोखेबाज और कपटी[२८], एक मर्दानगी की डींग हाँकने वाला नैतिकवादी[२९], एक दृगभ्रमित झक्की भी माना गया है। परन्तु उनके आलोचक भी इनके प्रति अनास्था व्यक्त करने में स्वयं को असुविधाजनक पाते हैं। गाँधी के चाहने वाले कहीं ये भी मानते हैं कि कई बार उनका व्यवहार रहस्यमय था।

गाँधी के व्यक्तित्व और विचारों को व्याख्यायित करना बहुधा आसान नहीं है; जैसा कि *जे० बी० कृपलानी* भी कहते हैं– *"उनके व्यक्तित्व और विचारों में समय के साथ-साथ जो सतत विकास होता रहा उसके कारण उनके विचारों को व्यवस्थित कर प्रणाली का रूप देने में कठिनाई होती है। उनकी मार्गदर्शक रेखाओं को स्पष्ट रूप से निश्चित करना अथवा अलग-अलग समय और भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में कही गई उनकी बातों से संगति बैठाना आसान नहीं होता। असंगतियाँ उनमें स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं।"*[३०]

बहुधा गाँधी के व्यक्तित्व की जो अनेकों छवियाँ प्रस्तुत की जाती हैं, उनमें–संत और राजनीतिज्ञ–की दो छवियॉ सर्वोपरि हैं। गाँधी के एक भारतीय आलोचक ने इंगित किया है कि *"उनके राजनीति के पीछे नेतृत्व की प्राचीन भारतीय परम्परा का प्रभाव हमेशा दिखता है जो कि यूरोपीय मान्यता से भिन्न है।"*[३१]

गाँधी के नैतिक और सामाजिक विचार को ग्राह्य करने के लिये ये अनिवार्य नहीं है कि हम उनके व्यक्तित्व को एक *'संत'* या *'राजनीतिज्ञ'*, एक *'संत राजनीतिज्ञ'* या एक *'राजनीतिज्ञ संत'* के रूप में चित्रित करें। गाँधी की ये भिन्न-भिन्न छवियाँ यह दर्शाती हैं कि उनके व्यक्तित्व और चरित्र का आकलन करना कितना कठिन है। लेकिन ये जरूरी है कि हम एक विचारक तथा एक सत्यान्वेषी के रूप में उनकी प्रगाढ़ एकनिष्ठता को स्वीकार करें। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हम उनकी अवधारणाओं और कथनों को पूर्णत: उनके मानसिक अवस्था या ऐतिहासिक दशाओं के आधार पर वर्णित करने की भूल करेंगे।

पारम्परिक अर्थ में अनेकों कारणों के चलते गाँधी को बहुत से विद्वान एक नैतिक और सामाजिक विचारक नहीं मानते। सर्वप्रथम, उनके व्यक्तित्व ने इतना अधिक ध्यानाकर्षण किया कि उनकी विस्तृत रचनाओं की उपेक्षा हो गई। द्वितीय, गाँधी के नैतिक और सामाजिक विचार उनके नैतिक और धार्मिक अवधारणाओं से इस प्रकार गुँथे हैं कि कई लेखकों ने प्रथमोक्त को छोड़कर परवर्ती पर ही ध्यान केन्द्रित किया है। पाश्चात्य मतानुसार उन्हें किसी प्रकार दार्शनिक भी नहीं माना जा सकता। परिणामंत: गाँधी को एक धार्मिक व्यक्ति मानकर उनके नैतिक विचारों को अलग कर सामाजिक विचारों को व्यावहारिक

समस्याओं के सन्दर्भ में ही लिया गया, जिनका गाँधी ने एक राजनीतिज्ञ और सुधारक के परिदृश्य में सामना किया। आखिर में, गाँधी के नैतिक एवं सामाजिक विचारों पर अधिकांश गम्भीर अध्ययन ज्यादातर उनकी प्रविधियों पर केन्द्रित हैं। भारत और विशेषकर संयुक्त राष्ट्र अमरीका में लोग मानते है कि गाँधी की मौलिकता उनके एक पूर्णत: नवीन सामाजिक और राजनीतिक सक्रियता की प्रविधि की खोज में निहित है। ऐसा माना जाता है कि ये प्रविधि आम तौर पर प्रयुक्त होने वाली अन्य प्रविधियों से न सिर्फ अपनी नैतिक सत्यता अपितु अपने व्यावहारिक प्रभावशीलता में ज्यादा बेहतर है। ऐसे मत को अमूर्त रूप से सत्यापित नहीं किया जा सकता है और इससे मात्र गाँधीवादी प्रत्ययों की शोभा धूमिल होती है क्योंकि गाँधी ने अपनी मान्यताओ की शुद्धता को उनकी प्रभावशीलता की अपेक्षा ज्यादा महत्व दिया है।

गाँधी के व्यक्तित्व का सार्वजनीन तथ्य उनके जीवन का आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत होना है। गाँधी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर उनके परिवार, समाज तथा परिस्थितियों की अमिट छाप दृष्टिगत होती है, जिसमें उन्होनें जीवन-यापन किया। नि:सन्देह इसके लिये उनके ग्रन्थों के साथ उनके जीवन का तथा उन प्रभावों का सावधानी के साथ समीक्षात्मक अध्ययन अभीष्ट है। गाँधी का पालन-पोषण धार्मिक वातावरण में हुआ था। वह ऐसे हिन्दू परिवार में पैदा हुये थे जो वैष्णव धर्म का उपासक था। जैन धर्म का भी कुछ प्रभाव उन पर था। पिता धार्मिक वृत्ति के पुरूष थे, जो धर्म-कर्म के मामलों पर विचार-विनिमय के लिये विभिन्न धर्मों के विद्वानो को अक्सर अपने यहाँ बुलाया करते थे। उनकी माँ तथा भाई दोनों ही धार्मिक विचारों के थे। मंदिरों मे पूजा, व्रत आदि का पालन उनके परिवार में हमेशा होता रहता था। गाँधी की धार्मिक विचारधारा पर इन सबका गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है। अपने पिता तथा पितामह से उन्हें ईमानदारी तथा निष्ठापूर्वक सेवा का भाव मिला। उन्होनें अपने पड़ोसियों और खास कर अपनी माँ से बराबर ही *'सत्यमेव जयते'* और *'अहिंसा परमोधर्म:'* का मंत्र सुना। इस धार्मिक पारिवारिक पृष्ठभूमि ने गाँधी के व्यक्तित्व को गहराई से प्रभावित किया। इसके साथ ही उनके जीवन-दर्शन पर उस वातावरण या परिस्थितियों का भी प्रभाव है, जिसमें उनके व्यक्तित्व का विकास हुआ।

(i) सांस्कृतिक प्रभाव : भारतीय पुनर्जागरण

भारतीय समाज के क्षितिज पर गाँधी के आगमन से पूर्व जन-समुदाय न सिर्फ राजनैतिक दासता की बेड़ियों से उत्पीड़ित था, वरन् वो आर्थिक संसाधनों के शोषण का भी सामना कर रहा था, जो कि अनिवार्य रूप से उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का अंग है। इसके अतिरिक्त, धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रहार जारी था। इसका साक्ष्य ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर के अध्यक्ष *मैंगल्स* की घोषणा से उद्घाटित होता है, जिन्होनें १८५७ में ब्रिटिश संसद में कहा था-*''भाग्य ने इंग्लैण्ड को हिन्दुस्तान का विस्तृत साम्राज्य इसलिये सौंपा है, जिससे क्राइस्ट का परचम विजित होकर भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक लहराये। प्रत्येक को बिना सुस्ती दिखाये अपनी पूरी शक्ति से देश में कार्य करते हुए सभी भारतीयों को ईसाई बनाना होगा।''*[३२] ऐसे ही परिवेश में भारतीय संस्कृति को धूलधूसरित करने के लिये विदेशी जानबूझकर परम्पराओं को तोड़-मरोड़कर पेश कर रहे थे। *'द कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'* जैसी ऐतिहासिक रचनाएँ जो भारतीय इतिवृत्तों का विकृत संस्करण है, का एकमात्र उद्देश्य भारत को एक ऐसे राष्ट्र के रूप में चित्रित करना था, जिसकी ऐतिहासिक नियति विदेशियों द्वारा विजित होकर शासित होने की थी। इसी प्रकार दूसरे ऐतिहासिक ग्रन्थों का प्रयोग स्वतन्त्रता आन्दोलन की

उभयपक्षी शक्तियों को हतोत्साहित करने के लिये किया जा रहा था।

भारत का सामाजिक इतिहास यह दर्शाता है कि इतिहास के हर युग में लोगों का प्राचीन मूल्यो पर आधारित एक प्रतिबलात्मक आन्दोलन विदेशी शासकों के विरूद्ध उठ खड़ा हुआ है। इस सन्दर्भ में भारतीय विचारकों ने अपने प्राचीन मूल्यों को नई आवश्यकताओ के आलोक में पुनर्व्याख्यायित करना आरम्भ कर दिया। उन्होनें जो भी प्रगतिशील पाया उसे इस भूमि की विरासत से संयुक्त किया। भारतीय विरासत के मूल ढाँचे में नई मान्यताओं को समाहित करने के ऐसे दृष्टिकोण को *सोरोकिन* ने महान सांस्कृतिक महत्व का कहा है। उनका कहना है- *''कोई भी मानसिक उत्पादन अपने विशिष्ट तरीके में प्रत्येक सभ्यता अथवा सर्वोच्च व्यवस्था के द्वारा अनुकूलित, निरूपित और अनुप्राणित होता है। संस्कृति के विभिन्न सर्वोच्च व्यवस्थाओं का मूलत: अपना सत्य का मापदण्ड होता है।''*[३३] तद्नुसार यदि कोई विचारधारा व्याप्त होना चाहती है, तो उसे इस राष्ट्र की धरती में जड़ी मूल व्यवस्था से जुड़ा होना चाहिए। गाँधी ने इसकी अनिवार्यता को अनुभव किया और समझा कि कोई भी समाज जीवन की निरन्तरता में अपने को अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से काट नहीं सकता। इस प्रकार सामाजिक विचार के क्षेत्र में भारतीय आत्मा में एक अपनी नूतन अभिव्यक्ति आयी, जिसे गाँधी जी ने *'अनासक्ति योग'* में प्रस्तुत किया। विभिन्न भाष्यों से इतर इसका हमारे सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक पुनरूत्थान में अपना महत्वपूर्ण योगदान है। महात्मा गाँधी के *'अनासक्ति योग'* में गीता का एक अभिनव समाजशास्त्रीय रूपायन दिया गया है।

भारतीय पुनर्जागरण की सामान्य दशाओं के अतिरिक्त गाँधी व्यक्तित्व के बौद्धिक पक्ष को प्रभावित करने वाले अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य कारक भी हैं।

(ii) बौद्धिक प्रभाव

अपनी आत्मकथा मे गाँधी ने लिखा कि अपने इंग्लैण्ड प्रवास में वे *'न्यू टेस्टामेण्ट'* से गहराई से प्रभावित हुए- *''न्यू टेस्टामेण्ट विशेषत:, 'सरमन्स ऑन दि माउण्ट' ने मेरे ऊपर बिल्कुल अलग प्रभाव छोड़ा जो सीधे मेरे हृदय तक चला गया। मैंने उसकी गीता से तुलना की।''*[३४] यह कथन दर्शाता है कि गाँधी ने भारतीय संस्कृति के मूल आधारो में अवस्थित हो समन्वयीकरण और समाहितीकरण की भावना से युक्त हो उसकी विश्व के दूसरी अन्य परम्पराओं से तुलना की। तद्पश्चात् गाँधी पर *टॉलस्टॉय* की पुस्तकें जिनमें *'दि गास्पल इन ब्रीफ टू डू'* ने अमिट छाप छोड़ी। गाँधी इस सन्दर्भ में लिखते हैं- *''मैनें सार्वभौमिक प्रेम की अनन्त संभावनाओं को ज्यादा से ज्यादा अनुभव कर लिया।''*[३५] इसी प्रकार *रस्किन* की *'अन टू दिस लास्ट'* ने उन पर स्थायी प्रभाव छोड़ा। गाँधी स्वयं स्वीकार करते हैं कि- *''इस पुस्तक को एक तरफ रख देना असंभव था। मैं अपने जीवन को इस पुस्तक के आदर्शों के अनुरूप बदलने के लिये दृढ़ निश्चित था।''*[३६] लेकिन इस विद्वतापूर्ण प्रभाव की मूलभूत प्रेरणा के पीछे कहीं न कहीं उनका हिन्दू संस्कृति में दृढ़ विश्वास था। यह गाँधी के आदर्शों की केवल पुनर्खोज थी जिसे उन्होंने इस पुस्तक में प्राप्त किया। उन्होंने लिखा- *''मेरा विश्वास है कि मेरे द्वारा खोजे गये कुछ 'गहनतम दृढ़ विश्वास' रस्किन की इस महान पुस्तक में प्रतिबिम्बित होते है। इसी कारण इसने मुझे इतना अभिभूत किया तथा मुझे अपनी ज़िन्दगी परिवर्तित करने के लिये उत्प्रेरित किया है।''*[३७] रस्किन की मुख्य शिक्षाएँ जिन्होंने गाँधी के ऊपर प्रशंसनीय प्रभाव छोड़ा, वे हैं- *''(i) व्यक्तिगत भलाई सभी की भलाई में ही निहित है। (ii) एक वकील के कार्य का वही मूल्य है जो किसी*

नाई के, जिसके चलते सभी को अपने जीविकोपार्जन का समान अधिकार है। (iii) एक मजूदर की जिन्दगी यानि कि एक भूमि जोतने वाले की तथा हस्तशिल्पी की जिन्दगी जीने का अपना मूल्य है।''[३८] यह स्पष्ट है कि गाँधी ने अपने जीवन में रस्किन की शिक्षाओं को इसलिये रखा क्योंकि वे उनकी निजी ज़िन्दगी से मेल खाते थे; जिसे उन्होनें गीता और अन्य भारतीय ग्रन्थों में पहले से पाया था।

उपर्युक्त प्रभावों को अनुग्रहीत करते हुए *गीता* गाँधी की *'परम निर्देशिका'* रही। उन्होंने इसे स्पष्टतः स्वीकार करते हुए कहा- *''मेरी गीता में पहले से ही आस्था थी जिसने मुझे अभिभूत किया है और अब मैं उसके और ज्यादा गहराई में डूबने की आवश्यकता को महसूस करता हूँ।''*[३९] अपनी आत्मकथा में गीता के साथ प्रथम अर्थपूर्ण आत्मसाक्षात्कार को संस्मरित करते हुए गाँधी ने बताया कि १८८८-८९ मे इंग्लैण्ड प्रवास के दूसरे वर्ष के अन्त में दो थियोफिस्टों ने उन्हें *सर एडविन अर्नाल्ड* की गीता अनुवाद को अपने साथ पढ़ने के लिये आमंत्रित किया। थियोफिस्टों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध ने उनको हिन्दू परम्परा को मनन करने के लिये भी उत्प्रेरित किया। उन्होंने गीता के दूसरे अनुवादों का भी अध्ययन किया। गीता पर विभिन्न भाष्यों और व्याख्याओं, जिसे गाँधी ने पढ़ा उनमें *तिलक* के *'कर्मयोग'* का प्रभाव अत्यधिक दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने स्वयं कहा कि वे उसे धार्मिक आस्था के साथ पढ़ते थे।[४०] गीता की परम शिक्षा के रूप मे उनका निर्लिप्त कर्म (अनासक्ति) पर बल तिलक के कर्मयोग के प्रत्यय का ही विकसित रूप हैं गाँधी की गीता मे दृढ़ आस्था क्रान्तिकारी *सचिन्द्रनाथ सन्याल* के पत्र के जवाब में परिलक्षित होती है। उसमें गाँधी जी लिखते हैं- *''मैं टॉलस्टॉय और बुद्ध का बहुत ऋणी हूँ, पर न जाने क्यों मुझे लगता है कि मेरा दर्शन गीता की शिक्षाओं के सत्यार्थ का प्रतिनिधित्व करता है।''*[४१] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि गाँधी के जीवन-दर्शन का स्त्रोत मुख्यतः गीता में निहित है। एक विशद अध्ययन में *डा० बेतई* ने भी दिखाया कि किस प्रकार गाँधी जी की सभी शिक्षाएं गीता के मूलभूत सिद्धान्तों से अग्रहीत हैं।[४२] गाँधी ने गीता पर भाष्य लिखा, जिसका शीर्षक *'अनासक्ति योग'* रखा। लेकिन इसकी सम्पूर्ण विवेचना के पूर्व हमारे लिये आवश्यक है कि हम उन स्त्रोतों की विवेचना करें जिन्होनें गाँधी की गीता व्याख्या को विस्तृत अर्थ में प्रभावित किया।

गाँधी की गीता व्याख्या के मूल तत्व गीता के अध्ययन का अनुगामी परिणाम नही है। एक निर्देशिका के रूप मे गीता को प्राप्त करने के बहुत पहले धर्म और हिन्दुत्व की अवधारणाएँ उनमे मजबूती से स्थापित हो चुकी थीं। अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास में सर्वप्रथम बार गाँधी ने धर्म के मर्म एवं शास्त्रों के अर्थ पर गहनतापूर्वक विचार करना प्रारम्भ किया, जो कि ईसाईयों के साथ घनिष्ठ सम्बन्धों से उत्प्रेरित हुआ तथा जिनकी ईसाईयत के विषय में मान्यताओं ने गाँधी का मन हिन्दुत्व को लेकर सशंकित कर दिया। ईसाई जो गाँधी को धर्म-परिवर्तन के लिये उत्प्रेरित कर रहे थे, उनमें ज्यादातर वे ईसाई धर्मोपदेशक थे, जिनकी मान्यता थी कि मानवता का पतन हो चुका है और जिसका ईसा मसीह की दया से ही उद्धार हो सकता है।

इस सन्दर्भ में *मैटलैण्ड*[४३] के विचार निश्चित रूप से गाँधी के अपने कुछ ईसाई मित्रों के मतों का सामना करने में सहायक सिद्ध हुए, परन्तु वो हिन्दुत्व की वैधता और स्थान तथा उसके शास्त्रों के विषय में अस्पष्ट रहे। १८९४ में उन्होंने अपने जैन मित्र *राजचन्द राजीव भाई* जिनको वे *'रायचन्द'* बुलाते थे, को कुछ संगत प्रश्नों की सूची लिखी। रायचन्द के उत्तरों ने उन्हें प्रशान्त कर दिया। इन्हीं उत्तरों में हम उन मूलभूत विचारों को पाते हैं जो गाँधी के धर्म और शास्त्र की अवधारणा के

मूल सिद्धान्तों और उनकी गीता भाष्य से साम्य रखते है। रायचन्द ने अपने उत्तरों में स्पष्ट किया कि शास्त्र और विशेषकर वेद तथा गीता मानव रचित ऐतिहासिक रचनाएँ हैं। *''ये कहना कि वे ईश्वर द्वारा उद्घाटित''* हैं- का अर्थ है कि वे उन व्यक्तियों द्वारा रचित है, जिन्होनें मोक्ष की कीर्ति को प्राप्त कर लिया है। आगे, एक प्रश्न के उत्तर में कि किसी विशेष धर्म के श्रेष्ठता के दावे को कोई कैसे आँके, रायचन्द *''वैधता के प्रयोग''* की ओर इंगित करते हुए लिखते है कि *''सिर्फ वही धर्म सर्वश्रेष्ठ और वास्तव में बलिष्ठ हैं जो सांसारिक जीवन के बन्धन को तोड़ने में सबसे अधिक सहायक हों और साथ ही हमारे सत्व में हमें अधिष्ठापित कर सकें।''*[४४] दूसरे शब्दों में, एक धर्म और उसके शास्त्र की प्रामाणिकता का वास्तविक आधार उसके उद्देश्यात्मक मान्यताओं के व्यावहारिक प्रयोग में सन्निहित है।

गाँधी रायचन्द को उनके स्वानुशासन के कारण सराहते थे। उनके लिये वे मानों गीता के 'स्थितप्रज्ञ' की भाँति थे। वे उनकी धर्मपरक रचनाओं को उनकी व्यावहारिकता एवं प्रयोगात्मक प्रकृति के कारण पसन्द करते थे। गाँधी का अपने मित्र के प्रति लगाव निम्नलिखित कथन में निर्णायकपरक रूप से दृष्टिगोचर होता है : *''उनकी रचनाएँ उनके अनुभवो का सार हैं.......... उनकी रचनाओं का एक विरल पक्ष ये था कि उन्होंने सर्वदा वही लिपिबद्ध किया जो उन्होंने निजी अनुभवों में अनुभव किया......... वो एक स्वानुशासित व्यक्ति थे.......... बन्धन से मुक्ति की अवस्था उनके लिये स्वत: स्फूर्त थी,............ धर्म में उनकी आस्था उनके प्रत्येक कर्म में अभिप्रमाणित होती थी।''*[४५]

अपने व्यक्तित्व विकास के महत्वपूर्ण चरण में गाँधी के ऊपर रायचन्द का गहन प्रभाव पड़ा और वे अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास के समय स्वानुशासन के विभिन्न आयामों में निरन्तर प्रयोगरत रहे। रायचन्द के सामान्य सिद्धान्तो ने उन्हें एक तार्किक खाँचा दिया जो न सिर्फ उनके धर्म के प्रति नैतिक एवं वैयक्तिक दृष्टिकोण को सम्बल देते हैं, अपितु उनको अन्य धर्मो को आँकने तथा हिन्दुत्व को खण्डित किये बिना उसके अच्छे पहलुओं को अनुग्रहीत करने की प्रेरणा भी देते हैं। इसी खाँचे ने गाँधी की अपनी गीता की व्याख्या के अधिकांश पहलुओं को निर्धारित किया।

(ब) गीता व्याख्या का गाँधीवादी दृष्टिकोण

गीता के प्रति गॉधीवादी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के पूर्व आवश्यक है कि गॉधी ने जिस अर्थ में गीता को संयोजित किया, हम उसे स्पष्ट कर लें। गीता का रहस्य जो गॉधी ने बार-बार पढ़कर खोजा उसे एक शब्द *'अनासक्ति'* में नि:सृत किया। उन्होंने अपने गीता भाष्य का शीर्षक *'अनासक्ति योग'* रखा। अनासक्ति का अर्थ है *'निष्कामता'।* इसका अर्थ जो कार्य किया जाने वाला है उसके प्रति अनिच्छा या उदासीनता नहीं है, बल्कि यह उस प्रवृत्ति का संवर्धन है जिसके अनुसार व्यक्ति अपने दायित्व को कुशलता और उत्साह से सम्पादित करते हुए भी उसकी उपयोगिता के प्रति तटस्थ बना रहे। गाँधी को गीता पर भाष्य लिखने का तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने गीता को सृजित या पुन: सृजित किया, बल्कि उन्होने उसे स्वीकार करके अपने जीवन में उसको प्रयोग कर एक उचित कलेवर में समकालीन विश्व को समर्पित किया। यह गाँधीवादी दृष्टिकोण का अनूठापन है। गीता ने उन्हें *'सत्य के साथ प्रयोगों'* के लिये मुख्य पृष्ठभूमि उपलब्ध करायी।

एक व्याख्याकार के रूप में गाँधी का कार्य स्वत: प्रमाणित हो जाता है क्योंकि वे स्वयं अपने जीवन में गीता की आचार-संहिता को व्यवहार में लाते हैं और जिसके कारण उनको एक वास्तविक व्याख्याकार का पद मिला है। गाँधी कहते

भी हैं- केवल वही गीता की सही व्याख्या कर सकता है *''जो उसकी शिक्षाओं को व्यवहार में पालन करने का प्रयास करता हो तथा उसकी व्याख्या में सत्यता उसी अनुपात मे होगी जिसमें वह सफलतापूर्वक उन शिक्षाओ के अनुसार जीता है।''*[४६] एक प्रश्न के सन्दर्भ मे कि क्या व्याख्याकार का कार्य मूल ग्रन्थ के सही-सही अर्थ खोजने तक ही सीमित है, गाँधी का अस्वीकार स्पष्ट है : *''एक शाब्दिक व्याख्या एक व्यक्ति को अन्तर्विरोधों के सागर में फंसा देती है, शब्द मार डालते हैं, उनमें छिपा मर्म जीवन प्रदान करता है।''*[४७] *''एक ग्रन्थ के अर्थ को निर्धारित करते समय किसी को उसके शब्द से चिपके नहीं रहना चाहिए, बल्कि उसके मर्म को उसके सन्दर्भ में रखकर उसका अर्थ खोजना चाहिए।''*[४८] वास्तव में गाँधी की गीता व्याख्या उनके *'नैतिक संवदेनशीलता'* से निकली है और उनके अबाधित प्रयोग से पुष्ट हुई; उनकी व्याख्याओं ने उनके जीवन को बदल दिया और *'अद्‌भुत ठोस परिणाम'* सामने आये।[४९]

आगे, गाँधी की गीता व्याख्या के विषयगत पहलुओं पर हम दो खण्डों में विचार करेंगे जो उनके दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है। प्रथम खण्ड इस रचना की समग्रता में उनकी मूलभूत मान्यताओं और उसमें निहित अनिवार्य उपदेशों का उनके द्वारा किये गये अर्थ को समाहित करेगा, जबकि दूसरा खण्ड उन प्रविधियों का अन्वेषण करेगा, जिनके द्वारा गाँधी गीता के उन पहलुओं से साक्षात्कार करते हैं जो अन्य भाष्यकारों के लिये इस रचना के अर्थ का अन्तर्तम भाग हैं।

अपने सम्पूर्ण दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान गाँधी गीता का प्रयोग मात्र एक धार्मिक रूप से उपयोगी *'तत्वों के'* एक संकलन के रूप में करते थे। १९१९ मे भारत वापसी के पश्चात् ही गाँधी ने गीता की व्याख्या को प्रतिपादित करने का प्रयास प्रारम्भ किया। १९१९ में पहली बार अपने *'सत्याग्रह पर्चा नं० १८'* में उन्होने गीता के अर्थ के सन्दर्भ मे अपने मत को लिपिबद्ध किया। गाँधी के लिये *''गीता एक ऐतिहासिक रचना नही है, वह एक महान धार्मिक पुस्तक है, जिसमे सभी धर्मों की शिक्षाओं का सारांश है। कवि ने कुरूक्षेत्र में कौरव तथा पाण्डव के मध्य युद्ध के माध्यम से हमारे भीतर सत्‌शक्तियों (पाण्डव) एवं अनिष्टकारी शक्तियों (कौरव) के मध्य हो रहे युद्ध की ओर ध्यान आकर्षिक किया है और यह दर्शाया कि परवर्ती का विनाश हो जायेगा तथा अज्ञानतावश इन अनिष्टकारी शक्तियों को सत् शक्ति मानने की भूल करके उनसे किसी प्रकार की क्षमाशीलता नहीं दर्शायी जानी चाहिए।''*[५०] आने वाले वर्षों में ये विचार रह-रह कर उभरता रहा; *''गीता दैवीय एवं आसुरी के मध्य युद्ध के विषय में बात करती है,''*[५१] या *''मानव (मनरूपी) कुरूक्षेत्र में चल रहे चिरन्तन आध्यात्मिक युद्ध को चित्रित करती है।''*[५२]

१९२२ में यरवदा कारावास के समय गाँधी के विचारों में एक नया आयाम विकसित हुआ, जब उन्होंने सम्पूर्ण महाभारत पहली बार पढ़ी : *''मैंने महाभारत टुकड़ों के अतिरिक्त कभी पूरी नहीं पढ़ी थी। मैं इसके विरूद्ध भ्रान्त धारणा भी बनाये हुए था।''*[५३] तद्‌पश्चात् महाभारत महाकाव्य गाँधी के लिये युद्ध के विरूद्ध महाकाव्य बन गया था, क्योंकि वह एक उत्तापपूर्ण विजय की निरी निरर्थकता का वर्णन करता है, जिसमें विजेता और पराजित दोनों ने ही अपना सर्वस्व खो दिया।

११ नवम्बर, १९२५ को *'नवजीवन'* में प्रकाशित अपने लेख *'गीता का अर्थ'* में एक संवाददाता की अस्वीकृति का उत्तर देते हुए गाँधी ने कहा कि गीता महाभारत के सन्दर्भ में अवस्थित अहिंसा की शिक्षा देती है। इसके पूर्व वे तर्क दिया करते थे कि गीता का लेखक युद्ध को अपनी शिक्षा के एक *'प्रसंग'* के रूप में प्रयोग कर रहा है *''क्योंकि वह युद्ध को नैतिक*

रूप से गलत नहीं देखता''। परन्तु यह अब उनके लिये मान्य नही रह गया था क्योंकि गीता की उनकी व्याख्या एक कदम और आगे विकसित हो चली थी। गाँधी के लिये अब गीता युद्ध विरोधी महाकाव्य में *''अहिंसा पर एक मध्यांक कड़ी की भाँति है।''* गाँधी इस विषय में आश्वस्त हैं कि जीवन में जो कोई भी संन्यस्त होने का प्रयत्न करेगा (जो कि गीता की मुख्य शिक्षा है) तो सत्य एवं अहिंसा के आप्त सिद्धान्तो का अनुपालन करना उसके लिये अनिवार्य हो जायेगा। गाँधी का तर्क है कि जहाँ फल के लिये कोई इच्छा नहीं, वहाँ असत्य के लिये न तो कोई लिप्सा है और न ही हिंसा के लिये उद्वेग। स्पष्टत: अहिंसा के प्रति गाँधी के ये विचार उनके व्यावहारिक उपागम का महत्वपूर्ण पहलू है, जो उनके वृहत्तर दर्शन से भी मेल खाता है।

गीता ने न केवल अँहिंसा अपितु कर्म, यज्ञ तथा संन्यास आदि को भी एक नया अर्थ दिया है। वास्तव में गाँधी के अनुसार गीता का लेखक स्वयं *''शब्दार्थों को विस्तृत करता है।''*[५४] उसने (गीता) हिन्दुत्व में नये प्राण फूँके हैं। उसने आचरण के नियमों का एक मौलिक संकलन किया है। ऐसा नहीं है कि गीता ने वो सब कुछ दिया है जो पूर्ववर्ती रचनाओं में सन्निहित नहीं, अपितु उसने इनको ही एक ठोस रूप प्रदान किया है।[५५] इसलिये *''यज्ञ शब्द के अर्थ को विस्तृत करने में कोई नुकसान नहीं है। यद्यपि यह नया अर्थ व्यास के मन में कभी नहीं था। हम ऐसा करके व्यास के साथ कोई अन्याय नहीं करेंगे।''*[५६] गाँधी की यह नई व्याख्या एक चिन्तनात्मक ढाँचे की कार्यप्रणाली से सम्बद्ध न होकर नैतिक सिद्धान्तों और उनके व्यावहारिक कार्यान्वियन से जुड़ी है क्योंकि गाँधी के लिये धार्मिक प्रश्न विचारधारा के विषय में न होकर कर्म के विषय में है।[५७]

गाँधी के लिये गीता का सार द्वितीय अध्याय के अंतिम श्लोकों में अभिव्यक्त है, जिनमें मूलत: अर्जुन का उस व्यक्ति के वर्णन के अनुनय का प्रत्युत्तर समाहित है, जिसे कृष्ण *'स्थितप्रज्ञ'* कहते है। यद्यपि अनेक व्याख्याकार मानते है कि इन श्लोको मे वर्णित मानस-अवस्था परिपूर्णता के अंतिम उद्देश्य के रूप में प्रस्तुत नहीं की गई, अपितु आध्यात्मिक मार्ग में वह एक महत्वपूर्ण कदम है। जो भी उस मानस अवस्था (स्थितप्रज्ञता) को प्राप्त कर लेगा प्रथमत:, वह स्वार्थ-रहित कर्त्तव्य के अनुपालन में अपने जीवन को लगाने के लिये और द्वितीय भक्ति के लिये तैयार माना जायेगा। किन्तु, गाँधी के लिये सिर्फ इतना ही पर्याप्त नहीं है। वे इन श्लोकों को धर्म का सार और परिणामत: गीता के संदेश का सार ही मानते हैं।

इन श्लोकों में कहीं भी *'भक्ति'* शब्द या कृष्ण से उसका सन्दर्भ उल्लिखित नहीं है। फिर भी गाँधी का अभिमत है कि इन्हीं श्लोकों के अतिरिक्त कृष्ण के लिये कुछ और कहने के लिये नहीं रह गया था और गीता का बाकी हिस्सा यहाँ स्पष्टत: कथित सिद्धान्तों की एक विस्तृत व्याख्या मात्र था। उनके अनुसार ये श्लोक ही हिन्दुत्व और सभी धर्मों के सार की व्याख्या करते हैं। *'धर्म'* गाँधी के लिये वास्तव में व्यक्ति के मानसिक दृष्टिकोण की ओर इंगित करता है, धर्म एक मानसिक स्थिति है। *''सभी शास्त्रों की भाँति 'स्वयं-सिद्ध अनुभूति' गीता का विषय है।''*[५८] जनमानस की दृष्टि में गीता यदि *''एक भगवद्‌गान है''*, तो भगवान उस हिस्से में एक बार भी प्रकट नहीं हुए हैं, जिसे गाँधी गीता का सार मानते हैं। यह हमको अब उस प्रश्न तक लाता है कि गाँधी कृष्ण के रूप को किस प्रकार समझते हैं तथा कृष्ण के विषय में गीता में कही गई बातों की किस प्रकार व्याख्या करते हैं।

गाँधी जानते थे कि एक आस्थावान हिन्दू के लिये कृष्णावतार दोषरहित है। *''हिन्दू पुजारी का कृष्ण एक परिपूर्ण प्राणी है''*[५९] उन्होंने स्वयं इस मत को स्वीकार किया। परन्तु, साथ ही उन्होंने उसमें अपना दृष्टिकोण भी मिला दिया। उनके लिये

दैवीय कृष्ण का आदर्श एक *''काल्पनिक चरित्र''*,[६०] एक *''काल्पनिक अवतार''*[६१] था। गीता पर अपने भाष्य में गाँधी ने इसे बड़ी खूबसूरती से लिखा है- *''गीता के कृष्ण परिपूर्णता और सद्ज्ञान का मानवीयकरण हैं, परन्तु चित्रण काल्पनिक है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि कृष्ण अपने लोगों के चहेते कभी रहे नहीं, परन्तु परिपूर्णता काल्पनिक है। एक परिपूर्ण अवतार का विचार एक अनुवर्ती विकास है।''*[६२]

गीता की विषय-सूची का महत्वपूर्ण पहलू जिसने भाष्यकारों को आकर्षित किया, वो हैं तीन मुख्य धाराएँ- निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्ति के मध्य उचित सम्बन्ध की व्याख्या। अनेकों का मानना है कि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से गीता हिन्दुओ को मोक्ष के महानतम उद्देश्य की प्राप्ति के लिये एक नई प्रविधि और नया मार्ग उपलब्ध कराती है। गीता का संदेश भक्ति का सन्देश था : मोक्ष उन सभी को प्राप्य है जो इच्छा के परित्याग और ज्ञान द्वारा अपने मस्तिष्क को प्रदीप्त कर अपने कर्मो का शुद्धिकरण कर, अपने कर्मो को कृष्ण के प्रेम से सम्पृक्त कर चुके हों- ये भक्तिपूर्ण प्रेम का नया मार्ग था। गाँधी का भक्ति के प्रति दृष्टिकोण किसी *'कोपरनिकसीय क्रान्ति'* से कम नहीं है : *''संन्यास मध्य सूर्य है, जिसके चारों ओर भक्ति, ज्ञान और कर्म बाकी ग्रहों की तरह घूमते हैं।''*[६३] गाँधी के लिये संन्यास गीता का प्राथमिक मूल्य है, *''.......... (उसको) पाने के लिये सद्ज्ञान अनिवार्य है,''*[६४] और *''ज्ञान उपद्रवी न हो जाय इसके लिये गीता के लेखक ने उसके साथ भक्ति को जोड़ दिया है।''*[६५]

एक अन्य जगह गाँधी ने स्वीकार किया है कि गीता का बारहवाँ अध्याय एक भक्त के गुणों का अध्ययन करता है। फिर आगे वे यह भी बताते हैं कि ये गुण वास्तव में स्थितप्रज्ञ के उन गुणों के ही समान हैं, जिसको द्वितीय अध्याय में बताया गया है। गाँधी टिप्पणी करते हैं कि जहाँ द्वितीय अध्याय का वर्णन *'क्लिष्ट'* है, वहीं बारहवें अध्याय का अनुरेखन कवित्वमय अभिव्यक्ति में एक *''सामान्य भाषा में''* गढ़ा गया है।[६६] गाँधी की रचनाओं में भक्ति को सर्वदा इस रूप में स्थापित किया गया है- *''भक्ति का सत्यार्थ आत्मा का अन्वेषण है। जब आत्मा स्वयं को प्राप्त कर लेती है, तब भक्ति ज्ञान में परिवर्तित हो जाती है।''*[६७]

गाँधी *'भक्ति'* की हिन्दूवादी मान्यता मे स्थित ईश्वर-प्रसाद के पहलू की अनदेखी करते हैं, परन्तु एक प्रश्न के उत्तर में कि *''यदि एक व्यक्ति भक्ति के मार्ग पर चलते हुए ईश्वर प्रसाद को नहीं मानता तो किस प्रकार उसकी आस्था बनी रहेगी? वे कहते हैं- 'अनुग्रह' शब्द एक काव्यात्मक पद है, भक्ति स्वयं में कविता है।''* तार्किक रूप से इसकी व्याख्या करते हुये वे कहते है- *''जो कुछ भी होता है वह कर्म का प्रभाव है।''* चूँकि कर्म इतना गूढ़ और अंदाज से परे है कि हम जो कुछ भी होता है *'ईश्वर अनुकम्पा'* का ही फल *'आबद्ध'* रूप से मान लेते हैं, जबकि *''ये केवल काव्यात्मक अभिव्यक्ति के रूप में ईश्वर समतुल्य कर्म के सिद्धान्त की पुष्टि करती है।''*[६८]

प्रलक्षित रूप से गीता का गाँधीवादी दृष्टिकोण अनेक पारम्परिक भाष्यकारों से भिन्न है, लेकिन कहीं-कहीं यह पारम्परिक नियम से मतैक्य भी रखता है। वह ग्रन्थ के अभिकेन्द्रीय मूल धारणा को चिन्हित करते हैं जैसे : वे *'महावाक्य'* या *'महाकथन'*; जो गीता के मुख्य उद्देश्य हैं और जिसके आधार पर बाकी सम्पूर्ण ग्रन्थ को व्याख्यायित किया जा सकता है। गाँधी के लिये द्वितीय अध्याय के अंतिम बीस श्लोक ही वे *'महावाक्य'* है जिनमें *'स्थितप्रज्ञ'* का वर्णन किया गया है। वास्तव में, उनके लिये ये हिस्सा धर्म के सार को बिना किसी मिथकीय कर्मकाण्ड अथवा रूढ़िवादी मान्यताओं तथा कल्पनाशीलता के, एक सुलझे हुए तरीके से अभिव्यक्त करता है।

पाद-टिप्पणी सन्दर्भ

१- सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषुतज्ज्ञानंविद्धि सात्विकम्।। श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १८.२०।।

२- ऋग्वेद, १०.१९१.२

३- वही, १०.१९२.२

४- यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मनं ततो न विजुगुप्सते।। ईशोपनिषद् - ६।।

५- ईशावस्यमिदं सर्व यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध: कस्यस्विद्धनम् ।। वही - १।।

६- वेदान्तसूत्रों के अन्य नाम 'ब्रह्मसूत्र' अथवा 'शारीरिक सूत्र' है।

७- तिलक, बी० जी० : गीता रहस्य, लो० तिलक मंदिर प्रकाशन, पूना (तेइसवाँ संस्करण) १९९१ पृष्ठ १२

८- वही, गीता के प्रत्येक अध्याय के अंत में जो अध्याय समाप्ति दर्शक संकल्प है उसमें "इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे" इत्यादि शब्द हैं।

९- राधाकृष्णन, डॉ० एस० : भारतीय दर्शन, भाग-१, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, १९८९

१०- तेलंग, के० टी० : सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, आठ खण्डों में, प्रस्तावना, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६५, प्रस्तावना, पृ० ५-६

११- महाभारत : आदि पर्व २, ६९/२, २४७

१२- गीता रहस्य : परिशिष्ट एवं तेलंग; प्रस्तावना

१३- राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग - १, पृ० ४८२ से सभी मत उद्धृत

१४- देसाई, महादेव : द गीता एकार्डिंग टू महात्मा गाँधी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९५६

१५- राधाकृष्णन : वही, पृ० ४८३

१६- देसाई, महादेव : वही, पृ० ९

१७- स्वामी चिन्मयानंद : दि भगवद्गीता, दि चिन्मय पब्लिकेशन ट्रस्ट, मद्रास (IV संस्करण), १९७७, अध्याय ३/४, पृ० ९

१८- यदा-यदा हि धर्मस्य...........सृजाम्यहम् ।। भगवद्गीता, अध्याय ४.७

१९- चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागश:।। भगवद्गीता, अध्याय ४.१३

२०- न तदस्ति पृथिव्यां वा दिविदेवेषु वा पुन:।
सत्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभि: स्यात्त्रिभिर्गुणै: ।।भगवद्गीता, अध्याय १८.४०

२१- सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।

श्रद्धामयोऽयं पुरूषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।भगवद्गीता, अध्याय १७.३

२२- तिलक : गीता रहस्य, प्रस्तावना

२३- वही : पृ० ६९८

२४- राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, भाग-१, पृ० ५३२

२५- वही : पृ० ५२९

२६- श्री अरविन्द : ऐसेज़ ऑन दि गीता, श्री अरविंद आश्रम, पाण्डिचेरी, १९५०, पृ० ४३

२७- राधाकृष्णन, डॉ० एस० : महात्मा गाँधी - ऐसेज एण्ड रिफ्लेक्शन ऑन हिज लाइफ एण्ड वर्क्स प्रिफेस, जैको पब्लिशिंग हाउस, बम्बई (दूसरा संस्करण), पृ० १२५ में उद्धृत

२८- वाइली, जॉन : इंडिया एट इ पार्टिंग ऑफ द वेज़, लिंकन विलियम्स, १९३४, पृ०९

२९- रॉय, एम० एन० : प्राब्लम ऑफ फ्रीडम, रेनेसाँ, १९४५, पृ० २८-३३; न्यू ह्यूमनिज़्म, रेनेसॉं १९४७, पृ० ३४-४७

३०- कृपलानी, जे० बी० : गाँधी : जीवन और दर्शन, भारत सरकार सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय मुद्रण विभाग, दिल्ली, १९७८, पृ० ३१९

३१- जयकर, एम० आर० : टॉकिंग ऑफ गाँधी जी, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५०, पृ० १४

३२- दामोदरन, के० : इण्डियन थॉट - ए क्रिटिकल सर्वे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८, पृ० ३३८

३३- सोरोकिन, पी० ए० : मार्डन हिस्टॉरिकल एण्ड सोशल फिलॉसफीज़, ड्यूटन, न्यूयार्क, १९४३, पृ० ३०६-३०७

३४- गाँधी : माई एक्पेरिमेन्ट्स विथ ट्रुथ, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९६१, पृ० १२-१३

३५- वही, पृ० ९०

३६- वही, पृ० ३६४-५

३७- वही

३८- वही

३९- वही, पृ० ३२२-४

४०- देसाई, महादेव : दि गीता एकार्डिंग टू गाँधी, पृ० १२६

४१- यंग इण्डिया, १२-२-१९२५

४२- बेतई, रमेश एस० : गीता एण्ड गाँधी, गुजरात विद्यापीठ प्रकाशन, अहमदाबाद, १९६०, पृ० २०४-५

४३- 'ऐसोटोरिक क्रिश्चियन यूनियन' का संस्थापक जिसने गाँधी को अपनी दो पुस्तकें भेजी जो उन्हें काफी पसन्द आई और वे इस संघ के साहित्य प्रचारक बन गये। वे अपने पत्र शीर्ष पर उस संस्था का नामोल्लेख करते रहे। १८९७ में मैटलैण्ड की मृत्यु तक उनका उससे पत्राचार चलता रहा। उन्होंने उनकी पुस्तकों की अनेक प्रतियाँ मँगाई और 'नाटाल एडवरटाइजर' के मुकदमें में प्रतिरक्षित भी किया। मैटलैण्ड के अनेक विचारों ने गाँधी को उनके अनेक प्रश्नों और शंकाओं का समाधान

दिया। देखे - प्यारेलाल : दि अर्ली फेज़ १, पृ० ३२१-२७ और अन्ना किंग्सफोर्ड तथा एडवर्ड मैटलैण्ड : दि परफैक्ट वे ऑफ दि फाइन्डिंग ऑफ क्राइस्ट (लन्दन, जॉन एम० वाटकिन्स, १९०९)

४४- दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, खण्ड ३२, नवजीवन प्रकाशन, (अहमदाबाद), पृ०५९८

४५- वही, XXXII, २,६,७

४६- वही, XXXIV, पृ० ८९

४७- वही, XXVI, पृ० २८९

४८- वही, XXVIII, पृ० ३१८

४९- वही, LXXI, पृ० ३०४

५०- वही, XV, पृ० २८८

५१- वही, XVIII, पृ० १२५

५२- वही, XX, पृ० १२९; cf और XXI, पृ० ५१५

५३- वही, XXV, पृ० ८६

५४- वही, XXXII, पृ० १००, १५४

५५- वही, LXIII, पृ० ३९९

५६- वही, XXXII, पृ० १५४

५७- उदाहरणार्थ- गाँधी छठे अध्याय के अपने प्रारम्भिक श्लोक जो इन शब्दों से शुरू होता है- 'अनाश्रित: कर्मफलं कार्य कर्म करोति य:' घोषित करता है कि जो व्यक्ति अपने सभी अनिवार्य कर्म फलाश्रित विहीन होकर सम्पादित करता है वही एक संन्यासी और योगी है, गाँधी इन शब्दों "ना निर्ग्निर ना सा अक्रिया:" का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट करते हैं : "यहाँ अग्नि का अर्थ सम्भवत: सभी प्रकार के कार्मिक साधनों से है यज्ञानुष्ठान करते हुए अग्नि की आवश्यकता हुआ करती थी। ये मानकर कि इस युग में चरखा सार्वभौमिक आहुति का एक उपकरण है एक व्यक्ति उसकी अनदेखी करके संन्यासी नहीं बन सकता। वास्तव में वे ऐसा दिखाते हैं मानों अन्तहीन कर्म में चरखा अपने आप में सन्यास का प्रतीक हो सकता है। इस प्रकार यहाँ सन्यास और यज्ञ का अर्थ न सिर्फ एक ज्यादा समाविष्ट अर्थ लेता है, बल्कि गाँधी की व्याख्या में उसकी ज्यादा विशिष्ट प्रासंगिकता है।"

५८- दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ गाँधी, खण्ड - XLI, नवजीवन प्रकाशन (अहमदाबाद), पृ० ९४

५९- वही, LIV, पृ० ११२

६०- वही, XIV, पृ० १७५

६१- वही, XLI, पृ० ३३९

६२- वही, XLI, पृ० ९४

६३- वही, XLI, पृ० ९५

६४- वही

६५- वही, देखिये XXXII, पृ० ३५१

६६- वही, XXXII, पृ० ३०५

६७- वही, XII, पृ० १२६

६८- वही, XLIX, पृ० ३२७-२८

द्वितीय अध्याय

मानव की अवधारणा

जीवन की वैयक्तिक एवं सामाजिक मर्यादाओ का संगठन इस बात की सूझबूझ पर आधारित होता है कि मानव-जीवन का अर्थ क्या है, उसकी आवश्यकताएँ और उसके हित क्या हैं? तथा उसके जीवन लक्ष्यों के अनुरूप मानव जीवन के नियमन की योजना कैसे गढ़ी जा सकती है? विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के विविध स्वरूप प्राय: इन्हीं मानवीय आवश्यकताओं से उत्पन्न होते हैं। ये मानवीय आवश्यकताएँ ही मानवीय हितों, उद्देश्यों और आकांक्षाओं को परिभाषित किया करती हैं। भारतीय विचारकों ने मानव-जीवन और उसके अस्तित्व का जो अर्थ समझा वह उनके समाज के संस्थागत ढाँचे के उन सभी पहलुओं में व्याप्त है, जिनके द्वारा व्यक्ति अपने जीवन-व्यापार का नियमन और निर्देशन करता है। साथ ही, उन्होनें व्यक्ति और समाज दोनों ही के आदर्शों का चिन्तन, मनन करने की तथा उन्हें अपने आदर्श रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टाएँ की है।

जीवन की या अस्तित्व विषयक भारतीय चिन्तनधारा अपनी इस केन्द्रीय भावना कि *'जीवन'* एक और अखण्ड है, को स्वीकारते हुए इस *'जीवन'* के आदिस्त्रोत से सान्निध्य तथा एकाकार होने की खोज में निहित है। आदर्श मानव के स्वरूप की परिकल्पना तथा उद्देश्यों के वस्तुत: यही मूलाधार हैं। यहाँ ब्रह्म से इतर मानव की कल्पना स्वीकार्य नहीं है। आदिस्त्रोत ब्रह्म से जिसका मानव अंशमात्र है, एका भाव में ही जीवन की परिपूर्णता समाहित है। भारतीय दर्शन में परिपूर्णता मनुष्य के लिए सर्वोच्च आध्यात्मिक आदर्श है। इसके साथ ही आत्मोपलब्धि के सन्दर्भ में *'जीवन'* एक आध्यात्मिक प्रक्रिया के सारतत्व के रूप में अपरमित संभावनाएँ प्रस्तुत करता है। हिन्दू समाज दर्शन का आधार इस विश्वास पर अवस्थित है कि मनुष्य अपूर्ण जन्मता है और यह परिपूर्णता ही है, जिसकी ओर उसका जीवनोद्देश्य निर्दिष्ट होना चाहिए। सम्भवत: परिपूर्णता को चरणबद्ध तरीके से ही प्राप्त किया जा सकता है।

भारतीय दृष्टि में जीवन एक उद्देश्यपूर्ण अनुष्ठान है। उद्देश्यपरकता का अन्तर्भूत तत्व यह है कि अभी भी कतिपय अनुपलब्ध आदर्शों और मूल्यों का मानवान्वेषण शेष है। इसके साथ ही मनुष्य द्वारा एक अनुशासित जीवन व्यतीत करने पर बल दिया जाना भी इस पूर्व अवधारणा पर आधारित है कि मनुष्य की अद्वितीयता एक दूरस्थ गन्तव्य को प्राप्त करने हेतु क्षणिक उद्वेगों के मोह संवरण की उसकी क्षमता में निहित है। अपने उद्वेगों और भावावेगों से परे जाने की मनुष्य में स्वाभाविक क्षमता होती है। यह एक प्रामाणिक तथ्य है कि कोई भी उद्देश्य समुचित साधन के अभाव में कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। वस्तुत: साधन ही उद्देश्यों को प्राप्त करने का आधार निर्मित करते हैं। विचारवेत्ताओं के अनुसार मुनष्य दो उद्देश्यों *श्रेयस्* (मूल्यात्मक जीवन) और *प्रेयस्* (प्राकृतिक जीवन) की चुनौती से साक्षात्कार करता है। मनुष्य को चुनाव करना होता है। अत: उसे चैतन्य रूप से स्व-आवंटित साध्यों (उद्देश्यों) की उपलब्धि के लिए अनिवार्य कर्मों को सतत् संपादित करते रहना चाहिये। चुनाव की अनिवार्यता और उत्तरदायित्व की स्वीकारोक्ति में भारतीय समाज-दार्शनिकों ने मानवीय स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखा है, जिसका स्पष्टीकरण कर्म-सिद्धान्त के निरूपण द्वारा होता है।

भारतीय समाज-दार्शनिकों ने कर्म के सिद्धान्त को महत्वपूर्ण माना है। एक समाज-दर्शन के निर्माण तथा व्यक्ति और

सामाजिक जीवन के बारे में आदर्शमूलकता तभी अर्थपूर्ण हो सकती है, जब (१) एक स्वतन्त्रेच्छा हो, जो मनुष्य को शुभ चुनने और अशुभ नकारने में समर्थ करे एवं (२) मानव जीवन को अनुशासित करता हुआ नियमितता का एक ऐसा सिद्धान्त जो सुनिश्चित अर्थों में कार्यकुशलता और जीवन को अनन्यतम गंभीरता प्रदान करने में सहायक हो। *'कर्म'* के सिद्धान्त का गहन महत्व इस तथ्य में निहित है कि व्यक्ति अपने पूर्व कर्मों के प्रभावों से बच नहीं सकता, लेकिन साथ ही, एक रूपान्तरण की प्रक्रिया द्वारा प्रभावों से छुटकारा भी संभव है। अत: जहॉ एक व्यक्ति के कर्म के नियतवादी पहलुओं को नकारा नहीं जा सकता, वहीं स्वतन्त्रता के पहलू को भी अनदेखा नही किया जाना चाहिये। मोक्ष को जरा-मरण के चक्र से परे जीवन के अंतिम साध्य के रूप में अवस्थित किया गया है। *'मोक्ष'* जैसे एक निर्धारित आध्यात्मिक साध्य को प्राप्त करना इतना दुर्गम है, यानि स्वयं की साधना इतनी दुरूह प्रक्रिया है कि दार्शनिकों ने स्व-उपलब्धि की धारणा को केवल एक परिवर्तन की क्रमिक प्रक्रिया के द्वारा ही उपलब्ध होना संभव बताया है। आध्यात्मिक प्रगति के लिये सिर्फ एक जीवन काल नहीं, बल्कि अनेक जीवन अपेक्षित है तथा एक बार अंकित प्रगति अगले जीवन में अभिवृद्ध होगी अथवा नहीं, यह व्यक्ति के कर्मों एवं प्रभावों पर ही निर्भर होता है। सम्भवत: इसीलिये मृत्यु को जीवन की सिर्फ एक अवस्था कहा जाता है, जिसमें शरीरी तत्व विखण्डित हो जाते हैं। जीवन और मृत्यु की ये शृंखलाबद्ध कड़ियाँ मनुष्य को अवसर प्रदान करती है कि वे उत्तरोत्तर स्वविकास से इस बंधनयुक्त संसार चक्र से स्वयं को मुक्त कर सके। स्वविकास का मूलमन्त्र सामाजिक एवं नैतिक आचार के सर्वोपस्थित नियामक *'कर्म'* के सिद्धान्त में निहित है, जो आदर्शमूलकता (वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन) की उपरोक्त शर्तों को अपने में समाहित किये हुए है।

मानव जीवन को धारण किये हुए व्यक्ति के कर्मों के दो प्रबल पक्ष हैं- एक वह जिससे वह समाज के सम्पर्क में सामाजिक प्राणी के रूप में रहता है तथा दूसरा वह जिसमें वह केवल अपने तक सीमित रह कर अपने चतुर्मुखी विकास के लिये प्रयत्न करता है। यह दोनों ही पक्ष उसके लिए आवश्यक है, एक के अभाव में दूसरे का विकास संभव नही है। यदि वह एक पर ही आधारित रहेगा तो या तो वह अपना अस्तित्व ही खो बैठेगा या पूर्ण स्वार्थी हो जायेगा। हिन्दू समाज-दर्शन की आदर्शात्मक अभिव्यक्ति परम्परा में निहित इस सुझाव से स्थापित होती है कि समाज से परे या उससे बाहर किसी अन्य दायरे में परम साध्य की उपलब्धि नहीं की जा सकती है। मानव व्यक्तित्व के आध्यात्मिक परिक्षेत्र को यहाँ बिना सामाजिक परिक्षेत्र को अनदेखा किये स्वीकारा गया है। मनुष्य के आध्यात्मिक पहलुओं को इस तरह के दृष्टिकोण में इसलिये महत्वपूर्ण माना गया है क्योंकि एक अच्छा जीवन प्रक्षेपित एवं निर्मित आदर्श की उपलब्धि हेतु जीया गया प्रयास है। इस प्रकार के आदर्श का निर्माण एवं प्रक्षेपण मनुष्य के आध्यात्मिक आकांक्षाओं का सूचक है और परिणामत: जिससे एक व्यक्ति का निजी और संस्थागत जीवन के प्रति दृष्टिकोण परिवर्तित हो जाता है। संकल्पित एवं लक्षित आदर्शो के आलोक में मानव जीवन में परिवर्तन की प्रक्रिया का सूत्रपात करने के संदर्भ में हिन्दू चिन्तनधारा मूल्यों की अवधारणा द्वारा उसमें सन्निहित समाज दर्शन की व्याख्या के सूत्र प्रस्तुत करती है। हमारा अध्ययन हिन्दुओं के इसी समन्वित मूल्य व्यवस्था *(पुरूषार्थ की अवधारणा)* से प्रारम्भ होता है, जो नैतिक सिद्धान्तों द्वारा क्रियान्वित सामाजिक जीवन में गुणात्मक सुधार का प्रतिबिम्बन कराती है।

प्रस्तुत अध्याय में प्रस्तावित हिन्दू समाज-दर्शन का स्वत:-सिद्ध तार्किक विश्लेषण पुरूषार्थ व्यवस्था द्वारा सुनियोजित मानव जीवन के आध्यात्मिक एवं सामाजिक, नैतिक पहलुओ के इसी सम्मिश्रण पर आधृत है। पुरूषार्थ व्यवस्था कतिपय मूल्यों का ऐसा एक विचित्र सम्मिश्रण है, जिनमें कुछ का चरित्र आध्यात्मिक है, तो कुछ का विशुद्ध सामाजिक। यदि हम मनुष्य को उसकी समग्रता में समझना चाहेगें तो हमें उसके व्यक्तित्व के दो प्रबल पक्षों- आध्यात्मिक पक्ष एवं सामाजिक पक्ष को समझना पड़ेगा।

हिन्दू समाज-दर्शन के आधारों के विश्लेषण के आलोक में यह माना जा सकता है कि उसका सर्वोपरि गुण मानव व्यक्तित्व के सामाजिक एवं आध्यात्मिक पहलू के सम्मिश्रण की दिशा में किया गया प्रयास है। पुरूषार्थ सिद्धान्त इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि हिन्दू तत्ववेत्ताओं ने *'समाज में मानव' (Man-in-Society)* के सामाजिक एवं व्यक्तिगत पहलुओं पर सावधानीपूर्वक विचार करने की जरूरत को समझा था। इस सामाजिक चेतना को हम तभी पूरी तौर पर समझ सकेगे, जब हम चार साध्यों अथवा पुरूषार्थों का विस्तृत विवेचन करें। परन्तु, इसकी विहंगमता तथा अध्ययन को विषय- बाह्यता के दोष से बचाते हुए मुख्यत: गीता के सन्दर्भो के साथ स्पष्ट करना अधिक समीचीन है।

खण्ड (क) गीता

(अ) मानव-जीवन के आदर्श

भारतीय संस्कृति में जीवन के वे आदर्श जो मनुष्यों को उनकी उपलब्धियों के लिए उत्प्रेरित करते हैं, उन्हे *'पुरूषार्थ'* कहा गया है। गीता भी धर्म, अर्थ, काम को उन मूल्यों के रूप में अधिष्ठापित करती है जो सामान्य मनुष्य के द्वारा अनुकरणीय है, परन्तु मोक्ष सर्वोच्च मूल्य है। सामान्यत: भारतीय दर्शन भी इन चार आदर्शों को स्वीकार करता है। इस आदर्शो की अनुभवोपलब्धि की प्रविधि को सुनिश्चित करने के लिए शास्त्रों को भी चातुर्वर्गीय व्यवस्था (अर्थात्, (१) धर्मशास्त्र, (२) अर्थशास्त्र (३) कामशास्त्र और (४) मोक्षशास्त्र) के अधीन विभक्तारक्षित रखा गया है। भारतीय जीवन में इनके महत्व को स्पष्ट करते हुए *बी० जी० गोखले ने बताया कि ''हिन्दू धर्म ने कोई भी व्यवस्थित संघ स्थापित नहीं किया, बल्कि उनका जीवन ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की अवधारणाओं से परिपूर्ण है।''* [१] गीता का प्रारम्भ भी प्रथम आदर्श *'धर्म'* के उल्लेख के साथ होता है *(धर्मक्षेत्रे कुरूक्षेत्रे)*।[२] अत: आवश्यक है कि हम मानव अवधारणा के विभिन्न पहलुओं की सम्पूर्ण विवेचना से पूर्व उन आदर्शों को स्पष्ट करें, जिनके सन्दर्भ मे ही अर्थपूर्ण मानव-जीवन की कल्पना हमारे यहाँ की गई है।

(i) धर्म

भारतीय परम्परा में *'धर्म'* को केन्द्रीय स्थान दिया गया है, क्योंकि यह मनुष्य के कर्त्तव्यों और दायित्वों को न केवल एक आध्यात्मिक आधार देता है, बल्कि उसकी जीवन-व्यवस्था को संचालित करने के लिए एक नैतिक-निर्देशक की भूमिक भी निभाता है। इस शब्द के अनेक सुसमृद्ध तथा व्यापक अर्थ प्राप्त होते हैं। एक ओर सामान्य मतानुसार यह ब्राह्मण औ अन्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट कर्मकाण्ड तथा बलि प्रधान प्रकार्यात्मक शृंखला से निर्मित है, तो दूसरी ओर वैशेषिक सूत्र इस *(धम* को नैतिक उद्धार एवं लौकिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला माध्यम मानता है- *यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि स धर्म:*।[३] *'धा*

सांसारिक सुख का भी स्रोत है *(धनः धर्म ततः सुखम्)*।[४] इसके साथ ही जो धर्म का नाश करते हैं, वे विनष्ट हो जाते है और जो इसका प्रसंस्करण करते है वे सुरक्षित रहते है- *"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"*।[५] अतः धर्म भारतीय जीवन में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सूत्र है। विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं, पुराणों आदि ने इस अवधारणा को भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया है। *'गीता'* में इसके महत्व को यह कहते हुए रेखांकित किया गया है कि जब-जब धर्म का पतन होगा और अधर्म व्याप्त होगा, तब-तब दैवी शक्तियाँ स्वयं को मूर्त रूप में प्रकट करेगीं- *"यदा-यदा हि धर्मस्य---"*।[६] यह प्रकटीकरण दुष्टों के विनाश के लिए और धर्म की पुनर्स्थापना के लिए होता है- *'विनाशाय च दुष्कृतानाम्'*।[७]

यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि यह धर्म है क्या, जिसका कालान्तर में पतन होता है? गीता धर्म की प्रकृति पर मौन है, जिसके अनेक अर्थ हो सकते हैं। कतिपय विचारकों का मानना है कि गीता नैतिक निरपेक्षवाद के विरूद्ध कुछ कह रही है। जब गीता यह कहती है कि धर्म प्रत्येक युग में पुनर्स्थापित होता है तो *विस्टरमार्क* के शब्दों में इसका निहितार्थ *"लोगों को न केवल अपने नैतिक विचारों में सुधार की आवश्यकता के लिए, बल्कि जहाँ तक सम्भव हो उनके नियमो को परिष्कृत मानक पर खरे उतारने की दिशा में उत्प्रेरित करने का प्रयास हो सकता है"*।[८] इसका यह भी अर्थ हो सकता है कि अप्रचलित पुरानी नैतिक मान्यताओं को बदलते हुए सामाजिक संवर्ग की आवश्यकताओं की आपूर्ति हेतु समयानुकूल बनाना चाहिए। निरपेक्षवादी जब यह कहते है कि नैतिकता का कतिपय निरपेक्ष मानदण्ड होता है, तो वे इस तथ्य को भूल जाते हैं कि हम स्वकृत्यों के सामाजिक परिणामों की अवहेलना कदापि नहीं कर सकते। गीता के ऐसे आश्वासनो को चाहें किसी भी रूप में समझा जाये यह निश्चित है कि धर्म का स्रोत ईश्वर या किसी प्राधिकारिक आदेश की अपेक्षा सामाजिक अन्दःवंश्यकताओं का निःसरण है। गीता में प्रयुक्त *'धर्म'* शब्द के निहितार्थ को स्पष्ट करने में कृष्ण-अर्जुन का वह सवांदांश प्रासंगिक है, जिसमें धर्म के अनेकानेक अर्थो पर कृष्ण प्रकाश डालते है। महाभारत के तीन श्लोकों में इस बात का सुविस्तृत उल्लेख है कि वो धर्म क्या है, जिसकी स्थापना का कृष्ण गीता में वचन देते हैं। वहाँ कृष्ण कहते हैं: *"धर्म का सृजन सभी के कल्याण के लिए किया गया है।"*[९] साथ ही "वह धर्म ही है जो सभी प्राणियों की किसी अनिष्ट से रक्षा करता है।"[१०] तत्पश्चात् एक सुविस्तृत व्याख्या में बताया गया है कि "धर्म वह है जो लोगों (प्रजा) का निर्वाहन करता है, निश्चिततः *"इस सिद्धान्त को धर्म के रूप में लिया जाना चाहिए, जो सृजन को सम्बल देता है।"* [११] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जो क्रिया स्वरूप की रक्षा करती हुई उन्नति की ओर अग्रसरित करे, वही वास्तव में धर्म की परिधि में आ सकती है। यदि कृष्ण का यह दृष्टिकोण सम्पूर्ण गीता में बिना किसी द्वयर्थकता के दोष से ग्रस्त हुए विद्यमान रहता है, तो निश्चिततः धर्म का अर्थ *"एक नियम के रूप में सम्मुख आयेगा जो समाज को सम्बल देता है और नाश होने से उसकी रक्षा करता है।"* *राधाकृष्णन* द्वारा इसको *"सत्यनिष्ठत्व" (Righteousness)* के रूप में व्याख्यायित किया गया है।[१२] महाभारत में प्रस्तुत परिभाषाओं के परिप्रेक्ष्य में यह कहा जा सकता है कि गीता का विशेष जोर इस बात पर है कि जब कभी सामाजिक संतुलन भंग होता है और समाज संकटाग्रस्त होता है, तो सामाजिक शक्तियाँ किसी ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रूप में घनीभूत होकर दुष्कर्ताओं को नष्ट करती हैं तथा सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप एक अनिवार्यतः परिशोधित मूल्य-व्यवस्था को पुनर्स्थापित करती है। उपर्युक्त

कथन के आलोक में नैतिक दुर्व्यवस्था तथा सामाजिक असंतुलनों को अशुभ के रूप मानते हुए गीता सामाजिक चेतना का परिचय देती है। जीवन जब कभी भी तनावपूर्ण होता है तो एक प्रकार का नकारात्मक मूल्यवाद मानव हृदयों मे परिव्याप्त हो जाता है, जो लोगों को सामान्यत: मूल्य मानकों को पुनर्व्याख्यायित करने के लिए उत्प्रेरित करता है। *राधाकृष्णन्* के शब्दों में *''संतुलन को अक्षुण्ण रखने के लिए विवेक एवं सत्यनिष्ठा का एक उत्तरदायी मूर्तिकरण अनिवार्य है।''*[१३] विभिन्न कालखण्डों मे इस विश्वमंच पर महान विभूतियाँ जनता की इन्हीं आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हुए उभरी हैं। इस नैतिक मानवो का सत्य और न्याय के प्रति संघर्ष का गुण ही उन्हे लोगो की नजरों में देवतुल्य पदवी तक उठा देता है। गीता के इस छन्द पर टिप्पणी करते हुए गाँधी जी कहते है कि *''यहाँ आस्थावान के लिए सान्त्वना है और इस तथ्य का अभिकथन कि सत्य सर्वदा विजयी होता है।''*[१४] आस्था का ऐसा दिव्य कथन समाज को नैतिक उत्साह से प्रतिध्वनित रखने के लिए अनिवार्य है और जो उसे अनियमितता के गह्वर में गिरने से भी बचाता है। व्यवहार्यत: समाज में अन्तर्निहित आदर्श यदि लोगों में विश्वास नहीं उत्पन्न कर पायेंगें तो शायद ही लोग उनके द्वारा निर्दिष्ट कर्मपथादेश का अनुपालन करें।

गीता *'धर्म'* के साथ-साथ सामाजिक आदर्श के रूप में *'स्वधर्म'* को भी महत्वपूर्ण मानती है, जिसका साक्षात्कार किया जाना चाहिये। स्वधर्म की संकल्पना *वर्ण धर्म* के आदर्शात्मक दर्शन का पूर्व मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता है। अत: गीता में वर्णित मानव-जीवन के इस आदर्श की पर्याप्त विवेचना आगामी अध्यायों में यथास्थान की जायेगी।

(ii) अर्थ

भारतीय परम्परा में मानव की मूलभूत आवश्यकताओं के लिए अनिवार्य आर्थिक संसाधन को *'अर्थ'* पुरूषार्थ के माध्यम से स्वीकार किया गया है। सामाजिक दायित्वों के निर्वाहन में इनका विशेष महत्व है। *गोखले* ने वैदिक साक्ष्य को उद्धृत करते हुआ कहा *''अर्थ को व्यक्ति के दायित्च के निर्वहिन के लिए भौतिक वस्तुओं के रूप में परिभाषित किया गया है।''*[१५] *पी० एच० प्रभु* भी अर्थ को *''उन सभी संसाधनों के रूप में समझते है जो सासांरिक सपन्नता हेतु अनिवार्य है''*।[१६] पुन: उन्हीं के शब्दों में *''अर्थ'' की अवधारणा से जीवन की भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति, उनके संकलन, उनके सृजन, उनके संरक्षण, संगठन और उनसे सम्बन्धित ऐसी ही तमाम गतिविधियों का बोध होता है।''*[१७] सामाजिक दायित्व का सीधा अभिप्राय स्वधर्म के क्रियान्वयन से सम्बद्ध है। अत: धर्म की अवधारणा अर्थ को पहले ही मान कर चलती है। अर्थ महत्वपूर्ण है क्योंकि अर्थ यानि भौतिक संपदा विहीन व्यक्ति स्वधर्म विहीन भी होगा। धर्म और अर्थ के सहचरी गुण को अन्य भारतीय सम्प्रदाय द्वारा भी स्वीकृत किया गया है। *महापरिनिर्वाण तन्त्र* का इस सन्दर्भ में अभिमत है कि *धर्म, अर्थ एवं काम तीनो सहगामी होते* है।[१८] गीता भी यह मान कर चलती है कि अर्थ धर्म द्वारा पूर्व-मान्य होता है, इसीलिये *'अर्थ'* की यहाँ न्यूनांश में विवेचना है। भारतीय चिन्तनधारा में समाज और जीवन की भौतिक समृद्धि इसके अध्यात्मवाद से बेमेल कभी नहीं रही और गरीबी यहाँ कभी भी राष्ट्रीय आदर्श नहीं रही। यह तथ्य संदेह से परे है कि जो जीवन में भूखे और तनावपूर्ण है, धार्मिक जीवन नहीं व्यतीत कर सकते। अत: धर्म की पूर्णालब्धि के लिए अर्थ एक पूर्व-शर्त है।

समाज की महत्वपूर्ण प्राथमिक इकाई के रूप में परिवार का महत्व *मैकीवर* और *पेज* के इस कथन कि *''समाज द्वारा*

बनाये गये सभी बड़े-छोटे संगठनों में से कोई भी ऐसा नहीं है, जिसका समाजशास्त्रीय दृष्टि से उतना अधिक महत्व हो जितना कि परिवार का है,''[१९] से स्पष्ट होता है। गीता मे भी प्रथम अध्याय के सात क्रमिक श्लोकों में परिवार की संस्था को विनष्ट होने से बचाने के संदर्भ मे शोचनीय चिन्ता व्यक्त की गई है, जिनमें अर्जुन तर्क करता है कि *''लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये (कौरव) लोग कुल को नष्ट करने में निहित अपराध-बोध को नहीं समझ सकते''*।[२०] अर्थात् लोलुपता में लिपटी उनकी बुद्धि परिवार को विनष्ट करने मे निहित है। अत: परिवार के विघटन से परिणामत: सम्पूर्ण समाज का पतन हो जायेगा। इन श्लोको मे परिवार का एक सामाजिक संस्था के रूप मे और उसके द्वारा किये गये कर्त्तव्यो या दायित्वो का व्यापक महत्व प्रदर्शित होता है। यहाँ परिवार पर बल देते हुए अर्थ एवं काम का मूल्य स्वयमेव ही मान्य हो जाता है क्योकि हिन्दू नीति-शास्त्र मे परिवार गठन का मुख्य उद्देश्य धर्म के साथ अर्थ और काम की उपलब्धि भी माना गया है।[२१]

पुनश्च, भारतीय चिन्तन में *'अर्थ'* की अवधारणा एक सामाजिक मूल्य के रूप में बहुत महत्वपूर्ण है। भारतीय मनीषियो ने न ही आर्थिक विपुलता की भर्त्सना की और न ही दरिद्रता की स्तुति की है। इसके विपरीत यहाँ दारिद्रय एवं विपन्नता को *'अभिशाप'* के रूप में देखा गया है।[२२] इसके अतिरिक्त पारिवारिक दायित्वों से परे वैराग्य की उस अतार्किक प्रवृत्ति की आलोचना भी की गई है, जो समाज की भौतिक प्रगति के लिए हानिकर थी। इस सन्दर्भ में *कौटिल्य* कृत *'अर्थशास्त्र'* यह नियमादेश देता है कि जो व्यक्ति अपने सामाजिक एवं पारिवारिक दायित्वों को पूर्ण किये बिना तप एवं वैराग्य का मार्ग चुनता है, उसे राज्य द्वारा दंडित किया जाना चाहिये।[२३]

गीता में *'अर्थ'* की न्यूनांश विवेचना का तात्पर्य इस पुरूषार्थ की अवहेलना नहीं है। उसकी आलोचना का आधार इस *'अर्थ के लिए अर्थ प्रवृत्ति'* का होना है। इसके आलोक में गीता जिसकी आलोचना करती है वो अर्थ नहीं, अपितु धनलोलुपता (लोभ, संपृक्तता (आसक्ति), इच्छा, राग, धन का मिथ्या घमंड, धनान्धता) आदि है। प्रस्तुत आलोचना द्वारा गीता यह सूचित करना चाहती है कि जब धन ही जीवन का एकमात्र सूत्र बन जाता है, तो विघटन प्रारम्भ हो जाता है। इसीलिये धन हेतु धन की प्रवृत्ति को गीता ने अनुचित माना है और इसी कारण पुरूषार्थ की समेकित व्यवस्था से पृथक कर अर्थ को एक अपवर्जक आदर्श के रूप में अभिकथित किया है। दूसरे शब्दों में *'अर्थ'* को उच्चतर सामाजिक हित और *'धर्म'* के सम्भाग के रूप मे ही अधिग्रहीत किया जाना चाहिये और उसे आचरण की स्वआन्तरिक प्रेरणा नहीं बनने देना चाहिये।

(iii) काम

धर्म की अवधारणा से संपृक्त *'काम'* की अवधारणा आश्रम सिद्धान्त के मनोनैतिक आधार के रूप में परिलक्षित होती है। मानव-जीवन-व्यवस्था के अन्तर्गत उसकी प्रभावकारिता को भारतीय शास्त्रों में व्यापक मान्यता प्रदान की गई है। एकान्तिक तथा अपने सन्दर्भ से विलग होने पर वो मनुष्य के पतन का कारण बन जाता है।

गीता ने *'काम'* को पुरूषार्थ की व्यवस्था के अन्तर्गत सम्मिलित किया है (१८:३४)। विभिन्न स्थलों पर गीता उसकी मनुष्य के शत्रु के रूप में व्याख्या करती है, *(काम एष क्रोध एष----- वैरीणाम्)*।[२४] *'काम'* की शत्रु रूप में *(कामरूपं दुरासदम् ३:४३)* और नरक के द्वार *(नरकस्येदं द्वारं, १६:२१)* के रूप में निन्दा की गई है। *'काम'* के प्रति इस निन्दात्मक दृष्टिकोण

के पीछे तर्क स्पष्ट है कि जब काम धर्म की नियामक परिधि से पृथक हो जाता है तो समाज में एक भ्रष्ट भूमिका अदा करता है। सामाजिक आवश्यकताओ से परे एकान्तिक रूप मे तथा *'त्रिवर्ग'* के एकीकृत सम्भाग से अलग *'काम'* की अवधारणा गीता में स्वीकार्य नही है। गॉधी जी कहते है कि ''जब *'अर्थ'* और *'काम'* *'धर्म'* से विच्छेदित हो जाते है तब वे *मोक्ष को नही बल्कि नरक की ओर ले जाते है''*।[२५]

पुरूषार्थ व्यवस्था में *'काम'* एक सुसंयोजित पहलू है, जो द्वितीय साधनात्मक पुरूषार्थ के रूप में हिन्दू नीतिशास्त्र एवं समाज-दर्शन के मनोवैज्ञानिक आधार को स्पष्टतः सम्पुष्ट करता है। हिन्दू परम्परा में व्यक्तित्व-एकीकरण की मान्यता का एक आध्यात्मिक अर्थ है। इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ मानव-व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक पहलू की अवहेलना की गई है। इस परिप्रेक्ष्य में व्यक्तित्व का गहन मर्म, उन साधनों या मार्गों का महज एक विश्लेषण मात्र नहीं है, जो कि मानसिक संतुलन स्थापित करने में सहायक है। मनुष्य के आध्यात्मिक साध्य पर बल देने का तात्पर्य स्पष्ट रूप से मनोवैज्ञानिकता पर कम ध्यान देना नहीं है, बल्कि इसमें आध्यात्मिकता के माध्यम से मनोवैज्ञानिक पहलू के अधिक गहरे प्रभावों के प्रति ज्यादा ध्यान देने की आवश्यकता का तत्व निहित है। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि *'काम'* की अवधारणा हिन्दू मनीषियों के गहन मनोवैज्ञानिक अन्तः दृष्टियों की एक प्रभावी अभिव्यक्ति को इंगित करती है।

भारतीय चिन्तन में कामकला को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। काम प्रजनन का एक सिद्धान्त है। कामदेव एक दानव नहीं, अपितु हिन्दू देवतागण का एक हिस्सा है। काम की पाप के रूप में निन्दा करते हुए यह कहना कि सम्पूर्ण मानवता पाप की उपज है, यह दृष्टिकोण पूर्णतः अभारतीय है। इसके विपरीत पुरूष एवं स्त्री शक्ति के यौन समागम *(शिव शक्ति मिथुनापिण्ड)* को यहॉ पवित्र संगम मानते हैं।[२६] *'तन्त्र'* में तो यहाँ तक कहा गया है कि मानव व्यक्तित्व का मुख्य अन्तर्निहित तत्व *'शक्ति'* है, जो कामलहरियों की प्रकृति का है।[२७] इसे फ्रायडियन अवधारणा में *'लैगिंक ऊर्जा'* भी कहा जा सकता है। *'तन्त्र'* में देवी को *कामकला* से भी संबोधित किया गया है। इस कला को मनोप्रसारण ऊर्जा के रूप में चित्रित किया गया है, जो शरीर को गति देती है *'प्रसारानां प्रेरणां स कुरूते तमसाकला'*।[२८] इन सभी कथनों को एक साथ रखने पर यह अर्थ निकलता है कि लैंगिक ऊर्जा *(सौन्दर्यलहरी)* प्राथमिक प्रसारक सृजनशील ऊर्जा *(काम कला)* है, जिसके द्वारा मानव संकाय कार्यशील हो जाते हैं। इस सौन्दर्यलहरी को असृजित आनन्द की प्रकृति वाला कहा जाता है।[२९] इस *'आनन्द की प्रकृति'* के सन्दर्भ में *राधाकृष्णन* बताते हैं कि यह एक *'प्रजननात्मक प्रयास'* है।[३०] इस प्रकार 'शक्ति' को ब्रह्माण्ड के प्रथम एवं सर्वोच्च सिद्धान्त के रूप में तथा *'देवी'* को काम कला के रूप में मान्यता देकर भारतीय चिन्तकों ने यौन ऊर्जा को मानव व्यक्तित्व के प्राथमिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।

सामाजिक सन्दर्भो में जब कोई समाज अपनी ऊर्जाओं को संगठित करना चाहेगा, तो निःसन्देह उसे यौन व्यवहारों को किसी प्रकार के नियमन और नियंत्रण की परिधि में लाना होगा। अतः सही दृष्टिकोण यही हो सकता है कि 'काम' धर्म में अवस्थित रहे और उससे अलग-विलग न होने पाये। समग्र रूप में 'काम' की महत्ता *वात्स्यायन* की इस परिभाषा से सुस्पष्ट हो जाती है, जिसका सन्दर्भ मनुष्य में न सिर्फ यौन अपितु गैर यौन इच्छाएँ भी है। उनका दृष्टिकोण है कि *''आत्मा के साथ*

मन की सहायता से पंच इन्द्रियो द्वारा समुचित वस्तुओ का भोग 'काम' है। इन्द्रिय उपकरण एवं उसकी वस्तुओ के मध्य एक अनूठा सम्बन्ध ही इस प्रक्रिया में अभिव्यंजित है तथा इस सम्बन्ध से उभरी हुई सुख की चेतना को 'काम' कहा जाता है'।[३१] इस अर्थ मे *'काम'* शब्द कला के प्रति मानव प्रेम और उससे जुड़े कलात्मक अनुभव से सरोकार रखता है।

सामाजिक आवश्यकताओ के अनुरूप काम की सुसंगत समालोचना करते समय गीता उसके प्रजननात्मक सिद्धान्त की नहीं, अपितु उसके विसंगत सन्दर्भ *'तुष्टि'* की आलोचक है। गीता अर्जुन को तपस्वी या ब्रह्मचारिता का उपदेश नहीं देती। समाज में सामान्य प्रजननात्मक जीवन की प्रवाहशीलता के लिये *'काम'* की प्रवाहशीलता को मान्यता दी गई है। व्यापक अर्थ से संश्लिष्ट *'काम'* की निन्दा का आधार स्पष्ट करते हुए *प्रशस्तपद* का कथन है- *'यद्यपि सामान्य प्रयोग में 'काम' यौन इच्छा का द्योतक है तथापि जब उसे विशेषीकृत किया जायेगा तो वह उत्कण्ठा का सूचक होगा। उदाहरणार्थ स्वर्ग सुख (स्वर्ग कामना) धन (अर्थ कामना) आदि की उत्कण्ठा।'*[३२] यह *'काम'* का वह अर्थ है, जो बंधन का कारण है और इसीलिये निन्दनीय है। उपर्युक्त कथनों के आलोक में यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चिन्तन-धारा में बन्धन की ओर ले जाने वाले उन मान्य आदर्शो का अनुचित अतिरेक भी त्याज्य है। सर्वमान्य तथ्य यह है कि धर्म, अर्थ और काम के तीनों आदर्शों को एक ऐसे सामन्जस्य के रूप में जीना होगा, जिससे जीवन अलंकृत हो सके। नि:सन्देह भारतीय चिन्तन में ये जीवन के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण को द्योतित करते हैं।

पुरूषार्थो का उपर्युक्त सामान्य विवेचन सामाजिक चेतना के इस तथ्य को उजागर करता है कि मनोजैविक एवं आर्थिक आपूर्तियों के होते हुए भी जीवन को सामाजिक समसंगति तथा मानव प्रतिष्ठा के उच्चतर सिद्धान्त के अनुसार नियमित किया जाना चाहिए। *'त्रिवर्ग'* की अवस्था व्यक्ति के भावात्मक, जैविक तथा सामाजिक पहलुओं की संतृप्ति के लिए समृद्ध संसाधन उपलब्ध कराती है। ये आदर्श हमसे ये अपेक्षा नहीं रखते कि हम अपनी सांसारिक इच्छाओं को तिलांजलि दे दें। यहाँ केवल जरूरी यह है कि हम उन्हें उचित संदर्भ में अवस्थित करना सीख सकें। इस तरह के व्यवस्थित पद सोपान एक सामाजिक नैतिक दृष्टि की आवश्यकता को सिद्ध करते हैं। भारतीय मनीषियों ने पुरूषार्थों को सामाजिक जीवन की सफलताओं और विफलताओं की निर्माणकारी परिकल्पना के एक प्रक्रिया द्वारा निर्मित किया है। *प्रभु* ने भारतीय मनीषी के दृष्टिकोण को मनुस्मृति से शब्द प्रमाण उद्धृत करते हुए कहा कि एक वास्तविक अच्छा व्यक्ति इन तीन पुरूषार्थो के सही योग मे अवस्थित है।[३३]

(iv) मोक्ष

हिन्दू समाज-दर्शन मानव के चार निर्धारित लक्ष्यों (धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष) के दृढ़ आधार पर निर्मित है। भारतीय चिन्तन में मोक्ष का आदर्श केन्द्रीय स्थान रखता है। भारतीय दार्शनिकों के अनुसार मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है।

भारतीय चिन्तन-धारा के अनुरूप गीता मे भी मोक्ष की अवधारणा को विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया है। गीता मनुष्य के सम्मुख *'निष्काम कर्ममार्ग'* का आदर्श प्रस्तुत करती है। निश्चय ही इस क्रियाशील जीवन में द्वन्द्व और चिंताए अनिवार्य तत्व है। गीता के अनुसार *'मनुष्य'* के दु:ख का कारण उसका द्वन्द्वात्मक अस्तित्व है- *'इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत'*[३४] और उसके सम्मुख आदर्श स्थिति यह है कि वह इस द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को पार कर जाये- *'ते द्वन्द्वमोह निर्मुक्ता भजन्ते मां*

दृढ़व्रताः।[३५] पंद्रहवे अध्याय के पंचम श्लोक में इसी प्रकार के विचार हैं, जिसमें कहा गया है कि जिन्होने अस्तित्व के द्वन्द्वात्मक श्रेणियों को पार कर लिया है, वे अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं *'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढ़ाः पदमव्ययं तत्'*।[३६] उपर्युक्त अंश उद्धरणों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गीता मनुष्य के सम्मुख किसी आध्यात्मिक या अतीन्द्रिय आदर्श को नहीं रखती है, बल्कि उसका वास्तविक उद्देश्य क्रियात्मक जीवन में उपस्थित द्वन्द्वों से मुक्ति है। इन द्वन्द्वो से परे जाने का अर्थ संसार से परे जाना नही है, अपितु संसार इसके निराकरण का माध्यम मात्र है। इस प्रकार *'निष्काम कर्ममय'* जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हुए गीता मोक्ष को किसी अतीन्द्रिय सत्ता प्रदान करने की अपेक्षा व्यावहारिक सन्दर्भ देती हुई प्रतीत होती है। यहाँ यह प्रश्न समीचीन है कि व्यावहारिक या सांसारिक जीवन में दिखने, अनुभव होने वाले मूल्यो का जीवन के चरम लक्ष्य से क्या सम्बन्ध हो सकता है? इसका उत्तर परम्परागत भारतीय दर्शन की दृष्टि का विरोधी न होकर पूरक है। जीवनमुक्ति के आदर्श का स्वीकृत प्रत्युत्तर भारतीय दर्शन की इस अन्तर्दृष्टि से समेकित है कि मुक्ति प्राप्त जीवन में कटुता, असन्तोष, क्षोभ आदि की निषेधमूलक मनोवृत्तियों एवं क्रिया-प्रतिक्रियाओं का अभाव होना चाहिए। उस जीवन में शान्ति, सन्तुलन एवं स्थिरता की सामन्जस्य उपस्थिति रहनी चाहिए। साथ ही, आदर्श जीवन को, निरन्तर ऐसे सृजनमूलक व्यापारों में संलग्न रहना चाहिये जो अनुक्षण ऊँचे एवं उदात्त मूल्यों को उत्पन्न करने वाले है। तात्पर्य यह है कि आदर्श जीवन आलसी सन्तोष का जीवन न होकर उस स्थिति और क्रियाशीलता का द्योतक है, जिससे लगातार सौन्दर्य और शुचिता अथवा चेतना और विवेक का उन्मेष होता है। आदर्श जीवन और व्यक्तित्व एक ऐसा केन्द्र होता है; जहाँ से सत्य-शिव-सुन्दर की अनगिनत प्रेरणांए निरन्तर समस्त दिशाओं में प्रवाहित होती रहती हैं।

पुनश्च, गीता में मोक्ष की अवधारणाको एक अन्य दृष्टिकोण से देखा गया है। *'आत्मसाक्षात्कार'* का सही अर्थ मानव के रूप में अस्तित्व की विशिष्टता को अनुभव करना है। इस प्रकार की अन्तर्निहित मानवता एन्द्रिक उपागमों द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती है। मनुष्य मात्र एक स्थूल शरीर नहीं है उसके अन्दर एक अविनाशी आत्मा है, जो परमात्मा का ही अंश है। इस समझ की आधारशिला पर खड़े होकर सर्वप्रथम आस-पास के समाज से एकत्व बोध अनिवार्य है। इसी प्रक्रिया मे आगे बढ़ते हुए भूतमात्र से, सारी जड़ चेतन सृष्टि से एकत्व और समत्वबोध में ही इसका अंतिम छोर है। जैसा कि गीता मे कहा गया है- *"अपनी आत्मा में सबको देखना तथा सबमें अपनी आत्मा को देखना।"*[३७] ऐसे एकत्वबोध और समत्व भाव के बिना मनुष्य स्थितप्रज्ञ, भक्त, गुणातीत और ज्ञानी (गीता में वर्णित आदर्श पुरूष) नहीं हो सकता। इसका तात्पर्य है कि मनुष्य पूर्णता को नहीं प्राप्त कर सकता। लेकिन, ऐसा बोध आत्मा और शरीर के भेद को समझे बिना अंसभव है। इसी विभेद को समझ कर अपने आत्मस्वरूप को दृढ़ता से जानना-पहचानना ही आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार है।

इस उद्देश्य को स्पष्ट करने के लिए मनुष्य को तार्किक रूप में समझना होगा। सामाजिकता का ताना-बाना एक मनोवैज्ञानिक संघटक है जबकि उससे उपजी सामाजिक एकता एक आनुभविक एकता है। समाज की समग्र सावयविक (आंगिक) एकता आनुभविक निरीक्षण का हिस्सा नहीं है। आनुभविक पद्धति का सम्बन्ध तथ्यों से होता है, जबकि मानवीय एकत्व तथ्यों से परे एक 'आदर्श' है एवं 'अनिवार्य' है। इसके संज्ञान के हेतु हमें एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता है,

जो हमें हमारे एन्द्रिक अस्तित्व की विशेष श्रेणियों से परे ले जा सके। इसी अर्थ में मोक्ष को हम अतीन्द्रिक (पारलौकिक) मान सकते है। यह ऐन्द्रिकता की *'उपागमनात्मक अतीन्द्रियता' (Methodological Transcendence)* है।

पूर्णता (मोक्ष भाव) की ओर ले जाने वाले मार्गों को अपनी क्षमताओं से विकसित करके मनुष्य जीवन की बाध्यकारी सीमाओं को तोड़ सकता है। यह तभी सम्भव है जब मानव अस्तित्व के एकत्व बोध का दृष्टिकोण सम्मुख हो अथवा कोई व्यक्ति अपने परिखण्डित अस्तित्व को सामाजिक अस्तित्व से समन्वित कर सके। व्यक्ति-हित की सबसे बड़ी संस्था उसकी अपनी अस्मिता और शरीर है, जिसे समाज-हित के विरोध में खड़ा नहीं करना है। व्यक्ति-चेतना समाज-चेतना का अंग है। पृथक् वैयक्तिकता मनुष्य की अपनी अज्ञानता का परिणाम है। गीता व्यक्ति के अस्तित्व को समाज-चेतना का अविभाज्य अंग मानकर चलती है। इस बात को गीता ने शरीर और आत्मा के संबंध को स्थापित करके बताया है। गीता का बल इस बात पर है कि व्यक्ति को लोकहित और आत्मविकास की प्रक्रिया को साथ-साथ चलाना है, जो स्वधर्म अनुपालन से ही सम्भव है। गीता यह सुझाव देती है कि पूर्णता (समसिद्धि) को अपने निर्धारित कार्यों (स्वधर्म) का अनुपालन करके प्राप्त किया जा सकता है।[३८] अत: जीवन के सर्वोच्च उद्देश्य (मोक्ष) को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को दूसरे संसार में नही जाना है, बल्कि उससे आशा की जाती है कि वह अपने सामाजिक कार्यो का पालन करे। इस प्रकार की पूर्णता का भाव तभी आता है; जब मनुष्य अपने कत्तव्यों को लाभ के उद्देश्य से नहीं अपितु निष्ठा, ईमानदारी और मानवता की सेवा भाव के साथ करता है। मानवता से स्वयं को समीकृत करके मनुष्य संकुचित अंहकार से मुक्त हो सकेगा। इस कथन को गीता के बारहवें अध्याय में प्रस्तुत किया गया है- *''मेरे लिये कर्मों का निष्पादन करके तुम पूर्णत्व (सिद्धि) को प्राप्त कर सकोगे''*[३९]। इस प्रकार वैयक्तिकता तथा अंहकार के बन्धन को तोड़कर मनुष्य के क्षितिजों को मानवता के स्तर तक विस्तृत कर दिया जाय तो मोक्ष (पूर्णत्व) का सिद्धान्त उसको आनन्दमय भाव से युक्त कर देगा। इस आदर्श की प्रकृति का वर्णन करते हुए गीता बताती है कि *''जो (पुरूष) आनन्द को केवल अन्तर आत्मा में प्राप्त करता है आत्मा में ही आरामवाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञानवाला है वह योगी प्रकृति से एकीकृत होकर ब्रह्म निर्वाण प्राप्त कर चुका है''*।[४०] 'यह ब्रह्म के एकाकार' प्राप्त करने की प्रक्रिया.है।[४१] आनन्दपूर्ण अस्तित्व की यह अवस्था इस संसार में जीवित रहते हुए लोभ और क्रोध के भावावेगों को संयमित करते हुए प्राप्त की जा सकती है- *कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्त: स सुखी नर:*।[४२] आनन्द को अन्तर्आत्मा में अन्वेशित करने का यह आदर्श सुख-यौनिक प्रवृत्तियों का निरोध करते हुए जीवन की सभी प्रकार की हताशाओं को समाप्त करता है।

पुन:, एक नैतिक आदर्श के रूप में मोक्ष के मर्म को स्पष्ट करते हुए समाज दार्शनिक कहते हैं कि ''यदि संस्कृति सर्वोच्च स्वमूल्य न रहे तथा यह मात्र सपन्नता और खुशी के लिए जीवन के क्रियात्मक सुधार का एक साधन बन कर रह जाय, तो संस्कृति तृतीय श्रेणी स्तर के साधन मूल्य तक पदावनित हो जायेगी। इसके माध्यम से समाज-दार्शनिक यह कहना चाहते हैं कि एक प्रकार की सामाजिक विखण्डनता बढ़ेगी, तो संस्कृति एक असृजनशीलता में परिणत हो जायेगी। अत: आवश्यक है कि समाज के समक्ष नैतिक आदर्श के रूप में एक ऐसा मूल्य हो जो मनुष्य को उसके पूर्ण वास्तविक अस्तित्व से समीकृत.करे। संस्कृति की जड़ता तथा जड़ सभ्यता द्वारा मनुष्य को निगलने से रोकने के लिए धर्म, अर्थ और काम की

त्रिवर्गीय संस्कृति अनिवार्य है। साथ ही, *'पूर्ण वास्तविक अस्तित्व'* को प्राप्त करने के लिए मनुष्य को सुखवादी दृष्टिकोण से परे जाकर मूल्यों के आयाम में अधिष्ठापित होना पड़ेगा। मोक्ष परम आदर्श है, क्योंकि उसका आधार गवेषणात्मक है जो संस्कृति को पतनोन्मुख होने से बचायेगा। इस गवेषणात्मक आदर्श को गीता ने विभिन्न नाम दिये जैसे- मनुष्य की मनुष्य से एकता *(ब्रह्म निर्वाण, २: ७२)*, उच्चतम सुख *(परम निर्वाण, ६: १५)*, पूर्णत्व की अवस्था *(समसिद्धि, ६: ४६, ८: ४५)* तथा मानवीय अस्तित्व का उच्चतम पद *(ब्रह्म स्थिति, ५: १९), (परमस्थान, ८: २८)* इत्यादि।[४३]

मोक्ष की उपरोक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मुमुक्षा स्वयं के विलग एकान्तिक वैयक्तिकता को मानवता में विलय करने की उत्कण्ठा है। यह कोई 'अन्य' की या पारलौकिक अनुभव की उपलब्धि नही है, बल्कि यह स्वयं के अपने आधारों से अनुभूति है। गीता मे विद्यमान 'अनासक्ति' का सिद्धान्त मनुष्य में अन्तर्निहित उस तत्व का निषेध करता है, जो मनुष्य को मनुष्य से पृथक करने के लिए उत्तरदायी है। इस निर्देशक सिद्धान्त से युक्त मोक्ष का भाव मानवता को नैतिक आभा से ओत-प्रोत करते हुए एक अधिक सुविस्तृत, सुखमय संसार में जीवन के पूर्णत्व की ओर प्रेरित करता है। 'मोक्ष' मनुष्य की पूर्णत्व की ओर अभिलाषा है।

भारतीय समाज की आशा, आकांक्षा और परमध्येय पुरूषार्थ सिद्धान्त में प्रतिबिम्बित है। इन पुरूषार्थों की कतिपय सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त हिन्दू संस्कृति में इस पर विद्वानों की अपनी एक विशेष 'दृष्टि' भी रही है। भगवद्गीता ने भी इसे अपने सन्दर्भों के अनुसार एक विशिष्ट अर्थ में प्रस्तुत किया है। प्राचीन भारतीय समाज दर्शन के आधारस्वरूप उपरोक्त पुरूषार्थो का भगवद्गीता (जो कि हिन्दू संस्कृति का अंग है) के सन्दर्भों में विवेचना का कारण उस विशिष्ट अर्थ दृष्टि को स्पष्ट करना है। एक सामान्य भूमिका द्वारा हिन्दू आदर्शों को गीता के सन्दर्भ अर्थ के साथ स्पष्ट करते हुए जब आगे बढ़ते है तो हम उन विशेष सन्दर्भों की ओर आते है जो गीता की अपनी विशिष्टता है। गीता के इन मूलभूत सिद्धान्तों का उसके अपने सन्दर्भों के साथ एक अलग निहितार्थ है; जो कि हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत उसे एक विशिष्ट स्थान प्रदान करते हैं। द्वितीय अध्याय के इस खण्ड में हम गीता के उन विशेष सन्दर्भों को सर्वप्रथम मानव की अवधारणा से सम्बद्ध पहलुओ के अन्तर्गत देखेगें। इसमें जीव की प्रकृति, ब्रह्म, जीव का सम्बन्ध, आदर्श पुरूष एवं मानव जीवन का परम उद्देश्य आदि चरणबद्ध सोपान हैं।

(ब) गीता में मानव

मानव की परिकल्पना अलग-अलग संस्कृतियों में अलग-अलग रही है। संस्कृति के स्वरूप निर्धारण तथा व्यक्ति और समाज के आशा, आकांक्षा के निरूपण-रूपांकन में इस परिकल्पना की अहम भूमिका होती है। कुछ मायने में इस परिकल्पना की भूमिका समाज के संगठन तथा संचालन में भी होती है। यहूदी-ईसाई परम्परा में मानव *"प्रथम-मूल पाप" से ग्रसित बाधित है, पथच्युत है*[४४] ईश्वर उसका नियन्ता और मार्गदर्शक है, लेकिन ईश्वर और जीव अलग-अलग हैं। दोनों में विभेद है।

गीता को उपनिषद् द्वारा निर्धारित मनुष्य का स्वरूप ही मान्य है। उस स्वरूप की अवधारणा है कि जीवात्मा परमात्मा का ही अविनाशी और सनातन अंश है। स्थूल शरीर से परे मनुष्य की आत्मा है, और वह परमात्मा का अंश है। इसे यों भी

कह सकते हैं कि जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है *(यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे)*। यह अविनाशी आत्मदेव ही ब्रह्मदेव है। इस बात की विवेचना गीता के द्वितीय अध्याय में देह और देही तथा तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के विभेद के रूप मे कही गयी है। आत्मा और शरीर का विभेद गीता के सभी अध्यायों में उजागर हुआ है। अब यहाँ जीव की वास्तविक प्रकृति को स्पष्ट करना आवश्यक है।

(i) जीव की प्रकृति

प्रत्येक विचार का प्रारम्भ मनुष्य की अपनी मानसिक स्थिति के द्वारा ही होता है। बाह्य जगत हो अथवा काल्पनिक जगत मन के अन्दर आकर ही उसकी अनुभूति होती है। अर्जुन की विषादयुक्त मन:स्थिति का प्रकटन किंकर्त्तव्यविमूढ़ता में होता है। वस्तुत: उसकी यही समस्या मूलत: बाह्य तथा आभ्यांतर संघर्ष के रूप में प्रथम अध्याय में वर्णित है। अपने सन्दर्भ के अनुरूप श्रीकृष्ण जिस विषय को सर्वप्रथम अपने संवाद में लेते है, वह है देहात्मा का स्वरूप-यह ऐसा विषय है जो तत्क्षण प्रासंगिक है क्योंकि युद्ध की स्थिति में अर्जुन न केवल अपने जीवन को दाँव पर लगायेगा अपितु, अनिवार्यत: वह दूसरों को भी जीवनच्युत करेगा। अत: सर्वप्रथम कृष्ण ने देहात्मा की अमरता को दो अर्थों में स्थापित किया। *प्रथमत:* एक कालातीत चिदगुण रूपी *सूक्ष्म ईश्वरांश के रूप में*[४५] *जो न पैदा होता है, न मरता है अथवा न यह आत्मा हो करके पुन: होने वाला है क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है*।[४६] चूँकि वह कालातीत है, उसके जरा-मरण के विषय में बात करना अर्थहीन है। फिर भी जहाँ तक वास्तव में वह मनोकायात्मक सावयवी व्यक्तित्व से संपृक्त हो निरन्तर *पुनर्जन्मित (नित्यजातं) एवं पुन: मृतावस्था*[४७] को प्राप्त होता है स्वयं अपने आप में स्थैतिक अकाल सनातन होता है। इसके साथ ही एक शरीर से दूसरे शरीर में स्थानान्तरित होते हुए अनिवार्यत: एक निश्चित मानव व्यक्तित्व से संयुक्त होता है।

द्वितीयत: स्वयं में *'स्वत्व' (आत्मा)* स्थैतिक एवं निष्क्रिय दोनों ही है; न ही वह कार्य कर सकता है और न ही कार्यारम्भ। क्रिया भौतिक प्रकृति के परिक्षेत्र में है और *जहाँ तक स्वत्व एक मनोकायी सावयव से संपृक्त होता है वही तक हम उसको क्रियाशील कह सकते हैं*।[४८] उसका एकमात्र स्वतन्त्र कार्य *अनुभव (भोक्तृत्वे)* करना है[४९] तथा यह इसलिये कि वह स्वयं को इनसे (मनोकायाकारी तत्व) जोड़ता है। प्रकृति के गुणों सुख-दु:ख आदि विकारों से बद्ध रहने के कारण आत्मा को ही 'क्षेत्रज्ञ' या 'जीवात्मा' कहते हैं। गीता के शब्दों में *''प्रकृति में आश्रित पुरुष प्रकृति जनित गुणों को अनुभव करता है; इन गुणों से सम्पर्क उसके अच्छे या बुरे भ्रूणों में जन्म का कारण है।''*[५०] यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब आत्मा भौतिक प्रकृति के गुणों से असम्बद्ध है, तो वह किस प्रकार इन तीन गुणों (सत्व, रज, तम्) के द्वारा शरीर से सम्बद्ध होता है। इस सन्दर्भ में गीता माया के सिद्धान्त को प्रयुक्त करती है, माया सीमितता और परिधियाँ नियमित करती हैं; जो मनुष्य को बन्धन में रखते हैं। सप्तम अध्याय के चौदहवें श्लोक में गीता उद्घोषणा करती है; चूँकि *त्रिगुणों से निर्मित मेरा यह दैवी भ्रामक रहस्य (योगमाया) अभेद्य (दुरत्यया) है, लेकिन जो मुझे अपना एकमात्र आश्रयदाता बना लेते हैं वो इस छद्म भेष को भेद पाते हैं*।[५१] इस विस्मयता के अधीन एक मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ रहता है। गीता के अनुसार अपनी *अद्वितीय शक्ति द्वारा सृजित भ्रामक रहस्य से छिपा हुआ 'मैं' सभी को उद्घाटित नहीं होता (योगमायासमावृत:) इसकी विस्मयता के*

चलते विश्व मुझे जन्महीन और परिवर्तनहीन नहीं मानता।[५२] माया के इस प्रकार के वर्णन से यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि आनुभविक अहं; जो कि एक अलग वैयक्तिकता है, विस्मयता एवं अज्ञानता का प्रतिफल है। गीता स्पष्ट करती है जब व्यक्ति स्वयं को अस्तित्व की भौतिक विधियों से जोड़कर देखता है, तो वह अपनी महानता और प्रतिष्ठा को विस्मृत कर सभी इन्द्रियो का प्रयोग अहंकारवादी संतुष्टि की पूर्ति हेतु करता है। इस प्रवृत्ति के चलते वह मनोवैज्ञानिक सुखवाद के निम्न स्तर तक उतर आता है। बन्धन से ऊपर उठने के लिये *व्यक्ति को अपने अस्तित्व की भौतिक कार्यविधियों से ऊपर उठकर गुणातीत बनना होगा।*[५३] मुक्ति प्राप्त करने के लिये वैयक्तिक सत्व के इन अहं केन्द्रित घेरो को तोड़ना अनिवार्य है। यहाँ द्रष्टव्य तथ्य यह है कि स्वत्व और मनोकायाकारी सावयव जिससे वह सम्बद्ध होता है, के मध्य पूर्ण भेद नहीं है क्योंकि *'स्वत्व' (आत्मा, Self)* सम्पूर्ण व्यक्तित्व का केन्द्र-उसके एकत्व का सिद्धान्त है। यद्यपि स्वयं वह निष्क्रिय होता है, तथापि संपूर्ण मानव व्यक्तित्व के प्रमुख संकायों के लिये वह एक चुम्बक के रूप में कार्य करता है। वह अपने चुम्बकत्व का सर्वाधिक बल अपने सर्वाधिक समरूपी आत्मा या चिन्तनशील प्रज्ञा (बुद्धि) पर दिखाता है, जबकि उसके आकर्षण का प्रभाव अभिव्यक्तिमूलक प्रज्ञा *(मनस्)* पर अपेक्षत: कम शक्तिशाली होता है, और इन्द्रियों पर सबसे क्षीण जिनमें *'राग और द्वेष'* रूपी *'मार्ग के शत्रु'* अवस्थित होते हैं।[५४]

गीता में आत्मोपलब्धि जिसका अभिप्राय एक शाश्वत चिद्णु और ईश्वरांश के रूप में *स्वत्व* (Self) की अनुभूति है तथा मानव व्यक्तित्व की सम्पूर्ण शक्तियों के स्वत्व (आत्मतत्व) में समाहित होने से जो फलित होता है। जिसके अन्तर्गत वे शक्तियाँ विनष्ट न होकर एक एकत्व में जुड़ जाती हैं। इस प्रक्रिया को *'योग'* कहा जाता है। जिसको इन सन्दर्भों में *आर. सी. जेहनर* ने *एकीकरण (integration)* के रूप में अनुवादित किया है। शाश्वत, कालातीत *स्वत्व* (Self) में मानव व्यक्तित्व के संपूर्ण संकायों का संपृक्त होना इस एकीकरण प्रक्रिया का चरम बिन्दु है। गीता के अनुसार इन्द्रियों की इन्द्रियों के विषयों में *'अनासक्ति'* ही वह सिद्धान्त है, जो व्यक्तित्व के केन्द्र-स्वत्व (आत्मा) में अवशोषित हो सकती है। तात्पर्य यह है कि *'अनासक्ति' द्वारा ही मानव व्यक्ति की सम्पूर्ण शक्तियाँ 'स्वत्व' में समाहित हो आत्मोपलब्धि करती हैं*[५५] एकीकरण की इस प्रक्रिया से *स्थिर बुद्धि वाला होकर*[५६] *व्यक्ति अन्तरात्मा में सुखी हो शान्त ब्रह्म को प्राप्त होता है*[५७] चूँकि *ब्रह्म सभी पदार्थों में एक अपरिवर्तनीय तत्व है, निर्दोष और सम है*[५८] इसी प्रकार आत्मा भी एक व्यक्तित्व के सम्पूर्ण बहुलताओं को अपने भीतर समाहित कर लेने के पश्चात स्वयं को एक उस विस्तृत अस्तित्व (ब्रह्म) के रूप में देखता है, *जिसमे सकल ब्रह्माण्ड अपनी एकता और अपनी बहुलता में संयोजित है*[५९] इस प्रकार *सर्वव्यापी अनन्त चेतन मे एकीभाव से स्थितिरूप योग से युक्त हुए आत्मावाला तथा सब में समभाव से देखने वाला योगी आत्मा में देखता है*[६०] अत: मनुष्य द्वारा अपने स्वयं की सार्वभौमिकता की अनुभूति की लालसा ही *'ब्रह्म निर्वाण'* या *'स्वज्ञान'* है। गीता अज्ञान द्वारा निर्मित असत्य असंलग्नता को समाप्त कर वास्तविक *स्वत्व (Self)* को सार्वभौमिक तत्व से समेकित करने की शिक्षा देती है। साथ ही, *जो अपने विलग अहं चेतना को अपने क्रियाओं का केन्द्र बनाते हैं तथा निम्न या निकृष्ट कामनाओं के साथ कार्य करते हैं, उन्हें गीता अनैतिक व्यक्ति के रूप में चिह्नित करती है*[६१] गीता में अर्जुन भी उस व्यक्ति का प्रतीक है जो अपने विलग अहं चेतना को अपनी

क्रियाओ का केन्द्र बनाना चाहता है। उसके अनुसार सारभूत ज्ञान वह है, जिसका अनिवार्य सम्बन्ध उसके अपने अस्तित्व से है। वह अपने को व्यक्ति के रूप मे सबसे अलग एवं प्रधान मान कर चल रहा है। वह *'मैं'* की सत्ता के प्रति समर्पित होकर *'हम'* का निषेध करना चाहता है।

गीतोपदेश में श्रीकृष्ण ने सर्वप्रथम जीवात्मा के स्वरूप को बताकर अर्जुन को उपरोक्त प्रवृत्ति के प्रति अगाह किया है। यहाँ गीता के समाज-दर्शन का एक महत्वपूर्ण बिन्दु उजागर होता है, वह है- वैयक्तिक चेतना *(अहं)* का सार्वभौमिक तत्व *(सामाजिक चेतना)* से समेकित होना। आज के मानव के समक्ष अस्तित्व रक्षा के प्रश्न का जो समाधान गीता प्रस्तुत करती है वह है- समष्टिगत नैतिकता या धर्म *(कर्त्तव्य)* के सम्मुख आत्मसमर्पण। व्यष्टि चेतना और समष्टि चेतना की यही अन्विति है, जिसे गीता ने जीवात्मा की मुक्ति की संज्ञा दी है।

मानव अवधारणा के अध्ययन के संदर्भ में दो महत्वपूर्ण प्रश्न होते हैं- (क) इसमें प्रथम प्रश्न मानव प्रकृति व स्वभाव से सम्बद्ध होता है जबकि (ख) दूसरा, मानव अवधारणा के दार्शनिक आधार से जुड़ा है। जीव की प्रकृति को गीता के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करने के पश्चात हम द्वितीय प्रश्न मानव अवधारणा के दार्शनिक आधार की विवेचना पर आते हैं। गीता सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता के रूप में ईश्वर को मानती है। अत: जब तक ईश्वर की अवधारणा एवं ईश्वर तथा मनुष्य के सम्बन्ध का निर्धारण नहीं हो जाता मानव का स्वरूप भी अस्पष्ट रहेगा।

(ii) मानव और ईश्वर का तादात्म्य

गीता में परम तत्व की चर्चा प्राय: द्विविध प्रकार से हुई है। अव्यक्त ब्रह्म भाव से जो गुणातीत है, अव्यय है, अक्षर है, निर्वैयक्तिक है, अचिन्त्य है, अनुभवातीत है। तथा दूसरा अनुभवगम्य व्यक्त भाव से अवतार के रूप में, विश्वात्मभाव से तथा अभिव्यक्त सृष्टि के अन्तर्गत सनातन जीवभावापन्न प्रभुभाव से, जो सब में ओत-प्रोत है, सबमें अनुगत है, सबसे प्रवृत्त तथा वैयक्तिक सत्ता है। किन्तु बीच-बीच में श्रीकृष्ण उत्तम पुरूषीय भाषा में *'अहं', 'मम्', 'माम्'* पदों के साथ अपनी विलक्षण दिव्य भगवत्ता का भी संकेत करते रहें हैं। जिसमें वैयक्तिक निर्वैयक्तिक भाव का समावेश भी है, अतिक्रमण भी और समन्वय भी है।

दर्शनशास्त्रीय विचार-बुद्धि गीता की इस भाषा के कारण सुनिश्चित तत्व मीमांसा में एक कठिनाई का अनुभव कर सकती है। उसके लिए गीता में किया गया श्रीकृष्ण का उद्घाटन ही मानव बुद्धि को प्रकाशित कर सकता है। अत: श्रीकृष्ण की वाणी को समग्रत:, सर्वांगत:, समन्वित भाव से ग्रहण किया जाना चाहिए। श्रीकृष्ण कहते हैं कि सभी भूतादि तत्वत: पुरूष है। सातवे अध्याय में परा और अपरा अपनी द्विधा प्रकृति का उद्घाटन करते हुये वे कहते है- *''इस लोक में दो पुरूष हैं क्षर और अक्षर समस्त भूतादि क्षर पुरूष है और कूटस्थ अक्षर पुरूष है। उत्तम पुरूष इन दोनों से अन्य हैं, उसे परमात्मा कहते हैं, वह तीनो लोकों में समाविष्ट हुआ उनका भरण करता है, वह ईश्वर है* (१५:१६-१७)। इस तात्विक सत्य का उद्घाटन मानव मति से नहीं हो सकता क्योंकि श्रीकृष्ण जिस सत्य का उदघाटन कर रहे है, वह है सर्वाशयी, सर्व समावेशी, सर्वान्वयी सत्य। यह किसी तार्किक प्रक्रिया के बल पर उद्घाटित नहीं किया गया, बल्कि सहज रूप से अभिव्यक्त हो रहा

है। वे क्षर को भी पुरूष तथा अक्षर को भी पुरूष कह रहें है और इन दोनों को उस परम पुरूष के अन्तर्गत समाहित कर देते है जो इनका अतिक्रमण भी करता है, इन्हें सार्थक भी बनाता है। वही सर्वोत्तम भाव से पुरूषोत्तम है।

व्यक्ति का ब्रह्म से तादात्म्य का सम्बन्ध उपनिषदीय दृष्टाओं के लिए सदैव महत्वपूर्ण रहा है, और वह *'मैं ब्रह्म हूँ'*, यह *'स्वत्व ब्रह्म है'*[६२] इत्यादि अभिकथनों के रूप में उनके हृदयों से ससंवेग निःसृत हुआ है। लेकिन प्रश्न है कि क्या मानव और ईश्वर या आत्मा और परमात्मा एक ही तत्व है? जैसा अद्वैत वेदान्त ने *'तत्वमसि', 'अहं ब्रह्माऽस्मि'* कहकर इसको प्रकट किया है या फिर मानव और ईश्वर के बीच भेदाभेद का सम्बन्ध है। शंकराचार्य अपनी कथनोक्ति *'जीवो ब्रह्मैव नापरः'* में दोनों के मध्य एक पूर्ण तादात्म्य देखते हैं। उनके अनुसार परिसीमित एवं अपूर्ण आनुभविक मानव स्वत्व भी बह्म का एक प्रतिरूप है और इसलिये उसे उससे अपृथक् समझा जाना चाहिए।

गीता ने विभिन्न स्थलों पर आत्मा और ब्रह्म की इस *अनिवार्य एकता* को[६३] मान्यता दी है। गीता के शब्दों मे *जीव ईश्वर का अंश* है।[६४] क्या इसका यह अर्थ है कि ईश्वर को कई भागों में विभक्त किया जा सकता है? यदि नहीं तो इस कथन का क्या अर्थ है? इस पर टिप्पणी करते हुए *राधाकृष्णन्* समझाते हैं कि *'इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वोच्च (ईश्वर) भागों में या टुकड़ों में विभाज्य है'*।[६५] अतः व्यक्ति को उनके द्वारा एक नाभिकीय रूप में सर्वोच्च गति स्वरूप माना गया है। इस अंश को समझाते हुए महात्मा गांधी भी *'अनासक्ति योग'* के व्याख्यान में इसका समर्थन करते हैं कि *''प्रत्येक में अपने को अभिव्यक्त करते हुए व्यक्तिगत आत्मा सर्वोच्च के अखण्ड का हिस्सा है।''*[६६] इससे स्पष्ट है कि यहाँ अंश शब्द को शब्दतः नहीं लेना चाहिए।

पुनश्च अपने मत को स्पष्ट करते हुए गीता मानती है कि *'वह अविभाज्य है और फिर भी प्राणियों के मध्य विभाजित प्रतीत होता है।'*[६७] यहॉ यह प्रश्न उठता है कि जब सर्वोच्च का विभाग असम्भव है तो वह कैसे एक विशेष जीव को अन्तः स्थित कर सकता है? यदि *'मैं ब्रह्म हूँ'* तुम ब्रह्म हो तथा अन्य ब्रह्म है तो या तो उतने ही सर्वोच्च हैं जितने कि संख्या में व्यक्ति अथवा प्रत्येक को अन्तःस्थित करने के लिये सर्वोच्च हिस्सो में विभक्त है। गीता इस प्रकार के विभक्तीकरण को अमान्य करती है। सात्विक ज्ञान का वर्णन करते हुए गीता इस बात की पक्षधर हैं कि *'भाज्यों में एक अमर्त्य तत्व अविभाज्य दिखाई देता है।'*[६८]

इस प्रकार जीव को ईश्वरांश मान लेने से ही परिप्रेक्ष्य परिवर्तित हो जाता है। कदाचित इसका तात्पर्य है कि मनुष्य केवल पाशविक और शारीरिक प्रवृत्तियों का यांत्रिक संगठन ही नहीं है वरन् उसका बौद्धिक एवं आध्यात्मिक पक्ष भी है। मानव स्वविकास की प्रक्रिया में स्थूल से सूक्ष्म, बाह्य से आभ्यान्तर एवं भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर जाता है जो कि उसका वास्तविक स्वरूप है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि गीता यथार्थवाद से परे जाकर मानव निहित पाशविक वृत्तियों की अवहेलना करती है। गीता का ध्येय आसुरी एवं दैवी वृत्तियों के महाभारत में अन्ततोगत्वा दैवी वृत्तियों के विजय द्वारा मानव के आध्यात्मिक पक्ष को सम्पुष्ट करना है।[६९] मानव का यह आध्यात्मिक स्वरूप या उसको ईश्वर का अंश मानने से यह प्रतिफलित होता है कि मानव स्वभाव अनिवार्यतः शुभ है। साथ ही, हर व्यक्ति में एक ही ईश्वर का अंश विद्यमान है तो

फिर मानव मात्र की एकता भी स्वत: स्थापित हो जाती है। मनुष्य चूँकि पूर्णता के विकास-क्रम में है, वह विशुद्ध आत्मा नही, बल्कि शरीर और आत्मा का समन्वय है। इसलिये उसके अन्दर संवेग, भावावेश, आवेश एवं उद्वेग आदि का सम्मिश्रण है। आत्मा का बंधन शरीर के कारण है और इसलिये वह दु:प्रवृत्तियों एवं भावावेशों का शिकार होता है। मुक्तावस्था में जीवात्मा बिल्कुल शुद्ध एवं निर्मल होती है। अत: शुभत्व ही आत्मा का अनिवार्य गुण है। अपूर्णता से पूर्णता की ओर सतत बढ़ते जाना मानव जीवन का लक्ष्य है। गीता की शिक्षा नर से नरोत्तम होकर अंत में नारायण में आत्मसात हो जाने की है और यह कामना ही मानव जीवन का आदर्श है।

(iii) गीता के आदर्श-पुरूष

गीता में नर से नरोत्तम की परिकल्पना के अनेक प्रसंग है। गीता में वर्णित ये आदर्श पुरूष विभिन्न प्रसंगों और स्थलों में स्थितप्रज्ञ, योगी, भक्त, गुणातीत आदि के रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरक्त अन्य स्थलों पर पण्डित, योगारूढ़, ज्ञाननिष्ठ और बुध के रूप में भी इनका विवरण है।

'स्थितप्रज्ञ' गीता का आदर्श पुरूष विशेष है। सबसे पहले और सबसे अधिक विस्तार तथा गहराई से *'स्थितप्रज्ञ'* का रूपांकन किया गया है। यह शब्द गीता का विशिष्ट शब्द है। गीता के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में वह नहीं मिलता। गीता के द्वितीय अध्याय के अठ्ारह श्लोकों मे स्थितप्रज्ञ का रूपांकन है। स्थितप्रज्ञ का अर्थ है, जिसकी प्रज्ञा स्थिर हो अर्थात् जो सुख-दुःख, क्लेश, आनन्द, ईर्ष्या-द्वेष आदि द्वन्द्वों में समबुद्धि रखता हो। जिसका मन द्वन्द्वों और अस्थिरताओं से प्रभावित न होता हो, वही पुरूष *'स्थितप्रज्ञ'* है। श्रीकृष्ण अर्जुन को स्थितप्रज्ञ का लक्षण बताते हुये कहते हैं, *''हे अर्जुन! जब मनुष्य अपने मन की सम्पूर्ण इच्छाओं का परित्याग कर देता है और अपनी आत्मा में आत्मानन्द द्वारा संतुष्ट रहता है उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं''*[७०]

भगवद्‌गीता-भाष्य में *आचार्य शंकर* ने इसको इस प्रकार कहा है: *''जब मनुष्य मन में स्थित, हृदय में प्रविष्ट, संपूर्ण कामनाओं को, सारे इच्छा भेदों को भली प्रकार त्याग देता है अर्थात् पुत्र, धन और लोक की समस्त तृष्णाओं को त्याग देता है, तब वह आत्माराम, आत्मक्रीड और स्थितप्रज्ञ कहलाता है।''*[७१]

अर्जुन का ध्येय चूँकि स्थितप्रज्ञ के व्यावहारिक और दृष्टिगोचर लक्षण जानना है[७२] क्योंकि अब तक वह बाह्याचरण के आदर्शों का ही पालन करता आया है। गीता मे वर्णित स्थितप्रज्ञ व्यवहार-जगत से परे कोई अवास्तविक या काल्पनिक आदर्श पुरूष नहीं है, वह हम जैसा इस समाज में विचरने वाला, दो हाथ-पैर का मनुष्य है, जिसमें काम-क्रोध-लोभ-मोह के साथ ही बुद्धि-विवेक और अदम्य जिज्ञासा तथा श्रद्धा है। जो निरन्तर प्रत्यनों द्वारा अपनी कमजोरियों से संघर्ष करके, उन्हें जीतता हुआ क्रमश: आगे बढ़ता हुआ, अन्त में स्थितप्रज्ञ बनकर समाज के बीच ही रहता है। उसमें भक्त, योगी, ज्ञानी के गुण एक साथ ही दृष्टिगोचर होते हैं। वह केवल आत्मकल्याण में ही निरत नहीं रहता, वरन् उसका आत्मकल्याण लोककल्याण का ही पर्याय है। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि वह लोककल्याण में ही स्वकल्याण को देखता और निरन्तर अनुभव करता हुआ सृष्टि की विनम्र सेवा में रत रहता है। व्यक्ति का यह समाज सापेक्ष उदात्तीकरण गीता के समाज दर्शन की अद्‌भुत देन है और श्रीकृष्ण इसके सर्वमान्य उदाहरण हैं।

स्थितप्रज्ञ के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते है कि स्थितप्रज्ञ के सभी लक्षण आंतरिक हैं सभी का सम्बन्ध अंतश्चेतना से है। वे कहते है:-

"हे पार्थ! जब व्यक्ति मन की समस्त कामनाओं को निकाल देता है, और अपने-आप से अपने-आप में संतुष्ट रहता है, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं।[७३]

"वह मुनि स्थितधी कहलाता है, जिसका मन दुःखों में उद्विग्न नही होता, सुखों में स्पृहा नहीं रखता, जिसका राग, भय और क्रोध मिट गया है।[७४]

"जो व्यक्ति शुभाशुभ सभी परिस्थितियो में विरक्त रहे, जो उन्हें प्राप्त करके न तो आनंदित हो, न द्वेष करे, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।[७५]

"जो अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से इसी प्रकार समेट ले जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को समेट लेता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।"[७६]

इन सभी लक्षणों के साथ बुद्धि को योगयुक्त करने की साधना का परामर्श भी है। उस आंतरिक साधना के लिए श्रीकृष्ण मनुष्य की मनोगत प्रकृति का एक अद्भुत उद्घाटन करते है, जिससे समस्त मानसोपचार के लिए एक अमूल्य पथ-प्रदर्शन मिलता है। उसमें विषयों और इंद्रियों से लेकर मनुष्य की स्मृति और बुद्धि तक एक ऐसी कार्यकारण श्रृंखला है, जिसमे असावधान व्यक्ति फंस जाता है और उसका व्यक्तित्व नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। गीता के शब्दों में :

"विषयों का ध्यान करने वाले व्यक्ति का उन विषयों में संग उत्पन्न हो जाता है, संग से काम की उत्पत्ति हो जाती है, काम से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से संमोह उत्पन्न हो जाता है, संमोह से स्मृति नाश, स्मृति के भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि नाश से व्यक्ति स्वयं नष्ट हो जाता है।"[७७]

इस प्रकार पतन की प्रक्रिया विषयासक्ति से प्रारम्भ होकर सर्वनाश तक जाती है और बीच के छ: कदम हैं : आसक्ति, काम, क्रोध, व्यामोह, स्मृतिनाश तथा बुद्धिनाश। आशय यह है कि महापतन के रास्ते उठाये गये ये आठ कदम मनुष्य को गर्त्त में पहुँचा कर छोड़ते हैं। यह है दुष्परिणाम ऐन्द्रिक विषयों की भोगलिप्सा का, क्योंकि हमारी मनोगत वृत्तियों का, हमारे आंतर जीवन का यही नियम है। अत: बुद्धि को राग-द्वेष से बचाकर उच्च्व चेतना में स्थित करना है, यदि उसे योगमयी बनाना है तो उन प्रबल इन्द्रियों के आकर्षण से बचा जाय जो मन का बलपूर्वक अपहरण कर लेती है।

इन्द्रियाँ बड़ी बलवती हैं। वे हमारे मन को जबरदस्ती खींच ले जाती है, सावधान रहते हुए भी, यत्न करते हुए भी, व्यक्ति उनके प्रवाह में बह जाता है। इसलिये जो व्यक्ति उन सभी इन्द्रियों को संयमित करके अपने वश में रखता है, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है, वही योगयुक्त हो पाता है।

इन्द्रिय-संयम से गीता का तात्पर्य इन्द्रियों का दमन करना नहीं है। गीता मानती है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास कर्म करने की जानने की और मानने की शक्ति है। कर्मक्षमता को निष्काम कर्मयोग द्वारा, जानने की शक्ति को ज्ञानयोग द्वारा तथा मानने की विशिष्टता को भक्तियोग द्वारा आत्मलाभ का साधन बनाना चाहिये। इस प्रकार गीता तीनों शक्तियों को साधनरूप

मे अपनाने का मार्ग दिखाती है। गीता बताती है कि ज्ञानयोग, निष्काम-कर्मयोग या भक्तियोग द्वारा इन्द्रिय सुखों की सीमाएँ समझकर, उनसे ऊपर उठो। मनोविज्ञान की भाषा मे इसे *'वासनाओं का उन्नयन'* कहा जायेगा। विवेकपूर्ण भावनाओं के उन्नयन के फलस्वरूप व्यक्ति आत्मोन्मुख हो उठता है। विवेक-बुद्धि द्वारा अनुशासित मन वृहत्तर राग से युक्त होकर आत्मभाव में लीन हो जाता है। मन को जब उच्चतर कोटि की आनन्दानुभूति होने लगती है तो वह क्षणिक वैषयिक सुखों से अपने आप उपशमित हो उठता है।

इन्द्रियों को संयमित बनाने का प्रयास जितना आवश्यक है, उतना ही कठिन भी है। उसमें सावधानी की भी आवश्यकता है, विवेकशीलता की भी। इन्द्रियों का जीवन में विशेष प्रयोजन है, उन्हें बुद्धि के प्रकाश में नियुक्त कर, अपने अधीन लाकर, रागद्वेष के प्रभाव से मुक्त करना है। *''रागद्वेष रहित अपने वश में की गयी इन्द्रियों से विषयों में विचरण करता हुआ संयमी व्यक्ति प्रसन्नता को प्राप्त करता है। उसी प्रसन्नता में समस्त दुःख मिटते हैं। प्रसन्नचित व्यक्ति की बुद्धि शीघ्र शांत स्थिति को प्राप्त करती हैं''*।[७८]

गीता व्यावहारिक जीवनशास्त्र है उसका आदर्श पुरूष-विशेष अर्थात् स्थितप्रज्ञ भी व्यावहारिक जगत का व्यक्ति है। जहॉ तक स्थितप्रज्ञ के द्वारा इन्द्रियों के उपयोग का प्रश्न है वह सामान्य मनुष्य की तरह ही खाता-पीता, उठता-बैठता है, लेकिन उसका मन बुद्धि-विवेक के वश में होने के कारण विषय सुख की ओर उन्मुख न होकर, भावोन्नयन जन्य आनन्दोन्मुख बना रहता है। विषयों को भोगता हुआ भी वह उनके राग-द्वेष से ऊपर उठा रहता है।

इन्द्रिय को और मन को बुद्धि के अधीन लाना और बुद्धि को योगयुक्त करना वास्तव में एक आध्यात्मिक स्थिति है। उस स्थिति में शांतचित्त हुआ योगी निर्विकार हो जाता है। कामनाओ से वह विचलित नहीं होता। जिस प्रकार परिपूर्ण अचल समुद्र में नदियों का जल प्रवेश करके उसमें कोई हलचल उत्पन्न नहीं कर पाता, उसी प्रकार जिस व्यक्ति की समस्त कामनाएँ प्रविष्ट होकर विलीन हो जाती है, वही व्यक्ति शांति को प्राप्त करता है, कामनाओं का दास शांत नहीं हो पाता।[७९] कामनाओं से मुक्त होकर बुद्धियोग से प्राप्त यह स्थिति *'ब्राह्मी स्थिति'* है। यह गीता के स्थितिप्रज्ञ की सारतात्विक स्थिति है, इस स्थिति में मानव व्यक्तित्व की सभी समस्याएं विलुप्त हो जाती हैं।

गीता के पाँचवे अध्याय में स्थितप्रज्ञ की भाँति ही *'जीवनमुक्त'* के रूप में आदर्श पुरूष का एक दूसरा चित्र प्रस्तुत किया गया है। सन्दर्भ है- कर्मयोग और कर्मसंन्यास का समन्वय। जीवनमुक्त की पहचान है- ऐसा संयमी पुरूष जो मनोजयी, इन्द्रिय निग्रही और निःस्पृह होकर साक्षी भाव से अपना जीवन-यापन करे। वह इस बात से भलीभाँति अवगत है कि प्रकृति ही सबकुछ करती-धरती है और परमात्मा का कर्म और कर्त्ताभाव से कोई वास्ता नहीं है। इसलिये, ऐसा मनुष्य अपने कृत-अकृत कर्मों का उत्तरदायित्व ईश्वर पर डाल कर अपने नैतिक दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। बल्कि, वह आत्मज्ञान प्राप्त कर परमात्मा में तन्मय होकर मोक्ष का अधिकारी बनता है। इस अवस्था में उसे अद्‌भुत और असाधारण समदृष्टि प्राप्त होती है। वह विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल के प्रति समभाव रखता है। ऐसे समत्वबोध से वह ब्राह्मभाव प्राप्त कर शुभाशुभ और प्रियाप्रिय से ऊपर उठने में समर्थ होता है। लेकिन इस समत्वबोध की आधारशिला है-

विषयभोग त्याग और काम-क्रोध विजय। इस प्रकार मनोजयी, आत्मज्ञानी और ब्रह्मलीन को ही ब्रह्म निर्वाण प्राप्त होता है। स्पष्ट है कि जीवन मुक्त समदृष्टि के चरमोत्कर्ष पर पहुँचा हुआ मनुष्य ही है। उसे इस अध्याय में पण्डित, ब्रह्मवेत्ता, बुध, योगी और मुक्त कहा गया है।

गीता के आदर्श पुरूष का तीसरा चित्रण *'भक्त'* के रूप मे किया जा सकता है। सप्तम अध्याय में भक्त का वर्णन अनेकानेक रूप में मिलता है।[८०]

इस जगत में जो लोग परमेश्वर की भक्ति करते हैं उनके चार वर्ग होते हैं *चतुर्विद्या भजन्ते मां--- आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी* च।[८१] इनमें पहला प्रकार है- आर्त भक्तों का, आर्त होता है दयाप्रार्थी। ऐसे भक्तों का कष्टों के अनुपात में ही भक्ति का परिणाम होता है। यह भक्तों की हीन श्रेणी समझी जाती है वैसे उद्धार तो होता ही रहता है, क्योंकि ईश्वर भक्ति किसी भी तरह की जाय उससे श्रेष्ठता अवश्य ही प्राप्त होती है। गीता में भगवान स्वयं कहते हैं- *"मेरा भक्त सकाम होगा तो भी उसकी भक्ति दृढ़ करूगाँ।"*[८२] तत्वजिज्ञासुओं की श्रेणी इससे ऊपर है। ये लोग सत्य तत्व क्या है? ईश्वर क्या है और वह भक्ति से सहायक होता है, जगत के अन्दर कितने तत्व है और उनसे परमात्मा का क्या संबंध है? इसका यथातथ्य ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से प्रयत्न करते हैं। केवल ज्ञानलालसा जिज्ञासु भक्त में प्रबल होती है। ऐसे लोगों को जब विदित होता है कि परमेश्वर सर्वोपरि है, तब वे उसकी जिज्ञासु भाव से भक्ति करने लगते हैं। इनकी भक्ति दुःख निवारण नहीं बल्कि, जिज्ञासा की तृप्ति है इसलिये इनकी श्रेणी आर्तो की अपेक्षा ऊँची है। सत्यजिज्ञासा से अन्ततः इन्हें सत्य तत्व का लाभ होता है। भक्त का तीसरा प्रकार है- अर्थार्थियो का। इन्द्रिय के भोगों का नाम 'अर्थ' है, कुछ लोगों में भोगों की कामना होती है। कई लोगों को ईश्वर भक्ति से अनेकानेक भोग प्राप्त हुए है, ऐसी भक्तगाथाएँ सुनकर ये लोग भोगतृष्णा की शान्ति के लिए ईश्वर की भक्ति करते है। जैसे-जैसे इन्हें भोग मिलते जायेगें वैसी-वैसी इनकी श्रद्धा बढ़ेगी और वे अधिकाधिक श्रद्धा से ईश्वर भक्ति करते जायेगें। जिज्ञासु की अपेक्षा इनकी श्रेणी उच्च है क्योंकि सकाम भक्ति करने वाले ये लोग ईश्वर के अस्तित्व को दृढ़ता से मानते हैं। जिज्ञासु प्रारम्भ में ईश्वर की सत्ता नहीं मानता जबकि अर्थार्थी ईश्वर की सत्ता को असंदिग्ध मानता है। यह प्रारम्भ का भेद है, आगे उन्नति होते-होते दोनों एक स्थान पर मिल जाते हैं। गीता में उपलब्ध ये तीनों भक्त प्रकार एकांगी है। इनमें एक कर्म के द्वारा, दूसरा हृदय के द्वारा और तीसरा बुद्धि के द्वारा ईश्वर के पास पहुँचता है।

भगवान की भक्ति करने वाले *'पूर्ण भक्त'* को गीता *'ज्ञानी'* कहती है। ज्ञानी भक्त सबसे श्रेष्ठ होता है। जो क्षर, अक्षर और पुरूषोत्तम को यथावत जानता है, मानता है और इन पर श्रद्धा रखता है वह ज्ञानी है। ज्ञानी भक्त पुरूषोत्तम स्वरूप के अनुभव के लिए यत्न करता है। ज्ञानी की भक्ति का कारक न दुःख है, न खोज, न भोगलालसा है; शुद्ध भक्ति ही उसका उद्देश्य है। इसलिये, इस ज्ञानी भक्त की योग्यता सबसे अधिक है। इसको अहेतुक भक्ति कहते हैं इसका लक्षण श्रीमद्भागवत में इस प्रकार से है-'जिस प्रकार गंगाजल सहज वेग से महासागर में जाता है वैसे ही जिसका मन परमेश्वर की ओर दौड़ता है, उसको अहेतुकी भक्ति कहते है।' इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है।[८३] यह देखने का अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते हैं। ऐसा करते-करते वह ज्ञानी भक्त एक दिन ईश्वर में ही मिल जाता है।

बारहवें अध्याय में चित्रित भक्त के लक्षणों को स्पष्ट करते हुए गीता मानती है कि जो अद्वेषी, लोक-हितैषी, दयावान, अहंकार विहीन, क्षमाशील, सन्तोषी, इन्द्रियनिग्रही, समत्वयोग युक्त और ईश्वर परायण है वही भक्त है। अर्थात् भक्त मे करूणा, संयम और समर्पण का अद्भुत मेल है।

'गुणातीत' के रूप मे पूर्ण पुरूष का चित्रण गीता के चौदहवें अध्याय में मिलता है। सन्दर्भ है- संसार में त्रिगुणों की महिमा और महत्ता का विवेचन। गीताकार इस अध्याय के अंतिम छह श्लोकों में गुणातीत के लक्षण और उस मुकाम तक पहुँचने के लिए मार्ग का भी विवेचन करते हैं। गुणातीत त्रिगुणों के प्रभा-मण्डल और प्रभाव-क्षेत्र के पार गया हुआ मनुष्य है। *वह प्रकाश (सत्व), प्रकृति (रज) और मोह (तम) तीनों से निस्पृह और निर्लिप्त है।*[८४] *वह सुख-दुःख, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान, शत्रु-मित्र के प्रति समत्व रखता है। वह सर्वारम्भ परित्यागी भी होगा क्योंकि उसे इस बात का बोध है कि त्रिगुण ही सारे कर्म कराते हैं।*[८५]

गीताकार गुणातीत के लक्षण बताकर अपने प्रयास की इतिश्री नहीं मान लेता। वह उस मार्ग को भी प्रशस्त करता है जिसपर चलकर मनुष्य त्रिगुणो की महिमा के पार चला जाता है। इसका प्रस्थान बिन्दु है मनुष्य का अपने अन्दर सात्विक वृत्ति का विकास और विस्तार करना और राजसिक तथा तामसिक वृत्तियों का दायरा छोटा कर शून्यता तक पहुँचा देना। लेकिन गुणातीत होने के लिये और लम्बा मार्ग है, वह है अनन्य भक्ति का। श्रीकृष्ण पुनः भक्ति की प्रशंसा करते हुये कहते है- *''जो साधक अव्यभिचारिणी भक्तियोग से मेरी उपासना करता है, वह इन गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्मभावमय हो जाता है। मैं ही ब्रह्म की, अमृतत्व की, अव्यय शाश्वत धर्म की तथा एकान्तिक सुखानन्द की प्रतिष्ठा हूँ।*[८६]

भगवान का प्रेम, उनकी अनन्य भक्ति, उनकी सर्वोपरि उपासना साधक की चेतना को भगवन्मयी बनाती है। भगवन्मयी चेतना गुणातीत चेतना ही हो सकती है। अत: सामान्य प्राकृत जीवन से ऊपर उठने के लिये, गुणातीत ब्रह्म भाव की प्राप्ति के लिए भगवद्भक्ति ही सर्वसमर्थ साधन है।

गीता के वर्णित आदर्श पुरूष के उपरोक्त विवेचन को देखकर हम कह सकते हैं कि स्थितप्रज्ञ, जीवनमुक्त, भक्त और गुणातीत के मूल लक्षण एक ही हैं। यही नहीं, इन्हीं लक्षणों का वर्णन *'पण्डित', 'योगारूढ़'* और *'ज्ञाननिष्ठ'* में भी उपलब्ध है। अगर वर्णन की शैली और बलाघात का कुछ अन्तर दृष्टगत होता है, तो वह सन्दर्भ से जुड़ा है। गीता के आदर्श- पुरूष का चित्रण जीवन में उतरे गीता के सिद्धान्तों और विचारों की परिपूर्णता का ही वर्णन है। इस विवेचन का दृष्टव्य तथ्य यह भी है कि गीताकार आदर्श पुरूष के प्रत्येक वर्णन में इस सामान्य तथ्य की ओर संकेत करता है कि उसकी अंतिम गति ब्राह्मी स्थिति, ब्रह्मनिर्वाण, ईश्वर से एकीकृत होना या ब्रह्म भावमय हो जाना है। इस प्रकार गीता 'ब्रह्म निर्वाण' को प्रत्येक स्थिति में मानव जीवन का परमोद्देश्य निर्धारित करती है, जो कि गीता में वर्णित आदर्श पुरूष की सारतात्विक स्थिति है।

(iv) ब्रह्म-निर्वाण (मानव जीवन का परमोद्देश्य)

गीता में कतिपय श्लोक ऐसे हैं जो जीवन के उद्देश्य के रूप में बह्म निर्वाण की अवधारणा की ओर इंगित करते है, उदाहरणार्थ स्थित प्राणिना के गुण का वर्णन करते हुए गीता हमें बताती है कि *''वो एक व्यक्ति जिसकी इन्द्रियाँ उसके*

अपने वश में है जो ब्रह्म मे स्थापित है अर्थात् स्थितप्रज्ञ निश्चित रूप से ब्रह्म निर्वाण प्राप्त कर लेता है।[८७] 'स्थितप्रज्ञ' की तरह ब्रह्म निर्वाण भी गीता का अपना विशिष्ट पद है। 'ब्रह्म निर्वाण' का अर्थ है, ब्रह्म में मिलना, घुल जाना या लीन हो जाना। ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त होने का अर्थ यह नहीं कि योगी ब्रह्म में विलीन हो जाता है। समग्र रूप से गीता की वाणी को ग्रहण करने पर मन यह संकेतं कर सकता है कि यह दशा विदेह दशा है। किन्तु गीता की वाणी इस सम्बन्ध में स्पष्ट है *"अभितो ब्रह्मनिर्वाण"*[८८]*;"सब ओर ब्रह्मनिर्वाण"* कहने का कोई अर्थ नहीं होगा यदि जीवन से उसका कोई सम्बन्ध ही न हो। 'ब्रह्म' निर्वाण चेतना की वह सम्पन्न अनुभूति है जिसमें अपनी सत्ता का वैयक्तिक भाव ब्रह्म की सर्वस्वता में विलीन हो जाय। इस ब्रह्मचैतन्य में सत्ता मिट नहीं जाती, समर्थ होती है, सार्थक होती है।

पंचम अध्याय में पुन: ब्रह्म निर्वाण का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि *"जो अपने अन्तर में सुखी है, अपने अन्तर में रमण करता, अपने अन्तर में ही ज्योतिर्मय है, वह ब्रह्मभाव को प्राप्त करने वाला योगी ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है। वे ऋषिगण जिनके कल्मष क्षीण हो गये है, जिनके संशय छिन्न हो गये है, जो यत्नशील हैं, समस्त भूतों के हित में रत रहते है, ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करते हैं। जिन यतियों का चित्र यत्नशील है, जो काम और क्रोध से वियुक्त हैं, जो आत्माज्ञानी हैं, उनके लिये सभी ओर ब्रह्मनिर्वाण है।*[८९] इसके अतिरिक्त अन्य कई श्लोक *ब्रह्मयोगयुक्तात्मा, मद्भावमागता:, ब्रह्मनिष्ठा* जैसे पदों का उल्लेख करते है।[९०] ये सभी सन्दर्भ इस बात की पुष्टि करते हैं कि ब्रह्म नामक किसी तत्वमीमांसीय वस्तु की उपलब्धि मानव के लिये आदर्श है।

यहॉ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि वह अस्तित्व मानव से अलग है तो किस तरह हम इस उद्देश्य को स्वउपलब्धि कहेगें? वह तो पराउपलब्धि हो जायेगा। यह स्थिति आगे तब ज्यादा स्पष्ट होती है जब गीता बताती है कि *"जो मुझे हर जगह और हर वस्तु को मेरे में देखता है वो मुझसे और मैं उससे कभी विलुप्त नहीं होता।*[९१] परन्तु यह प्रश्न रह ही जाता है कि यदि मनुष्य को अपने को किसी *'अन्य'* अस्तित्व में विलीन कर देना होगा, तो यह स्वविनाश होगा स्वउपलब्धि नहीं। गीता के अनुसार *'सर्वतन्त्रवाद' (totalitarianism)* जहाँ एक मनुष्य का व्यक्तित्व एक *'निरपेक्ष'* पूर्णता द्वारा निगल लिया जाता है, का अनुपालन करना मानव जीवन का उद्देश्य तो है, परन्तु इसे वो निष्कर्ष के रूप में प्राधिकृत नहीं करती। गीता संकेत करती है कि *"एक व्यक्ति को अपने आप को आत्मा से एकाकार का प्रयास करना है (युन्जातो योगमात्मन:)।*[९२] यहाँ अब समस्या एक नया अभिविन्यास ग्रहण करती है यदि स्वयं की आत्मा से एकात्मा एवं ब्रह्मोपलब्धि पृथक्-पृथक् आदर्श हैं तो उत्कृष्ट क्या है? यदि मान ले दोनों एक और समान है, तो ब्रह्म और आत्मा में साम्यता होनी चाहिये। इससे मनुष्य अपने अस्तित्व के मर्म का संज्ञान करके ब्रह्मनिर्वाण की अनुभूति कर सकेगा। तद्नुसार ब्रह्म *'अन्य'* नहीं होगा अर्थात् मानव के अस्तित्व से पृथक् कोई अलग अस्तित्व नहीं है। मानव को किसी दूसरे या अन्य किसी भिन्न स्वभाव की वस्तु का ग्रास बनने से बचाने का यही एकमात्र मार्ग है। यहाँ ब्रह्म और आत्मा पहेली जैसे शब्द हैं जिन्हें ठीक प्रकार से समझना आवश्यक है, जिससे ये पूर्णत: अभिज्ञान हो सके कि गीता किसी अतीन्द्रियवादी *'अन्य'* पर बल नहीं देती। गीता का ध्येय ईमानदारीपूर्वक इस अनुभूति पर बल देना है कि मानव मानव है, उसे सही अर्थों में एक मनुष्य के रूप में जीना चाहिये। इसी को *श्री अरविन्द*

के शब्दों में कहा जा सकता है कि *"यह ब्रह्म चैतन्य केवल वह नहीं है जो गुप्त रूप से हमारे भीतर निहित है, अपितु वह है जिसमें हम रहते और जीते है।"* इसका तात्पर्य है कि ब्रह्मभाव ही समस्त सक्रिय जीवन का भी संबल होता है। योगमुक्त जीवन में ही ब्रह्मनिर्वाण है, मानव होने का सार है।

ब्रह्म निर्वाण, ब्रह्मयोगयुक्तात्मा आदि जैसे पदो के पीछे वास्तविक मर्म क्या है? इस प्रश्न के उत्तर खोजने मे महाभारत (गीता जिसका एक हिस्सा है) और उपनिषद् हमारे पथ प्रदर्शक के रूप में सहायता करते हैं। उपनिषद् वेत्ताओं ने परम सत् की प्रकृति पर विभिन्न दृष्टिकोण से चर्चा की है उन्होने उसे 'ब्रह्म' की संज्ञा दी है। विभिन्न उपनिषदों और महाभारत में जैसा कि वर्णित है ब्रह्म की प्रकृति का अध्ययन हमें विश्वास दिलाता है कि वो स्वयं मनुष्य से अलग अन्य कोई वस्तु नहीं है। तदनुसार ब्रह्मनिर्वाण में एक मनुष्य द्वारा जो चीज अनुभव की जाती है वह स्वयं के सारतत्व के अनुभव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। *वृहदारण्यक उपनिषद्* में यह उद्घोषणा है कि *"जो कोई भी (स्वयं के अतिरिक्त) अन्य देवत्व की यह सोचकर आराधना करता है कि वह एक है और ब्रह्म दूसरा, वह अज्ञानी है।"*[९३] दूसरा ग्रन्थ उल्लेख करता है कि *"बुद्धिमान जो उसको (ब्रह्म) स्वयं में अधिवासित देखते है वे चिरन्तन आनन्द को प्राप्त होते हैं।*[९४] ये औपनिषदिक उदाहरण इस तथ्य को मौन स्वीकृति देते हैं कि मनुष्य को अपने सार का अन्वेषण अपने से बाहर नहीं करना चाहिये, अपितु उसे यह जानने का प्रयास करना चाहिये कि वह कौन है! यहाँ मनुष्य अपने सारतत्व की उपासना के लिए उत्प्रेरित किया गया है। जो मनुष्य अपनी मूल प्रकृति को जान लेता है वह यह कहने का अधिकारी हो जाता है कि वह ब्रह्म है (अहं ब्रह्मास्मि)। निश्चय ही इसी अर्थ में मनुष्य अपने भीतर अधिवास कर रहे ब्रह्म का अन्वेषण कर सकता है। महाभारत में भी इस मत की सम्पुष्टि है कि ब्रह्म कोई *'अन्य'* नहीं हो सकता तथा बह्म स्वयं *'मनुष्य'* के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। तदनुसार, *'मैं तुम्हें ब्रह्म का रहस्य बताता हूँ (जो यह है) कि मनुष्य से उच्चतर कुछ भी नही (गुह्यं ब्रह्म ---)'*।[९५] उपनिषद् और महाभारत के इन अंशों को एकसाथ रखकर देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य ही ब्रह्म है।

प्रस्तुत तथ्यों के आलोक में ब्रह्मानुभूति का अर्थ होगा मनुष्य की अपने स्वत्व से विलुप्त हुई एकता की उपलब्धि। ब्रह्म निर्वाण की प्रकृति और मानव जीवन के आदर्श से सम्बन्धित सभी रहस्य तब और स्पष्ट रूप से उद्घाटित हो जाते हैं जब एक छात्र याज्ञवलक्य के पास जाता है और उससे ब्रह्म का वर्णन करने को कहता है; जो कि आसन्न उपस्थित तथा इन्द्रियप्रत्यक्ष ग्राह्य हो, तो याज्ञवलक्य का उत्तर है *'यह तुम्हारा स्वत्व है।'* वास्तव में ब्रह्म को सभी अस्तित्वों का अस्तित्व माना गया है। अत: *तैत्तरीय उपनिषद्* नि:संकोच स्पष्ट करता है *कि, वह जो ब्रह्म अनस्तात्विक मानता है स्वयं अपने अस्तित्व को प्रश्नांकित करता है।"*[९५] मनुष्य को जो चाहिये वह यह है कि वह अपने तथा अपने मानव सार को खोजे। *छान्दोग्य उपनिषद्* भी समविचार प्रस्तुत करते हुये कहता है-

"वह जो स्वयं इस सम्पूर्ण संसार का सूक्ष्म सारतत्व है वह सत्य है, वही स्वत्व है और वह स्वत्व तुम हो श्वेतकेतु।"[९७]

यह कथन भी इंगित करता है कि ब्रह्म स्वत्व (आत्मा) से पृथक् नहीं है और स्वयं वह उसका एक प्रतिरूप है।

माया के कारण मानव अस्तित्व अपने सारत्व से संयुक्त होने में असफल रहता है। इस विलगाव के बोध को समाप्त

करने के लिए उपनिषदों ने यह निदान भी सुझाया है कि यह आत्मा और ब्रह्म के द्वन्द्व को समाप्त करके सम्भव है। याज्ञवलक्य कहता है *"जहॉं कही भी वैयक्तिकता होती है वहॉं एक दूसरे को देखता और दूसरा ही समझता है।"*[९८] इसका अर्थ है कि जब एक व्यक्ति सत्य को वैयक्तिक दृष्टि से देखता है तो वह सीमितता के कड़े बन्धनो में जकड़ जाता है। यह दूसरे के विरोध की अवस्था है परन्तु जब कोई व्यक्ति एक सार्वभौमिक दृष्टिकोण प्राप्त करता है, तो वह एकता देखता है न कि पृथक्ता। वह कहता है- *"मैं ब्रह्म हूँ", "तुम ब्रह्म हो और सभी ब्रह्म हैं"*। यह इसलिये क्योंकि उपनिषद् पुष्ट करते हैं कि *"वह जो सार्वभौम को स्वयं में देखता है वह सभी को स्वयं के रूप में देखता है।"*[९९] ब्रह्म निर्वाण के आदर्श को इस सन्दर्भ के साथ पढ़ने पर यह अभिव्यक्ति होती है कि वहीं नैतिक प्राणी है, जो स्वयं के साथ दूसरो को भी मनुष्य मानें और किसी को मात्र मूठ, पत्थर या मनुष्य से इतर कुछ अन्य न समझे। व्यक्ति सम्पूर्णता के जीवन में ही अपने लिये सान्त्वना ढूँढ़ता है। अत: गीता जीव से जीव की पृथक्ता का विरोध करती है तथा नैतिक अभिकर्त्ताओं को, विशेष वस्तुओं के लगाव से उत्पन्न स्वार्थतता तथा अहंकार को खत्म कर मनुष्य से अलग हुये उसके सारत्व तक लौटने के लिए उत्प्रेरित करती है। वस्तुत: यह सामाजिक सम्बन्धों के मानवीयकरण का एक सर्वोच्च आदर्श है।

भारतीय समाज दर्शन की उपर्युक्त पृष्ठभूमि ने गाँधी के लिए उस अदृश्य नींव का कार्य किया जिसने उनके जीवन दर्शन को पल्लवित और पुष्पित किया। *डा० राधाकृष्णन* के शब्दों में *"अपने वृहत्तर अर्थ में दर्शन वह अदृश्य नींव है, जिस पर सभ्यता का सौध खड़ा है।"*[१००] वस्तुत: समस्त सोद्देश्य मानव-कर्म जीवन-दर्शन द्वारा परिचालित एवं नियंत्रित होते हैं। इसके बिना कोई भी समाज व्यवस्था उद्देश्यहीन एवं मानव कर्म अन्धवत् होते हैं। मानव के आदर्श का निर्धारण एवं समाज के लिये किसी पद्धति का निर्माण इसी जीवन-दर्शन पर आधारित होता है। गाँधी जी का उद्देश्य समाज के किसी अंग विशेष का पुनर्गठन करना नहीं बल्कि, मानव के समस्त अस्तित्व का पुनर्निर्माण था।[१०१] वे एक सुधारक[१०२] नहीं बल्कि हम कह सकते हैं कि अन्य सामाजिक क्रान्तिकारी चिन्तकों की भाँति जीवन की समस्याओं के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण रखते थे, जो नि:सन्देह मुख्यत: हिन्दुत्व पर आधारित था।

खण्ड (ख) गाँधी

(अ) गाँधी दृष्टि का मानव

समाज दर्शन मूलत: *'मानव की परिभाषा'* का एक अन्वेषण है तथा इस क्रम में वे सिद्धान्त जो एक सुनिश्चित मानव प्रकृति के अन्वेषण का आरम्भ नहीं करते, वे या तो असत्य होते हैं या अख्यात। अत: यहाँ मानव की परिभाषा का अर्थ वर्णनमूलक एवं उपदेशात्मक अभिव्यञ्जना दोनों ही है। इसके अन्तर्गत तथ्य प्रमाणीकृत तो होते है, किन्तु सुनिश्चित नहीं। गाँधी कृत आधुनिक सभ्यता की आलोचना, उनका राजनीति मुख्यत: सामाजिक और व्यक्तिगत नैतिकता का दृष्टिकोण; मानव प्रकृति और मानव परमोपलब्धि से सम्बद्ध उनकी प्राक्कल्पनाओं पर दृढ़ता से आधारित है। वह इस विषय में एक दृढ़ मान्यता से प्रारम्भ करते हैं कि मनुष्य अपनी वास्तविक प्रकृति में क्या है तथा अपने विषय में गलत दृष्टिकोण से वह क्या बन सकता है,? उसे क्या होना चाहिये तथा वह क्या बन सकता है एवं उसका इस नियमाधीन ब्रह्माण्ड में क्या स्थान है? समाज दर्शन

के सभी सिद्धान्तों को, जहॉ तक वे समाज में उसके नैतिक ध्येयों और आचार को प्रभावित करते है; अनिवार्य रूपेण मनुष्य की मनोवैज्ञानिकता के कतिपय सुसंगत मतों से प्रारम्भ होना चाहिए। इसका यह निहितार्थ नहीं लेना चाहिये कि मानव प्रकृति एक स्थैतिक और स्थायी, समरूपी अपरिवर्तनीय वस्तुद्रव्य है। सामाजिक सम्बन्धों का कोई भी आनुभविक अध्ययन उन अति मूल प्रश्नो को जिन्हे सामाजिक और नैतिक दार्शनिकों ने उठाया; का उत्तर दे सकता है जो मानव प्रकृति सम्बन्धी प्राक्कल्पनाओ और सिद्धान्तो को उठाते है।

गॉंधी की मानव अवधारणा नि:सन्देह उनके धार्मिक विचारों से प्रभावित दिखायी पड़ती है, जिसका मूलांश प्राचीन भारतीय परम्परा तथा दर्शन में सन्निहित है। तत्वमीमांसात्मक विषयों के सन्दर्भ में गांधी के विचार उपनिषदों, भगवद्गीता तथा शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत से प्रभावित है। अत: आलोचक इनके विचार को मौलिक विचार नहीं मानते। जहाँ तक प्राचीन परम्पराओं से सम्बद्ध होने की बात है, कुछ मायनों में गॉंधी अत्यन्त कट्टर और परम्परावादी है यथा- जब वे हिन्दू धर्म ग्रन्थों के प्राधिकरण तथा वर्णाश्रम (आनुवांशिकता पर आधारित) धर्म को मानते हैं, गोरक्षा को एक अहार्य कर्तव्य मानते हैं, पुर्नजन्म में विश्वास करते हैं।[१०३] साथ ही, वैदिक परम्परा से सहमति रखते हुए वे सभी सत्ता की एकता में, आत्मा के एकात्म में, संयम अनुशासन और शुद्धीकरण की दुर्गम प्रक्रिया के द्वारा उपलब्ध स्वउपलब्धानुभूति (जिसके द्वारा पुनर्जन्म की कड़ी टूट जाती है) में विश्वास रखते हैं।[१०४] इन कथनों का सत्यांश मात्र यह है, जैसा कि उन्होने स्वयं कहा है उत्साह के वशीभूत होकर हिन्दुत्व[१०५] के किसी आवश्यक तत्व का परित्याग कभी उन्होने नहीं किया, तथापि वे ऐसे किसी सिद्धान्त या उपदेश को भी स्वीकार नहीं कर सके जो *''नैतिक बोध या विवेक के प्रतिकूल''* था। उन्होने उसी पर विश्वास किया जो उनके विवेक को संतुष्ट कर सका और उनकी अन्तरात्मा के निर्देश के अनुकूल था।

गाँधी का मानव प्रकृति का विचार उनके ऐतिहासिक विकास के साथ-साथ उनके ब्रह्माण्डीय विकास के दृष्टिकोण पर आधारित है। *''जीवन एक प्रेरणा है उसका उद्देश्य परिपूर्णता (जो कि आनुभवीकरण है) की ओर प्रयासरत रहना है।''*[१०७] गाँधी मनुष्य की पशु प्रकृति के प्रति सचेत थे। उनका कहना था *''मैं यह विश्वास करने के लिए प्रस्तुत हूँ कि हम विकास की मंथर प्रक्रिया द्वारा पशु से मनुष्य बने है।''*[१०८] पुन:, *''मनुष्य को उर्ध्वगामी और अधोगामी इन दो मार्गो में से एक को चुनना ही होगा, किन्तु चूँकि उसमें पशु विद्यमान है अत: वह उर्ध्वगामी के स्थान पर अधोगामी मार्ग अधिक सरलता से चुनेगा विशेषकर जब यह अधोगामी मार्ग एक सुन्दर आवरण से युक्त उसके सम्मुख उपस्थित किया जाता है।*[१०९] परन्तु, इसका अर्थ यह नहीं मान लेना चाहिए कि गाँधी मानव प्रकृति को अशुभ रूप में चित्रित कर रहें हैं। उनका मानव आत्मा की शक्ति में प्रगाढ़ विश्वास था, जो कुछ मात्रा में अपने वातावरण को आकार देती है इसीलिये इतिहास की धारा को भी प्रभावित करती है। गाँधीवादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण की विशेषता उनके लिये उसका गत्यात्मक आशावादी और सार्वभौमिक होना है, परन्तु *''अन्तत: वह अदृष्ट शक्ति ही है जो घटनाक्रम ----- यहाँ तक कि उन मनुष्यों के मस्तिष्क (जिन्होने उन घटनाओं को निर्मित किया) को अधिशासित करती है।''*[११०] गाँधी संभवत: समूचे विश्व को एक *''अशुभ का परिसंघ''* नहीं मान सकते। गाँधी स्वीकार करते हैं- *''हम पशुबल के साथ पैदा हुए किन्तु, हमारा जन्म हुआ था अपने भीतर निवास करने वाले ईश्वर का*

साक्षात्कार करने के लिये। वस्तुत: यही मनुष्य का विशेषाधिकार है, जो उसे पशु सृष्टि से पृथक् करता है।''[१११]

इस तरह मानव प्रकृति के अपने दृष्टिकोण में गॉधी में एक स्पष्ट आशावादिता दिखायी पड़ती है। *''मैं एक अदम्य आशावादी हूँ........ मेरा आशावाद अहिंसा विकसित करने के व्यक्ति की असीम क्षमताओं मे मेरे विश्वास पर अवस्थित है।''*[११२] फिर भी प्रयोग में प्राय: गॉधी जी मानव प्रकृति के एक आशावादी सकारात्मक दृष्टिकोण के पक्षधर होने की अपेक्षा एक निराशावादी दृष्टिकोण को नकारने की ओर अधिक प्रतिबद्ध थे। १९२६ में उन्होनें घोषणा की कि *''मैं इसको मानने से इंकार करता हूँ कि मानव प्रकृति की प्रवृत्ति अधोगामी है।''*[११३] और अगले वर्ष उन्होनें कहा, *''मेरे जैसे मनुष्य मानव-प्रकृति में अपनी आस्था से सभी विरोधी आभासों के होते हुये भी बँधे रहते हैं।''*[११४] १९३८ में गाँधी ने पुन: घोषित किया कि *''वास्तव में मानव प्रकृति पापी नहीं है; प्रेम के प्रभाव में पशुवत् प्रकृति को झुकते हुए पाया गया है। आपकों कभी भी मानव प्रकृति से निराश नहीं होना चाहिए।''*[११५] किन्तु प्रेम या अहिंसा का मार्ग सरल कदापि नहीं है। अपने भीतर निवास करने वाले ईश्वर का साक्षात्कार मनुष्य का विशेषाधिकार अवश्य है, लेकिन सहज कार्य नहीं क्योकि गाँधी इसे सार्वभौमिक उत्तरदायित्व से संयुक्त कर देते हैं उनका कथन है-

''मुझे ज्ञात है कि जो लोग स्वेच्छा से पीड़ा के मार्ग को अपनाते है; वे स्वयं को और समूची मानवता को ऊँचा उठाते है। परन्तु, मुझे यह भी पता है कि वे लोग जो अपने विरोधियों पर विजय प्राप्त करने के अपने हताश प्रयासों में या कमजोर देशों का शोषण करने में, पाशविक बनते हुए न केवल स्वयं को बल्कि, मानवता को नीचे ले जाते हैं और यह मेरे या किसी और के लिये मानव-प्रकृति को दलदल में धँसते देखना हर्ष का विषय नहीं हो सकता है। यदि हम सभी एक ही ईश्वर की सन्तान हैं और समान दैवी सत्व के अंश है; तो हम प्रत्येक मनुष्य के पाप चाहे वह हमारे या किसी अन्य प्रजाति का हो; के लिये जिम्मेदार है। आप समझ सकते हैं कि किसी भी मनुष्य में पशु को जाग्रत करना कितना घृणास्पद होगा।''[११६]

उपर्युक्त गद्यांश से स्पष्ट है कि गाँधी परम्परा से प्राप्त इस विचार में पूर्ण आस्था रखते हैं कि समस्त सत्ता मे एकत्व का दर्शन करना चाहिए, यही मानवता है। उनकी घोषणा है:

मैं ईश्वर की परिपूर्ण एकता में विश्वास करता हूँ, अत: मानवता की भी (परिपूर्ण एकता का विश्वासी हूँ)[११७]

पुनः,

''मैं अद्वैत का विश्वासी हूँ, मैं मनुष्य की ही नहीं बल्कि समस्त जीवों की एकता का विश्वासी हूँ।''[११८]

मानव प्रकृति की उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि गाँधी के लिये मनुष्य केवल अस्थि मांस का समवाय मात्र न होकर उससे कुछ अधिक और उसके परे भी कुछ है। इस 'कुछ' का पूर्ण निरूपण गाँधी की आत्मा की अवधारणा के अन्तर्गत किया जा सकता है।

(i) जीव की प्रकृति

यह सत्य है कि एकत्व की बात कहकर गाँधी मानव-प्रकृति को नैतिक आधार प्रदान करते हैं, किन्तु समाज दर्शन के अन्तर्गत जब हम मानव की बात करते हैं तो मानव अस्तित्व के दो लक्षणों जिनके द्वारा वह अनिवार्यत: सीमित भी होता

है; का स्पष्टीकरण आवश्यक है। प्रथम, मनुष्य के पास एक शरीर है दूसरे एक समाज, एक ऐतिहासिक सन्दर्भ, एक समुदाय, एक धर्म जिसमें वह जन्मता है और जिसे उसने स्वयं अपने लिये चुना भी नहीं। आगे हम देखते है कि इन सीमाओं से बन्धित मानव-अस्तित्व के लक्षणों को गाँधी किस रूप में देखते है।

गाँधी शरीर की अनिवार्य आत्मनिष्ठता के आधुनिक संचेतना से प्रभावित नहीं दिखते जैसा कि *के० सी० भट्टाचार्य* तथा यूरोपीय अस्तित्ववादी लेखों मे चित्रित होता है। शरीर के सन्दर्भ में उनका दृष्टिकोण धर्म एवं नैतिकतावाद से प्रेरित रूढ़िवादी व्यक्ति का है। भगवद्गीता पर अपने भाष्य में गाँधी कहते हैं कि *'शरीर पाप में जन्मता है'* तथा *'पाप का मूलाधार'* बनता है। वह शरीर को कुरू की भूमि कुरूक्षेत्र कहते हैं परन्तु यह भूमि पाप मे जन्मने के बाद भी *'मुक्ति के द्वार में परिवर्तित किये जाने में'* सम्भव है।[११९] उपर्युक्त गद्यांश गाँधी के दो दृष्टिकोणों के मध्य दोलायमान स्थिति को दर्शाता है। इस स्थिति का निराकरण इस तथ्य में है कि मनुष्य जिस मात्रा में मानवता के साथ अपनी एकता में अभिवृद्धि करता है, उसी मात्रा में ही उसका देवत्व प्रकट होता है। स्पिनोजा की भाँति गाँधी के अनुसार भी मनुष्यों को आपस में उन सूत्रबद्धताओं से स्वयं को एकत्रित करना चाहिए जिससे कि एक वृहद व्यक्ति का बोध हो सके। अत: शरीर को एक बन्दीगृह तथा मुक्ति के द्वार दोनों ही रूप-में देखने का अर्थ अवधारणा के स्तर पर शरीर को आत्मा का एक प्रकार मानना नहीं है। मानव शरीर की सामान्य विवेचना के पश्चात हम मानव अस्तित्व के द्वितीय लक्षण पर आते हैं। सर्वमान्य रूप से सभी मनुष्य संसार में कुछ ऐसी प्राकृतिक प्रवृत्तियों, सामाजिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों के साथ पैदा होते हैं, जो उनके लिये उन निश्चित सीमाओं का प्रबन्ध करते है जिनसे परे वे नहीं जा सकते। यद्यपि इस स्वीकारोक्ति से कि प्राय: मनुष्य अपनी आदतों के साथ जीता है, गाँधी यह मानते है कि उसके लिये अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग द्वारा जीना श्रेयस्कर है।[१२०] गाँधी मानते थे कि अनासक्ति के महत्तम प्रयास के बावजूद भी कोई व्यक्ति अपने पर्यावरण या परवरिश के प्रभाव को पूर्ण रूपेण निरस्त नहीं कर सकता साथ ही, यह भी कि मनुष्य अनिवार्य रूपेण आत्मनिर्देशन की अर्हता युक्त होता है। शरीर की सीमाओं का ज्ञान होने के कारण ही उनका विश्वास है। *''हम इस क्षणभंगुर शरीर के माध्यम से शाश्वत सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकते।''*[१२१] और साथ ही *''सीमाबद्ध मानव असीम सत्य एवं प्रेम को उनकी समग्रता में कभी भी जान नहीं पायेगें।''*[१२२]

मानव शरीर से पृथक् मानव अस्तित्व का वह पहलू जो अदृश्य, शाश्वत, सर्वव्यापी एवं स्वप्रबुद्ध है, आत्मा है। यह ईश्वर का अंश है। दूसरे शब्दों में, यह मनुष्य में निहित ईश्वरता है। गाँधी के अनुसार वैयक्तिक आत्मा अमर एवं आध्यात्मिक सत्ता है। वे कहते हैं, सभी मनुष्य ईश्वर की संतान है और इसलिये हमारे अन्दर जो दिव्य शक्ति है वह अनंत है। गाँधी आत्मा के सम्बन्ध में विशेष रूप से गीता दर्शन पर अवलम्बित है। उनके अनुसार आत्मा सभी प्राणियों में एकता स्थापित करने वाला एक शाश्वत और अजर-अमर तत्व है, अनन्त शरीरों में एक ही आत्मा का निवास है। उनका कहना है:

''ईश्वर और मनुष्य में तथा सृष्टि की निम्नतर योनियों में भी कोई अन्तर्विरोध नहीं है। यह काल और देश का अतिक्रमण करता है और समस्त प्रतीयमान विभिन्न सत्ताओं को अन्वित करता है।''[१२३]

महात्मा गॉधी चूँकि अद्वैतवादी थे, अत: उन्होने आत्मा-ब्रह्म तथा शरीर में अन्तर्भूत आत्मा को अलग-अलग नहीं देखा। गाँधी का यह विचार गीता के इस मत के समतुल्य है- *''जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है। न कभी मैं उसकी आँखो से ओझल होता हूँ और न वह मेरी आँखों से ओझल होता है।''*[१२४]

पुनश्च, गॉधी के अनुसार संख्या में आत्मा का विस्तार लगभग अनन्त है, जबकि पूर्णता की मात्रा सबों में भिन्न-भिन्न अनुपात में है। फिर भी, सभी आत्मा ईश्वर पर निर्भर है। ईश्वर में ही उनका अस्तित्व है आत्मा मनुष्य में ईश्वरीय सत्ता की निशानी है। अत: उसके पास स्वतन्त्र इच्छा शक्ति तर्क अन्तरात्मा तथा प्रेमभाव है, मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है। गॉधी ने कहा कि *''यद्यपि मैं जानता हूँ कि मेरी स्वतन्त्रता उस यात्री से कम है, मैं उस स्वतन्त्रता की प्रशंसा करता हूँ जैसा कि मैने गीता से ग्रहण किया है- ''मनुष्य अपने भाग्य का स्वयं विधाता है इस अर्थ में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त है यह उस पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार स्वतन्त्रता का व्यवहार करता है।''*[१२५]

आत्मा के सम्बन्ध मे गाँधी के उपर्युक्त विचार सामान्य मनुष्य के विचार है। एक दार्शनिक की भाँति उन्होनें आत्मा के स्वरूप निरूपण, इसका भिन्न तत्वों के साथ क्या सम्बन्ध है, इसके अस्तित्व को कैसे सिद्ध किया जा सकता है? इत्यादि प्रश्नों पर विचार नहीं किया है। परम्परा से सिद्ध तथा प्राप्त आत्मा की सत्ता में विश्वास की आवश्यकता को गाँधी समसामयिक आधार प्रदान करते हुए कहते हैं-

''आत्मा शरीर के उपरान्त भी विद्यमान रहती है, इस ज्ञान के कारण सत्याग्रही इसी जीवन में सत्य की विजय देखने के लिये अधीर नहीं होता। अपने द्वारा सामयिक रूप से अभिव्यक्त सत्य को विरोधी भी ग्रहण कर सकें इसके प्रयास में मरण का भी वरण करने की क्षमता में ही वस्तुत: सत्याग्रही की विजय निहित है।''[१२६]

आत्मा में विश्वास के परिणामस्वरूप गाँधी पुनर्जन्म के सिद्धान्त में भी विश्वास करते हैं। वे लिखते हैं- मैं पुनर्जन्म में उतना ही विश्वास करता हूँ जितना अपने वर्तमान शरीर की सत्ता पर। अतएव, मैं जानता हूँ कि स्वल्प प्रयास भी व्यर्थ नहीं जाता।

इस विश्वास का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि गाँधी अपने स्वप्नों और आदर्शो को समयबद्ध सीमाओं की परिधि से बाहर ले जा सके तथा उसके रूपांकन के लिए कई कालखण्डों में उपस्थित रहे जैसा कि *रोम्याँ रोलाँ कहते है ''वे कई शताब्दियों की अवधि में भी उसके लिये समान रूप से प्रस्तुत रहते हैं।''*[१२७]

मानव अस्तित्व के भौतिक एवं सामाजिक लक्षण तथा उसके अदृश्य किन्तु, शाश्वत आध्यात्मिक पहलू की विवेचना के पश्चात आगे बढ़ते हुए हम मानव अवधारणा के दार्शनिक आधारों की खोज करते हैं। मानव के स्वरूप की पूर्ण विवेचना उसके मूल स्रोत से उनके सम्बन्ध द्वारा ही सम्भव है।

(ii) मानव और ईश्वर का तादात्म्य

एक अभिनव समाज चिन्तक के रूप में गाँधी का परिचय हम तब प्राप्त कर पाते है जब उनकी ईश्वर सम्बन्धी विशिष्ट अवधारणा की व्याख्या करते हैं। वे नास्तिकता का उन्मूलन कर ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में समस्त सन्देहों को दूर करने

का प्रयास करते हैं। गाँधी ने चरम तत्व ईश्वर को माना और ईश्वर से प्रारम्भ होने वाला उनका मूल तत्व *''ईश्वर ही सत्य है''* से *''सत्य ही ईश्वर है''*[१२८] में बदल जाता है। इस परिवर्तन का कारण यह है कि ईश्वर की अवधारणा की वस्तुगत प्रामाणिकता पर संदेह किया जा सकता है (जैसा कि संशयवादी करते हैं) और नकारा भी जा सकता है (जैसा नास्तिक व्यक्ति करता है) किन्तु, *'सत्य'* की प्राक्कल्पना की वस्तुगत प्रामाणिकता पर नहीं। एक अनीश्वरवादी भी स्वीकार करेगा कि सत्य होता है तथा सत्य के प्रति संशयवाद स्वपराजय। इस प्रकार के परिभाषित 'सत्य' को जिस पर न तो शंका की जा सकती है न ही अस्वीकृत किया जा सकता है, वही गाँधी द्वारा मान्य ईश्वर है।

गाँधी को उपर्युक्त विचारों के आलोक में परम्परया दार्शनिक नहीं माना जा सकता। *'सत्य ही ईश्वर है'* कहने का तात्पर्य यह नहीं कि परम्परागत दर्शनिक शैली मे वे किसी तत्वमीमांसीय सत्ता का प्रतिपादन कर रहे हैं, बल्कि उनका ध्येय यहाॅ अनेक सीमाओं में बद्ध सामाजिक, व्यावहारिक जीवन में उतरने वाले मानव के लिए एक ऐसे सर्वमान्य तत्व की उपलब्धि कराना है जो उसके आस-पास के वातावरण में विद्यमान है। *'ईश्वर'* जैसा कि वे स्वयं कहते हैं *''एक अपरिभाषेय, रहस्यमय शक्ति है जो सर्वव्यापी हैं, यद्यपि मैं उसे देख नहीं पाता किन्तु उसका अनुभव करता हूँ। वह अदृश्य शक्ति अपने को आभासित तो करती है, किन्तु समस्त प्रमाणों की अवज्ञा करती है क्योंकि अपनी इन्द्रियों द्वारा मैं जिनका बोध प्राप्त करता हूँ उन सबके वह अत्यन्त असदृश है।''*[१२९] जबकि *'सत्य'* का बोध गाँधी के लिए गत्यात्मक एवं उपलब्धि आंशिक है। सत्य की आंशिक उपलब्धि का अर्थ सत्य की अपूर्णता या अनुपलब्धता नहीं है बल्कि यह मनुष्य की अपनी सीमा है। वे कहते हैं- हम इस क्षणभंगुर शरीर के माध्यम से शाश्वत सत्य का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकते।[१३०] गाँधी उसे (परम सत्य को) जानने का कोई दावा भी नहीं करते।[१३१]

सापेक्ष सत्य की उपलब्धि के लिये गाँधी ने अंत: प्रज्ञा द्वारा सत्याग्रह की प्रविधि का अन्वेषण किया। अपने पूर्ण सामाजिक जीवन के कालखण्ड मे विभिन्न परिस्थितियों को अनुभूत करने वाले गाँधी के लिए ईश्वर की अपेक्षा 'सत्य' ज्यादा बेहतर विकल्प था। प्रयोगकर्मी गाँधी के लिए उनका स्वयं का जीवन *'सत्य के साथ प्रयोग'* रहा है।

सत्य की आंशिक उपलब्धता, शरीर की क्षणभंगुरता के साथ ही गाँधी का यह विश्वास कि *''सीमाबद्ध मानव असीम सत्य एवं प्रेम को उनकी समग्रता में कभी नहीं जान सकेंगें।''*[१३२] और, *''मनुष्य पूर्ण सत्य की धुँधली और चलायमान झांकियाँ ही प्राप्त कर सकता है।''*[१३३] इनके सन्दर्भ में यह प्रश्न समीचीन है कि सत्य का स्वीकरण हम अपने व्यावहारिक और सामाजिक जीवन में क्यों और कैसे करें क्योंकि समाज दर्शन में ऐसे प्रश्नों के उत्तर भावी पीढ़ियों के लिये मार्ग निर्देशन का कार्य करते हैं। गाँधी की अभिकांक्षा नैतिक प्रकर्ष की थी। सत्य या सत्याग्रह का लक्ष्य मनुष्य को सर्वोच्च नैतिक स्तर तक उठाना है। नैतिक स्तर के ऊपर धार्मिक एवं दार्शनिक स्तर है। गाँधी जी का लक्ष्य विनम्र है और उनका आदर्श नैतिक स्तर पर ही प्रतिष्ठित है। अगला प्रत्युत्तर यह है कि सत्य की उपलब्धि गाँधी के अनुसार हमें सापेक्ष सत्य अर्थात् जिसे हम सत्य समझते हैं, के पालन द्वारा करना चाहिये। एक विश्वास के साथ उनका कथन है :

''जब तक मैं पूर्ण सत्य की उपलब्धि नहीं कर लेता तब तक मुझे अपनी धारणा के अनुरूप सापेक्ष सत्य का अवश्यमेव

पालन करना चाहिये। अन्तर्वर्ती काल के लिये उस सापेक्ष सत्य को ही मेरा कवच एवं रक्षक होना चाहिए।''[१३४]

यहाँ गाँधी के निरपेक्ष (पूर्ण सत्य) और सापेक्ष सत्य में भेद प्रतिलक्षित होता है। वे कहते हैं कि जब तक कोई प्रथमोक्त को नहीं जानता परवर्ती ही उसका पथ प्रदर्शक होना चाहिए। सापेक्ष सत्य *''आपको अपने भीतर से पुकारती हुई वाणी है।''*[१३५] जो निश्चित रूप से व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न होती है क्योंकि *'मानव मस्तिष्क का क्रमिक विकास सभी में समान नहीं है।*[१३६]

गाँधी की दृष्टि में सत्य का यह भेद महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि मात्र *''सत्य को ही उनके द्वारा वास्तविकता के लक्षण के रूप में स्वीकृत एवं उपलब्ध किया गया था। सत्य के द्वारा ही ईश्वर का अनुभव हो सकता है। जब कोई सच्ची बात कही जाती है, जब कभी कोई सच्चा काम किया जाता है, जब कभी कोई सच्ची भावना अनुभूत होती है, तब हम ईश्वर की सत्ता का अनुभव करते हैं। वह है, क्योंकि सत्य है गाँधी के लिये सत्य एवं ईश्वर समरूप है। ईश्वरता के अन्य पहलू यथा सौन्दर्य एवं शिवत्व, उन्हें आधारभूत लक्षण के रूप में ग्राह्य प्रतीत नहीं होते। किन्तु, उनके अनुसार सौन्दर्य एवं शिवत्व सत्य से उपलक्षित होते है।''*[१३७] इस तरह गाँधी स्वीकार करते है और कहते है *''मेरा नियमित अनुभव मुझे विश्वस्त करता है कि सत्य के अतिरिक्त दूसरा ईश्वर नहीं है।''*[१३८] उनके लिये *''सत् या सत्य ही ईश्वर के नाम का केवल सही और पूर्ण आशय है।''*[१३९]

मूलतः गाँधी ईश्वर की निरपेक्ष एकता में विश्वास करते हैं। ईश्वर के प्रति अपने विश्वास को प्रकट करते हुए वे कहते हैं- मेरे लिये ईश्वर सत्य या धर्म है ईश्वर सदाचार एवं नैतिकता है, ईश्वर निर्भयता है, ईश्वर ज्योति एवं जीवन का स्रोत है तथापि, वह इन सबसे ऊपर और परे है। ईश्वर अंतर्विवेक है, नास्तिकों की नास्तिकता भी वहीं है।[१४०] ईश्वर के सत्तात्मक गुणों की चर्चा करते हुए गाँधी कहते हैं कि ईश्वर चरम तथा स्थायी तत्व है जो सृष्टि का आधार, संहारकर्त्ता एवं पुनर्निर्माण कर्त्ता है।[१४१] ईश्वर सार्वभौम नियम तथा नियामक दोनों है।[१४२] ईश्वर के अन्तर्गत उपर्युक्त गुणों को देखते हुये यह प्रश्न स्वाभाविक है कि गाँधी का ईश्वर साकार है या निराकार। इस सन्दर्भ में गाँधी कहते हैं ''मैं ईश्वर को साकार नहीं मानता''[१४३] किन्तु अन्यत्र वे कहते हैं *''ईश्वर को पथ-प्रदर्शक मानकर उसके हाथ मुझे चलना है। वह एक ईर्ष्यालु स्वामी है, वह अपने अधिकार में किसी को भागीदार नहीं बनने देगा। अतः उसके सम्मुख सम्पूर्णरूपेण दीन एवं निःस्व होकर पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना लेकर उपस्थित होना चाहिये।''*[१४४]

प्रस्तुत कथनों के अवलोकन द्वारा ज्ञात होता है कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में गाँधी के विचार हमारे लिये स्पष्ट नहीं हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि गाँधी शास्त्रीय रूप में दार्शनिक नहीं थे। वैसे भी गाँधी के लिए ईश्वर में उनका विश्वास ज्यादा महत्वपूर्ण है न कि उसके स्वरूप की विवेचना। ईश्वर पर विश्वास सम्बन्धी गाँधी के तर्क को अस्वीकार करना कठिन है। एक बार उन्होने कहा था *''अपने में अनन्त गुना विश्वास ही ईश्वर है।''*[१४५] मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो मनुष्य का प्रत्येक कर्मारम्भ स्वविश्वास से ही जनित होता है, इस विश्वास को ही गाँधी ईश्वर कह देते हैं जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता।

गाँधी के तात्विक विचार मानवता के कल्याण से इस प्रकार ओत-प्रोत है कि उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया

जा सकता है। उनके लिये मनुष्य सत्य मे दृढ़ता से अधिष्ठापित है और इसके बावजूद कि वह उससे विलग हुआ प्रतीत होता है, लेकिन वास्तव मे कभी उससे पूर्ण पृथकता नहीं होती क्योंकि यह प्रेम स्वरूप सत्य ही है; जो मानव जीवन को व्यक्तिगत और साहचर्य दोनों स्तरों पर सम्पुष्ट करता है।

गॉधी ईश्वर की निरपेक्ष एकता में विश्वास करते हुए मानव को भी एक सूत्र में बँधा हुआ मानते हैं। *''सूर्य की किरणें परावर्तन के माध्यम से अनेक है, परन्तु स्त्रोत समान है।''*[१४६] मानव और ईश्वर के मध्य सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए वे मानते हैं कि मानव ईश्वर का अंश ही है। इस सन्दर्भ मे गॉधी इस मुस्लिम कहावत *''आदम खुदा नहीं लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा नहीं''* को उद्धृत करना पसंद करते थे। उनके दृष्टिकोण का मर्म इस कथन में निहित है कि *''हम सब पाशविक शक्ति के संग जन्म तो लेते है परन्तु स्वयं के भीतर अधिवास करते ईश्वर का अनुभव करने के लिये। वास्तव में यह मनुष्य का विशेषाधिकार है, जो उसे पशुओं से अलग करता है।''*[१४७]

यहॉ ऐसा नही है कि गॉधी मानव का एक सरल द्वन्द्ववादी चित्रण प्रस्तुत कर रहें है। जैसा कि अय्यर[१४८] भी मानते हैं कि गॉधी न तो आगस्टियनवाद जो कि ईश्वर को मनुष्य के स्थान पर रखता है, न ही *पेलेगियनवाद (Pelagianism)* जो कि मनुष्य को ईश्वर के स्थान पर रखता है या धार्मिक दर्शनों में जहाँ मनुष्य स्वयं को उन गुणों से विहीन रखता है, जिन्हें वह ईश्वर या प्रकृति पर आरोपित करता है और न ही धर्म निरपेक्ष दर्शनों जहाँ मनुष्य का ध्रुवीकरण अक्सर प्रकृति की मशीनी अवधारणा और इस मान्यता में कि मानव तर्क विश्व को समझने और उसके चातुर्यपूर्ण प्रबन्ध में होता है। गाँधी की दृष्टि में मानव न तो पाशविक है न ही ईश्वर और वह उस सीमा तक मानव है, जहॉ वह अनोखे रूप से चयन करने की शक्ति रखता है जो या तो उसकी प्रकृति का पाशविकीकरण बढ़ाते हुए उसकी बुद्धि और तन को हिंसा का स्वभावज आश्रित बना देती है या अपने आंतरिक दैवत्व के संज्ञान अथवा प्रकटीकरण तथा उसके परिणामस्वरूप आनुभविकीकरण में वृद्धि करती है।

गॉधी ईश्वर और मनुष्य एवं सभी जीवधारियों के मध्य अनिवार्य एकता के विश्वासी है; इस सन्दर्भ में उनकी स्पष्ट घोषणा है :

''मै अद्वैत का विश्वासी हूँ, मैं मनुष्य की बल्कि समस्त जीवों की अनिवार्य एकता का विश्वासी हूँ।''[१४९]

प्राणी मात्र में इसी आधारभूत एकता के कारण गाँधी मानते हैं कि एक मनुष्य के आध्यात्मिक पतन के साथ-साथ कुछ सीमा तक सभी मनुष्यों का आध्यात्मिक पतन होता है इसी प्रकार एक मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति के साथ सभी मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति होती है।

मनुष्य ईश्वर की छवि में निर्मित है या मानव अस्तित्व सत्य में अवस्थित है; के अनेक निहितार्थ हैं। निश्चित तौर पर इसके लिये यह दिखाना आवश्यक नहीं है कि सभी मनुष्य अपने व्यक्तित्वों में उस छवि का प्रदर्शन स्वीकार करते हैं।[१५०] यदि कम से कम एक व्यक्ति भी ऐसा करके दिखाता है तो यह काफी है। मनुष्य का ईश्वर के साथ एकत्व-सिद्धान्त के निहितार्थ निम्नलिखित है-

सर्वप्रथम यह सिद्धान्त इस मान्यता से असम्बद्ध है कि एक व्यक्ति आध्यात्मिकता को प्राप्त कर सकता है तथा उसके चारों ओर अन्य लोग दु:ख भोगेंगे। गाँधी का मत है *''यदि एक मानव आध्यात्मिकता अर्जित करता है तो सम्पूर्ण विश्व उसके साथ अर्जन करता है और यदि वह असफल होता है तो पूरा विश्व भी उस सीमा तक असफल होता है।''*[१५१] ऐसा एक भी स्वीकार्य आदर्श नहीं है,जो मात्र एक व्यक्ति के कल्याण का ध्येय रखता है या उसी तक सीमित रहता है तथा ऐसा एक भी नैतिक अपराध नहीं है,जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वास्तविक अपराधी के अलावा दूसरों को प्रभावित न करता हो।

द्वितीय, सभी मनुष्य उस अनन्यता (एकत्व) की अनुभूति के लिये चेतन अथवा अचेतन तरीके से कार्यरत है।[१५२]

तृतीय, जो उपलब्धि किसी एक व्यक्ति के लिए सम्भव है वह सभी के लिये सम्भव है।[१५३] *''सम्पूर्ण मानवता सारत्व में समान है अत: जो मेरे लिये समान है वो सभी के लिये सम्भव है........।''*[१५४] गाँधी कहते है कि *''अपनी बाल्यावस्था से ही मुझे सिखाया गया है तथा इस सत्य को मैने अपने अनुभव से परखा भी है कि मानवता की बुनियादी अच्छाईयों को मानव प्रजाति के एक तुच्छतम व्यक्ति द्वारा भी उपार्जित किया जाना सम्भव है। यह एक नि:सन्देहात्मक सार्वभौमिक सम्भावना है जो मनुष्य को ईश्वर के अन्य सृजन से पृथक् करती है।''*

आगे गाँधी कहते है; *''हम सभी एक ही तूलिका से रंगे हुए और एक ही सृष्टा की सन्तान है अत: हमारे भीतर दैवी शक्तियाँ अपरिमित हैं। किसी एक व्यक्ति को तिरस्कृत करना उन दैवी शक्तियों का भी तिरस्कार है और इससे न केवल उस मानव का, साथ ही पूरे विश्व का अहित होता है।''*[१५६]

अन्तत: मानव का उच्चतम उद्देश्य ईश्वरानुभूति है अत: उसकी सभी गतिविधियों को इसी के द्वारा निर्दिष्ट होना चाहिये। सभी मनुष्यो की तात्कालिक सेवा इसका एकमात्र अनिवार्य हिस्सा है क्योंकि ईश्वर को पाने का एकमात्र मार्ग उसे उसके सृजन (जो कि जीव ही है) में देखना है। गाँधी लिखते है *''वास्तविक वैयक्तिकता स्वयं को शून्य रूपेण घटा देने में निहित है स्वार्थ रहित सेवा जीवन का रहस्य है। सभी आसक्ति से विलग हो वीतराग बनना हमारा सर्वोच्च आदर्श है। गीता में 'संन्यास' इच्छा (काम) उत्प्रेरित करने का परित्याग है वह(संन्यासी) एक ऐसा व्यक्ति है जो अपने शरीर के ऊपर शासक है।''* अत: मनुष्य जिस मात्रा में मानवता के साथ अपनी एकता में अभिवृद्धि करता है उसी मात्रा में उसका देवत्व प्रकट होता है।

गाँधी द्वारा मानव अस्तित्व को सत्य में अवस्थित कहने का तात्पर्य उसे सकल ब्रह्माण्ड से जहाँ नियम स्वतन्त्र कुछ भी नहीं हो सकता; से संयुक्त करना था। यह नियम एक सुसंगत बल ही हो सकता है जो सभी वस्तुओं को इकट्ठा रखता है तथा जिसके अभाव में ब्रह्माण्ड *'टुकड़ों में बिखर जायेगा तथा हमारा अस्तित्व लुप्त हो जायेगा।'*[१५८] सत्य या प्रेम का सही-सही अर्थ यही सुसंगत शक्ति है जो जीवधारियों को संजीवन देता है।[१५९] *जहाँ जीवन है, वहाँ प्रेम है। घृणा विनाश की ओर ले जाती है। प्रकृति 'संकर्षण द्वारा स्पन्दित होती है' प्रेम या तो स्वप्रेम है या दूसरों के लिये प्रेम। किन्तु मनुष्य केवल स्वप्रेम से जीवित नहीं रह सकता 'स्वप्रेम दूसरों का आदर करने के लिये बलात् प्रेरित करता है।*[१६०] निष्कर्षत: ऐसे अनिवार्य नियम के अभाव में एक सुव्यवस्थित समाज संभव नहीं हो सकता।

गाँधी मनुष्य को ईश्वर का अंश कहते हुए इसे सत्य की अवधारणा में दृढ़ता से अधिष्ठापित करते हैं। निश्चय ही

मनुष्य का सत्यांश उससे विलग हुआ प्रतीत होता है लेकिन कभी उससे पूर्णत: पृथक् नहीं होता। इस सत्य (जो चाहे सापेक्ष ही क्यों न हो) के द्वारा प्रशस्त मार्ग का अनुगमन करने वाले मनुष्य के लिये गाँधी *'सत्याग्रह'* को सर्वोच्च कर्त्तव्य निर्धारित करते हैं। सापेक्ष से परम सत्य तक का विकास एक लम्बी और दुरूह यात्रा है, जो अहिंसा पालन और घोर आत्मानुशासन की मांग करती है। इस प्रयास में मानव अस्तित्व के बन्धन स्वरूप कड़ियों- शरीर और सामाजिक-ऐतिहासिक अस्तित्व को वे मुक्ति के द्वार के रूप में परिणत करने का मार्ग दिखाते हैं। शरीर के लिये वे सेवा के कर्त्तव्य को आरोपित करते हैं तथा सामाजिक अस्तित्व स्वदेशी तथा सत्याग्रह के भाव में अन्त:स्थित है। ये दोनों कर्त्तव्य आत्मा की उस मूर्त सार्वभौमिकता की ओर ले जाते है जो कि इहलौकिकता पर बल दिये जाने से सम्भव है। समाज दर्शन की दृष्टि से इसका अवलोकन करें तो हम कह सकते हैं कि गाँधी का मानव और ईश्वर का सम्बन्ध इहलौकिकता तथा पारलौकिकता का सुन्दर संगम प्रस्तुत करता है। इस सम्बन्ध की अनुभूति में बाधक तत्वों को वे सामाजिक कर्मो और लोकहित से जोड़कर मुक्ति के मार्ग के रूप में परिणत कर देते हैं।

(iii) मानव जीवन का लक्ष्य

गाँधी का उद्देश्य मानव के समस्त अस्तित्व का पुनर्निर्माण करना था। अत: उनके लिये मानव की परिपूर्णता में ही उसका परम उद्देश्य निहित है। उनका कथन है-

''जीवन एक प्रेरणा है। इसका लक्ष्य पूर्णता के लिये प्रयासशील रहना है जो आत्मोपलब्धि ही है।''[१६१]

मानव की परिपूर्णता में गाँधी की आस्था महज एक नैतिक विश्वास नहीं बल्कि उनकी आध्यात्मिक आस्थाओं पर आधारित है। परिपूर्णता में आस्था उनकी पुनर्जन्म में आस्था पर अवलम्बित है, जिन्हें सभी व्यक्ति स्वीकार करने को तैयार नहीं है। यह सत्य है कि दोनों सिद्धान्तों में अनिवार्य तार्किक सम्बन्ध नहीं है पुनर्जन्म के बिना भी प्रजातियाँ परिपूर्ण हो सकती है, किन्तु एक जीवन काल में एक सामूहिक परिपूर्णता की अवधारणा को मानना एक मनुष्य की परिपूर्णता में विश्वास करने की अपेक्षा ज्यादा आसान प्रतीत होता है। गाँधी व्यक्तिगत परिपूर्णता से सरोकार रखते थे न कि सामूहिक परिपूर्णता से। उनके लिये इस परिपूर्णता में लगने वाले समय का कोई महत्व नहीं था यदि इसमें समय लगता है, तो यह कुछ नहीं है बल्कि यह *''समूचे कालचक्र''* में महज एक क्षण है।[१६२] *''मैं पिछले जन्मों और पुनर्जन्मों में विश्वास करने वाला हूँ। हमारे सभी सम्बन्ध उन संस्कारों के परिणाम है, जो हम पिछले जन्म से लेकर आते हैं।''*[१६३] आगे, *''....... यदि भौतिक विज्ञान को सिद्ध करने के लिये आपको एक पूरा जीवन लगाना पड़ता है तो महानतम आध्यात्मिक शक्ति (अहिंसा) को सिद्ध करने में कितने जीवन लगेगें? क्योंकि यदि जीवन में केवल यही एक स्थायी वस्तु है यदि केवल यही मायने रखती है, तो उसे सिद्ध करने में आपका प्रयास अच्छी तरह से लगेगा।''*[१६४]

अत: उपर्युक्त कथनों के निहितार्थ स्वरूप हम कह सकते हैं कि मनुष्य को रातों-रात रूपान्तरित किया जाना सम्भव नहीं है। क्योंकि, *''सभी मनुष्य अपूर्ण हैं और जब किसी व्यक्ति में दूसरों की तुलना में ज्यादा मात्रा में अपूर्णता देखी जाती है तो लोग उसे दोषी मानने के लिये तत्पर होते हैं, परन्तु यह उचित नहीं है। मनुष्य अपनी मन: स्थिति को बदल सकता*

है और उसका नियमन कर सकता है, परन्तु उसे मिटा नहीं सकता। ईश्वर ने उसको इतनी स्वतन्त्रता नहीं दी है। यदि एक तेंदुआ अपने शरीर के काले धब्बों को बदल सकता तो केवल तभी मनुष्य अपने आध्यात्मिक संरचना की विचित्रताओं को परिमार्जित कर सकता है।''[१६५] वास्तव में हमें केवल यह नहीं मानना चाहिये कि मनुष्य गलतियाँ करने के लिये जन्म लेता है।

यह सत्य है कि गॉधी की दृष्टि मे मनुष्य सर्वदा अपूर्ण रहेगा परन्तु साथ ही, ''अपने को पूर्ण करने का प्रयास सदा करता रहेगा।''[१६६] यह भी सत्य है प्रकृति में स्थिर कुछ भी नहीं है, केवल ईश्वर या महत्तम अतीन्द्रिय सत्ता ही गतिविहीन, शुभ और विकासातीत हो सकती है। *''मनुष्य गुणात्मक रूप से एक प्रगतिशील प्राणी है, पर फिर भी मानसिक अकर्मण्यता के कारण वह ये देखने में असफल है कि व्यवहार के सार्वभौमिक वैध नियम मूल रूप से सरल और आसानी से पालन योग्य है।''*[१६७] परन्तु फिर भी, *''मानव प्रकृति की तार्किकता उसकी सैद्धान्तिक परिशुद्धता की पूर्व शर्त है। प्रत्येक अपने आप में परिपूर्ण माना जाना चाहिये न कि एक माध्यम। हमें यह मानना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य मस्तिष्क के द्वारा अपनी शक्तियों को समझ सकता है तथा व्यवहार मे स्वयं की आस्था को सम्पुष्ट करने के लिये उसके पास हृदय है। शरीर के बन्धनों से अनिवार्य रूपेण जकड़े हुए हम शरीर के विधान के बाद ही परिपूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।''*[१६८] सत्य है, *''यदि मर्त्य सशरीर इस परिशुद्ध अवस्था को प्राप्त कर ले, तो उस आदर्श के सतत अन्वेषण की जो कि समस्त आध्यात्मिक विकास का आधार है; के लिये निरन्तर प्रयास की जगह ही कहाँ बचेगी?''*[१६९] अत: पृथ्वी पर *'परिपूर्णता का अभिप्राय'* अपने सत्य प्रकृति की सम्पूर्ण संचेतना की ओर बढ़ने की संभावना है, जो कि मूलत: प्रत्येक जीवन की समरूपी है। गाँधी के मानव परिपूर्णता की सत्य प्रकृति की प्राप्ति सुनिश्चित है जिसका अर्जन प्रकृति में पदार्थ के ऊपर आत्मा की विजय द्वारा सुनिश्चित है।

इस प्रकार गाँधी का जीवन लक्ष्य हिन्दू तत्वदर्शियों के जीवन लक्ष्य से भिन्न न था। उनका सम्पूर्ण जीवन कर्म इसी उद्देश्य के निमित्त था। एक स्थान पर वे लिखते हैं *''जो मैं उपलब्ध करना चाहता हूँ, जिसकी उपलब्धि के लिये मैं इन तीस वर्षों से प्रयासशील और लालायित हूँ, वह आत्मोपलब्धि है, ईश्वर का साक्षात्कार है, मोक्ष की प्राप्ति है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये मैं जीवित हूँ, प्रत्यनवान हूँ, इसी के लिये मेरा अस्तित्व है। मेरे भाषण, मेरे लेख, राजनीतिक क्षेत्र के मेरे समस्त प्रयास..... ये सब के सब मेरी सम्पूर्ण क्रियाएँ उसी एक उद्देश्य की ओर निर्दिष्ट हैं।''*[१७०]

कर्ममय जीवन व्यतीत करने वाले गाँधी ने मोक्ष प्राप्ति का स्थान इहलौकिक व्यवहार जगत को ही स्वीकृत किया। वे कहते थे *''अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये गुफा की शरण लेना मेरे लिये आवश्यक नहीं हैं।''*[१७१] *''मैं सत्य का एक विनम्र अन्वेषी हूँ। इसी जन्म में आत्मोपलब्धि कर मोक्ष पाने के लिये मैं विकल हूँ। मेरी राष्ट्र सेवा भी मेरी आत्मा को माया के बन्धन से मुक्त करने के प्रशिक्षण का एक अंग है।''*[१७२] उनका मानना है, जो मनुष्य सत्य की सर्वव्यापी भावना की उपलब्धि का आकांक्षी है; वह अपने को जीवन के किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं रख सकता। उनका कथन है *''सत्य के प्रति निष्ठा ने मुझे राजनीति के क्षेत्र में खींच लिया।''*[१७३]

सत्यनिष्ठ गाँधी मानव जाति की परिपूर्ण एकता[१७४] के विश्वासी हैं। परम्परा से प्राप्त अखण्डित जीवन का विचार

गाँधी के इन मतों में प्रतिफलित होता है कि मानवीय प्रचेष्टाओं का सम्पूर्ण क्षेत्र आज एक अखण्ड समग्र की रचना करता है, आप सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं विशुद्ध धार्मिक कार्यो को सर्वथा पृथक् खण्डों में विभक्त नहीं कर सकते।''[१७५] अत: जीवन के उद्देश्य *'आत्मोपलब्धि'* की सिद्धि *'सर्वोदय'* (सबका सब प्रकार से उदय) की स्थिति होने पर ही सम्भव है।

(iv) आदर्श मानव

गाँधी के जीवन दर्शन एवं उनके द्वारा निरूपित मानव प्रकृति का ज्ञान होने के पश्चात् उनकी आदर्श मानव की परिकल्पना करना आसान हो जाता है। उनका जीवन-दर्शन सत्य की उपलब्धि की संस्तुति करता है, जबकि अहिंसा को वे मानव प्रकृति का आधारभूत नियम कहते हैं। इस प्रकार परम सत्य की उपलब्धि के लिये वे जिस प्रविधि का प्रतिपादन करते हैं वह प्रविधि है- *'अहिंसात्मक सत्याग्रह'* की। उनका आग्रह है कि प्रत्येक व्यक्ति को सत्याग्रही होना चाहिये। उनका आदर्श मानव यही सत्याग्रही है। *'सत्याग्रह'* का शब्दार्थ है *'सत्य के लिये आग्रह'* और इसमें से व्यक्त होने वाला आशय है, आत्मबल का या सत्यशक्ति का।

गाँधी के अनुसार आत्मबल का आधार ईश्वर में अटूट विश्वास से निर्मित होता है। सत्याग्रही को ईश्वर में विश्वास होना चाहिये अन्यथा वह पशुबल तथा हिंसा का सामना शान्तिपूर्ण ढ़ंग से नहीं कर पायेगा। गाँधी का अहिंसा को जीवन का नियम मानने का निहितार्थ यह है कि व्यक्ति को दूसरों के साथ, विशेषत: जब अन्याय और पाप का प्रतिरोध करना हो तो अहिंसक होना चाहिये। एक सत्याग्रही के अहिंसक होने का परिणाम द्वन्द्व के तनाव और ऊहापोह में ही होता है, पर इसके पूर्व कि वह दूसरों से प्रसूत अन्याय को चुनौती देने के लिये आगे बढ़े उसे जड़ सहित स्वयं अपने भीतर से निकालने का प्रयास करना चाहिए। *''अन्वेषक-प्रकाश (Searchlight) को भीतर की ओर घुमाने से ही अंहिसा की शुरूआत और अन्त होता है।''*[१७६] अर्थात् बाह्य परिस्थितियों में सुधार केवल आंतरिक दशाओं को ठीक करने के बाद ही आ सकता है। गाँधी मानते हैं दूसरों के विरूद्ध सत्याग्रह के प्रयोग से पूर्व स्वयं के विरूद्ध उसका प्रयोग होना चाहिये।

सत्याग्रही का यह गुण है कि उसके पास जोखिम उठाने के लिये साहस और धैर्य, प्रथमोद्योगिकता तथा साधन सम्पन्नता, शोध और तत्परता का भाव है। उसे विशेष परिस्थिति से निपटने के लिये स्वयं अपने प्रबुद्ध आत्म-विवेक के निर्देशन पर निर्भर होना चाहिए। सत्याग्रही व्यक्तियों और समूहों के विरूद्ध अहिंसक प्रतिरोध प्रयुक्त कर सकता है। वह समाज सेवा के माध्यम से अपनी आत्म उपलब्धि तलाशता है।

सत्याग्रही इस सर्वमान्य लक्षण से युक्त वह मानव है जिसमें प्रेम की भावना अत्यन्त दृढ़ एवं प्रबल है वह अपने विरोधी से मानव के रूप में प्रेम करता है। वह उसकी आन्तरिकता को रूपान्तरित करते हुये उसे पक्षपात विहीन *'न्याय साम्यता'* के एक वैचारिक बौद्धिक स्तर तक उठाने का ध्येय रखता है। परिवर्तन का अर्थ यह है कि विपक्षी अपनी भूल अनुभव करता है। अत: सत्याग्रही द्विपक्षीय विजय के दृष्टिकोण के साथ युद्ध करता है जिसका ध्येय एकीकरण है न कि वैधानिक असहमतियों का दमन।

प्रथमत: *''गुणात्मक रूप से सत्याग्रही को सभी रूपों में हिंसा से बचने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि हिंसा विरोधी*

को विनष्ट या कम से कम आहत अवश्य करती है। सत्याग्रही को अपने विरोधी को मनसा-वाचा-कर्मणा में सभी संकल्पित क्षति से बचाने का प्रयास करना चाहिए अतः उसे क्रोध, घृणित दुर्भावना, संदेह आदि अन्य विभेदकारी भावनाओं को नही पालना चाहिए।''[१७७]

''धनात्मक रूपेण एक सत्याग्रही हमेशा पाप को अच्छाई से, क्रोध को प्रेम से, असत्य को सत्य से, हिंसा को अहिंसा से वश में करने का प्रयास करता है।''[१७८] सत्याग्रही जो अपनी आत्म शक्ति की सक्रियता द्वारा प्रखर विरोधी से अपने आध्यात्मिक बान्ध्त्व के प्रति सचेत है; को स्व विरोधी को अपने परिवार के एक सदस्य के रूप में रखना चाहिए। गाँधी का दृष्टिकोण इस प्रकार था कि *''मुझे गलती करने वाले जो कि मेरा शत्रु है, के साथ समान नियमों को लागू करना चाहिए जैसा मैं गलती कर रहे अपने पिता या पुत्र के साथ करूगाँ।''*[१७९] पारिवारिक मन-मुटाव और विवाद सामान्यतः प्रेम के नियमानुसार सुलझाये जाते हैं वह कहते है *''यदि तुम अपने विरोधी को बदलना चाहते हो तो तुम्हें उसके सम्मुख उससे बेहतर और ज्यादा मानवीय पहलू को प्रस्तुत करना होगा। उस पहलू पर और उसके इर्द-गिर्द काम करते रहो उसके सामने उसकी गलतियों को न झुलाओ।''*[१८०] चूँकि मानव जीवन एक अविभाजित सम्पूर्ण तथ्य है, इसीलिये सत्याग्रही समूह के एक सदस्य के रूप में सत्याग्रही के व्यक्तिगत जीवन की अहिंसा का प्रक्षेपण उसके व्यवहार मे होना चाहिये। गाँधी इस बात पर बल देते थे कि लोक सत्याग्रह व्यक्तिगत या पारिवारिक सत्याग्रह का ही एक विस्तार है।

''सत्याग्रही का एक अन्य लक्षण अनासक्त की भावना है। विरोधी के साथ पूरा न्याय करने के लिये उसे अपने मन को एक निर्लिप्त अवस्था में रखते हुए विरोधी की दृष्टि को समझना चाहिये और यदि आवश्यकता पड़े तो अपने निर्णय को संशोधित करना चाहिए।''[१८१] *''एक सत्याग्रही के रूप में मुझे हमेशा अपने सभी पक्षों के परीक्षण और पुनः परीक्षण की प्रतिपल अनुमति देनी चाहिये और गलती पाने पर उसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिये।''*[१८२] सत्याग्रही का कोई भी निर्णय धन, यश, पद एवं सम्मान से प्रेरित नहीं होना चाहिये। उसमें अपरिग्रह की भावना होनी चाहिए। अपने विरोधी के ऊपर अपने श्रेष्ठतर नैतिक बल पर ही सत्याग्रही की शक्ति निहित होती है। सत्य ही है, व्यक्ति स्वानुशासन की आचार संहिता से बँध कर ही व्यक्तिनिष्ठता के तत्व के हस्तक्षेप को न्यून कर सकता है। इसी बात को गाँधी स्वीकार करते हैं, जब वह कहते है *''यदि तुम सत्य के महासागर की छाती पर तैरोगे तो तुम्हें स्वयं को एक शून्य तक घटाना होगा।''*[१८३] यहाँ स्वयं को शून्य तक घटाने का अर्थ है स्वयं में विनम्रता (जिसे प्राचीन दार्शनिक चित्तशुद्धि कहते हैं) का संवर्धन करते हुये सत्य के प्रति ग्रहणशील बनना।

गाँधी का आदर्श मानव सत्याग्रही के रूप में प्रतिपादित है लेकिन कोई चाहे तो उसे अहिंसात्मक सत्याग्रही कहे या *प्रो० हक्सले* की तरह *'अनासक्त'* भी कह सकता है। उनके अनुसार *''आदर्श मानव अनासक्त मानव है। अपनी शारीरिक संवेदनाओं एवं लालसाओं के प्रति अनासक्त। शक्ति एवं आधिपत्य कीं अपनी आकांक्षाओं के प्रति अनासक्त। विविध इच्छाओं के विषयों के प्रति अनासक्त। अपने क्रोध एवं घृणा के प्रति अनासक्त, अपने ऐकान्तिक अनुरागों के प्रति अनासक्त। अर्थ, यश, सामाजिक प्रतिष्ठा के प्रति अनासक्त। विज्ञान, कला, चिन्तन, मनन, लोक-कल्याण के प्रति भी अनासक्त। हाँ इनके प्रति भी अनासक्त''*।[१८४]

गाँधी के भजनों में यही *'वैष्णव'* के रूप में मिलता है। वैष्णव गाँधी की पारिवारिक परम्परा से इतर नहीं है, उनका जन्म एक वैष्णव मतानुयायी परिवार में हुआ था, जिनकी मान्यता थी कि मोक्ष की प्राप्ति अच्छे कार्यों और ईश्वर की भक्ति से की जा सकती है। वैष्णव की विशेषताएँ उनके सुप्रसिद्ध भजन में इस प्रकार वर्णित है :

वैष्णव तो उसी को कहना चाहिए जो दूसरों की पीड़ा को समझता हो, दूसरों के दुःख के समय उनका उपकार करता हो, किन्तु मन में उसके लिये अभिमान न करता हो, जो समस्त लोक में सबकी वन्दना करता हो, किसी की भी निन्दा न करता हो, जिसके विचार, शब्द एवं कार्य पवित्र हों, उसकी जननी धन्य है।

''जो समदृष्टि हो, तृष्णा त्याग चुका हो, परस्त्री जिसके लिये माता सदृश हो, जिसकी जिह्वा असत्य बोल ही न सकती हो, पराए धन को जो कभी हाथ न लगाता हो, जिसको मोह माया न व्यापती हो, जिसके मन में दृढ़ वैराग्य हो, जो निरन्तर राम नाम की रट लगाता हो, उसके शरीर में समस्त तीर्थों का वास है। जो लोभ को जीत चुका हो, कपट रहित हो, काम-क्रोध का निवारण कर चुका हो, नरसी कहता है उस (वैष्णव) के दर्शन करने से कुलकी इकहत्तर पीढ़ियाँ तर जाती है।''[१८५]

आदर्श पुरूष की संकल्पना सिद्धान्त के रूप में जितनी प्रभावी है व्यवहार में उतनी ही कठिन। यहाँ पर प्रश्न उठता है कि क्या आदर्श को पूर्णत: उपलब्ध नहीं किया जा सकता? यदि नहीं, तो इस कल्पना की आवश्यकता क्या है? गाँधी के लिये मनुष्य आदर्श तक उठने की केवल चेष्टा कर सकता है किन्तु वह उसे पूर्णत: उपलब्ध नहीं कर सकता उनका कथन है :

''आदर्श एवं व्यवहार में सदा अपूरणीय खाई रहेगी ही। यदि उसे उपलब्ध करना संभव हो जाय तो वह आदर्श रहेगा ही नहीं। आनन्द उसके लिये प्रयत्न करने में है न कि उसे प्राप्त करने में।''[१८६]

पुन:,

''आदर्शों को व्यवहार मे प्रयुक्त होना चाहिए अन्यथा वे प्रभावकारी नहीं होते।''[१८७]

अत:,

''हम अपने आदर्श को सुनिश्चित करें हम उसे प्राप्त करने पर असफल हो जायें, पर उसके लिये उद्यमशीलता कभी समाप्त नहीं होनी चाहिए।''[१८८]

''जब एक मनुष्य आदर्श के लिये काम करता है तो वह अप्रतिहत हो जाता है।''[१८९] *''यदि हमें वास्तविक मनुष्य होना है तो हमें विश्वास करना चाहिये कि अशुभ होने के बजाय अच्छा होना ज्यादा प्राकृतिक है।''*[१९०]

उपर्युक्त कथनों के आलोक में हम कह सकते हैं कि गाँधी आदर्श को प्राप्त करने में मानव प्रकृति की संभावनाओं का निषेध कदापि नहीं करते। वे इस बात के विश्वासी थे कि जीवन को मानव प्रतिष्ठा के उच्चतर सिद्धान्त के अनुसार नियमित किया जाना चाहिए। साथ ही, पूर्णता की ओर ले जाने वाले मार्गों को अपनी क्षमताओं से विकसित करके मानव जीवन की बाध्यकारी सीमाओं को तोड़ सकता है।

खण्ड (ग) मूल्यांकन

भारतीय समाज दर्शन *'आत्मोपलब्धि'* के रूप में मानव के लिये अनन्त संभावनाएँ प्रस्तुत कर पुरूषार्थों के द्वारा उसके उद्देश्यो को निर्धारित भी करता है। इसी भावना का प्रतिबिम्बन हमें गीता और गाँधी के विचारों में भी दिखाई पड़ता है। मनुष्यों (जीवो) की एकता के विश्वासी दोनों ही पूर्णता को *'आत्मोपलब्धि'* या *'आत्मसाक्षात्कार'* में देखते हैं। इनके दार्शनिक विचारो के सम्यक् अध्ययन से स्पष्ट है कि गीता में प्रस्तुत दर्शन-बोध वह मील का पत्थर है, जिसको बोधगम्य बनाने के लिये गाँधी एक व्यावहारिक मार्ग का निर्माण करते हैं। निश्चय ही इस मार्ग-निर्माण की सामग्री कोई कृत्रिम भौतिक संसाधन नहीं अपितु गीता की अन्तर्भूत प्रकृति से प्राप्त तात्विक आध्यात्मिक संसाधन है। अत: दोनों में तत्वत: कोई भेद करना निरर्थक प्रयास होगा। हाँ, प्रस्तुतीकरण तथा देश कालगत विषमता ज्यादा दृष्टिगोचर होती है।

भाषा विज्ञान में यह माना जाता है कि 'शब्द' समय, काल, परिस्थिति के अनुसार विकसित होते हैं। अत: अर्थ प्रबोधन भी उसी के आधार पर होता है। गीता और गाँधी के मध्य युगों का अन्तर है, परन्तु निश्चय ही दोनों का उद्देश्य *'सत्य'* का उद्घाटन है। गीता में कृष्ण का शिष्य अर्जुन है, जिसे ईश्वर का *'सत्य-शिव-सुन्दर'* स्वरूप समझाना ज्यादा सुविधानजनक है, जबकि गॉधी का कार्यक्षेत्र साधारण जन-समुदाय है। जहाँ ईश्वर की अपेक्षा सत्य को समझाना सरल और बोधगम्य है। इस कथन का अर्थ यह प्रतिपादित करना नहीं है कि गीता जन समुदाय की समझ से परे कोई दुरूह कृति है। इससे मात्र यह इंगित किया जा सकता है कि सिद्धान्तों के संसार से जब हम व्यावहारिक धरातल पर उतरते हैं तो उनसे सुमेलित अनुभूत्यात्मक पदार्थों को अपने समीप अधिक पाते है। सत्य हमारे आस-पास या स्वयं में प्रतिष्ठित अनभूत तथ्य है इसीलिये गाँधी 'सत्य को ईश्वर' कहते हैं।

मानव अवधारणा सम्बन्धी विचारों मे पाश्चात्य परम्परा से भिन्न (जहाँ मानव को *'प्रथम मूल पाप'* से ग्रसित, बाधित एवं पथच्युत माना गया है) गीता और गाँधी ऐसे स्वरूप की संकल्पना प्रस्तुत करते हैं जो मनुष्य को परमात्मा का अविनाशी और सनातन अंश मानता है। गाँधी गीता को इस मत को अक्षरश: मानते हैं कि *'जीव ईश्वर का अंश है।'* इस प्रकार दोनों ही मानव में विद्यमान देवत्व के अंश (आत्मा रूप) को स्वीकार करते है, लेकिन साथ ही वे मानव की दैवी एवं आसुरी प्रवृत्ति के प्रति सचेत हैं। आसुरी वृत्ति की विवेचना का अर्थ यह नहीं कि मानव प्रकृति अशुभ है। निष्कर्षत: इनमें मनुष्य की शुभ प्रकृति के प्रति आशावादी दृष्टि दिखाई पड़ती है।

गीता में श्रीकृष्ण का प्रथम विवेच्य विषय तत्क्षण प्रासंगिक *'देहात्मा'* का स्वरूप है क्योंकि युद्धक्षेत्र की पृष्ठभूमि में मानव अस्तित्व की सर्वाधिक जीवन्त स्थिति प्रस्तुत होती है। गीता आत्मा के विस्तार के दर्शन का प्रामाणिक प्रतिपादन करती है। इसका कारण अर्जुन का मूल्यों की एक संक्रामकता का शिकार होकर स्वत्व को गुणात्मक रूप से अपने भौतिक अस्तित्व से जोड़ते हुये अपनी वैयक्तिकता का अत्यन्त सीमित दृष्टिकोण लेना था। एक विशद तार्किक वार्तालाप द्वारा कृष्ण उस सिद्धान्त की अस्वीकारता सिद्ध करते है जो मानव की वैयक्तिकता को उसके भौतिक अस्तित्व के समतुल्य मानती है। गीता स्पष्ट करती है कि जब व्यक्ति स्वयं को भौतिक विधियों से जोड़कर देखता है, तो वह अपनी महानता और प्रतिष्ठा को विस्मृत कर देता

है। अत: इसका समाधान एक उच्चतर चेतना में उठ कर ही संभव है, वह चेतना है- समत्व की चेतना, जो वस्तुत: आध्यात्मिक चेतना है, जो देह और दैहिक जीवन की सीमाओं से ऊपर उठ कर ही प्राप्त हो सकती है। निश्चय ही गीता यहाँ मनोकायाकारी सावयव (शरीर) और स्वत्व के मध्य भेद नहीं करती बल्कि, अनासक्ति के माध्यम से मानव व्यक्तित्व के सम्पूर्ण संकायों का एकीकरण इसी स्वत्व के अन्तर्गत अवशोषित कर लिया जाता है।

गाँधी के आत्मा सम्बन्धी विचार विशेषत: गीता दर्शन पर ही अवलम्बित है। उनके अनुसार आत्मा सभी प्राणियों में एकता स्थापित करने वाला एक शाश्वत और अजर-अमर तत्व है। अनन्त शरीरों में एक ही आत्मा का निवास है। शरीर के सम्बन्ध में अपने गीता-भाष्य में गीता के मतों को उद्धृत करते हुए कहते है 'शरीर पाप में जन्मता है' यह 'शुभ अशुभ की भूमि है।' साथ ही, मुक्ति के द्वार के रूप में परिवर्तित किये जाने में सम्भव है। अवधारणा के स्तर पर गाँधी शरीर को आत्मा का एक प्रकार नहीं मानते। शरीर की सीमाओं के प्रति गाँधी का दृष्टिकोण अधिक वैज्ञानिक है। वे कहते हैं हम इस क्षणभंगुर शरीर के माध्यम से शाश्वत सत्य का दर्शन नहीं कर सकते। साथ ही, अनासक्ति के महत्तम प्रयास के बावजूद भी कोई व्यक्ति अपने पर्यावरण या परवरिश के प्रभाव को पूर्ण रूपेण निरस्त नहीं कर सकता। किन्तु, इन कथनों पर विश्वास करते हुए भी गाँधी निराशा का प्रतिपादन नहीं करते वे मानते है *"मनुष्य अनिवार्य रूपेण आत्मनिर्देशन की अर्हता युक्त होता है।"* उनके लिये संख्या में आत्मा का विस्तार अनन्त है। आत्मा की पूर्णता की मात्रा में भिन्नता का मत प्रतिपादन करने वाले गाँधी के मतो में मनुष्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति का बोध निश्चय ही रहा है। गाँधी के लिये आत्मा की सत्ता में विश्वास का कारण किसी दार्शनिक प्रश्न या सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करना नहीं था बल्कि इस विश्वास से जनित देशकालातीत 'निरपेक्ष सत्य', चेतना की एकता से संपृक्त हो शाश्वत आधार ग्रहीत करता है।

गाँधी यद्यपि गीता, उपनिषद् तथा योग सूत्रों को हिन्दू दर्शन की पराकाष्ठा मानते थे, तथापि गीता की ओर उनका झुकाव अधिक था। गीता से प्रभावित गाँधी के ईश्वर सम्बन्धी विचार तात्विक रूप से कोई अन्तर प्रस्तुत नहीं करते। जिस प्रकार गीता में ब्रह्म के दो पहलू वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक माने गये है, उसी प्रकार गाँधी के अनुसार भी ईश्वर न्याय एवं न्यायकर्त्ता दोनों को मिलाकर एक है। गाँधी सत्य और ईश्वर को समरूपी मानते है। वे कहते है *"मैं ईश्वर को व्यक्ति नहीं मानता मेरे लिये सत्य ईश्वर है तथा ईश्वरीय नियम और ईश्वर इस अर्थ में अलग-अलग वस्तुऐं या तथ्य नहीं है जिस तरह से एक पृथ्विक राजा या उसके कानून में अन्तर होता है, चूँकि ईश्वर एक अवधारणा है स्वयं सिद्धान्त....... वो और उसका सिद्धान्त हर जगह लागू होकर हर किसी को शासित करता है।"*

ईश्वर और मानव का अंतर्सम्बन्ध गीता में अंश सिद्धान्त और तादात्म्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित होता है। प्रथम मतानुसार आत्मा सार्वभौम आत्मा का एक अंश है। कृष्ण कहते हैं *"मेरा ही अपना एक अंश जो स्वयं में अनादि है इस संसार में एक जीवात्मा बनता है।"* अन्य के अनुसार मानव आत्मा स्वयं ही सार्वभौम आत्मा है कृष्ण कहते है *"मैं सभी जीवधारियो के हृदय स्थल में निवास करता हूँ। इस शरीर में आत्मा दृष्टा, चिन्तक, समर्थक एवं अनुभवकर्त्ता है जिसे महान ईश्वर और परमात्मा भी कहा जाता है।"*

इन सिद्धान्तों का गहराई से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि गीता में अंश शब्द का प्रयोग *'पूर्ण'* तथा *'भाग'* के एक लाक्षणिक अन्तर्सम्बन्ध को दिखाने मात्र के लिये किया गया न कि एक आयाम सम्बन्धी सत्य को। केवल लाक्षणिक रूप से बोलते हुए ही आत्मा को परमात्मा का एक अंश कहा जा सकता है। गीता का आख्यान परम सत्ता और आत्मा के मध्य तादात्म्य के सिद्धान्त के समर्थन में अभिभूत कर देने वाले प्रमाण प्रस्तुत करता है। यह तथ्य स्पष्ट रूप से उस समय कृष्ण द्वारा प्रदर्शित किया गया था, जब शरीर और आत्मा के सन्दर्भ में बोलते हुये उन्होनें कहा था *'इस शरीर को एक क्षेत्र के रूप में पुकारा जाता है और जो उसे जानता है विवेकवान पुरूषों द्वारा 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है। सभी क्षेत्रों के क्षेत्रज्ञ बनने के लिये मुझे जानो।'* उपरोक्त श्लोकार्थ स्पष्टत: दर्शाते हैं कि यह वही समान सम्प्रभु आत्मा है, जो विभिन्न शरीरों की आत्माओं में निवास करती है।

इस विचार बिन्दु पर एक गम्भीर प्रश्न उठाया जा सकता कि यदि व्यक्तिगत संचेतना सार्वभौमिक सत्ता के अतिरिक्त कुछ भीं नहीं है तो हम व्यक्तिगत जीवों में ऐसी संचेतनाओं की बहुलता की व्याख्या कैसे करेंगें? व्यक्तिगत संचेतनाओं के उत्थान का क्या कारण है?

गीता द्वारा प्रस्तुत आत्माओं की बहुलता के अत्यन्त सुस्पष्ट वर्णनों में इसका मर्म प्रकट होता है। सर्वप्रथम वह दृष्टान्त जिसमें श्रीकृष्ण को अर्जुन से यह कहते हुये दिखाया गया है कि *'मेरे अतिरिक्त इस जगत में कुछ भी नहीं है'* फिर *'मैं इस ब्रह्माण्ड में अपने अदृश्य रूप से परिव्याप्त हूँ' अन्ततः 'मैं सभी जीवों के हृदयस्थल में विद्यमान आत्मा हूँ, मैं उनका आदि और मध्य के साथ-साथ उनका अन्त भी हूँ।'* दूसरे शब्दों में, सर्वोच्च सत्ता वह जिससे परे, जिसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु न तो विकसित होती है न विस्तृत और न बढ़ती है। वह एक समय में ही एक और अनेक है उसकी बहुलता और एकता दोनों सत्य है जो इस बात पर निर्भर है कि आप उसको किस दृष्टि से देखते हैं। जहाँ अन्य वस्तुओं के विषय में यह पूछा जा सकता है कि *'वे क्यों बढ़ती है?' 'वे एक विशेष तरह से क्यों व्यवहार करती है?'* सकल बह्माण्ड या वैसी सच्चाई के लिये ऐसे प्रश्न बेमानी हो जाते हैं। यह किसी सत्ता की ऐसी प्रकृति है जिसका बढ़ने और जो वह चाहे बनने की कोई बाह्य सीमाएं नहीं है। उसके विकास को यह तथ्य कोई व्याख्या नहीं मानता। विस्तृत होना सत्ता की प्रकृति है, इस प्रक्रिया से वह बहुरूपों में प्रकट होती है जिसे कृष्ण योगमाया या दैवीय शक्ति कहते हैं। यह दैवी शक्ति स्वयं को मानव तर्क के क्यों और कैसे के अधीन नहीं करती। इसी दैवीय शक्ति से परिपूर्ण हो परम सत्ता स्वयं को एक अदृश्य रूप में वस्तुओं और घटनाओं के सांसारिक प्रकटीकरण के रूप में मूर्त करती है। व्यक्तिगत आत्माएं जो कि स्वयं भी परम सत्ता के विकासोत्पाद हैं उस सत्ता के अनन्यतम सत्व का अंशी बन वास्तव में उसकी वास्तविक प्रकृति की सर्वश्रेष्ठ वर्णनाभिव्यक्ति है।

गाँधी ईश्वर और मनुष्य एवं सभी जीवधारियों के मध्य अनिवार्य एकता के विश्वासी है। उनके लिये मनुष्य उस सीमा तक मनुष्य है जहाँ तक वह अपने आंतरिक दैवत्व को प्रकट करता है। गाँधी मानव को सत्य में अधिष्ठापित कर सकल ब्रह्माण्ड से संयुक्त कर देते हैं। गाँधी का मानव और ईश्वर का अंतर्सम्बन्ध गीता की मूलभूत शिक्षा से अनुप्राणित है।

पाद-टिप्पणी सन्दर्भ

१- गोखले, बी०जी : इंडियन थॉट थ्रू दि ऐजेस, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६१, पृ० २४

२- भगवद्गीता : अध्याय १.१

३- वैशेषिक सूत्र, १.१.२ : कल्याण हिन्दू संस्कृति अंक (हिन्दी), पृ० ३७०

४- कल्याण : हिन्दू संस्कृति अंक (हिन्दी), पृ० ३६९, गीताप्रेस, गोरखपुर

५- वही : पृ० १६१

६- भगवद्गीता : अध्याय ४.७

७- वही : अध्याय ४.८

८- विस्टरमार्क (संपा०) : मॉरल आइडियाज़, खण्ड-१, वाइली, न्यूयार्क, १९०६, पृ० २०१

९- महाभारत : (कर्णपर्व) ६९. ५७ गीता प्रेस, गोरखपुर (हिन्दी), 'प्रभवार्थ च भूतानां धर्म प्रवचनं कृतम्।'

१०- महाभारत : (शान्तिपर्व), ५८

११- महाभारत : (शान्तिपर्व) ५९, धारणाद् धर्मोत्याहु धर्मो धारयति प्रजा।

१२- राधाकृष्णन एस० : दि भगवद्गीता, जार्ज एलन & अनविन लि०, लन्दन, १९५३, पृ० १५४

१३- वही

१४- देसाई, महादेव : दि गीता एकार्डिग टू गाँधी, पृ० १९६

१५- गोखले, बी०जी० : इंडियन थॉट थ्रू दि एजेस, पृ० ५१

१६- प्रभु, पी०एच० : हिन्दू समाज की व्यवस्था, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स, पॉपलर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ० ८०

१७- वही : पृ० ९५

१८ मत उद्धृत, राधाकृष्णन, एस० : रीलिजन एण्ड सोसाइटी, जार्ज एलन & अनविन लि०, लंदन, १९४८, पृ० १०६, (धर्मार्थ कामानं विघ्नहरं निर्वारकानाम्)

१९- मैकीवर, आर०एम० तथा पेज, सी० : सोसायटी - एन इंट्रोडक्टरी एनैलिसिस, फैरार एण्ड राइन हार्ट, न्यूयार्क, १९४९, ब्रिटिश संस्करण, मैकमिलन, लन्दन, १९४९, पृ० २४०

२०- भगवद्गीता : अध्याय १.३८

२१- "धर्मे च अर्थे च कामे च नातिचरितव्या", प्रभु, पी० एच० : हिन्दू समाज की व्यवस्था में उद्धृत, पृ० २०१

२२- गोखले, बी०जी० : इंडियन थॉट थ्रू दि एजेस, पृ० ५०-५१

२३- कौटिल्य : अर्थ-शास्त्र (आर० शामशास्त्री द्वारा अनु०), तृतीय संस्करण, १९२९

२४- भगवद्गीता : अध्याय ३.३७

२५- देसाई, महादेव : गीता एकार्डिग टू गाँधी, पृ० २४६

२६- कामकला विलास श्लोक ५ : (अनु०) एवलन,

२७- सौन्दर्यलहरी : (अनु०), एस० सुब्रमणियन तथा टी० आर० श्रीनिवास, मद्रास, थियोसोफिकल, १९४८, पृ० ३

२८- दासगुप्ता, एस०एन० : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी, खण्ड-५, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, लंदन, १९५२, पृ० २३

२९- कामकला विलास : (अनु०) एवलन, पृ० २

३०- राधाकृष्णन, एस० : फिलॉसफी ऑफ ईस्ट एण्ड वेस्ट, खण्ड - १, पृ० ४१६

३१- वात्स्यायन : काम-सूत्र, १.१

३२- मैत्रा, एस० के० : दि एथिक्स ऑफ द हिन्दूज़, पृ० १७५

३३- प्रभु०, पी० एच० : हिन्दू समाज की व्यवस्था, पृ० २५६

३४- भगवद्‌गीता : अध्याय ७.२७

३५- वही : अध्याय ७.२८

३६- वही : अध्याय १५.५

३७- वही : अध्याय ६.२९

३८- वही : "स्वेस्वे कर्मण्यभिरन संसिद्धिंलभते नर:।"

३९- वही : "अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।"

४०- वही : अध्याय ५.२४

४१- देसाई, महादेव : दि गीता एकार्डिंग टू गाँधी, पृ० २२४

४२- गीता : अध्याय ५.२३

४३- वही : अध्याय २.७२, अध्याय ६.४५, अध्याय ७.१५, अध्याय ६.४६, अध्याय १८.४५, अध्याय ५.१९, अध्याय ८. २८

४४- इस मत के पूर्णत: विरूद्ध उपनिषदों की अद्वैतवादी परम्परा के उपदेशक एवं प्रचारक स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में भाषण करते हुए कहा-"तुम धरती के वासी देवता हो अमृत के पुत्र हो, तुम्हें जो पापग्रस्त कहे वह स्वयं पापी है।" डा० देवराज, एन० के० : दर्शन धर्म-अध्यात्म और संस्कृति, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, २००१, पृ० १३९

४५- "ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:"- भगवद्‌गीता : अध्याय १५.७

४६- भगवद्‌गीता : अध्याय २.२० यह मत कठोपनिषद् की आवाज को प्रतिध्वनित करता है जो बलपूर्वक कहता है कि ज्ञाता स्वत्व (आत्मा) न कभी पैदा होता है और न ही कभी वह मरता है वह अजन्मा सनातन स्वअधिवासित (स्वाश्रय) प्राचीनतम है। कठोपनिषद्, १.२.१८ (अनु०, डा० राधाकृष्णन)

४७- भगवद्‌गीता : अध्याय २.२६

४८- वही : अध्याय ५.१३,१५

४९- वही : अध्याय ८.२० कठ, मुण्डक, श्वेताश्वर उपनिषदो में इस क्रियाविहीन अनिवार्य स्वत्व को महज एक साक्षी के रूप मे माना गया है। कठ; १.३.१ और १.३.४ ; मुण्डक ; ३.१.२ और श्वेताश्वर; ४.६। "आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतर्गुणौः।" शान्तिपर्व (१८७-२४)

५०- वही : अध्याय १४.५ - सत्वं रजस्तम इति..........प्रकृतिसंभवा।

५१- वही : अध्याय ७.१४ - "दैवी ह्येषा गणुमयी मम माया दुरत्यया।"

५२- वही : अध्याय ७.२५

५३- वही : अध्याय १४.२० - 'गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान्।'

५४- वही : अध्याय ३.३४

५५- वही : ५.६ - संन्यासस्तु महाबाहो....... नचिरेणाधिगच्छति।

५६- वही : अध्याय २.५८

५७- वही : अध्याय ५.२४

५८- वही : अध्याय ५.१९

५९- वही : अध्याय ५.७

६०- वही : अध्याय ६.२९

६१- वही : अध्याय १६.१०-१३ , १८-१९

६२- वृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.१० और २.५.१९ (अयमात्मा ब्रह्म)

६३- भगवद्गीता : अध्याय ४.३५

६४- वही : अध्याय १५.७

६५- राधाकृष्णन, एस० : भगवद्गीता, पृ० ३२९

६६- देसाई, महादेव : दि गीता एकार्डिग टू गॉधी, पृ० ३४१

६७- भगवद्गीता : अध्याय १८.१६, "अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।"

६८- वही : अध्याय १८.२० "सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। अविभक्तं विभक्तेषुतज्ज्ञानं विद्धि सात्विकम्।"

६९- गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी-आसुरी वृत्ति का विस्तृत वर्णन है। इस अध्याय की मूल स्थापना यह है कि दैवी और आसुरी वृत्तियों के रूप में समाज को दो वर्णों में बॉटा जा सकता है। जिस समाज में आसुरी वृत्तियों का बाहुल्य और दैवी वृत्तियों का ह्रास होगा, उसका विनाश अपरिहार्य है। इस स्थिति में व्यक्ति और समाज का भी विघटन और बिखराव होगा। इस अध्याय का मुख्य आह्वान यह है कि मनुष्य को अपने अन्दर दैवी वृत्तियों का विकास और विस्तार करना चाहिये।

७०- भगवद्गीता : अध्याय २.५५

७१- भगवद्गीता : शांकर भाष्य

७२- गीता के अध्याय २.५४ मे उपस्थित प्रश्न से स्पष्ट है कि अर्जुन की समस्या व्यवहार जगत में उतरने वाले व्यक्ति से सम्बद्ध है।

७३- भगवद्गीता अध्याय २.५५

७४- वही : अध्याय २.५६

७५- वही : अध्याय २.५७

७६- वही : अध्याय २.५८

७७- वही : अध्याय २.६२-६३

७८- वही : अध्याय २.६४-६५

७९- वही : अध्याय २.७०

८०- वही : अध्याय ७.१६-१९

८१- वही : अध्याय ७.१६; महाभारत में चतुर्विध भक्तों का वर्णन भी इसी प्रकार किया गया है (चतुर्विधा मम् जना भक्ता .... च्यवनधर्मास्ते प्रतिबद्धस्तु श्रेष्ठभक्।।), (म० भा०, शान्ति०, ३४१.३३-३५)

८२- वही : अध्याय ७.२१

८३- वही : अध्याय ७.१९ वासुदेव: सर्वमिति

८४- वही : अध्याय १४.२२

८५- वही : अध्याय १४.२४-२५

८६- वही : अध्याय १४.२६-२७

८७- वही : अध्याय २.७२

८८- वही : अध्याय ५.२६

८९- वही : अध्याय ५.२४-२६

९०- वही : अध्याय ५.२१, ४.१०

९१- वही : अध्याय ६.३०

९२- वही : अध्याय ६.१९

९३- वृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.१० : एस०, राधाकृष्णन (अनु०)

९४- श्वेताश्वरोपनिषद्, ६.१२ : एस०, राधाकृष्णन (अनु०)

९५- महाभारत : (मत उद्धृत राधाकृष्णन् और पी०टी०राजू, दि कन्सेप्ट ऑफ मैन, पृ० ९)

९६- तैत्तरीय उपनिषद् : ६.१

९७- छान्दोग्य उपनिषद् : १७.६.७

९८- वृहदारण्यक उपनिषद् : २.४.१४

९९- वही : ४,४.२३

१००- 'कल्कि' (जुलाई १९४८), पृ० २९

१०१- समाजविज्ञान के जर्मन प्राध्यापक कार्ल मैनहीम का भी ऐसा विश्वास है "केवल मात्र व्यक्ति की पुनः रचना द्वारा ही समाज का पुनर्निर्माण संभव है।" - (मैन एण्ड सोसाइटी), केगल पॉल, १९४९, पृ० १५

१०२- 'यंग इण्डिया', १२ मई १९२०; २५ मई, १३ जुलाई, २५ अगस्त, १९२५

१०३- गाँधी, मो०क०: माइ रिलिजन, बी० कुमारप्पा द्वारा संपादित, अहमदाबाद, नवजीवन, १९५५, पृ० १५९

१०४- वही, पृ० ४४

१०५- 'यंग इण्डिया', ६ अक्टूबर १९२१

१०६- वही

१०७- हरिजन, जून, १९३५, (नवजीवन, १९३२-१९४८)

१०८- वही, २ अप्रैल, १९३८, पृ० ६५

१०९- वही, १ फरवरी, १९३५, पृ० ४१०

११०- प्यारेलाल : महात्मा गाँधी दि लास्ट फेज, खण्ड - २, अहमदाबाद, नवजीवन, १९५८, पृ० १३८

१११- हरिजन, १ फरवरी, १९३५, पृ० ४१०

११२- तेन्दुलकर : महात्मा (आठ खण्डों में), खण्ड ५, १९५१-५४, पृ० १७

११३- यंग इण्डिया, दिसम्बर, १९२६

११४- वही, फरवरी, १९२७

११५- हरिजन, नवम्बर, १९३८

११६- यंग इण्डिया, अक्टूबर, १९३१

११७- यंग इण्डिया, खण्ड - २, पृ० ७९

११८- यंग इण्डिया, खण्ड - २, पृ० ४२१

११९- देसाई, म० : दि गीता एकार्डिंग टू गाँधी, पृ० १३५

१२०- तेन्दुलकर, डी०जी० : महात्मा खण्ड - ४, पृ० १३

१२१- यरवदा मन्दिर से, (१९४५), नवजीवन, अहमदाबाद पृ० ५

१२२- 'अनसीन पावर' (सं० चन्दर, जय प्रवेश), १९४४, पृ० ४२

१२३- धवन, जी० एन० : पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी, अहमदाबाद, नवजीवन, १९५१

१२४- भगवद्गीता : 'यो मां पश्यति........ प्रणश्यति।', ६.३०

१२५- हरिजन, ८-६-१९४२

१२६- स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी, मद्रास, नाटेसन, १९३४, चतुर्थ संस्करण, पृ० ५०४

१२७-.रोम्याँ रोला : महात्मा गाँधी, एलन & अनविन, लन्दन १९२४, पृ० ४५

१२८- गाँधी मो०क० - माई रिलिजन, पृ० ४०

१२९- एण्ड्रूज सी० एफ० (संपा०) : महात्मा गाँधीज़ आइडियाज, लन्दन, १९२९, पृ० ४३

१३०- यरवदा मंदिर से (१९४५), पृ० ५

१३१- गाँधी, मो०क० : माई रिलिजन, पृ० ४२

१३२- 'अनसीन पावर', पृ० ४२

१३३- गाँधी : 'माई एक्सपेरिमेन्ट्स विद टुथ', प्रथम खंड, पृ० ८, और वही, द्वितीय खण्ड, पृ० ५९०

१३४- वही, प्रथम खण्ड, पृ० ६

१३५- गाँधी, मो०क० : माइ रिलिजन, पृ० ४१

१३६- वही

१३७--रे, बी०जी० : गांधियन एथिक्स, अहमदाबाद, १९५०

१३८- गाँधी, मो० क० : एन ऑटोबायोग्राफी, पृ० ४१९

१३९- यरवदा मंदिर से, पृ० १

१४०- एण्ड्रूज सी० एफ० : महात्मा गाँधीज़ आइडियाज़, पृ० ४३

१४१- दिवाकर, आर०आर० एक प्रैक्टिकल फिलॉसफी पृ० २६

१४२- गाँधी मो०क० : दि सुप्रीम पॉवर, पृ० ६

१४३- बोस, एन० के० : सेलक्शन्स फ्राम गाँधी, पृ० ६

१४४- यंग इण्डिया, ३ सितम्बर, १९३१

१४५- 'हरिजन', ३ जून, १९३९, पृ० १५१

१४६- यंग इण्डिया, दिसम्बर, १९२४

१४७-'हरिजन', १ फरवरी, १९३५, पृ० ४१०

१४८- अय्यर, आर० एन० : दि मॉरल एण्ड पॉलिटिकल थॉट ऑफ महात्मा गाँधी, ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, १९७३, पृ० ८९

१४९- यंग इण्डिया, खण्ड २, पृ० ७९

१५०- प्यारेलाल : महात्मा गाँधी, दि लास्ट फेज, भाग-२, पृ० २०२

१५१- यंग इण्डिया, दिसम्बर, १९२४

१५२- गाँधीजीस कॉरेसपॉन्डेस विद दि गवर्नमेण्ट, १९४२-४४ नवजीवन, १९४५, पृ० ६९

१५३- तेन्दुलकर, डी० जी० & बी० के० झावेरी : महात्मा, खण्ड - ४, पृ० ३५३

१५४- हरिजन, नवम्बर, १९३८

१५५- वही, मई, १९३६

१५६- गाँधी मो० क० : ए ऑटोबायोग्राफी, पृ० ३३७

१५७- देसाई, वी० जी० (अनु०) : दि डायरी ऑफ महादेव देसाई, पृ० ११३

१५८- गाँधी मो० क० : ट्रुथ इज गॉड, पी०के० प्रभु (संपा०), पृ० १७

१५९- वही

१६०- वही

१६१- हरिजन, २२ जून, १९३५, पृ० १४८

१६२- वही, जून, १९३५

१६३- वही, अगस्त, १९४०

१६४- वही, मार्च, १९३६

१६५- सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका, १९२८ (अनु०) बी० जी० देसाई, द्वितीय संस्करण, नवजीवन, १९५०, पृ० २१२

१६६- तेन्दुलकर डी० जी० : महात्मा, खण्ड - ४, पृ० १३

१६७- हरिजन, नवम्बर, १९४७

१६८- तेन्दुलकर डी० जी० : महात्मा, भाग - ५, अगस्त, १९४०, पृ० ३९२-९३

१६९- यंग इण्डिया, भाग - ३

१७०- गाँधी मो० क० : एन ऑटोबायोग्राफी, पृ० ४

१७१- यंग इण्डिया ३ अप्रैल, १९२४

१७२- वही, ३ अप्रैल, १९२४

१७३- गाँधी, मो० क० : एन ऑटोबायोग्राफी, खण्ड - २, पृ० ५९१

१७४ - यंग इण्डिया, भाग - २, पृ० ७९

१७५- हरिजन, २४ दिसम्बर, १९३८

१७६- वही, २०-४-१९४०

१७७- धवन, जी०पी० : दि पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी, पृ० १३२-१३४

१७८- यंग इण्डिया, ८-८-१९२९

१७९- स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स, पृ० २८४

१८०- मीराबेन : ग्लिनिंग्स, पृ० १७

१८१- यंग इण्डिया, भाग-२, पृ० २३७

१८२- हरिजन, ११ अगस्त, १९३९

१८३- गाँधी, मो०क० : माई रिलिजन, पृ० ४२

१८४- अनासक्ति की व्याख्या करते हुए हक्सले ने लिखा है- अनासक्ति केवल नाम मे ही निषेधमूलक है। अनासक्ति के अनुशीलन मे समस्त सदगुणो का अनुशीलन समाविष्ट है, उदाहणार्थ इसमे दया (प्रेम) का अनुशीलन समाविष्ट है क्योकि अन्तर्यामी एंव सर्वातिशायी परमात्मा के साथ आत्मा के तादात्म्य के मार्ग में क्रोध (न्यायोचित आक्रोश की) एवं हृदयहीन विद्वेष से बढ़ कर अन्य घातक बाधाएँ नहीं है। इसमें साहस का अनुशीलन समाविष्ट है क्योंकि भय तो आत्मा का शरीर के साथ पीड़ादायक एंव मनोग्रस्तिपूर्ण तादात्म्य है (भय निषेधमूलक कामासक्ति है जैसे आलस्य निषेधमूलक विद्वेष है)। इसमें बुद्धि का संवर्धन समाविष्ट है क्योकि असंवेदनशील मूढ़ता समस्त अन्य विचारों की मुख्य जड़ है। इसमें उदारता एंव नि:स्वार्थता का अनुशीलन समाविष्ट है क्योंकि लोभ एवं परिग्रह अपने अभागे आलम्बन को केवल पदार्थो से समीकृत करने के लिए विवश कर देते है। - हक्सले, एल्डस : एण्ड्स & मीन्स, लन्दन १९३८, पृ० ३-४

१८५- "वैष्णव जन तो तेने.......... कुल एक तेरे तार्या रे।" - श्री कृष्ण दास कृत - 'सेवन मन्थ्स विद महात्मा गॉधी', पृ० २९३ से उद्धृत

१८६- हरिजन, १४ अक्टूबर, १९३९

१८७- यंग इण्डिया, जनवरी, १९२१

१८८- स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गॉधी, चतुर्थ सं०, पृ० ३६३

१८९- यंग इण्डिया, जुलाई, १९२०

१९०- हरिजन, दिसम्बर, १९४७

तृतीय

व्यक्ति एवं समाज

व्यक्ति के संकटपूर्ण अवस्था की समस्या के किसी भी महत्वपूर्ण समाधान के लिये समाज दर्शन में संधान अनिवार्यत: स्वयं व्यक्ति से ही प्रारम्भ किया जाना चाहिये। सबसे बुनियादी स्तर पर मनुष्य के स्वरूप और उसके बाह्य जगत से सम्बन्ध की प्रकृति की प्राक्कल्पना से एक क्रान्तिकारी प्रस्थान में इसका अर्थ निहित है। यदि हम इस तथ्य पर विचार करें कि अगर मनुष्य को इतिहास तथा संस्कृति में पूर्णत: सन्निहित कर दिया जाय तो इनके बन्धनों से ऊपर उठते हुये उसकी विमुक्ति समस्या बन जाती है, इस स्थिति में उपरोक्त सक्रियता की उपयुक्तता प्रमाणित हो जायेगी। ऐतिहासिक नियम सत्य के विषय में कृत्रिम से ज्यादा कुछ नहीं होते, वे उस तरह से सत्य से वास्ता नहीं रखते जैसा वह अपने स्वरूप में होते हैं। इसीलिये ये एकांगी, प्रयोगात्मक तथा वैचारिक होते हैं जो मनुष्य को स्वयं उसके द्वारा रचित परिस्थितियों से विमुक्त करने के लिये भरोसेमंद नीति-निर्देशन उपलब्ध कराने में अक्षम होते है।

यह मान्यता कि मनुष्य प्रकृति के कार्य-कारणता के निर्धारण से परे है तब विलुप्त हो गई जब यूरोपीय नवजागरणवाद ने इस पूर्वोत्तर जीवन-दृष्टि को इतिहास के अंधेरे कोनों में ढकेल दिया। इस जीवन-दृष्टि में व्यक्ति प्रत्ययवादी जगत के एक वृहत्तर प्रणाली के अनिवार्य एकीकृत भाग के रूप में माना जाता था, जिसमें आदर्श और मूल्य प्रत्यक्ष नहीं अपितु अतीन्द्रिक थे। उदाहरण के लिये प्लेटोनिक प्रत्ययवादी जगत का सैद्धान्तीकरण 'सामान्यवाद' से तथा ईसाईवाद में ऐसा जगत दैवी व्यवस्था से अनुप्रेरित हैं। वैज्ञानिक जीवन-दृष्टि के सत्रहवीं शताब्दी के अभ्युदय का महत्वपूर्ण प्रभाव न सिर्फ व्यक्ति बल्कि, उसके बाह्य जगत के साथ सम्बन्ध पर भी पड़ा। वृहत्तर प्रणाली और सत्य एवं यथार्थ की खोज को आधार देने के लिये एक मानवेतर विश्वास भाजन के अभाव में स्वयं मुनष्य ही इस अन्वेषण का केन्द्रीय बिन्दु हो गया। लेकिन, साथ ही मानव की अद्वितीयता अब जैवीय, मनौवैज्ञानिक तथा सामाजिक विवेचनाओं में घटकर उनके अधीन हो गई। इसके साथ व्यक्ति मानव समाज अन्त: क्रिया से ज्यादा कुछ नहीं बचा। इस विकट स्थिति को ही *इरीश मुर्डोक 'खण्डित सम्पूर्णता' (Broken Totality) कहते हैं,* जिसके अभिव्यक्तियों के रूप में इच्छा और तर्क के मध्य मानव और समाज तथा मानव और प्रकृति के मध्य विभाजन प्रमुख है।

व्यक्ति की इस दृष्टि ने मानव और उसके बाह्य जगत के साथ सम्बन्ध के बारे में दो विपरीत अवधारणाओं को जन्म दिया जो कतिपय कारणों से अस्वीकार्य है। पहले दृष्टि में व्यक्ति और समाज के मध्य विभेद व्यक्ति के ठोस यथार्थ परिप्रेक्ष्य में समाज को एक द्वितीयक तत्व या प्रतिच्छाया के रूप में घटा कर रख देता है। व्यक्ति का ठोस यथार्थ इच्छापूर्ति का आकार लेता है जिसके लिये समाज तथा प्रकृति का परिवर्तन अनिवार्य बन जाता है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति के अनिवार्य स्वरूप को उसकी क्षुधाओं में घटा कर रख देता है। और बाह्य जगत के प्रति उसमें प्रमथ्यूवादी आकांक्षा उत्पन्न करता है। इसके विपरीत दूसरा दृष्टिकोण व्यक्ति को पूर्णत: समाप्त कर देता है। वह कतिपय सामाजिक दायित्वों में पुन: अवतरित होता है तथा समाज के स्तरीय अथवा प्रकार्यात्मक प्रणाली में सान्त्वना प्राप्त करता है। इस तरह जहाँ पहले दृष्टिकोण में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता

का कुछ भी निर्माण नही कर सकता क्योंकि उसके जीवन पर उसके नियन्त्रण से परे अनेक शक्तियॉ टकराती हैं, तो वही दूसरे दृष्टिकोण मे स्वतन्त्रता का तो प्रशन ही नहीं उठता है।

गॉधी मानव पर इन दोनों दृष्टिकोणों में अन्तर्निहित त्रुटियों से स्वयं को स्पष्टत: अलग रखते दिखाई पड़ते हैं। व्यक्ति और समाज पर उनके दृष्टिकोण की गीता के साथ तुलना के पूर्व पाश्चात्य चिन्तन परम्परा में इस विषय पर विभिन्न सिद्धान्तो का परीक्षण समीचीन है। ऐसे पृष्ठभूमि के परिप्रेक्ष्य में ही इस विषय पर गीता और गाँधी की अवधारणाओ की गुण-विवेचना की जा सकती है। इस सन्दर्भ में निम्न चार सिद्धान्तों का संक्षिप्त परीक्षण इस प्रकार है-

१- अण्वीय या प्रतिनिध्यात्मक उपागम (Atomist or Representational Approach)

यह उपागम सुबोध स्वत्वों के विचार की अस्वीकृति पर अभिधेयित है।[१] मन को एक कोरी पट्टिका माना जाता है *(जान लॉक)*। प्रत्येक व्यक्ति के विचार और आचार उन परिस्थितियों में प्रभावों का उत्पाद माने जाते हैं जिनके अंतर्गत वह स्वयं को पाता है *(डेविड ह्यूम)*। द्रुतगति से परिवर्तित हाते प्रत्यक्षों के मध्य स्वयं की विशिष्टता, स्थिरता तथा निरंतरता सुख एवं पीड़ा के नियम से उद्धृत होती है *(जर्मी बेन्थम)*। सामाजिक आयाम में, यह नियम मानव के स्वहित पोषण की प्रवृति के रूप में परिलक्षित होती है, जो उसको सामाजिक वातावरण से सपृंक्त करते हुए नैतिकता की भूमि तैयार करती है। इस तरह स्वहित मानव स्वभाव का सक्रिय तथा प्रभावी तत्व बन जाता है। जिसे क्रमश: *''समृद्धि-आवर्धन'' (एडम स्मिथ)* समतुल्य माना जाने लगा। स्वहितानुसरण न सिर्फ हिंसात्मक भावावेगों को नियंत्रित करने के लिये अपितु, ज्यादा महत्वपूर्ण रूप से, उन सूक्ष्म गुणों के संवर्धन में सहायक माना जाने लगा जो परिष्कृत तथा व्यवस्थित सामाजिक जीवन का निर्वाहन करते है।[२] इसके फलस्वरूप एक *''बाह्याकृत'' प्राणी एक वस्तु से अधिक कुछ न रहा, जो तात्विक रूप से हितों का प्राप्तकर्त्ता बन चुका था।''*[३]

इस दृष्टिकोण में, मानव चेतना को प्रतिनिध्यात्मक तथा हीडेगर के शब्द में कहें तो बाह्य जगत को एक चित्र माना जाता है। फिर स्वयं विशुद्ध अर्जनात्मक अधिकरणीय अंहवाद है, जिसका बाह्य संसार से अपना सम्बंध विशुद्धत: साधक (instrumental) होता है।[४] एक व्यक्ति के सामाजिक-आर्थिक पद-वर्ग व आर्थिक स्थिति-उसके स्वहित को गढ़ते हैं, जो पुन: बाह्य जगत के साथ उस व्यक्ति के संबंध को निर्धारित करता है। अर्जनता एवं अधिकार्यता के अर्थों में इच्छा की अभिवृद्धि को समझते हुए किसी भी बाहरी बाधाओं की निर्विध्नता की यह स्वतन्त्रता बन जाती है। जो *मार्क्स* के अनुसार *''समृद्धि के संयोगों के निर्विध्न सुखभोग के अधिकार''* में सन्निहित है। इस प्रणाली में, अहंवाद स्वयं समन्वयता का नियम बन जाता है। विनियोजन के द्वारा आत्म व्यक्तित्व की उपलब्धि, जो *''मेरे''* के माध्यम से *''मैं''* की परिभाषिकता है, अण्वीय समाज के आधार का निर्माण करती है, जो स्वपरिभाषित स्वायत्त विषयों कुल योग से उपजती है। ऐसे समाज में, सम्पत्ति अधिकार्यता, जॉन ड्वीवी के शब्दों में, *''दार्शनिकों के 'मैं' को साकार तथा सम्पुष्ट करता है कि 'मैं अधिकर्त्ता हूँ, अत: मैं हूँ।' डेकार्टवादी ''मैं सोचता हूँ, अत: मैं हूँ'' की अपेक्षा ज्यादा सत्य मनोस्थिति व्यक्त करता है।''*[५]

परन्तु सामाजिक समन्वयता के आधार के रूप में अहंवाद व्यवहार में कार्य नहीं करता जो निम्नलिखित अनेक

समस्याओं को जन्म देती है।

प्रथम, स्वत्व की अवधारणा अत्याधिक एकांगी है और व्यक्ति के आतंरिक तथा बाह्य संसारों में असम्बद्धता निर्मित करती है। इस निष्ठुर और आशाविहीन द्वंद्वता को एक सरल और स्थैतिक एकात्म में हल करने का प्रयास होता है, जिसमें जीवन के एक पहलू को सम्पूर्ण माना जाता है तथा सभी अन्य पहलुओं को महज परिधीय मेघों सदृश दिखने के लिये छोड़ दिया जाता है।

द्वितीय, आनंद का साध्य सर्वदा मृगमरीचिका बना रहता है क्योंकि एक संतृप्ति के सम्पुष्ट मानदण्ड के अभाव में व्यक्ति यह तय करने में असफल रहता है कि एक इच्छा पूर्ति में कब रूकना है या कौन सी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी है।

तृतीय, स्वतन्त्रता तथा व्यवस्था के मध्य द्वन्द्व में व्यवस्था के लिये आधार न तो इच्छाओं में पाया जा सकता है (क्योंकि देश-काल में वे अत्यधिक भिन्न होते हैं) और न ही तर्क में। चूँकि उसकी साधक पात्रता साध्यों को निर्धारित करने में सहायक नहीं होती।

चतुर्थ, जब व्यक्ति स्व-परिभाषीय विषय हैं, तो समाज ऐसे व्यक्तियों के एक योग से अधिक कुछ भी नहीं होता है। चूँकि समाज और उसकी संस्थाओं को मात्र संभावित साधनों के रूप में देखा जा सकता है, सामाजिक सम्बंध शत्रुता एवं परस्पर सहिष्णुता पर आधारित हो जाता है। यद्यपि सामाजिक संघटकों की आवश्यकता को स्वीकार किया जाता है, तथापि वह संकटग्रस्त हैं क्योंकि वह सहभागी साध्यों के अभाव में कमजोर है।

पाँचवे, समाज के अप्राकृतिक स्वरूप के कारण व्यक्ति *'व्यवसायियों'* के रूप में सामाजिक संस्थाओं और प्रकृति दोनों पर ही प्राविधिक प्रसूत अधिकतम संतुष्टि पैदा करने लिये कार्य करते हैं तथा इसका निर्वाहनीय आर्थिक विकास श्रम के सूक्ष्म विभक्तिकरण एवं कार्य-विशेषीकरण को प्रशस्त करता है। इस क्रम में, व्यक्ति जो विश्व पुनर्रचना की अपनी क्षमता में असीम विश्वास के साथ प्रारम्भ करता है, अंतत: एक ऐसे विश्व के साथ आ खड़ा होता है। *"जिसकी नीति व्यक्तित्व को विखण्डित कर उसको आज्ञाकारी, कार्यकुशल और हंसमुख मानव संसाधन में पुनर्निर्मित करना है।"*[६]

छठँवे, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के आधार का एक प्रमुख स्रोत इस तथ्य में निहित है कि वृहद प्राविधिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक व्यवस्थाएँ पनप चुकी हैं जिनके स्वायत्त प्रकार्यात्मक आयामों में केवल उनके निर्णय तथा नियम ही लागू होते हैं। इसने व्यक्ति के लिये स्वत्व के अपने रिक्त पात्र को समाज द्वारा निर्धारित वैयक्तिकता से भरने के लिये खोल दिया है। इस प्रक्रिया में *"समाज उसमें अवमानना, अनुज्ञा तथा अर्जनता की आवश्यकता को भरता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति या तो वही करने की इच्छा करता है जो दूसरे लोग करते है (अभिपुष्टिवाद) या वह करता है जो उससे करने को कहा जाता है (सर्वाधिकारवाद)। यह मुखविहीनता को प्रोत्साहित करता है तथा शोषण, प्रभुत्व और अलगाववाद के लिये मार्ग प्रशस्त करता है।"*[७]

२- तर्कवादी या बुद्धिवादी उपागम (The Rationalist Approach)

स्वत्व की उपरोक्त चित्रित अवधारणा आधुनिक जीवन-दृष्टि का केंद्रीय तत्व है। यद्यपि अनेक कारणों से यह

प्रभावी जीवन-दृष्टि आलोचना की परिधि में आती है। इस पर यह आरोप लगाया जाता है कि यह मानव को अपनी मनोवृत्तियों का दास बना देती है। यदि स्वतंत्रता प्रकृति के ऊपर मे सन्निहित है, तो निश्चितत: मनोवृत्तियों का निरोध एवं नियमन आवश्यक है। चित्तवृतियों के निरोध के लिए इच्छा को स्वातन्त्रयाधार के रूप में अस्वीकृत करना होता है, जिसके लिये बुद्धि अथवा तर्क का एक वैकल्पिक आधार प्रदान करना चाहिए। यह बुद्धिवादी उपागम की सिद्धांतमंडन-रेखा है। तदनुसार, स्वतन्त्रता न केवल कार्य को तर्क में ही अवस्थित होने से पूर्ण होती है, अपितु तर्क बुद्धि को भी सृजनात्मक तथा स्वत: स्फूर्तमय होना चाहिए। अर्थात् उन नियमों, जो व्यक्ति स्वयं को तर्क द्वारा प्रदत्त करता है, के अतिरिक्त उसकी इच्छा निर्धारण की कोई भी पूर्वकालिकता नहीं होनी चाहिए। इसी अर्थ मे प्रत्येक स्वैच्छिक कार्य मानव के सुबोध चरित्र तथा परिशुद्ध स्वत: स्फूर्त बुद्धि की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। अत: व्यक्ति एक स्वतन्त्र अभिकर्त्ता है न कि प्राकृतिक कारणों की कड़ी का एक जोड़। उदाहरणार्थ, काण्टवादी विषय सक्रिय एवं सृजनशील हैं, जो इंगित करता है कि *''आदर्शात्मकता तथा यथार्थता आनुभविक रूप से भिन्न या विपरीत नहीं, परिघटना ''विचार'' और ''पदार्थ'' तात्कालिक एकता है। अत: जगत का अनुभव अंशत: स्वानुभव है।''*[८]

इस दृष्टिकोण में, एक क्रिया की उपयुक्तता उसके प्रभावों या परिणामों पर नहीं, बल्कि चित्तवृत्ति के विरूद्ध निरपेक्ष दायित्वादेश के पालन के रूप में उसका एक उपक्रम है। इस अर्थानुसार, प्रत्येक व्यक्ति सृजनशील शक्ति तथा प्रथमोद्योगी ऊर्जा के एक केन्द्र है, जो व्यक्ति-व्यक्ति में अलग-अलग हो सकता है। यद्यपि, प्रत्येक व्यक्ति समान अतीन्द्रिय तर्कणा से युक्त तथा समान निरपेक्ष आदेश की सम्प्रभुता के अधीन होता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस नियम को स्वयं पर लागू करता है, तो वह स्वायत्त बन जाता है और जिससे प्रबुद्ध प्राणियों का एक प्रबुद्ध उद्देश्यों से व्यवस्थित समाज साध्यों का साम्राज्य उत्पन्न होगा। आत्माओं के तार्किक आयामयुक्त ये नवप्रसूत समाज ऐसे व्यक्तियों को शामिल करता है जो सम्प्रभु तथा विषय दोनों ही है तथा नियम निर्मित कर उनका अनुपालन करते है। ऐसा करते हुए, वे आदर्श जगत को सर्वोच्च साध्य के रूप में मान्यता देते हैं।

काण्ट में हमें भावावेगों के साम्राज्यवादी शासक के रूप में स्वहित से सम्प्रभुता के रूप में तर्क तक का गत्यात्मक संशोधन दृष्टिगोचर होता है। परन्तु यह कल्पना करता है कि निरपेक्ष आदेश की व्यक्तिगत मान्यताएँ अन्य दूसरे व्यक्तियों की मान्यताओ के साथ सगंत होगी। लेकिन इसकी प्रतिभू (गारन्टी) नहीं दी जा सकती है। यदि यह संभव भी है, तब भी समस्या कायम रहती है। एक ऐसी परिस्थिति के उभरने से इंकार नहीं किया जा सकता जब द्वन्द्व मनोवृत्ति और कर्तव्य में नहीं, अपितु एक कर्तव्य तथा दूसरे कर्तव्य के मध्य एवं दो अधिकारों के मध्य उपज सकता है। ऐसी स्थिति में निरपेक्ष आदेश कोई भरोसेमंद निर्देशन प्रदान करने में विफल रहता है। अधिकतर, जीना एक संघर्ष, एक समझौता और एक आत्मसर्मपण है। इनसे बचने के लिये व्यक्ति को तार्किकत: अपने साधन एवं साध्यों का चयन करना चाहिये। लेकिन काण्ट की बुद्धिवादी अवधारणा आकारिक है, अर्थात न तो वह दैवीय व्यवस्था न ही प्लेटोनिक प्रत्यय और न इच्छाओं के प्रकृतिवादी प्रणाली को, क्रिया के एक नियम को उद्धृत करने हेतु संदर्भित करती है। अत: वह निर्मूल्य है, जो अच्छाई को बुराई से विभेद करने का कोई आधार नहीं देती है। साथ ही, बुद्धिवादी चिंतन प्रत्यय-पदों का चिंतन है, तथा प्रत्ययों का कार्य विलग, विश्लेषण एवं संयुक्त

करना है। इस अर्थ में, वह क्रिया के लिये कोई आधार उपलब्ध कराने में अक्षम है। इसके अतिरिक्त, तार्किक चिंतन एक उपलब्धि है न कि एक उपहार, जो अंशत: स्वयं वातावरण का एक उत्पाद है और इसीलिए प्रकृति द्वारा प्रभावित होता है। इसके बावजूद तार्किकता केवल विकल्पों को मापने के लिये आधार दे सकती है, न कि एक चयनित विकल्प को अच्छे या बुरे के रूप में मूल्यांकित करने के लिए।

मानव की बुद्धिवादी अवधारणा सिर्फ इसलिए त्रुटिपूर्ण नहीं है कि वह आनुभविक दृष्टिकोण द्वारा सृजित विभाजनो को बनाए रखकर समाज और नैतिकता के लिए एक ठोस आधार उपलब्ध कराने में विफल रहती है, बल्कि इसलिए भी कि वह मानव उद्देश्यों की पूर्ति हेतु आमूल स्वतन्त्रता पर अपने आग्रह द्वारा बाह्य जगत को सतत रूपांतरणीय मानता है। समाज तथा उसकी संस्थाएँ महत्वहीन होकर ऐसे उपकरण होकर रह जाती हैं; जिनका मूल्य 'वो जो है' की अपेक्षा 'वे क्या करती है'; के मानको मे मूल्यांकित होता है। अत: बुद्धिवादी उपागम आमूल स्वतंत्रता को प्राप्त करने के लिए मानव अस्तित्व के कतिपय पहलुओं का दमन भी प्रायोजित करती है। ऐसा माना जाता है कि इसका संशोधन व्यक्ति के सार्थकतावादी सिद्धांत द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

३ - सार्थकतावादी उपागम (Significance Approach)

टेलर प्रतिनिधित्व के रूप में चेतना और क्रिया के निश्चित मानकों के प्रति कटिबद्धता के रूप में चेतना में एक भेद करते हैं। वह यह तो स्वीकार करते है कि चेतना मनुष्य के लिये अनिवार्य है, परन्तु चेतना प्रतिनिधित्व से कहीं ज्यादा है। वह बाह्य जगत का स्पष्ट चित्रण करने से ज्यादा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अर्थ में सार्थक विषय वस्तुओं की निर्मात्री है। इसका अर्थ यह है कि मानव एक नैतिक प्राणी के रूप में अच्छे तथा बुरे सरोकारों के, तथा सुनिश्चित क्रिया मानको के प्रति खुला दृष्टिकोण रखता है।[१]

स्वत्व का यह दृष्टिकोण हमें उपकरणीय तर्क के आयाम के परे ले जाता है तथा व्यक्ति मूल्यांकन में भावनाओं के महत्वपूर्ण किरदार को पुन: प्रतिष्ठित करता है। वह विषय को अर्थ के ऐसे संसार में स्थानांकित करता है जिसे वह केवल अपूर्णत: समझता है। फिर उसका कार्य उसे ज्यादा बेहतर रूप से समझने और स्वयं को अर्थपूर्ण रूप से दूसरों के साथ सहयोग करने मे अन्तर्निहित है। वस्तुओ की सार्थकता से प्रभावित होकर सम्भवत: वह यह ज्यादा बेहतर जान पायेगा कि वह कौन है? तथा उसे किसकी खोज करनी चाहिए।

लेकिन यह उपागम प्रश्नो को हल करने से ज्यादा नये प्रश्न उठाता है। प्रथम, किस प्रकार सार्थकता का भाव उत्पन्न होता है? क्या वह जन्मजात है? यदि है, तो वह किस तरह है? परिवर्तनीय लौकिक घटनाक्रम में खो जाता है? यदि नही, तो यह सार्थकता का भाव कहाँ छिपा होता है? सम्भवत: स्वयं तार्किकता में तो नहीं क्योंकि फिर यह तर्क और भावना के बीच एंक विभाजन पैदा करेगा जो इस दृष्टिकोण में अस्वीकार्य है।

द्वितीय, यदि वह जन्मजात नहीं है, तो उसे प्राप्त किया जा सकता है, यदि हाँ तो स्वत्व जैसा कि *मार्क्स* से लेकर *मीड* तक लेखकों ने बल दिया है, सामाजिक सम्बन्धों के उत्पादन के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। यदि गत्यात्मक एवं

सृजनात्मक नियम समाज में अन्तर्निहित है, तो सार्थकता की एक संचेतना के रूप में स्वत्व केवल तभी उपलब्ध हो सकता है जब पर्यावरणीय समाज उसे सन्निविष्ट करे। यदि पर्यावरणीय समाज अपने अन्तर्निहित जीवन दृष्टि तथा संस्थागत नमूनों के द्वारा संचेतना का केवल एक प्रतिनिध्यात्मक दृष्टिकोण अनुज्ञापित तथा प्रोत्साहित करता है, तो किस प्रकार सार्थकता के रूप मे संचेतना का प्रादुर्भाव हो सकेगा?

अन्त मे, जैसा *टेलर* स्वयं मानते हैं, अर्थ का आयाम द्विअर्थी अनिश्चितता का आयाम है। इस दृष्टिकोण की समस्या यह है कि ये अर्थ के द्वय निर्धारणों की बात करता है, जिनमें से एक अभिकर्त्ता की मनो-इच्छा द्वारा अर्पित होता है और दूसरा पर्यवेक्षक के द्वारा। यदि हमारे लिये दोनों के मध्य संज्ञानता की कोई सामुदायिकता नहीं है, तो गलतफहमी और संघर्ष की संभावना सर्वदा बनी रहेगी। इस स्थिति से बचाव अथवा निवारण के बारे में टेलर का दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट नहीं है।

४- मानव आवश्यकताओं की पर्याप्तता का उपागम (Approach of Human Needs' Sufficiencies)

यह सत्य है कि सार्थकता सिद्धान्त पूर्व विवेचित अन्य दोनों सिद्धान्त से अधिक परिष्कृत है। परन्तु, इसमे व्यक्ति को पूर्ण विनष्टीकरण का भय प्रबल बना रहता है, क्योंकि इसके अनुसार आत्म विकास के लिये स्वत्व का समुदाय मे सविलयनीयकरण अनिवार्य है। इस दृष्टिकोण की ऐसी प्रवृत्ति के विरूद्ध आवश्यकता सिद्धान्त विरोध करता है।

इस दृष्टिकोण में यह माना जाता है कि तार्किकता पूर्णत: मानव क्रिया की विवेचना नहीं कर सकती है। प्रेरकों को एक ऐसा सार्वभौमिक ढॉचा बताया गया है जो मानव क्रियाओं को निश्चित दिशाओं में उत्प्रेरित करते हैं विभिन्न प्रकार की आवश्यकता स्तरीयकरण विद्यमान होता है, परन्तु वह सभी निम्नतर मनोकायी आवश्यकताओं से प्रारम्भ तथा-शिखर पर आत्मयर्थाथता (Self-actualization) की कतिपय अवधारणा के साथ समाप्त करते हैं। सामान्यत: मानव विकास को निर्भरता से परे तथा क्षमता की परिपूर्णता की ओर गत्यात्मकता के रूप में परिभाषित किया जाता है। व्यक्तियों को अनुभव, अन्वेषण और अपनी प्राथमिकताओं के लिये प्रयासरत होने तथा अपने समान साध्यों को पाने हेतु एक साथ संगठित होने के लिये प्रोत्साहित किया जा सकता है। प्रामाणिकता, वैविध्यता के प्रति सहिष्णुता तथा अन्तर्वैयक्तिक संज्ञानता को अत्यन्त महत्व दिया जाता है।

क्षमताओं को विकसित करना आत्म यथार्थीकरण है। इन क्षमताओं को या तो आंतरिक रूप से अच्छा *(रोजर्स)* या उदाहरणार्थ-विश्वास-अविश्वास, स्वायत्तता-शर्म और संशय, प्रथमोद्योगिकता-अपराध बोध इत्यादि *(एरिक्सन)* की ध्रुवीय क्षमताओं की अभिव्यक्ति के रूप में परिकल्पित किया गया है। इन क्षमताओं को चरणों में प्राप्त किया जा सकता है उदाहरण के लिये *मास्लों* पाँच चरणों को रेखांकित करते हैं, जिसमें प्रत्येक चरण अनुवर्ती चरणों के पुष्पीयकरण मार्ग को प्रशस्त करते हुए आत्मयथार्थीकरण के चरम बिन्दु तक पहुँचता है। *एरिक्सन* न्यास से प्रारम्भ कर और आत्म एकीकरण में समाप्त कर ऐसे आठ चरणों[१०] को निरूपित करते हैं।

चूँकि, आवश्यकता सिद्धान्तों में से प्रत्येक का विशद परीक्षण करना यहाँ सम्भव नहीं है,[११] हम यहाँ इनकी प्राक्कल्पनाओं, निहितार्थों और परिणामों का संक्षिप्त वर्णन करेंगें।

प्रथम, आवश्यकता सिद्धान्त मानवतावाद के रूप में प्रसारित प्रकृतिवाद में अधिष्ठापित है परन्तु अशुभ से शुभ को अन्तर करने की समस्या बनी रहती है, जिसको कि प्राकृतिक और अप्राकृतिक के भेद सन्निविष्ट कर हल करने का प्रयास किया जाता है। यह माना जाता है कि इसके द्वारा जहाँ एक ओर दुःख और सुख- जो भौतिक अवस्थाओ के वर्णन हैं तथा दूसरी ओर शुभ और अशुभ के मध्य जो नैतिक अवस्थाओं के वर्णन है; के मध्य रिक्तता को पाटने वाला माना जा सकता है। यद्यपि मनुष्य जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक रूप से पूर्वनिर्धारित है, तथापि उसके भीतर कतिपय क्षमताओं के सुविकसित होने की प्राकृतिक प्रवृत्ति निहित होती है जिनके पूर्ण हो जाने पर उसकी शक्तियों का पूर्ण विकास हो जाता है।

यही विभेद व्यक्तिगत प्रेरक और अंश के साथ-साथ सामाजिक संरचनाओं एवं प्रक्रियाओं को मूल्यांकित करने के लिये मापदण्ड उपलब्ध कराता है। यह कहने की जरूरत नहीं कि आवश्यकता सिद्धान्त संदिग्ध प्रकृति के चार स्तम्भो पर अवस्थित है- (क) आवश्यकता सिद्धान्त मानव कल्याण को परिभाषित करने के लिये एक ज्यादा ठोस आधार उपलब्ध कराने के साथ ही मानव दशा को समझने तथा सुधारने हेतु आश्रयात्मक वस्तुनिष्ठ तथा सार्वभौमिक रूप से वैध कसौटी के एक सुपरिभाषित समूह को उपलब्ध कराने का दावा करते हैं। लेकिन यह दावा एक विश्वासघाती आधार पर स्थित है, क्योंकि यह मूल्यों से तथ्यों में एक सफल परिवर्तन के एक घातक उपक्रम पर अभिधेयित है जिसकी निरर्थकता को *ह्यूम* ने स्पष्ट किया है। (ख) आवश्यकता सिद्धान्त प्रकल्पत: एक आनुभविक तथ्य को प्रयोजनमूलक अनिवार्यता में रूपान्तरित कर देता है। एक आनुभाविक कथन कि मनुष्य के पास कुछ आवश्यकताएँ हैं जिनकी आपूर्ति के द्वारा उनका कल्याण होता है, को इस प्रयोजन मूलक तर्कवाक्य में परिवर्तित कर दिया जाता है कि जीवन स्वयं अपने अन्तर्निहित क्षमता को उजागर करता है। अर्थात् भविष्य भूतकाल में सन्निहित है। यह प्रतीत होता है कि ये सिद्धान्त इस निष्कर्ष पर आधारित है कि मानव के बारे में ज्ञान अपने चरम बिन्दु पर आ पहुँचा है और उसके बारे में जानने के लिये अब कुछ भी नहीं है, यह दृष्टि वैज्ञानिक दृष्टिकोण की अपेक्षा धार्मिक कट्टरता की सूचक ज्यादा है। स्वत्व के एक तात्विक परिभाषा के अभाव में, मानव का 'विज्ञान' केवल गुणों को गिनवाते हुए उसकी अद्वितीयता को पूर्णत: वर्णित करने की आशा कर सकता है। परन्तु यह उपक्रम चाहे कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो अनिश्चित, आंशिक और उद्देश्यमूलक होता है, जिन्हें सार्वभौमिक रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। (ग) यह मान लिया जाता है कि पूर्ण उपलब्धियाँ और विकास व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों स्तरों पर श्रृंखलाबद्ध होकर मनो-सामाजिक स्वतन्त्रता एवं परिपक्वता की ओर आगे की प्रगतियों को सम्भव बनाते हैं। यह मनोविज्ञान के आयाम में प्रगति के प्रत्यय का एक अवतार है। प्रगति का विचार मनो-समाजी विकास में क्रम-विच्छेदन की अवधारणा के प्रति सहवर्ती रूप से असहिष्णु है। क्रम-विच्छेदन को दूषित मान विलग कर आवश्यकता सिद्धान्त सत्य की गवेषणा को वैचारिकी की पक्षधरता से बदल देता है। (घ) आवश्यकता सिद्धान्तों का आदर्शमूलक चरित्र तभी स्पष्ट रूप से स्थापित किया जा सकता है जब यह दर्शाया जा सके कि अशुभ अप्राकृतिक है। परन्तु यहाँ आवश्यकता सिद्धान्त एक बड़ी परेशानी का सामना करते है। मानव क्षमता का दमन वास्तविक तथा अशुभ दोनों ही है किन्तु यह मानना कि अशुभ अवास्तविक है और प्रकृति (जिसमें मानव प्रकृति सम्मिलित है) उसके बिना है; तार्किक विसंगति पैदा करती है। यदि अशुभ विद्यमान है, तो वह प्राकृतिक है और चूँकि वह

प्राकृतिक है, तो वह अच्छा भी है। यह बेतुके निष्कर्ष पर ले जाती है कि अशुभ अच्छा है और आवश्यकता सिद्धान्तो के आदर्शमूलक दावे को खतरे में डालती है।

द्वितीय, किसी भी तरीके से निरूपित किया जाय, मानव आवश्यकताओं की पूर्ण पूर्ति स्वत्व के पल्लवीकरण एवं परिपक्वीकरण के लिये महत्वपूर्ण है। कतिपय आवश्यकताएँ मानव परिस्थिति में सन्निहित होती हैं जिनकों स्वत्व की पूर्ण परिपक्वता के लिये संतुष्ट करना आवश्यक है। आवश्यकता सिद्धान्त बिना किसी स्वत्व की मान्यता के यह कार्य नहीं कर सकते। फिर भी यह मार्के का तथ्य है कि आवश्यकता सिद्धान्त स्वत्व की एक पूर्ण संतुष्टिदायक मान्यता अभिव्यक्त करने में विफल रहे हैं। उदाहरणार्थ, यह प्रश्न कि *"मैं"* जो अंततः प्रामाणिक अथवा अप्रामाणिक निश्चित आकार लेता है, का अपने आंतरिक के साथ क्या सम्बन्ध है अथवा वह उससे स्वतंत्र है या नहीं, का पूरा सामना नहीं किया गया है।

आवश्यकता सिद्धान्त स्वत्व के पूर्ण पुष्पीकरण के पूर्वशर्त के रूप में कतिपय आवश्यकताओं की पूर्ण पूर्ति पर बल देता है। लेकिन वह यहीं नहीं रूकता बल्कि एक कदम आगे जाकर इस बात पर जोर देता है कि यदि मानव के सुख को सुनिश्चित करना है, तो इन आवश्यकताओं को एक निश्चित तरीके से परिपूर्ण करना होगा। इस कथन का तुल्यार्थक है समाज के अधीन मनुष्य को आत्मसमर्पित कर देना। आवश्यकताओं की संतुष्टि और उनके तरीके सांस्कृतिक रूप से अनुकूलित होते हैं। जिनका स्वरूप और मानक अलग-अलग संस्कृतियों में भिन्न होता है। इस प्रकार स्वत्व समाज का एक उत्पाद बन जाता है और इसे संस्कृति और इतिहास के बाहर निरूपित नहीं किया जा सकता। यह स्वत्व के इस अर्थ को मात्र आकारीय शून्यता में परिणत कर देता है। तात्विक रूप से स्वत्व को परिभाषित करने में विफलता, कटुता स्वत्व को कतिपय आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ समेकित करती है जिसके परिणामस्वरूप स्वत्व आवश्यकताओं में वस्तुनिष्ठ हो जाता है। अतः शुभ और अशुभ की परिभाषा व्यक्ति में केन्द्रित है जो व्यक्तियों के मध्य नैतिक कड़ियों को जोड़ने की कठिन समस्या को उठाती है। चूँकि मानव से बाहर कोई भी नैतिक प्राधिकार मान्य नहीं है, मानव शक्ति की निर्बलता को समाज की रीतियों, नियमों, संस्थाओं प्रक्रियाओं आदि में आवंटित किया गया है लेकिन यह निश्चित नहीं है कि मानव की समृद्ध पुष्टता स्वतः किस प्रकार दूसरों के लिये लाभदायक होगी। विशेषकर अभाव के परिक्षेत्र में,[१२] उपरोक्त प्रवृत्ति असुरक्षा, संघर्ष और हिंसा को जन्म दे। यह व्यक्ति के बाहर प्राधिकार को प्रत्येक व्यक्ति की हित की रक्षा के लिये स्थापित करना अनिवार्य कर देता है और समाज के स्वरूप के प्रश्न को उठाता है, जो इस उद्देश्य के लिये प्रभावी हो। प्रथम विकल्प एक ऐसा समुदाय है, जो विभिन्नताओं, अंतरों और असंलग्नताओं की मान्यताओं से रहित है तथा इसमें उपयोगिता का वैयक्तिक कलन उपयोगिता के सामूहिक कलन का एक अनिवार्य हिस्सा बनता है। जिसमें व्यक्ति सामूहिकता में मात्र एक क्षण और इस तरह सामूहिक साध्यों और मूल्यों का वाहक बन जाता है, जिनसे विचलन को शायद ही सहा जाये। ऐसा समुदाय आवश्यकता सिद्धान्तवादियों को कभी भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वह व्यक्ति को समाप्त कर देता है। दूसरे विकल्प में समाज को महज स्वपरिभाषित विषयों का एक योग माना जा सकता है जहाँ समाज व्यक्तियों से न तो ऊपर है न परे। यदि व्यक्ति अच्छे है, तो वह भी अच्छा होगा और यदि वे बुरे हैं, तो वह भी बुरा होगा। परन्तु फिर व्यक्तियों की परेशानियों के लिये समाज पर आक्षेप लगाने का प्रश्न नहीं उठेगा।

आवश्यकतावादी सिद्धान्तकार इस अत्यन्त महत्वपूर्ण और कटु सत्य को या तो विस्मृत या अनदेखी कर देते है कि एक सदाचारी जीवन यापन स्वयं अपने भीतर से शुभ तथा अशुभ के मानकों को नहीं पैदा कर सकता और एक जीवन जो अपने से वृहत्तर उद्देश्य के लिये समर्पित नहीं है वह अच्छे जीवन के मानकों को प्रदान करने में अक्षम और मूल्यविहीन होता है।

खण्ड (क) गीता

ज्ञान निरन्तर विकास और विस्तार की एक चिरन्तर प्रक्रिया है। लौकिक परम्पराओ अथवा धार्मिक अनुभूतियों द्वारा एकत्रित ज्ञान अपने आप में पूर्ण सापेक्ष और शुद्ध नहीं होता। यद्यपि धार्मिक ग्रन्थों में परम सत्ता-चिन्तन से सम्बन्धित तत्व ज्ञान अलग-अलग समयों में भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रस्तुत करते हैं तथापि उनमें समय-समय पर निरन्तर परिमार्जन होता रहता है। धार्मिक ग्रन्थों में सत्य की दैवी प्रकाशना को आगे एक दूसरे ग्रन्थ द्वारा विश्लेषित, मूल्यांकित और उद्घाटित होने की आवश्यकता होती है। नये ग्रन्थ को सत्य के वर्तमान क्षितिजों को विस्तृत करते हुए उन पर आधृत अमूर्त मूल्यों को व्यावहारिक बनाना होता है। यही कार्य भगवद्गीता व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सम्बन्ध की अपनी सटीक व्याख्या में निष्पादित करती है। श्री अरविन्द के शब्दों में *"वह व्यावहारिक उपयोगिता के लिये परम सत्य को न तो बौद्धिक और न ही आध्यात्मिक संतुष्टि के लिये अन्वेशित करती है, अपितु उसका ऐसा सत्यान्वेषण, हमारे लिये वर्तमान अपूर्णता एक अमर्त्य पूर्णता के मार्ग को खोलकर हमें बचाने के लिये है।"*[३]

अपनी व्यक्ति और समाज की अवधारणा द्वारा गीता धर्म के सांसारिक दायित्व को मोक्ष के साथ और व्यक्ति की स्वार्थरहित क्रिया को परित्याग की भावना के साथ संपृक्त करते हुए लौकिक क्रिया व्यवहार-कर्म और कर्म-परित्याग के उपनिषदीय आदर्श के बीच अवरोध को हटाती है। तदनुसार, एक जीवन-मुक्त व्यक्ति को भी अपने सामाजिक और राजनैतिक दायित्वों को पूर्ण करने को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी होती है। यही वह व्यावहारिक सक्रिय-कर्मी पथ है, जो गीता को उपनिषदों से अलग करता है। जहाँ कर्म निवृत्ति का उपनिषदीय आदर्श हमें एक ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति का चित्र उपलब्ध कराता है जो समाज के प्रति उदासीन है, वहीं गीता का असंलग्नकर्मी समाज के प्रति दायित्व-बोध से युक्त है।

(अ) व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति एवं कर्म-व्यवहार

मात्र एक समाज में निवास करने से कोई सामाजिक नहीं बन जाता। व्यक्ति जो उसमें रहता है उसे उसकी एकता और स्थिरता के लिये अनिवार्य रूपेण कार्य करना होता है। गीता के अनुसार व्यक्ति की सामाजिक प्रकृति स्वार्थ रहित कर्म व्यवहार पर निर्भर करती है जिसे एक सामाजिक एकात्म की भावना से अनुप्राणित हो निष्पादित करना होता है। यह सभी जीवधारियों के एकात्म की स्वत: स्फूर्त प्रवृत्ति ही है, जो जीवन को सामाजिक बनाती है तथा व्यक्ति के निर्लिप्त कर्म से ही सामाजिक जीवन उद्धृत होता है। निर्लिप्त कर्म व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी बनाता है और अपने आध्यात्मिक स्वभाव का संज्ञान होने के बाद भी गीता उससे ऐसे ही कर्मधार्यता की अपेक्षा रखती है। तदनुसार सामाजिक जीवन-यापन करने का अभिप्राय लोक संग्रह को प्रोत्साहित करने के लिये एक विशुद्ध आध्यात्मिक प्राणी का स्वरोपित दायित्व- बोध है जैसा कि *राजगोपालाचारी* कहते है : *"भगवद्गीता व्यक्ति के सर्वोच्च आध्यात्मिक प्रयास का परम व्यावहारिक सामाजिक सहयोग के*

साथ एक अनूठा संश्लेषण प्रस्तुत करती है।''[१४]

गीता कर्म-निवृत्ति के उपनिषदीय आदर्श को एक सीमित और सोपाधिक (Conditional) दृष्टि से स्वीकृत करते हुए उसका संशोधित विस्तार प्रस्तुत करती है। *स्वामी रंगनाथानन्द* के अनुसार *''ईशोपनिषद् का संकेत-शब्द 'निवृत्ति के माध्यम से आनन्द' को गीता मे आगे उसके निर्लिप्त के सिद्धान्त के द्वारा एक बहुआयामी परिपूर्ण आध्यात्मिकता में विकसित किया गया है।''*[१५] यदि गीता निवृत्ति व्यवहार के परिपूर्ण और विशुद्ध प्रकृति से सहमत होती तो स्वयं युद्ध भूमि में ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को एक भिक्षु बन जाने की आज्ञा दे दी होती तथा गीता की शिक्षाओं के प्रस्फुटन का कोई घटनाक्रम नहीं बनता। परन्तु *'ऐसे परित्याग पर गुरू की टिप्पणियाँ एक चाबुक के प्रहार के समान प्रभावी हैं।'*[१६] गीता यह मण्डित करती है कि जिस चीज का परित्याग होना चाहिए वह सामाजिक कर्म नहीं बल्कि, उन कर्मों को करते हुए उनकी अनुगामी फलेच्छा। *डा० श्विट्जर* के शब्दों में *'कृष्ण कर्मों के बाह्य निष्पादन को संसार की आंतरिक निवृत्ति के साथ संपृक्त करना चाहते हैं।'*[१७]

गीता का मत है कि व्यक्ति अज्ञानता और पुनर्जन्म से निर्लिप्त कर्माभ्यास के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। जहाँ व्यक्ति की संलिप्त क्रिया बन्धन बुनती है, वहीं निष्क्रियता तमस को प्रोत्साहित करती है। निर्लिप्त कर्म निष्क्रियता तथा स्वअहंकारी सक्रियता के द्वन्द्व का समाहार करती है। व्यक्ति की आध्यात्मिक उन्नति और स्वतन्त्रता यहाँ इस पृथ्वी पर स्वयं को समतुल्यता के साथ उसके उत्पादन के द्वारा प्रकट करती है। इच्छारहित कर्म को सुव्याख्यायित करने के लिये हम उसे हेगल के द्वन्द्ववाद के खाँचे में रख कर देख सकते हैं। वैदिक कर्म पक्ष है, उपनिषदीय कर्म-निवृत्ति विपक्ष और गीता का इच्छा रहित कर्म संपक्ष। जो स्वार्थमय कर्म और कर्म निवृत्ति दोनों को ही नकारता है। पक्ष और विपक्ष यानि कर्म तथा निवृत्ति के लिये तो एक सुनिश्चित आदि और अन्त है, परन्तु इच्छारहित कर्म एक अबाधित निरन्तर गतिशील सामाजिक प्रक्रिया है।

गीता का सामाजिक उदारवाद उस समय ज्यादा मुखरित होता है जब वह निवृत्ति के आदर्श के साथ सामाजिक कर्म को जोड़ती है। उपनिषद् घोषित करते हैं कि व्यक्ति के द्वारा आध्यात्मिक स्वतन्त्रता अथवा मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्म निवृत्ति का मार्ग समरूपमेव एकमात्र अपवर्जक रास्ता है। इस कर्म की विधि जहाँ *एकवादी (Monistic)* है, वहीं गीता की बहुलवादी। गीता जो मानव प्रकृति की वैविध्यता, व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास एवं सामाजिक विकास चरण को स्थान देती है, समाज के चतुष्कोटि वर्ण व्यवस्था के अधीन व्यक्तियों के विभिन्न प्रकारों के लिये कर्म की विभिन्न विधियों को अनुमोदित करती है। स्वजातिगत कर्म का स्वार्थरहित अनुपालन व्यक्ति के आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का सहवर्तक है। गीता शूद्रों, चाण्डालों तथा स्त्रियों को समान आध्यात्मिक पद आवंटित करती है *''गीता पद सोपानीय पुनर्जन्मीय चक्रों की अवधारणा से मोक्ष की मान्यता को पृथक् करती है और उसे व्यक्ति के व्यवसाय के सदाश्य अनुपालन तथा नैतिक व्यवहार के संग संयुक्त करती है।''*[१८]

निर्लिप्त कर्म विशुद्ध और व्यक्ति के सामाजिक जीवन में आकर्षण-विकर्षण के द्वन्द्वों से अस्पृश्य होता है। अपने विशुद्ध रूप में वह रूढ़िवादी या उद्देश्यात्मक चिन्तन से ऊपर खड़ा स्वार्थी सामाजिक प्रेरणाओं से विमुक्त होता है। निर्लिप्त कर्म विधायी है और रचनात्मक सामाजिक सुधार के आधार का निर्माण करता है। यह व्यक्ति के पहल पर आधारित है, जो समाज को गतिशील बनाने के लिये स्वार्थरहित इच्छा से कार्य करता है और स्वयं ही कार्य करते हुए दूसरों के अनुगमन हेतु एक उदाहरण

स्थापित करता है। यह व्यक्ति से व्यक्ति मे फैलते हुए समूचे समाज में परिव्याप्त हुई विकासोन्मुखीकृत है। निर्लिप्त व्यक्ति स्वयं समाज में समय, आवश्यकता और परिस्थितियों के अनुरूप अपने सामाजिक कर्म को निर्धारित करता है। इसके अतिरिक्त, धर्मियों के रक्षार्थ, व अधर्मियो के दण्डार्थ एवं सत्यनिष्ठ समाज की स्थापना हेतु दैवी हस्तक्षेप का वादा भी दैव पुरूष के अनासक्त कर्म के संदेश को संप्रेषित करता है।

(ब) समाज की प्रकृति

अपने सामाजिक दायित्व को स्वेच्छापूर्वक पूरा किये बिना मुनष्य सामाजिक नहीं बन सकता। एक सामाजिक प्राणी के रूप में वह उनके निष्ठावान परिपूर्णता के प्रति आज्ञाकारिता में ही अपनी स्वतन्त्रता पा सकता है। गीता के अनुसार मानव का सामाजिक जीवन स्वतन्त्रता तथा स्वैच्छिक सामाजिक कर्त्तव्यों का एक सुन्दर समन्वय है। वह इंगित करती है कि सामाजिक दायित्व की आपूर्ति करना आध्यात्मिक जीवन के उपक्रम में बाधा नहीं है तथा मानव का सामाजिक जीवन निर्लिप्त सामाजिक कर्म के द्वारा आध्यात्मीकृत किया जा सकता है। व्यक्ति के समान गीता का समाज भी उसकी निर्विकार कर्मिता में अपनी स्वतन्त्रता की परिपूर्णता पाता है। गीता *'समाज'* को एक अनैतिक संस्था या व्यक्तियों का समूह नहीं मानती है। इसके विपरीत उसके लिये *'समाज'* एक *'प्राकृतिक सावयवी'* संस्था है। चूँकि गीता सामाजिक एकता के लिये खड़ी होती है, वह व्यक्तियों और जातियों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को संयोजित करने के लिये समाज को प्रकृत्या अनिवार्य मानती है।

चूँकि गीता निरन्तर नि:स्वार्थ सामाजिक कर्म के सन्दर्भों में व्यक्ति, जाति एवं मानव इतिहास के स्वधर्म को परिभाषित करती है, उसके समाज को सक्रिय कर्मी के रूप में व्याख्यायित करना समुचित होगा वह सक्रिय कर्मी इसलिये है क्योंकि वह एक सेवोन्मुख सामाजिक और राजनैतिक संस्था है, जो मानवता की एकता तथा सार्वभौमिक कल्याण को प्रोत्साहित करती है। चूँकि गीता स्थित परम सत्ता भी स्वयं निष्काम कर्म के उसके भागवत सिद्धान्त के अनुसार निरन्तर कार्यरत रहते है, उसका समाज भी लोकसंग्रह को प्रोत्साहित करने के लिये सक्रिय-कर्मी बन जाता है। गीता के अनुसार समाज निर्लिप्त कर्म के द्वारा अपनी स्वतन्त्रता को विस्तृत करता है और अपनी निष्क्रियता के द्वारा गुलाम बन जाता है। गीता के सदृश का एक समाज जो इच्छा रहित होकर मानवता की एकता और सार्वभौमिक कल्याण को प्रोत्साहित करता है, दमनकारी, शोषक और बिखरा हुआ नहीं हो सकता। चातुर्वर्ण्य की अवधारणा में एक एकीकृत समाज की मान्यता सन्निहित है। यह सत्य है कि पूँजीवादी और समाजवादी दोनो व्यवस्थाएँ भी सक्रिय होती है परन्तु उनकी सक्रियता निष्कामता द्वारा अनुशासित नहीं होती क्योंकि पूँजीवादी समाज गरीब का शोषण करता है और समाजवादी प्रणाली अमीर का। परन्तु सक्रियात्मक परार्थवादी गीता वर्णित समाज अपने दृष्टिकोण में वैचारिक भावावेग तथा भ्रान्त धारणा की प्रतिबद्धता से परे निर्लिप्त अवस्थित होकर घर और बाहर, शान्ति तथा कल्याण, सम्पन्नता एवं प्रगति को प्रोत्साहित करता है। गीता के सक्रिय कर्मी समाज की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है:

· गीता वर्णित सक्रिय कर्मी समाज *'मुक्त अन्तर्कर्मिता' (Laissezfaire)* के दर्शन के विपरीत है जो राज्य को एक अनिवार्य अशुभता मानते हुए कुछ न देखने, कुछ का सुनने और कुछ न सुनने में विश्वास करता है। वहीं गीता वर्णित समाज

चातुर्वर्ण्यो के कार्यों को संयोजित कर लोकसंग्रह को प्रोत्साहित करता है।

गीता वर्णित समाज अधिनायकवादी भी नहीं है क्योंकि वह जातिगत इकाईयों के ऊपर अवस्थित नहीं है। साथ ही एक सर्वाधिकारवादी व्यवस्था के समान उनको अपने में अन्तर्विलयित करने का प्रयास नहीं करता। तुलनार्थ *लास्की* का *संघीय समाज*, *दुग्वी* का *सामाजिक संगठनवाद*, *कोल* का *श्रेणी-समाजवाद* तथा *मैकाइवर* का *सामाजिकतावाद* इस वर्णाश्रमित सामाजिक व्यवस्था की दिशा की ओर इंगित करते है।[१९]

गीता इस बात का निरूपण नहीं करती कि स्वयं जातीय इकाई एक स्वतन्त्र सामाजिक इकाई बन सकती है तदनुसार एक जाति एक एकाकी सम्प्रभु सामाजिक इकाई नहीं, अपितु केवल एक एकीकृत सामाजिक इकाई ही है। वह आत्मनिर्भर एकाकी यूनानी राज्यों का प्रतिरूप नहीं हो सकता। उसकी प्रकार्यात्मक दायित्वों की प्रकृति उसे समाज की एकीकृत इकाई बनने के लिये परिसीमित करती है। अत: गीता का समाज जातीय इकाइयों का एक प्राकृतिक संघ है।

जाति-व्यवस्था के सामान्य सांस्कृतिक मूल्य एवं आकाक्षाएँ जाति-धर्म अर्थात् राष्ट्रीय वैयक्तिकता को निर्मित करते है। चातुर्वर्णीय सामाजिक व्यवस्था एक वृहद आधार युक्त राष्ट्रीय राज्य बन जाता है जैसा कि *प्रो०आर०के० मुखर्जी* ने इंगित किया है हिन्दू राष्ट्र विभिन्न प्रकारों की संस्थाओं और प्रकार्यो के साथ अपना परिचय बनाता है, *"जिसके माध्यम से स्वयं प्रजाति की बहुआयामी प्रज्ञा अभिव्यक्त होती है। राज्य और व्यक्ति के मध्य अवस्थित यही माध्यमिक इकाइयाँ जनमानस के लिये राष्ट्रीय कर्मों के वास्तविक केन्द्रीय पीठिकाओं के रूप में उनकी संस्कृति के प्रसंस्करण हेतु सबसे ज्यादा महत्व रखती थीं।"*[२०]

गीता जाति व्यवस्था को किसी एक समाज विशेष तक सीमित नहीं करती है चूँकि मानव प्रकृति और जातिगत कार्य सभी जगह समान होते हैं, जातीय दायित्वों पर आधारित एक विश्व समाज की परिकल्पना भी ग्रंथ में निहित है।[२१]

(स) अंतर्सम्बन्ध

यद्यपि गीता का व्यक्ति सामाजिक जीवन के प्रत्येक पहलू को अंगीकृत किये हुये है अपितु उसकी समाज की अवधारणा सर्वअन्तर्वेशीय नहीं कही जा सकती। तदनुसार समाज का निर्वाहन व्यक्ति का नैतिक उत्तरदायित्व है और समाज निर्देशन के लिये उसके इर्द-गिर्द घूमता है। यह एक निर्लिप्त व्यक्ति है जो समाज का नेतृत्व और निर्देशन करता है न कि इसके विपरीत स्वयं समाज यह कार्य करता है। गीता का अभिमत है कि समाज प्रबुद्ध व्यक्तियों का अनुगमन करता है। यह इंगित करते हुये कि व्यक्ति समाज से पूर्व है *डा०के०पी० मुखर्जी* कहते हैं : *"समाज व्यक्ति से पूर्व हो सकता है परन्तु व्यक्ति भी समाज के अनिवार्य नैतिक गुण को सुधारने और बनाये रखने के लिये आवश्यक है और इस अर्थ में व्यक्ति नैतिक समाज से पूर्व है।"*[२२] गीता के *'स्वधर्म'* की अवधारणा व्यक्ति और जाति तथा जाति और समाज के मध्य सम्बन्धों का नियमन करती है।

निर्लिप्त कर्म का निष्पादन समाज में व्यक्ति की भूमिका को निर्धारित करता है। सामाजिक कार्यों में सक्रिय रहने का अर्थ है, स्वयं को उसके कार्यों में डुबो देना तथा जीवन के आध्यात्मिक दृष्टि को विस्मृत कर देना। इसके विपरीत निष्क्रियता का अभिप्राय है उसके लौकिक कार्यो के प्रति उदासीनता। कर्म आदमी को सामाजिक तथा उनका परित्याग एक आध्यात्मिक प्राणी बनाते हैं। गीता वर्णित निर्लिप्त कर्म व्यक्ति को न तो सामाजिक जीवन में एक सक्रिय भागीदार और न ही एक निश्चेष्ट

दर्शक बनाता है। संयतता के माध्यम जो पतंजलि के योग की अभिप्रेरणा है, से व्यक्ति अपने सामाजिक दायित्व को सामाजिक रूप से और पारलौकिक दायित्व को आध्यात्मिक दृष्टि से निष्पादित करता है।

गीता जो कर्म-निवृत्ति के उपनिषदीय आदर्श को निर्लिप्त कर्म में विस्तृत करती है वह पतंजलि योग की चरमवादिताओं को भी कम करती है। *''पतंजलि योग जिसे 'राज योग' भी कहा जाता है शरीर और मन के सभी प्रकार्यों के पूर्ण रूपेण पाबन्दी में निहित है।*[२३] वह मुख्यत: *''मनो-शरीरी''*[२४] है। यद्यपि गीता का छठा अध्याय पतंजलि योग से वास्ता रखता है तथा यम, नियम, आसन आदि को अनुमोदित करता है, *ए०जे०बाह्म* के शब्दों में *''वह अन्य तीनों (कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग) की अपेक्षा इस चौथे मार्ग राजयोग पर कम ध्यान देता है।''*[२५] गीता जो जीवन के एक सक्रिय मार्ग का ध्येय रखती है, योग की अपनी चार परिभाषाओं में योग दर्शन का परिमार्जित निरूपण करती है जिन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता है।

''संतुलन'' शब्द के अर्थ प्रयोग पर निर्भर होकर हम गीता वर्णित योग की अवधारणा के सामाजिक निहितार्थ को निम्नलिखित बिन्दुओं की व्याख्या के द्वारा रख सकते है।

i- समाज के साथ व्यक्ति की अंतर्समरसता

ii- व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य अंतर्समन्वयता

संयत भाव के विस्तृत अर्थ में, संतुलित सम्बन्धों के निर्वाहन के सन्दर्भ में गीता योग के सामाजिक स्वरूप का वर्णन करती है जिस पर यहाँ विचार करना उपरोक्त वर्णित बिन्दुओं को विश्लेषित करने के पूर्व प्रासंगिक हो जाता है।

गीता में योग के सामाजिक महत्व की ओर इंगित करते हुए *प्रतिमा बाउज़* का मानना है कि यह ग्रन्थ *''योग को स्व एकाकी करने की महज एक प्रविधि न मानकर (जिस सीमा तक वह वैयक्तिक ईश्वर की अवधारणा के द्वारा प्रतिनिधित्वित होता है) उसे ब्रह्माण्डीय, दैवीय और सामाजिक एकीकरण की प्रविधि भी मानता है,अत: योग ब्रह्माण्डीय एकत्व, ईश्वर प्रेम और समाज कल्याण हेतु निर्लिप्त कर्म प्राप्ति का एक मार्ग बन जाता है।''*[२६] प्रत्ययत: आध्यात्मिक समानता का योगीय आदर्श व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और ईश्वर के बीच किसी भी प्रकार के अवरोध या विशेषाधिकार को अस्वीकार करता है। सामाजिक संदर्भ में गीता वर्णित योग सर्वएकात्मकता के दृष्टिकोण द्वारा पाश्चात्य समाजों में लोकतांत्रिक अवधारणा में उपस्थित अपूर्ण रिक्तता को भरता है क्योंकि आध्यात्मिक एकता में ईश्वर के संग एकात्मकता का भाव लोकाचार में समान रूपी प्रेम भाव की अनिवार्य रूपेण अपेक्षा रखता है। सामाजिक भातृत्व का भाव प्रेम की आंतरिक अभिव्यक्ति और व्यक्तियों के समूहीकरण या संगठन के लिये लौकिक धरातल पर मार्ग प्रशस्त करती है, जिसके अन्तर्गत नि:स्वार्थ व्यक्ति स्वयं को सामाजिक हित के लिये प्रभावशाली तरीके से क्रियाशील कर सकता है। इस प्रकार गीता का योग दर्शन लोकतान्त्रिक है, जो आध्यात्मिक समानता, बन्धुत्व और मानवों के एकत्व पर आधृत है। तद्नुसार समाज का अभिप्राय सुव्यवस्था है न कि सामाजिक अराजकता और सामाजिक सुव्यवस्था व्यक्ति द्वारा योग की सामाजिक नैतिकता के अनुपालन पर निर्भर करता है।

योग की सामाजिक नैतिकता की अनिवार्य अर्हता-अनुसार एक योगी सर्वप्रथम सामाजिक प्राणी है, और तद्पश्चात् ही सत्यान्वेषी। उसे समाज के साथ सम्बन्ध सृजन करना पड़ता है जैसा कि *आर०एन० दाण्डेकर* ने कहा है : *''वास्तव में*

भगवद्गीता मोक्ष से ज्यादा योग की बात करती है।''[२७] जब हम सामाजिक परिप्रेक्ष्य में गीता कृत योग के सक्रिय जीवन मार्ग की बात करते हैं, तो इसका अर्थ है कि व्यक्ति को समाज से विलग होने की आवश्यकता नहीं उसे उसके साथ सम्पर्क में रहना चाहिये। एक समन्वित आत्मा अपने सहजातियों के साथ समन्वित सम्बन्धों की स्थापना करती है और जो व्यक्ति ऐसा करने में विफल होता है वह ईश्वर के साथ न संतुलित सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और न ही संवाद। सामाजिक समरसता आध्यात्मिक समरसता को प्रोत्साहित करती है। मानव समाज देवत्व का एक प्रकार भी है। अन्य व्यक्तियों के साथ इकट्ठे रहना सामुदायिकता का एक भाग है, और यह सामुदायिकता दैवीय सम्पूर्णता का एक अनिवार्य अंश है। सत्यत: व्यक्ति का सामाजिक स्वत्व सार्वभौमिक सत्व बन जाता है, जिसमें प्रत्येक का स्वत्व सन्निहित होता है।

इसके अलावा गीता में योग की सामाजिक नैतिकता के लिये आध्यात्मिक और भौतिक जीवन के बीच सुसंयोजन अनिवार्य माना गया है। यह सुसंयोजन भौतिक जीवन के सुख और परित्याग की अतिशयता के विरूद्ध है क्योंकि किसी भी वस्तु मे अतिशयता एक सद्गुण को अवगुण में परिणत कर देता है। उसका मत है कि किसी भी अतिशयता में अतिलिप्तता उनके ऊपर स्वामित्व में नही, अपितु उनकी दासता में ही समाप्त होती है। उदाहरण के लिये कर्म-निवृत्ति भौतिक जीवन को उपेक्षित करेगी और भौतिक सुख में लिप्सा उसकी दासता में परिणत होगी। एक ज्ञानी केवल आत्मचिन्तन करते हुये पदार्थमय संसार के यथार्थ की अनदेखी करेगा और एक भौतिकवादी, आध्यात्मिक संसार की। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही संसारों में एक साथ रहते हुये व्यक्ति सत्य के समग्र स्वरूप की अनुभूति कर सकता है। गीता के इस परिशुद्ध संतुलित दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए स्वामी चिद्भवानन्द ने लिखा: *''वह (गीता) आकांक्षी को इस लौकिक जगत की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि तथा स्वयं को लोकातीत से उत्प्रेरणा पाने के लिये आह्वान भी करती है। आगे गीता यह भी मानती है कि लौकिकता का सही तादात्म्य पारलौकिकता के साथ एकात्म अथवा योग में अग्रसरित होता है और साथ ही उसका विलोम भी समरूपेण सही है। दूसरे शब्दों में,केवल एक आध्यात्मिक पुरूष ही सांसारिक ज़ीवन के लिये सर्वश्रेष्ठ अर्हता रखता है।''*[२८] गीता का सुसंयत दृष्टिकोण यह दर्शाता है कि वह सांसारिकता और कर्म के विरूद्ध नहीं है, तथा मनुष्य का सांसारिक जीवन उसके सामाजिक जीवन का एक भाग है। भौतिक जगत में जीने और जीवन की आवश्यकताओं को सीमित रूप में भोगने का अर्थ होगा समाज के साथ सम्बन्धों का निर्वाहन करते हुए उनमें संतुलन बनाये रखना।

उपरोक्त गीता कृत योग की सामाजिक नैतिकता के आलोक में अब हम गीता में प्रयुक्त *'योग'* शब्द के गुणार्थ को, इस उपखण्ड के प्रारम्भ में वर्णित विचार बिन्दुओं के विश्लेषण द्वारा प्रवर्तित करते हैं।

(i) समाज के साथ व्यक्ति की अंतर्समरसता

जब हम गीता के योगमय सुसंयत जीवन को समाज के सन्दर्भ में प्रयुक्त करते हैं, तो इसका अभिप्राय एक समान आधार पर व्यक्ति और समाज के मध्य संतुलित सम्बन्धों का निर्वाहन होगा। *''यदि समाज में शक्ति समीकरण मानव कल्याण के सेवार्थ है, तो इस बात की आवश्यकता है कि उस शक्ति को समुचित तरीके से प्रयुक्त किया जाय। वास्तव में शक्ति को धारण करने और प्रयोग करने की समस्या समाज की समस्या है।''*[२९] गीता की संयतता: व्यक्ति तथा समाज को उनकी उचित

सीमाओं के भीतर रखेगी। गीता जहाँ एक ओर व्यक्ति के विशेष हितों का ध्यान रखती है तो, दूसरी ओर समुदाय के समान हितों का भी। वह व्यक्ति को न समाज के अधीन न समाज को व्यक्ति के अधीनस्थ करती है। जहाँ समाज का प्रभुत्व व्यक्ति के विकास को बाधित करेगा, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति की निरपेक्ष सर्वोच्चता समाज के हितों की उपेक्षा करेगी। जिससे सामाजिक विकास और स्थिरता अवरूद्ध होगी। गीता की सामाजिक संयतता स्वामित्व तथा दासत्व के दो खतरों से बचेगी। व्यक्ति न तो समाज के स्वामी के रूप में और न ही उसके प्राधिकार के एक दास के रूप में व्यवहार करता है। वह समाज में तो है, लेकिन वह समाज का नहीं। समाज भी व्यक्ति के समान, व्यक्ति का न तो स्वामी है न ही नौकर।

गीता के संतुलित सम्बन्धों की सामाजिकता संयतता की अवधारणा का यह अर्थ है कि एक संगठन के रूप मे व्यक्ति और समाज पद, मूल्य एवं महत्व में समान और परस्पर अपृथक्नीय है। दोनों ही अपने अहं को स्वेच्छया समान हितों के प्रोत्साहन मे संविलयित कर देते हैं। इसी पारस्परिक समानता, सेवा एवं समझ की भावना के द्वारा व्यक्ति और समाज दोनों के न्यायोचित अधिकारों का विद्वेषरहित समन्वयीकरण होगा। गीता की सामाजिक संयतता हमें आधुनिक सामाजिक बहुलवाद की प्रवृत्ति का स्मरण कराती है, जिसके अनुसार सभी व्यक्ति समान सम्प्रभु होते हैं और राज्य *'समानों के एकसमान' (An equal among equals)*।

व्यक्ति और समाज के मध्य हितों का टकराव केवल तब होगा जब उनके मध्य असमानता अथवा असंतुलन आयेगा और जब दूसरे के ऊपर हावी होने का प्रयास करेगा। गीता की संयतता उनके सुनिश्चित दायित्वों के संयोजन के माध्यम से हित टकराव की स्थिति का निवारण करती है। तदनुसार सामाजिक संयतता का अर्थ व्यक्ति और समाज दोनों के हितों का सामाजिक संयोजन होगा। हम कह सकते हैं कि व्यक्ति एक समन्वित सामाजिक प्राणी बन जायेगा जो सामाजिक प्रयास के साथ सहयोग करेगा और वह समाज सर्वश्रेष्ठ होगा, जो व्यक्ति को उसके सामाजिक और आध्यात्मिक विकास को उत्प्रेरित करने में सहायक हो। व्यक्ति के स्वतन्त्र विकास तथा समाज के स्वस्थ विकास की अन्तर्निर्भरता को इंगित करते हुये *डा० राधाकृष्णन* लिखते है कि *''व्यक्ति का ठोस विकास समाज के विकास के लिये सर्वश्रेष्ठ दशा तथा समाज की स्वस्थ अवस्था व्यक्ति के विकास के लिये श्रेष्ठ दशा है। एक पिपलिका या मधुमक्खी-छत्ता एक मानव राष्ट्र संघ के लिये प्रारूप नहीं है। व्यक्ति की दासता के द्वारा किसी भी प्रकार का तादात्म्य नहीं पाया जा सकता है।''*[३०]

(ii) व्यक्ति और व्यक्ति की अंतर्समन्वयता

गीता की सामाजिक समन्वयता समाज के साथ व्यक्ति की समस्थिति स्थापित करती है। व्यक्ति और समाज के बीच ऐसी समत्व की भावना को समाज में विभिन्न व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी परिलक्षित होना चाहिये। व्यक्ति जो समाज से समान व्यवहार की मांग करता है, उसे वही अपने साथियों के लिये भी उपलब्ध कराना होगा। योग को *''प्रेम तथा सामाजिक न्याय के भाव के माध्यम से अपने साथियों के साथ एकीकरण''*[३१] के रूप में भी व्याख्यायित किया जाता है।

गीता की मानव प्रकृति की अवधारणा मानव सम्बन्धों को निर्धारित करती है।चूँकि तात्विक रूप से मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है, वह अपने साथियों के साथ अपने सम्बन्धों को दैवीय बनाने का प्रयास करता है। वह स्वयं को दूसरों

से विलग नही मानता क्योंकि वे सभी उसके आध्यात्मिक भाई है। चूँकि सभी प्राणियों में चिरन्तर आत्मा अन्तर्निहित होती है उसे उनके साथ एकीकृत होना पड़ता है। समाज में मानव सम्बन्ध सभी व्यक्तियों के आध्यात्मिक एकात्म के जागरण पर आधृत होते हैं। स्वार्थभाव की स्थिति में समाज में कोई भी शोषण विशेषाधिकार या दुर्भावना नहीं होगी। समाज में मानव सम्बन्धों को स्वार्थरहित प्रेम और सेवा, निर्लिप्त तर्कणा तथा कर्म से ओत-प्रोत होना चाहिए।

खण्ड (ख) गाँधी

(अ) गाँधी दृष्टि में व्यक्ति तथा समाज-अन्तर्सम्बन्ध

जैसा कि प्रारम्भिक विवेचनाओं में इंगित हुआ है, मानव की वह मान्यता जो मानव को पूर्णत: प्रकृति अर्थात् जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक परिस्थितियों से निर्धारित मानती हैं वह सामाजिक कर्म एवं नैतिक मूल्यांकन के लिये एक समुचित आधार उपलब्ध कराने में असफल सिद्ध होती हैं। एक बार जब मनुष्य को घटा कर इतिहास और संस्कृति में समाहित कर दिया जाता है, तो उसका भविष्य न्यूनीकरणवाद अर्थात् नियतवाद के दमनकारी ध्रुवों के मध्य दोलायमान रहता है और फिर भी, जो मानव स्वतन्त्रता की कतिपय अवधारणा रखते है। मानव स्वतन्त्रता के बारे में बात करने का अर्थ प्रकृति के कुछ तत्वों या अन्यों का दमनकर उनसे ऊपर उठने की बात करना भी है। स्वतन्त्रता अपने आप में मूल्यवान हो सकती है, परन्तु उसका वास्तविक मूल्य उसके साधन तथा कुछ गुणवान साध्यों जैसे शुद्धता, आत्मविकास इत्यादि को पाने की उसकी उपयोगिता में निहित है। इस अर्थ में स्वतन्त्रता की खोज प्रकृति के उस महत्व को गुणविधान से मुक्ति पाने की एक खोज है जिसे कार्य-कारणता नियतिवाद कहते हैं। स्वतन्त्रता-अन्वेषण इस तथ्य का द्योतक है कि यद्यपि मनुष्य एक जीवधारी भौतिक प्राणी के रूप में प्राकृतिक नियमों की कठोर अधीनता में होता है, वह इससे कहीं ज्यादा है और इसी गुण के कारण वह कार्य-कारणता नियतिवाद से ऊपर है। इसीलिये मानव स्वतन्त्रता को प्रकृतिवादी प्रत्ययों में वर्णित करने तथा अधिष्ठापित करने के सभी प्रयास निष्फलित होते हैं। अत: मानव को जैवीय मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय रूप से नियत निर्धारित प्राणी से अधिक मानते हुए उसे एक नैतिक धार्मिक व्यक्ति के रूप में मानना होगा। इसलिये मानव की अवधारणा को न सिर्फ एक आनुभविक संघटना से, बल्कि परिपूर्णता उपलब्धि में प्रयासरत व्यक्तित्व के साथ भी जोड़कर देखा जाना चाहिये।

एक नैतिक धार्मिक सिद्धान्त के रूप में मानव मात्र एक सम्भावना है जैसा कि *नागार्जुन* का मत है : *''मैं'' का भाव चौराहे पर है; उसका एक दोहरा संदर्भ है। वह एक साथ प्राणी के दो स्वरूपों, सप्रतिबन्धित एवं अप्रतिबन्धित का भागीदार है; वह एक साथ सार्वभौमीकृत तथा एक विशेषीकृत प्रवृत्ति है। वह असंपृक्त होकर मुक्ति के लिये उतनी ही मात्रा में कार्य कर सकती है जितना कि सम्पृक्त होकर बन्धन युक्त होने के लिये।*[३२]

यदि *''मैं''* का भाव विशेषीकृत प्रवृत्ति का पूर्ण प्रतिगमन करता है, तब आनुभविक स्वत्व निरपेक्ष बनते हुये *''मैं''* और *'मैं-नहीं'* के विभेदों को जागृत करता है, और इनको सापेक्ष मानने के बजाय निरपेक्ष मानता है। दूसरी ओर यदि *''मैं''* का भाव सार्वभौमिकृत प्रवृत्ति की ओर झुकता है, तो आनुभविक स्वत्व को मात्र एक अनुभवाधार के रूप में रखा जाता है जहाँ से व्यक्ति अप्रतिबन्धित एवं अपनी *'स्वत्व'* की वास्तविक प्रकृति की अन्वेषण यात्रा प्रारम्भ कर सकता है। यह फिर इस

अनुभूति तक ले जाता है कि सप्रतिबन्धित वस्तु की परम् प्रकृति स्वयं अप्रतिबंधित सत्यता है तथा अपरिमित वस्तुओं के मध्य एक अनिवार्य सम्पृक्तता स्थित होती है। जब स्वत्व का भाव नैतिक आयाम को स्वयं में समाहित करता है तथा विकास की अनिवार्यता पर बल देता है, तब प्रकृत्यातीत होकर प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक अतुलनीय उचित विकास मार्ग को निरूपित करना अनिवार्य हो जाता है। ऐसा दृष्टिकोण जैविक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक तथ्यों को मानता तो है, परन्तु उनमें बन्धित नहीं होता। स्वत्व की वास्तविक प्रकृति की खोज अनिवार्यत: उस सीमा से जुड़ी है जिस सीमा तक इन तथ्यों के परे जाया जा सके। इस दृष्टिकोण में, निश्चित रूप से मानव प्राकृतिक नियमों के अधीन है, परंतु आत्मावलोकन का गुण होने से पर्यावरणीय परिस्थितियों से स्वतंत्र अपने अस्तित्वाकारों को रचने की क्षमता रखता है। यह कतिपय आंतरिक रूपांतरण के महत्व को मानता है, जो मानव के अद्वितीय आत्मोत्कर्ष की प्रक्रिया पर दृष्टिबिंदु रखता है।

गाँधी आनुभविक स्वत्व को वास्तविक स्वत्व स्वीकार नहीं करते तथा मानव के भीतर पशुता को मानते हुए भी आत्मशुद्धिकरण के लिये आह्वान करते हैं। उनके लिये यद्यपि मानव पशुजगत में जुड़ा और उद्भावित हुआ, तथापि उसके पास उसके ऊपर उठने की क्षमता है और यह तभी संभव है जब वह इसे पहचान कर स्वइच्छाशक्ति के साथ आत्मोत्कर्ष हेतु अपनी नैतिक आध्यात्मिक प्रवृत्ति की स्वतंत्र क्रियाशीलता को एक यात्रा पर निर्दिष्ट करे। उनके मतानुसार, अतुलनीय रूप से मानव होने के गुण न तो सर्वकालिक रूप से स्थिर है न तो अपरिवर्तनीय। उनकी दृष्टि में, मानव के अंदर का शिवत्व अभिमुखरित, सुदृढ़ एवं परिशुद्ध किया जा सकता है। एक बार मानव में शिवत्व जागृत हो जाये, तो वह आत्म-उपलब्धि के पथ पर अग्रसर हो सकता है। वह मानव-स्वभाव के विशुद्धीकरण के प्रति आशावादी है।

गाँधी के लिये आत्मोत्कर्ष मानव बनने का पाठ है, जो आत्म-परिमार्जन एवं आत्म-प्रदीप्तिकरण की अबाधित प्रक्रिया है। मूलत: यह स्वत्व के यथार्थतम् स्वरूप का संज्ञान एवं उसके स्वप्रस्फुटित होने देने का भाव है। प्राक्कल्पनात्मक रूप से चूँकि एक स्वत्व के वास्तविक ज्ञान में उसके ऊपर एक रूपान्तरण क्रिया भाव अन्तर्निहित होता है, इसलिये इस अर्थ में संज्ञानता न सिर्फ प्रबोधन एवं विवेचना है, अपितु सृजन एवं साकारता भी। स्वयं को जानना साथ ही साथ स्वयं को परिशुद्ध करना है परन्तु यह आत्मज्ञान ऐन्द्रिक जगत के ज्ञान पर आधृत नहीं होता है न ही वह ऐन्द्रिक जगत के दावों की अनदेखी कर पूर्णत: अन्तर्मुखी होना ही है। अतीन्द्रिक केन्द्र की गवेषणा अभी और यहाँ के संसार में की जानी चाहिये। परन्तु, अनिवार्यत: इसका अर्थ लौकिकता में विलयन नहीं है। दैनंदिन की इह्लौकिकता न सिर्फ प्रस्थान बिन्दु है, बल्कि किसी भी अर्थवान नैतिक आध्यात्मिक यात्रा का कालान्तरित पुनर्आगमन है। लेकिन, यह वापसी लौकिकता में पुन: खोने के लिये नहीं, बल्कि अतीन्द्रियवादी स्वतन्त्रता के नियमानुसार उसको पुर्नाकार, पुन: सृजित और रूपान्तरित करना है।

उपर्युक्त प्रक्रिया को वैयक्तिकता का सही अभिमुखीकरण मानते हुये यहाँ स्पष्ट कर दिया जाना चाहिये कि इस दृष्टिकोण में कोई भी नृ-केन्द्रीवाद निहित नहीं है। निश्चिततः वह एक अतीन्द्रिय दृष्टिकोण है, परन्तु जो लौकिक जगत में ही जीवनार्थ खोजने की आवश्यकता को मानता है। यह एक *"सावयविक दृष्टि"* प्रक्षेपित करता है, जो अस्तित्व की अनिवार्य एकता पर बल देता है। चूँकि वह सबमें एक को और एक में सबको प्रतिबिम्बित देखता है। लेकिन अनिवार्य एकता का यह प्रत्यक्ष

प्रमाण इस मान्यता को अस्वीकृत करता है कि प्रत्येक वस्तु एक का ही प्रतिबिम्बन होने के बावजूद एक दूसरे से भिन्न है। ऐसा दृष्टिकोण विभेदो को तो मानता है, लेकिन अन्तरों को नहीं। इसके अतिरिक्त वह व्यक्तिवादी नहीं है चूंकि उसकी यह स्पष्ट मान्यता है कि किसी एक व्यक्ति के पास सत्यान्वेषण का विशेषाधिकार नहीं होता। यद्यपि सत्य को विभिन्न स्थितियों जो अनिवार्यत: मैतक्य नहीं, से देखा और समझा जा सकता है। तथापि, व्यक्ति को सत्य की *"बहुपक्षता"* को स्वीकार करना होगा।

अस्तित्व के अनिवार्य एकत्व के ढ़ाँचे के भीतर सत्यता की बहुपक्षता की यह मान्यता अपवर्जनवाद को अस्वीकार करती है। यह मानती है कि सत्यता को परिभाषित करने के लिये अनेक दशाओं की अपनी अनिवार्य महत्ता होती है। इस तरह अनेक पंथ, अनेक मार्ग का सहअस्तित्व हो सकता है। निहितार्थत: वह यह भी मानती है कि मानव जाति वृत्ति की अपनी संरचना होती है, जिसे समूचे प्राणी जगत के कतिपय सामान्य नियम पूर्णत: व्याख्यायित नहीं कर सकते। इस अपवर्जनवाद की अस्वीकृति इस बात की ओर भी संकेत करती है कि अपनी अखण्ड सत्यनिष्ठता को संरक्षित करने के लिये व्यक्ति को दूसरों पर अपने तौर-तरीके आरोपित करने से बचना चाहिये। अनिवार्यत: ऐसा दृष्टिकोण सामाजिक अन्तर्क्रिया के मूल सिद्धान्त के रूप में अहिंसा के अनुपालन की पुष्टि करता है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि सत्य की बहुपक्षता की मान्यता व्यक्तियों के मध्य अन्तत: मतभेद की स्थिति तक ले जा सकती है। ऐसे मतभेद यदि होते हैं, तो निवारणीय हैं क्योंकि अंतिम विश्लेषण में सत्य की बहुपक्षता की दृष्टि जो एक अतीन्द्रिक केन्द्र के भीतर स्थित है वह सभी प्राणियों में समान है। इसीलिये, यद्यपि उसकी प्राप्ति का मार्ग अलग-अलग व्यक्तियों के लिये भिन्न-भिन्न हो सकता है, इस भिन्नता के वैयक्तिक संपोषणता और स्वार्थ लोलुपता के पतनशील होने की सम्भावना नहीं है क्योंकि सत्य की बहुपक्षता सहभागिता एवं जनसाधाणता की एक सुदृढ़ भावना पर अवस्थित है। आत्मपरिष्करण के माध्यम से आत्म विकास का अनुभव वैयक्तिक हो सकता है लेकिन वह सटीक रूप से निजी नहीं, क्योंकि वैसा अनुभव दूसरों के आंतरिक अनुभव के साथ प्रतिध्वनित होता है। यह दृष्टिकोण मान्यता की सहभागिता और जनसाधारणता पर बल देता है। वह समानता को तो रेखांकित करता है परन्तु समरूपता को नहीं, क्योंकि वह अर्थ के विभिन्न आकारों की आख्या देता है जैसा वह विभिन्न व्यक्तियों और सन्दर्भों में देखे और प्रस्तुत किये जाते हैं।

आत्मरूपान्तरण एक आन्तरिक अनुभव है, जो अन्तर्मुखता को रेखांकित करता है। लेकिन अन्तर्मुखता का यह सिद्धान्त एक बार इहलौकिक जगत में आत्मरूपान्तरण की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने के पश्चात स्वयं को बहिर्मुखी कर लेता है। *मेरीटेन* के शब्दों में, *"इस तथ्य के चलते कि मैं एक व्यक्ति हूँ और मैं स्वयं से स्वयं को अभिव्यक्त करता हूँ, मैं उसके संग ज्ञान और प्रेम के लिये संवाद की तलाश करता हूँ जो कि दूसरा है तथा दूसरों के साथ। एक संवाद के लिये पूछना व्यक्तित्व के लिये अनिवार्य है जिसमें वास्तव में मैने अपने आप को दिया है और जिसमें मुझे वास्तव में पाया गया।"*[३३] अनिवार्यत: इस मुक्ति को विजय के द्वारा नहीं बल्कि नृ-केन्द्रीकरणवादी सीमाओं से परागमन करते हुये स्वयं को सम्बन्धों के एक सदा विस्तीर्ण होते ताने-बाने से तादात्म्यीकरण के द्वारा माना गया है। इस दृष्टिकोण में तादात्म्य एक वैयक्तिक

आकांक्षा मात्र नही, अपितु एक सामाजिक साध्य एवं ब्रह्माण्डीय आदर्श भी है।

सम्बन्धों के सदा विस्तीर्ण होते वृत्त के साथ स्वयं को तादात्म्यीकृत करने की अनिवार्यता का ही दूसरा नाम एकीकरण है। ऐसा एकीकरण स्वयं में अन्य सभी कुछ को समाहित करने की अपेक्षा स्वयं को दूसरों को देने के क्रम में स्वत्व की सीमा को विस्तृत करते हुये ही संभव बनता है। अत: ऐसा विस्तृत स्वत्व सामाजिकता के लिये आधारभूमि बनता है। समाज एक मशीनी योग अथवा सर्वोपभोगी सम्पूर्णता की अपेक्षा विस्तृत स्वत्वों के एक ताने-बाने से बुना होता है। इस तरह यह दृष्टिकोण व्यक्ति की प्राथमिकता को धारण तो करता है, लेकिन उसे समुद्र में एक बूँद के सदृश मानता है तथा मानवता को अन्तर्निर्भरता के एक अत्यन्त जटिल समीकरण में स्थापित करता है। ऐसे दृष्टिकोण में साहचर्य एवं बन्धुत्व की भावना अन्तर्निहित होती है, जो सभी वस्तुओं को अपने में समाहित करती है। लेकिन इस दृष्टिकोण में समीपस्थ की अनदेखी कर सम्पूर्ण विश्व के विषय में ध्यान देना एक विसंगति मानी जायेगी। मानव प्रकृति और उसकी आसक्तियों की कमजोरी स्वीकारते हुये यह दृष्टिकोण व्यक्ति के मूलभूत मूल्य प्रतिबध्यताओं के सार्वभौमीकरण की आवश्यकता पर बल देता है। परन्तु साथ ही बुनियादी मूल्य प्रतिबध्यताओं के सार्वभौमिक प्रकटीकरण को सम्भव बनाने के लिये एक ठोस मार्ग के चयन पर बल देता है। ऐसा एक ठोस मार्ग 'स्वदेशी' के सिद्धान्त अर्थात् समीपस्थ पड़ोस के सरोकार में स्वयं को प्रस्तुत करता है। पुन: यह एक अपवर्जनवादी अथवा संकीर्णवादी परिघटना नहीं है। अपने सांस्कृतिक विरासत के सन्दर्भ में प्रत्येक व्यक्ति या इकाई को सार्वभौमिक साकार निर्मित करना होगा। केवल वहाँ से जहाँ हम भौगोलिक, आध्यात्मिक या भावनात्मक रूप से स्थित हैं, से बढ़कर सम्पूर्ण मानवता की प्रगति और शान्ति के लिये अपेक्षित एकीकृत प्रयास में अपना सहयोग कर सकते हैं।

यदि आत्मरूपान्तरण वह अन्तर्मुखी क्रिया है, जिसके बाह्य प्रकटीकरण ठोस रूप से उपरोक्त वर्णित बुनियादी मूल्य प्रतिबध्यताओं में फलीभूत होते हैं तो इस प्रक्रिया को स्वयं व्यक्ति से प्रारम्भ होना चाहिये। आत्मप्रयास के बिना कितनी भी मात्रा की सामाजिक पुनर्रचना कोई फल नहीं देगी। जैसा गाँधी कहते हैं :

पश्चिम में, जब वे लोगों के उत्थान की बात करते हैं, तो वे जीवन स्तर को उठाने की बात करते हैं .... कैसे कोई बाहरी स्तर उठा सकता है, जब वह स्तर हममें से प्रत्येक के भीतर है? हम केवल अपने दायित्वों को अनुभव करने उन्हें पूरा करने, और ईश्वर के ज्यादा निकट पहुँचने के मनुष्य के अनुकूल अवसरों को बढ़ाने का प्रयास कर सकते हैं।[३४]

अपने कर्त्तव्यों को समझने और पूर्ण करने तथा ईश्वर के निकटतर होने के सन्दर्भ में मानव के लिये अनुकूल अवसरों में अभिवृद्धि इस तथ्य पर निर्भर करेगी कि किस मात्रा तक सामाजिक व्यवस्था उपरोक्त वर्णित मूल्य प्रतिबध्यताओं को अभिपुष्ट करती है। इन मूल्य प्रतिबध्यताओं से बढ़कर यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि एक समुचित सामाजिक व्यवस्था को अहिंसा, समन्वय, सेवा, कर्त्तव्य, स्वेदशी, आत्मसंयम, तथा स्वनिर्भर स्वायत्त स्थानीय समुदायों पर आधारित होना चाहिये जो अपरिग्रह, समानता, शोषण विहीनता एवं निर्णय निर्माण के विकेन्द्रीकरण पर बल देता है। पुन: गाँधी के शब्दों में:

असंख्य गाँवों से बने इस ढाँचे में सदा विस्तारी वृत्त होगें, अधिरोही कभी नहीं। जीवन सूची स्तम्भ (पिरामिड) की भाँति नहीं होगा जिसमें शिखर का बोझ तल को वहन करना पड़ता है। लेकिन यह एक महासमुद्राकार वृत्त होगा, जिसका

केन्द्र होगा वह व्यक्ति जो गाँव के लिये मर मिटने को सर्वदा प्रस्तुत होगा, और गाँव प्रस्तुत रहेगा गाँवो के वृत्त के लिये आत्मोत्सर्ग करने को, इस क्रम से अन्ततोगत्वा समष्टि ऐसे व्यक्तियों से निर्मित एक जीवन बन जायेगी जो अंहकार के वशीभूत हो कभी आक्रामक नही होगें,बल्कि सदा विनीत रहकर उस महासमुद्राकार वृत्त के बहुलांश के सहभागी बनेंगे जिसकी वे अभिन्न इकाइयाँ हैं। अतएव बाह्यतम परिधि आभ्यान्तर को शक्ति प्रदान कर स्वयं भी उससे शक्ति संग्रह करेगी।[३५]

यह कोई आकस्मिक तथ्य नहीं है कि व्यक्ति और समाज का एक स्वराज्यवादी ढाँचा तथा उसका समूचा जीवन सिद्धान्त गाँधी द्वारा १९०९ में रचित सुप्रसिद्ध पुस्तिका *'हिन्द स्वराज'* में एक सीधे सैद्धान्तीकरण के रूप मे नहीं, बल्कि एक ठोस परिस्थिति और उससे सम्बद्ध मसलों को उद्घाटित करने के प्रयास में सृजित होता है। देखने में यह बात साधारण हो सकती है लेकिन यह इस तथ्य को रेखांकित करता है कि गाँधी के लिये ठोस परिप्रेक्ष्य से अलग कोई सिद्धान्त नहीं है और एक ठोस परिप्रेक्ष्य में ही सिद्धान्त सन्निहित होता है न कि उसके ऊपर मण्डित। सर्वप्रथम ठोस प्रारम्भिक बिन्दु यह है कि गाँधी एक पत्रकार के रूप में आतंकवादी प्रश्नकर्त्ता शब्दों के आदान प्रदान में तल्लीन है इसलिये वे एक समाचार पत्र के कार्यो-- लोकप्रिय भावना को समझना और वर्णित करना, पाठकों में अपेक्षित भावनाएँ पैदा करना निर्भय रूप से आलोचक होना-- पर एक कथन के साथ प्रारम्भ करते हैं। एक अर्थ में समाचार पत्र और उसके पाठकों के मध्य का सम्बन्ध नेतृत्व के साथ मानव संचार की किसी भी व्यवस्था में अन्तर्निहित होता है। हम देख सकते हैं कि यहाँ गाँधी एक सामाजिक सम्बन्ध के तत्वों से स्वतन्त्र एक सत्य के निकष की पूर्वधारणा प्रस्तुत करते हैं। जो एक समाज इतर मापदण्ड तलाशने की आवश्यकता की ओर संकेत करता है। नेता और जनसाधारण दोनों ही समान रूप से समाज से बाहर एक सत्य के केन्द्र के विषय हैं, जो समान रूप से उसका (सत्य) अनुगमन और पालन करने के लिये कर्तव्यबद्ध है। इस तरह स्वराजवादी सामाजिक व्यवस्था के मूल में एक अतीन्द्रिय स्रोत की सूचना मिलती है।

पुनश्च हम देखते हैं कि दादा भाई नौरोजी से आगे चलते हुये राष्ट्रीय आन्दोलन में निहित पीढ़ियों के मध्य सम्बन्ध एक समान रूपी समुचित अन्तर्सम्बन्धता का अन्तर्निहित नियम समेटे हुये है। यहाँ पर गाँधी जैसा कि पीढ़ियों की अन्तर्सम्बन्धीय पीढ़ियों में दृष्टिगोचर है सामाजिक निरन्तरता के नियम पर बल देते हैं, परन्तु यह न तो एक आधुनिक पीढ़ी अन्तर और न ही एक पारम्परिक यांत्रिक तथा अनुकर्तावादी स्वीकृति पर आधारित है। जैसा गाँधी कहते हैं कि यदि हमारी अन्तरात्मा हमें ऐसा करने के लिये कहती है तो हमें आदरपूर्वक अपने बुजुर्गो के संग असहमत होना चाहिये। इस प्रकार हम समाज के लिये समाज इतर प्रत्ययाधार के साथ एक परिवर्तनशील किन्तु निरन्तरता युक्त समाज की एक अवधारणा को सम्मिश्रित हुआ पाते हैं। बीज और वृक्ष की सावयवी छवि के द्वारा सामाजिक संरचना की निरन्तरता के सावयवी गुण को उभारा गया है।

आगे, इस अपने समाज को गाँधी किसी संकीर्ण जातीय- राष्ट्रवादी ढाँचे से विलग करते हुये यह तर्क देते है कि *(१) "......... जो नियम भारतीयों के लिये सही है वह नियम अंग्रजों के लिये भी," (२) यह कि "........ हम जो न्याय खोजते हैं हमें दूसरों के साथ भी न्याय करना है......"*।[३६] फिर भी गाँधी यह मानते हैं कि एक अजनबी को अपने में से एक

जैसा स्वीकार करना एक अजनबी के साथ न्याय करने के समान है। पुन: गाँधी एक राष्ट्र रूपी सामाजिक व्यवस्था तथा आन्तर-राष्ट्रीय सामाजिक व्यवस्था में भेद करते हैं। यह परवर्ती ज्यादा प्राकृतिक और स्वत: स्फूर्त रूप से पनपता है जबकि, *"........... राष्ट्र एक दिन मे निर्मित नही होते; उनके निर्माण में बरसो लगते हैं.........'*।[३७] बंगाल के विभाजन को लेकर भारत में राजनैतिक असंतोष को राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया के एक भाग के रूप में देखा गया है।

गाँधी एक अन्य सिद्धान्त को प्रस्तुत करते है जिसे सामाजिक सम्बल और संचेतना का सिद्धान्त कहा जा सकता है। यह उनके इस वर्णन में कि इंग्लैण्ड ने भारत में किस प्रकार अपना आधिपत्य कायम किया और उसे बनाये रखा, से प्रकट होता है। इसमें वह यह बताते हैं कि भारत कैसे इंग्लैण्ड से पराजित हुआ। उनका व्याख्या बिन्दु यह है कि ये इंग्लैण्ड की शक्ति नहीं बल्कि भारत की दुर्बलता है, जो भारत पर विजय और दासता के लिये उत्तरदायी है। यह निर्बलता भारत के नेतृत्व और कुलीनों में स्थित है, जो दुकानदारों के राष्ट्र इंग्लैण्ड के द्वारा उनके सम्मुख वैभव और पैसे के मोह को रखने के कारण भ्रष्ट किये जा चुके हैं। सरल भाषा में कहा जाय तो उन्होने सभ्यता के अंग्रेजी विषाणुओं द्वारा ग्रसित होकर अपने देश को गिरवी कर दिया है। एक राष्ट्रवादी समाज के रूप में उन्होने अपनी शक्ति-ईश्वर, धर्म, नैतिकता, सत्य का परित्याग कर दिया।[३८] गाँधी इस बल को मूर्त रूप से भारत के कृषकों, उनके सरल ग्रामीण जीवन, उनकी आस्तिकता, उनकी नैतिकता, एक ग्रामीण सामुदायिक व्यवस्था और प्रकार्यात्मक-व्यावसायिक जातियों (जो आपस में एक दूसरे से गैर प्रतिस्पर्धा में होती हैं) की सामाजिक व्यवस्था से सम्पृक्त करते हैं। यह सामाजिक बल अधिकांश भारत में अभी भी मजबूत बना हुआ है परन्तु कुलीन जनों तथा नेतृत्व ने इस सामाजिक बल को सक्रिय होने से रोका है। वास्तव में देखा जाय तो, भारतीय कृषकों के अद्वितीय नैतिक आध्यात्मिक बल के आधार पर ही गाँधी अपने जनान्दोलन की प्रविधियों-सत्याग्रह और असहयोग को आधृत करते है।

अपने रेलगाड़ियों से सम्बद्ध आलोचना में गाँधी एक ऐसे समाज की परिकल्पना करते हैं जो स्थानीय रूप से अभिमुखीकृत हो एवं भौतिक रूप से अचल हो। संचार में गति अच्छाई से ज्यादा बुराई फैलाती है।[३९] यदि मनुष्य अच्छाई और बुराई का सम्मिश्रण है तो रेलगाड़ी *"मनुष्य की पाप प्रवृत्ति की अभिवृद्धि करती है।"*[४०] लोगों का एकीकरण करने की अपेक्षा रेलवे द्वारा प्रदत्त सचलता ने लोगों को उनके सन्दर्भों से बेदखल कर दिया है। रेलगाड़ियाँ विभेदक दृष्टि जनित द्वन्द्वों का कारण है। साम्प्रदायिक संघर्ष, कुलीन और नेतृत्व के स्तर पर उठते है न कि जनसमुदायों के स्तर पर, जो महज पूर्ववर्ती द्वारा चतुराई से अभिनियंत्रित किये जाते हैं। वकालती पेशे की गाँधी की आलोचना यह मानती है कि तीसरी पार्टी के अजनबियों से बने हुये न्यायालयों में अपील को शामिल कर विदित व्यवस्था में भारत के सामाजिक ढाँचे को क्षीण किया गया है। निर्वैयक्तिक अजनबी आधारित आधुनिक न्यायपालिका को अस्वीकृत करते हुये गाँधी एक ऐसे आदर्श सामाजिक प्रारूप की बात करते हैं जिसमें द्वन्द्व निवारण का आधार वैयक्तिक सम्बन्ध तथा अनौपचारिक अन्तर्क्रियाएँ है।[४१] डाक्टरों की उनकी आलोचना इस केन्द्रीय तर्क पर आधारित है कि डॉक्टर शरीर की रक्षा नहीं करते बल्कि, लाभ के लिये वह उसकी कमजोरियों को शोषण करते है तथा इस प्रक्रिया में मरीजों के मन और आत्मा को नष्ट कर देते है।[४२]

हिन्द स्वराज के तेरहवें अध्याय में गाँधी अपने आदर्श समाज का रेखाचित्र जिसे वह *"वास्तविक सभ्यता"* कहते है को परिभाषित करते समय प्रस्तुत करते है। परन्तु यह परिभाषा उनके पूर्व तर्कों और सूत्रों में सन्निहित है और वे तार्किकत: आदर्श सामाजिक व्यवस्था तक ले जाते है। इसका निहितार्थ एक ऐसा समाज है जिसे बहुत धीमी गति से और केवल लम्बे परीक्षण के बाद ही बदला जा सके। ऐसा समाज नैतिक कर्त्तव्य पर न कि व्यक्तिगत अधिकारों पर आधारित है। यह सीमित इच्छाओ तथा सरल संतुष्टि के नियम पर आधारित है। यह गैर-प्रतिस्पर्धी हाथों और पैरों के उपयोग को प्राथमिकता देता है, उसे पापी नगरों को त्यज कर छोटे ग्रामों में फलना-फूलना चाहिये। सामान्य लोग कृषकों के रूप में रहते हैं यह ईश्वर में एक आस्था पर आधारित है, यह अहिंसा के सिद्धान्त और आत्मा के नैतिक बल को स्वीकार करता है। इस समाज के आदर्श सदस्यों को आत्मानुशासन एवं आत्मनियन्त्रण प्राप्त करने में सफल होना चाहिये। ऐसे व्यक्ति भय मुक्त और स्वभावत: नैतिक और सामाजिक होते हैं। संक्षेप में यह एक ऐसा समाज है जहाँ ज्यादातर समस्याओं को गैर प्रतियोगी छोटे गाँवों में निवास करते सामाजिक समूहों तथा छोटी जनसंख्याओं के रूप में एकत्रित स्व-अनुशासित कत्तर्व्यबोधी व्यक्तियों के अनौपचारिक तथा अन्तर्वेयक्तिक अन्तर्क्रिया के पदों में सुलझाया और यहाँ तक कि निरूपित भी किया जाता है। ऐसी सामाजिक व्यवस्था एक सरल तकनीक तथा एक सामान्यत: बन्द अर्थव्यवस्था उत्पादित करती है। इस आदर्श में निहित राष्ट्रीय समाज विकेन्द्रीकृत राजनैतिक शक्ति का गुण लिये हुये एक ढीली अर्थव्यवस्था है। ऐसे समाज को एक ऐसा राज्य चाहिये जो अनिवार्यत: विकेन्द्रीकृत, अत्यन्त सीमित एवं निषेधात्मक हो। यह स्पष्ट है कि गाँधीवादी ढाँचे में समाज अथवा समुदाय राज्य के ऊपर है। गाँधी शुद्ध अर्थ में एक अराजकतावादी नहीं है और मिल की भाँति वह न्यून और निषेधी राज्य के पक्ष में खड़े होते हैं।

खण्ड (ग) मूल्यांकन

व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्ध को आधुनिक वैज्ञानिक जीवन दृष्टि के अभ्युदय से अनुप्राणित पाश्चात्य मतों के सन्दर्भ में देखने का हमारा लक्ष्यार्थ गीता और गाँधी की उपरोक्त अवधारणाओं को आज के मानव और उसके बाह्य जगत के अन्तर्सम्बन्ध की समस्या के समाधान से समेकित करके देखना है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि *'खण्डित सम्पूर्णता'* की दृष्टि मानव और बाह्य जगत के साथ उसके सम्बन्ध को जिन दो विपरीत एकांगी मतों में विभक्त कर देती है, उसमें एक मत व्यक्ति को प्रधान मानकर समाज को द्वितीयक तत्व के रूप में विघटित करता है, जबकि दूसरा समाज का पोषण कर व्यक्ति को पूर्णत: समाप्त कर देता है। समाज की यह व्यक्तिवादी और समाजवादी अवधारणा सैद्धान्तिक दृष्टि से एक उच्चतर ध्येय का आभास देती दिखाई पड़ती है, किन्तु व्यावहारिकता के धरातल पर कहीं न कहीं ये एक दूसरे का दमन करती हैं। आगे मानवीय स्वत्व तथा समाज से उसके अंतर्सम्बन्ध को प्रस्तावित करते सभी पाश्चात्य मतों की गुण दोष विवेचना से स्पष्ट होता है कि मानव को जैवीय, मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्रीय रूप से नियत निर्धारित प्राणी से अधिक माना जाना चाहिये।

गीता में लोक या समाज अवधारणा मात्र नहीं है यह कर्मक्षेत्र है। यहाँ एकांगिता कहीं भी स्वीकृत नहीं की गई है वह उसी को मानती है, जो सम्पूर्ण हो समग्र हो। गीता के लिये समाज के विभिन्न निहितार्थ हैं, समाज अधिष्ठान बनकर विराट

पुरूष (ब्रह्माण्ड की पुरूषात्मक अवधारणा) में स्तर बनता है। ये सब अधिष्ठान में एक दूसरे से जुड़े हुये हैं, इनमें अन्तर नहीं है। वेदान्त के आदर्श से अनुप्राणित होकर व्यक्ति और समाज में तादात्म्य अनुभूति को कायम करना ही संक्षेप में गीता का समाज दर्शन है। इसीलिये गीता ऋग्वेद कथित समाज-पुरूष की कल्पना को अक्षरशः स्वीकृत करती है। इतना ही नहीं वह लौकिक क्रिया व्यवहार-कर्म और कर्म-परित्याग के उपनिषदीय आंदर्श के अवरोध का परिष्कार दायित्वबोध से युक्त असंलग्नकर्मिता के आदर्श से करती है। इसी प्रकार गीता के लिये समाज का दूसरा निहितार्थ है समाज में रहने वाले प्राणी। ये लोक व्यवहार के नियन्त्रक हैं। अतः 'लोक' एक ओर जहाँ क्रिया का आश्रय होने के कारण स्थित है वहीं दूसरी ओर साक्षात् क्रिया है। इस कथन का यह अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि गीता अदृष्ट या लोकोत्तर की भूमिका को व्यक्ति के जीवन में नगण्य करने का प्रयास करती है, बल्कि गीता की तो परम सत्ता भी स्वयं निष्काम कर्म के उसके भागवत सिद्धान्त के अनुसार निरन्तर कार्यरत है, उसका समाज भी लोकसंग्रह को प्रोत्साहित करने के लिये सक्रिय कर्मी बन जाता है। उदाहरणार्थ श्रीकृष्ण जैसे अलौकिक चरित्र में भी आग्रह है कि मुझे लोकयात्रा पूरी करनी है यदि मैं न करूँ तो लोक नष्ट हो जाय। लोकसंग्रह के पथ पर ज्ञानी से ज्ञानी, विदेह से विदेह को अपने लिये नहीं समाज के लिये चलना पड़ता है। जीवन की सार्थकता इसी में है।

गीता के इन्हीं विचारों का प्रस्फुटन हमे गाँधी के विचारों में दिखाई देता है। गाँधी के लिये मानव जीवन का लक्ष्य आत्मसाक्षात्कार है, आत्मोत्कर्ष है। दूसरे शब्दों में, गाँधी के लिये जीवन की सार्थकता का तात्पर्य है स्वत्व का वास्तविक ज्ञान। निश्चय ही इसमें एक रूपान्तरण क्रिया भाव अन्तर्निहित है जिसका सम्बन्ध सृजन तथा साकारता भी है। यहीं पर गाँधी का समाज एवं व्यक्ति का अन्तर्सम्बन्धात्मक स्वरूप स्पष्ट होता है, उनके लिये सही अर्थों में मानव होने का अर्थ इहलौकिकता में विलयन नहीं अपितु अतीन्द्रियवादी स्वतन्त्रता के नियमानुसार उसको पुर्नाकार, पुनः सृजित और रूपान्तरित करना है। निश्चित तौर पर यह अतीन्द्रियवादी दृष्टिकोण है लेकिन गीता की भाँति यहाँ भी लौकिक जगत में ही जीवनार्थ खोजने की आवश्यकता पर बल दिया गया है। गीता से मतैक्य रखते हुए यह एक *'सावयविक दृष्टि'* प्रक्षेपित करता है जिसका आधार अस्तित्व की अनिवार्य एकता में निहित है।

गीता और गाँधी की मानव प्रकृति की अवधारणा निश्चित तौर पर मानव सम्बन्धों का निर्धारण करती है। चूंकि, दोनों के लिये तात्विक रूप से मनुष्य एक आध्यात्मिक प्राणी है। अतः अन्य लोगों के साथ वह अपने सम्बन्ध को दैवीय बनाने का प्रयास करता है। दोनों ही मानव स्वभाव के प्रति आशावादी दृष्टिकोण रखते है, किन्तु मानव के आसुरी गुणों तथा पशु प्रवृत्ति के प्रति उनका अनभिज्ञता का दृष्टिकोण नहीं है। समाजशास्त्र का यह नियम है जिस समाज में, किधर जाना है और किधर से हटना है; इसका स्पष्ट आदर्श सामने होता है, वहाँ समाज एक उद्देश्य से प्रेरित होकर आगे बढ़ता है। आसुरी गुणों का संक्षेप में वर्णन करते हुये गीता ने जो दृष्टि दी, वह उसके समाज दर्शन को बहुत अधिक स्फुट कर देती है। आधुनिक औद्योगीकृत समाज रचना में यदि चातुर्वर्ण्य का सिद्धान्त ज्ञानाभाव के कारण असम्भव होने से त्याज्य मान लिया जाय तो भी गीता का यह (दैवी-आसुरी) विभाजन सर्वदा मान्य रहेगा। दैवी सम्पद् एवं आसुरी सम्पद् के विभाजन में वासुदेव कृष्ण

का स्पष्ट उद्देश्य यही है कि समाज निर्माण ऐसा होना चाहिये जिसमें व्यक्ति परमेश्वर की तरफ जाय, व्यक्तिगत स्वार्थों के द्वारा राग द्वेष की तरफ नहीं। अत: निश्चित तौर पर समाज रचना का उद्देश्य परमात्मा प्राप्ति है, भोगों का अभिवर्द्धन नहीं। आसुरी प्रवृत्ति के सर्वप्रथम लक्षण को बताते हुए गीता कहती है कि वह संसार की उन्नति के कारण रूप से जो प्रवृत्तियाँ है न उन्ही को जानता है एवं न संसार बंधन से निवृत्त होने वाली जिन चीजों का परित्याग किया जाय, उनको ही ठीक प्रकार से जानता है।

आसुरी प्रवृत्ति के समाज में शरीर और मन की शुद्धता का अभाव भी रहता है। शुद्धि एक ऐसा तत्व है जिसका मन से जितना घनिष्ट सम्बन्ध है उतना ही बाह्य आचार से। शुद्धि का आचार हमें प्रत्येक समाज की सीमाओं के अन्तर्गत व्याख्यायित करना पड़ता है। गीताकार जिस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति का आदर्श समाज में स्पष्ट करना स्वीकृत करते है, वैसे ही इन आदर्शों को। सम्भवत: विश्व के सभी समाजशास्त्री इस विषय में गीता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। लेकिन गीता इससे आगे बढ़कर समाज के सामने सत्य का आदर्श रखती है। सत्य के तात्पर्य है कि समाज में दो आदर्शों का निर्माण नहीं होना चाहिये। प्राय: बलवानों का सामाजिक आदर्श निर्बलों के सामाजिक आदर्श से भिन्न होता है। गीताकार इस प्रकार के भेद को समाज के लिये घृणित मानते हैं। इससे सर्वथा विपरीत संघर्षमय वातावरण में पले *हेगेल* शिवतत्व (Absolute) में भी संघर्ष का ही दर्शन करते हैं एवं तत्प्रसूत मार्क्स तो अर्थ संघर्ष को ही समाज का सूत्र मानता है। गीता का आध्यात्मिक समानता का योगमयी आदर्श न केवल व्यक्ति और व्यक्ति बल्कि व्यक्ति और ईश्वर के मध्य किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार को अस्वीकृत करता है। श्रीकृष्ण का इस सन्दर्भ में स्पष्ट मत है कि विशेषाधिकार युक्त संघर्षमय समाज में न व्यक्ति उन्नत हो सकता और न समाज। उन्नति का तात्पर्य यहाॅ पर कुछ भौतिक सुविधाओं की बढ़ोत्तरी नहीं है, वरन् आन्तरिक शान्ति के साथ समष्टिगत एकात्मकता अनुभव करना है। संघर्ष द्वैत को बढ़ता है अद्वैत को नहीं। गीताकार इसीलिये इसको *'असत्यं अप्रतिष्ठम्'* कहते हैं अर्थात् ऐसा समाज कभी भी प्रतिष्ठित (प्रति-स्थित) नहीं हो पाता।

गाँधी का समाज का सिद्धान्त भी सृजनशीलता और सहयोग की मूलभूत मानव प्रकृति के साथ प्रारम्भ होता है। इतिहास के प्रारम्भिक चरणों में मनुष्य एक प्राकृतिक और सहकारी जीवन व्यतीत करने में सफल था। सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य ने स्वयं को द्वन्द्व मे फँसा पाया और वह प्रतिस्पर्धी मानदण्डों, हितों तथा वर्गों के मध्य एक सामान्यीकृत सामाजिक व्यवस्था के मूल्यों का शिकार बन गया। गाँधी की चिन्ता मनुष्य के मूलभूत प्रकृति को पुन: बनाये रखने की है। उनका दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य संतुलित अर्थात् सृजनशील और सहयोगी प्रवृत्ति का है तथा उसकी प्रकृति आत्मनिर्भरशील और सामुदायिकता की भावना से ओत-प्रोत है। इसीलिये गाँधी एक सामान्य समाज की पुरजोर वकालत करते हैं।

गाँधी के समाज का अन्त: स्थल नैतिकता है। उनका सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि समाज को नैतिक होना ही चाहिये। *कार्ल मार्क्स* के विपरीत जो सामाजिक संचेतना की बात करते हैं, गाँधी गीता के समतुल्य *'आध्यात्मिक संचेतना'* के पक्षधर हैं। गुणात्मक रूप से उनका समाज एक आध्यात्मिक सामाजिक प्रणाली है। हम इस तथ्य से इंकार नहीं कर सकते कि एक आदर्श समाज की गाँधी की अपनी अवधारणा उस यथार्थ से उत्पन्न हुई जिसको उन्होंने अनुभव किया और जिसमें

वे जिये। उन्होंने उपनिवेशवादी प्रभुत्व की निशृंसताओं को देखा और भारतीयों के पिछड़ेपन का भी उन्हें भान था। परन्तु, साथ ही जनमानस के मध्य एकता हासिल करने के लिये बन्धुत्व सूत्रों को विकसित करने के प्रति भी सचेत थे। हिन्द स्वराज में प्रस्तुत होते मानव और समाज के विभिन्न अन्तर्सम्बन्धात्मक स्वरूप यह स्पष्ट करते हैं कि गाँधी भेदमूलक समाज के नितान्त विरोधी हैं। उनके लिये जो नियम भारतीयों के लिये मान्य है वहीं अंग्रेजों के लिये भी।

'हिन्द स्वराज' में प्रस्तुत विभिन्न आलोचनाएँ गाँधी के आदर्श समाज को निरूपित करने में सहायक आधार बनती है। इन आलोचनाओ में निहित भावों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि गाँधी के लिये समाज का आधार नैतिकता पर आश्रित है। अपनी रेलगाड़ियों की आलोचना द्वारा गाँधी ऐसे समाज को प्रकल्पित करते हैं जहाँ सचलता के द्वारा मानव अपने सन्दर्भों से कट कर नहीं, अपितु स्थानीय रूप से अभिमुखीकृत हो। वकालत के पेशे की आलोचना का आधार एक ऐसे समाज में उनका विश्वास है जहाँ ज्यादातर समस्याओं को गैर-प्रतियोगी छोटे गाँवों में निवास करते सामाजिक समूहों तथा छोटी जनसंख्याओं के रूप में एकत्रित स्वअनुशासित कर्त्तव्यबोधी व्यक्तियों के अनौपचारिक तथा अन्तर्वैयत्तिक अन्तर्क्रिया के पदों में सुलझाया जाता है। निष्कर्षत: गाँधी प्रकल्पित समाज व्यक्तिगत अधिकारों नहीं बल्कि नैतिक कर्त्तव्य की चेतना से युक्त मनुष्यों पर आधारित है। यह सीमित इच्छाओं तथा सरल संतुष्टि पर स्थित गैर-प्रतिस्पर्धी छोटे-छोटे ग्रामों में विभक्त विकेन्द्रित मानव समाज है।

आदर्श समाज का उपरोक्त प्रस्तुत वर्णन साधनों की शुचिता को इंगित करता है। गीता की सामाजिक कर्मिता का योगमय उपकरण साधन और साध्यों के संयोजन पर आधारित माना जायेगा। मात्र एक निर्लिप्त मन: स्थिति व्यक्ति के आध्यात्मिक पूर्णता का चिन्ह नहीं है। निर्लिप्त दृष्टिकोण (मन: स्थिति) नि:स्वार्थ कर्म के द्वारा संतुलित होने पर ही योग तुल्य है। कर्म के साधन उसके साध्य के समान ही महत्वपूर्ण हैं और निर्लिप्त साधन ही व्यक्ति के निष्काम तर्क को विशुद्ध करता है।

गाँधी की साध्य-साधन व्यवस्था ऐतिहासिक और सांस्कृतिक उत्तोलकों को सन्निविष्ट करती है जिसके द्वारा आदर्शों को विजित किया जा सके या विजित करने के बाद बनाये रखा जा सके। सत्याग्रह, अपरिग्रह और अहिंसा तथा जीवन के नैतिक मुहावरे समाज के गाँधीवादी प्रारूप के निरूपित साध्यों को प्राप्त करने के लिये 'रणनीतियों' के रूप में कार्य करते हैं।

पाद-टिप्पणी संदर्भ

१- सुबोध स्वत्वों का सिद्धान्त प्लेटो के प्रत्यय के सिद्धांत की एक पुनर्व्याख्या मानी जा सकती है। स्वत्व वह आकार है जो पदार्थ में सन्निहित होकर प्रत्येक प्राणी को उसकी विशिष्ट पहचान देता है।

२- इस विषय की एक अत्यंत सुंदर संक्षिप्त विवेचना के लिये देखें, अल्बर्ट ओ० हिर्समान-दि पैशन्स एण्ड दि इन्टरेस्ट्स : पॉलिटिकल आरग्यूमेन्ट्स फॉर कैपिटलिज़्म बिफोर इट्स ट्रायम्फ (प्रिंसटन : प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, १९७८)

३- वुड, इलेन मिक्सिन्स : माइंड एण्ड पॉलिटिक्स - एन एप्रोच टू मीनिंग ऑफ लिबरल एण्ड सोशालिष्ट इन्डिविडुएलिज्म (बर्कले : यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, १९७२), पृ० १११

४- देखें, टेलर, चार्ल्स - "दि कान्सेप्ट ऑफ ए पर्सन", बी०एन०गांगुली मेमोरियल व्याख्यान, सेटंर फार दि स्टडी ऑफ डेवेल्पिंग सोसाइटीज, दिल्ली, मार्च १९८१, तृतीय व्याख्यान, टाइपस्क्रिप्ट

५- ड्वीवी जॉन : इन्डिविडुएलिज्म - ओल्ड एण्ड न्यू (न्यू मार्क : कैपरिकार्न बुक्स, १९६२), पृ० ११२

६- रोज़ेक, ज़ोजेफ : पर्सन प्लेनेट - दि क्रिएटिव डिसइन्टीग्रेसन ऑफ इनड्स्ट्रीयल सोसाइटी (लंदन : विक्टर गोलानेज़ लि०, १९७९), पृ०XXVII

७- टेलर, चार्ल्स : हीगेल एण्ड माडर्न सोसाइटी (कैम्ब्रिज : कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९७९), पृ० १०६

८- फेल, जोसेफ़ पी० : हीडेगर एण्ड सार्त्र - एन ऐसे ऑन बीइंग एण्ड प्लेस (न्यूयार्क : कोलम्बिया यूनिवर्सिटी प्रेस, १९७९), पृ०८

९- देखे ; टेलर, चार्ल्स : दि कन्सेप्ट ऑफ ए पर्सन, बी० एन गांगुली मेमोरियल व्याख्यान, सेंटर फॉर दि स्टडी ऑफ डेवलेपिंग सोसाइटीज, दिल्ली, १९८१

१०- यह उस चीज की स्थापना करते हैं, जिसे एरिक एच० एरिक्सन 'उपगुणसूत्रीय जीवन-चक्र' (epigenetic life cycle) कहते हैं। इसके संक्षिप्त किन्तु सटीक विवेचना के लिये देखें उनकी, चाइल्ड हुड एण्ड सोसायटी (ट्रायड पालाडीन, १९७७), पृ०२२२-२४७

११- आत्मयथार्थीकरण सिद्धान्त के दो प्रकारों की एक आलोचनात्मक परीक्षण के लिये देखें लियोनार्ड गेलर-"दि फेलियर ऑफ सेल्फ एक्च्यूलाइजेशन थ्योरी- ए क्रिटीक ऑफ कार्ल रॉजर्स एण्ड अब्राहम मास्लो", जर्नल ऑफ ह्यूमिनिस्टिक साइकोलॉजी,२२,२ (शरद, १९८२), पृ० ५६-७३ एरिक फ्रॉम की विलक्षण समालोचना के लिये विशेषरूप से देखें जॉन, एच० स्कार- स्केप फ्रॉम अथॉरिटी : दि पर्सपेक्टिव्स ऑफ एरिक फ्रॉम (न्यूयार्क : दि बेसिक बुक्स, १९६१)

१२- यह उल्लेखनीय है कि मास्लो और फ्रॉम दोनों यह मानते हैं कि व्यक्ति के अपने 'संभवन' (Becoming) की ओर प्रगति उनकी सुरक्षा आवश्यकता की पूर्ति के बाद ही संभव है। यह इस संशय को बलिष्ठ करता है कि मानव कल्याण हेतु एक प्रचुरता का आयाम उनके लिये विद्यमान नहीं है।

१३- श्री अरविन्द : ऐसेज ऑन दि गीता, पृ० ३७२

१४- राजगोपालाचारी, चक्रवर्ती : उपनिषद्स, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६३, पृ० २०

१५- स्वामी रंगनाथानन्द : इटर्नल वैल्यूज फॉर ए चेन्जिंग सोसायटी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९७१, पृ० ४७९

१६- ब्रुक्स, एफ० टी० : दि गास्पेल ऑफ लाइफ, खण्ड - एक, व्यासाश्रम, आड्यार, मद्रास, १९१०, पृ० ७४

१७- श्विट्जर, अल्बर्ट : इण्डियन थॉट्स एण्ड इट्स डैवलपमेन्ट, विल्को पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९८०, पृ० १८८

१८- पंञ्चानन्दिकर, के०सी० : डिटर्मिनेन्ट्स ऑफ सोशल स्ट्रक्चर एण्ड सोशल चेन्ज इन इण्डिया, पापुलर प्रकाशन, बम्बई, १९७०, पृ०६६

१९- मुखर्जी, के०पी० : दि स्टेट, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, मद्रास, १९५२, पृ० ७६

२०- मुखर्जी, राधाकुमुद : हिन्दू संस्कृति मे राष्ट्रवाद, एस० चन्द & कम्पनी, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, १९६७, पृ० १०१

२१- वही, पृ० २१७

२२- मुखर्जी के० पी० : दि स्टेट, पृ० १४९

२३- दासगुप्ता, सुरेन्द्रनाथ : भारतीय दर्शन का एक इतिहास, खण्ड - २, पृ०- ४४७

२४- पण्डित एम० पी० : दर्शन शास्त्र के संस्थापक, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली, १९७५, पृ० १८

२५- बाह्म, ए०जे० : दि भगवद्गीता ऑर दि विस्डम ऑफ कृष्णा, सुमैया पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, बम्बई, १९७० पृ०१३

२६- बाउज़, प्रतिमा : हिन्दू इन्टलैक्च्युल ट्रैडिशन, एलाइड पब्लिशर्स प्रा० लि०, नई दिल्ली, १९७७, पृ० ३६

२७- दाण्डेकर, आर०एन० : इनसाइट्स इन टू हिन्दूइज़्म, अजन्ता पब्लिकेशन, नई दिल्ली, १९७९ पृ० २००

२८- स्वामी चिद्भवानन्द : दि भगवद्गीता, तपोवनन पब्लिशिंग हाउस, तिरूप्पराईत्तुरई, १९६७, पृ० २९३

२९- स्वामी रंगनाथानन्द : इटर्नल वैल्यूज फॉर ए चेन्जिंग सोसायटी, पृ० ६७०

३०- राधाकृष्णन एस० : ईस्टर्न रिलिजन एण्ड वेस्टर्न थॉट, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, १९४०, पृ० ३५६

३१- पी० नागराज राव : समकालीन भारतीय दर्शन, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९७०, पृ०१

३२- वेंकटरमन, के० : नागार्जुनंस फिलॉसफी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७८, पृ० १००

३३- मेरीटेन, जेकस : चैलेन्जेस एण्ड रिन्यूवल्स - सेलेक्टेड रीडिंग्स, सम्पादक जोज़फ डब्लू ईवान्स और लियो आर० वार्ड, यूनिवर्सिटी ऑफ नाट्रेडैम प्रेस, नाट्रेडैम, १९६६, पृ० २९२

३४- क्लेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी- खण्ड ३५, पृ० १७४

३५- प्यारेलाल : महात्मा गाँधी-दि लास्ट फेज़, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९५६, खण्ड-२, पृ० ५८०-८१

३६- गाँधी : 'हिन्द स्वराज', नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९६२, पृ०२३

३७- वही, पृ० ३०

३८- गाँधी : 'हिन्द स्वराज', अध्याय-७, पृ० ३८-४१

३९- वही, अध्याय-९, पृ० ४४-४७

४०- वही, पृ० ४५

४१- वही, अध्याय-१३, पृ० ६१-६३

४२- वही, पृ० ५९

चतुर्थ अध्याय

सामाजिक व्यवस्था - वर्णाश्रम धर्म

समाज की विविध संस्थाओं का विश्लेषण करने वाले विचारक अब यह मानने लगे हैं कि कुछ अत्यन्त ही पिछड़े हुए आदिम समाजों को छोड़ कर अन्य सभी समाजों में, चाहे वे कितने ही नये या पुराने क्यों न हो, समाज का श्रेणी-विभाजन सदैव रहा है।[१] इस विभाजन के सन्दर्भ में *स्मॉल* का मानना है कि *'विश्व के हर समाज में अपने आपको अनेक श्रेणियों में (विशेषकर, सम्पत्ति, सुख और सुविधा की दृष्टि से ऊँचे, नीचे और मध्यम तीन श्रेणियों के रूप में) विभक्त कर देने की तथा उन्हें जातियों की भाँति रूढ़ बना देने की स्वाभाविक प्रवृत्ति पायी जाती है।'*[२] उनका कहना है कि जब किसी समाज में धन, अधिकार और सत्ता की दृष्टि से सम्पन्न वर्ग की स्थापना हो जाती है, तब वह इस प्रकार के हर सम्भव उपाय करने लग जाता है कि रूढ़ हो जाने वाले सामाजिक अन्तर बने रहें ताकि उनकी अपनी स्थिति पर किसी भी प्रकार की आँच न आने पाये। इसका परिणाम यह होता है कि एक बार रूढ़ हो जाने पर भेद और असमानता का क्रम दीर्घकाल तक चलता ही नहीं, वरन् कालान्तर में वह और भी प्रखर हो जाता है।[३]

समाज का श्रेणी-विभाजन एक ऐसी वस्तु है जिससे शायद बचा नहीं जा सकता। अमेरिकी समाज विज्ञान शोध परिषद् के तत्वाधान में *ईवा रोज़ेनफेल्ड* ने उस समाज का; जो मूलत: वर्ग-विहीनता को अपना आधार बना कर चला था, जिसमें मात्र चालीस वर्षों के संक्षिप्त इतिहास के भीतर ही नाना प्रकार के वर्गों की सृष्टि हो गई थी, जो अध्ययन प्रस्तुत किया था वह तो कम से कम यही प्रमाणित करता है।[४] अत: किसी न किसी रूप में श्रेणी-विभाजन का हो जाना हर समाज के लिये अनिवार्य ही है। साथ ही, यदि प्रकृति प्रदत्त गुणों, बुद्धिमत्ता, मूलभूत क्षमताओं, निजी प्रतिभा, अपनी मन:स्थिति और व्यक्तित्व सम्बन्धी विशेषताओं की दृष्टि से हर मनुष्य दूसरों से भिन्न होता है, तो स्वाभाविक ही है कि सामाजिक जीवन में तथा सामाजिक सम्बन्धों की छत्र-छाया में ऐसे अलग-अलग समूहों का गठन होता ही चला जाये जिनके सदस्यों में आपस में अपनी रुचियों, व्यवसायों, निजी राग-द्वेषों और सामाजिक हैसियतों इत्यादि की दृष्टि से समानता का तत्व विद्यमान पाया जाता हो।[५]

रुचियों और विचारों की समानता के अतिरिक्त एक अन्य तत्व जो लोगों को एकता के सूत्र में बाँधता है और जिसकी सामाजिक उपयोगिता भी कम नहीं है, यह है कि यदि मनुष्य अपने ही व्यवसाय में लगे लोगों के साहचर्य में रह कर काम सीखता है तो उसे आसानी से सफलता मिलती है। वर्गों में सहयोग दिखायी देने के अनेक कारण हैं। एक वर्ग के व्यवसायों और तत्सम्बन्धी समस्याओं के समाधानों की एकता के कारण जहाँ एक ओर इसे बढ़ावा मिलता है, वहीं उनके अपने क्रिया-कलापों के माध्यम से प्रकट होने वाला तथा उनके मानस-पटल में निवास करने वाला बन्धनों की एकता का भाव भी उसे सींचता और पल्लवित बनाता है। साथ ही वर्गों में सहयोग का एक तत्व अन्य समूहों की तुलना में अपनी भिन्नता की अनुभूति भी है।

श्रेणीगत भेद भाव को जीवित रखने और निरन्तरता प्रदान करने वाली एक और शक्ति है, वह है पैतृक व्यवसाय को सन्ततियों को हस्तान्तरित करने की प्रणाली। यह मात्र स्वाभाविक ही नहीं है कि पिता अपने व्यवसाय को अपनी सन्तानों को

सौपे। वस्तुत: अनेक समाजो मे ऐसा किया जाना वांछनीय माना जाने लगता है। सत्य है कि पिता को अपने पेशे या व्यवसाय का दीर्घकालीन अनुभव होने के कारण उसकी सूक्ष्मातिसूक्ष्म बातों का, उसकी गूढ़ताओं का, उसके मार्ग में उपस्थित होने वाली कठिनाईयों एवं उनके समाधानों का पूरा ज्ञान रहता है इसलिये यदि सन्तानें चाहें तो वे बिना किसी विशेष प्रयत्न और कठिनाई के तथा बिना अपनी शक्तियों का अपव्यय किये ही अपने पैतृक ज्ञान और अनुभव का पूरा लाभ उठा सकती है। ऐसी स्थिति में, सामान्यतया स्वाभाविक होने के कारण यही वांछनीय भी होगा कि पैतृक पेशे और व्यवसाय का हस्तान्तरण पिता से पुत्र को होता चले, लेकिन यह अवश्य है कि ऐसा करना बिल्कुल ही अनिवार्य न कर दिया जाय।

सामाजिक मनोविज्ञान इस बात की पुष्टि ही करता है कि समाज कभी श्रेणी-विहीन हो ही नहीं सकता। *किंग्सले डेविस* और *डब्ल्यू. ई. मूर* सरीखे विद्वानों का ही कहना है कि सुचारू रूप से समाज के कार्य संचालन की आवश्यकता के दबाव में ही सामाजिक श्रेणियों का जन्म होता है। वे कहते हैं कि *''समाज के रचनाक्रम में अलग-अलग स्थानों पर व्यक्तियों को पदारूढ़ करने और उन्हें उन स्थानों पर प्रतिष्ठित बनाये रखने के निमित्त निरन्तर प्रेरणा देते रहने की मूलभूत आकांक्षा के प्रभाव में दुनिया के हर समाज में श्रेणी-विभाजन अनिवार्य ही बन जाता है।''*[६] स्वयं को चलायमान और स्थिर रखने के लिये तथा प्रगति के पथ पर अग्रसर होने के लिये हर समाज के लिये यह आवश्यक सा ही हो जाता है कि नाना प्रकार की भूमिकाओं को अदा करने वाले अपने समस्त सदस्यों को उनकी भूमिकाओं और सेवाओं के अनुरूप अलग-अलग श्रेणियों में बाँट दें और ऐसा करते समय उसके लिये यह और भी आवश्यक हो जाता है कि वह ऐसी रीति नीतियों की व्यवस्था भी करे कि हर व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुसार सही भूमिकाओं और पदों की ओर आकृष्ट किया जा सके। इसके साथ ही साथ उसके लिये यह भी आवश्यक है कि वह ऐसे उपाय भी सोचे जिनकी सहायता से यथोचित पदों पर प्रतिष्ठित हो जाने वाले लोगों को अपनी सृजनशीलता बनाये रखने तथा कार्यान्वित करने की प्रेरणा प्रदान की जा सके। *श्री डेविस* और *मूर* कहते हैं कि *''यह बात प्रतिस्पर्धात्मक और प्रतिस्पर्धा-विहीन दोनों ही प्रकार के समाजों पर समान रूप से लागू होती है। लेकिन प्रतिस्पर्धात्मक समाज में मनुष्य को निरन्तर संघर्ष करते रहना पड़ता है। इस समाज में अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने के लिये लोगों के मन में अन्यों के प्रति प्रतिस्पर्धा की भावना बलवती हो उठती है, जबकि प्रतिस्पर्धा-विहीन समाज के अन्तर्गत मनुष्य को अपनी स्थिति के अनुरूप पूर्ण-निष्ठा के साथ अपनी भूमिकाओं के परिपालन को विशेष महत्व मिलता है।''*[७]

श्रेणी-गत मनोविज्ञान की व्याख्या और उसका विश्लेषण करते समय *गिंसबर्ग* मनुष्य की अपनी मनोगत भावनाओं को ही अपने विश्लेषण का केन्द्रीय विषय बनाते हुये कहते हैं कि भावनाओं से हमारा अभिप्राय *''नाना प्रकार के ऐसे संवैगिक प्रवाह से या उक्त प्रवाहों के साथ जुड़ी पायी जाने वाली उन प्रवृत्तियों से होता है जो किसी सामान्य वस्तु या पदार्थ के प्रति हमारे मन में विद्यमान पायी जाती है।''* जो भावनाएँ समाज के श्रेणी-विभाजन के मूल में निवास करती हैं वे तीन प्रकार की होती हैं। उनमें से एक तो मनुष्य की *'औरों के साथ अपने एक जैसे-पन की चेतना'*[८] स्वयं ही है, जो अपने वर्ग के सदस्यों के आचार-विचार की एकता तथा अन्य वर्गों के सदस्यों की तुलना में उसकी भिन्नता के प्रभाव में उत्पन्न होती है जिसके प्रभाव से मनुष्य अपने वर्ग वालों के साथ बराबरी और तादात्म्य का अनुभव करने लगता है तथा उनके हित-विशेष को, उनके

विचारों और आदर्शो को तथा उनके जीवन के ध्येयों कों अपना ही बना लेता है। वह अनजाने ही उनकी श्रेणी में ऐसा घुल मिल जाता है मानों उसमें ही उसका जन्म हुआ हो। फलत: वह केवल उनके *साहचर्य में ही पूर्णता का अनुभव*[९] करता है। दूसरी, समाज के श्रृंखला क्रम में ऊँचे धरातल पर प्रतिष्ठित सामाजिक श्रेणियों के लोगों की तुलना में मनुष्य की स्वयं की *'हीनता'* की भावना है जो उनके साथ पायी जाने वाली निकटता या दूरी के आधार पर मनुष्य के मन में कम या अधिक मात्रा में अवश्य ही विद्यमान पायी जाती है। तीसरी भावना, समाज के रचनाक्रम में अपने से नीचे धरातल पर विद्यमान पायी जाने वाली सामाजिक श्रेणियों के लोगों के प्रति व्यक्ति के अपने मन में निवास करने वाली निजी *'श्रेष्ठता'* की भावना है, जो व्यक्ति की अपनी श्रेणी के साथ पायी जाने वाली अन्य श्रेणियों की निकटता और दूरी के अनुसार ही कम या अधिक होती है।[१०]

जाति-व्यवस्था के रूप में विद्यमान आज के सामाजिक वर्ग-विभाजन का आधार प्रथम को छोड़कर अन्य दो भावनाओं का सम्मिश्रत रूप है। इसके विपरीत वर्ण-व्यवस्था प्रथम भावना *'औरों के साथ अपने एक जैसे-पन की चेतना'* के सुदृढ़ आधार पर स्थित थी। यह वर्ग प्रतिष्ठा नहीं अपितु सामाजिक उपयोगिता के सिद्धान्त से ओत-प्रोत थी। वर्ण-व्यवस्था द्वारा होने वाले श्रेणी-विभाजन की कल्पना ही कुछ ऐसे रूप में की गई थी कि उसके अन्तर्गत कोई भी वर्ण अपने आपको अन्य वर्णों की तुलना में ऊँचा या नीचा मान ही नहीं सकता। वर्ण के आधार पर स्थान आवंटन उन्हें विशेषाधिकारों से विभूषित करने हेतु नहीं किया गया अपितु, सामाजिक दायित्वों के अंश विशेष अथवा पक्ष विशेष के निर्वाह की उनकी प्रवृत्तियों और क्षमताओं को दृष्टि में रख कर ऐसा किया गया है। जहाँ कहीं भी अधिक मात्रा में सुख सुविधा मिलती दिखाई देती है, उसका स्पष्ट अर्थ उनके लिये ऐसा पर्यावरण उपलब्ध बनाने की सोच है जिससे वे अपनी भूमिकाओं का निर्वाह और अच्छी प्रकार से कर सकें। उदाहरण के लिये हिन्दू विचारकों ने ब्राह्मण वर्ण से आशा की कि वे लोगों के बीच समाज की बौद्धिक एवं आध्यात्मिक संस्कृति का प्रसार करता रहेगा और उसके मानक स्वरूप को तनिक भी मलिन नहीं होने देगा। यही कारण है कि उन्हें कुछ शक्तियों और विशेषाधिकारों से विभूषित किया गया था जैसे अन्य वर्णों की तुलना में छोटी आयु में शिक्षा प्राप्त करना, अन्य वर्णों से आदर और सम्मान पाने का अधिकार इत्यादि। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य वर्णों की तुलना में उनकी स्थिति सुख-सुविधापूर्ण रही है क्योंकि उसके *'धर्मों' (कर्त्तव्यों और दायित्वों को परिभाषित करने वाले)* के स्वरूप का विचार यह सिद्ध करता है कि अन्य वर्णों की तुलना में उससे इस बात की आशा कहीं अधिक की गई थी कि वह समाज की स्थिरता और उसके सर्वतोमुखी, भौतिक एवं आध्यात्मिक कल्याण के पक्ष में अपने निजी स्वार्थ का विसर्जन कर देगा तथा उसके लिये हर प्रकार का बलिदान करने के लिये उद्यत रहेगा। इसी प्रकार दायित्वों से विमुख होने पर या उनकी अवहेलना करने पर, अन्य वर्णों की अपेक्षा उनके लिये दण्ड भी अधिक कठोर थे।[११] जातिगत आधारित आज के समाज में मात्र विशेषाधिकार ही शेष रह गये हैं तथा कर्त्तव्यों और दायित्वों का सर्वथा विलोपन हो चुका है।

वर्ण-व्यवस्था में इस बात पर विशेष ध्यान रखा गया है कि हर वर्ण के लोग अपने-अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्वाह अधिकाधिक निपुणता के साथ करते रहें, जिससे समाज की विधिवत सेवा भी होती रहे और अधिकाधिक मात्रा में उनका कल्याण भी होता रहे। समाज का संगठन वर्ण-व्यवस्था द्वारा एक अन्य रीति से प्रोत्साहित होता रहा। यहाँ एक

विशेष प्रकार की अर्थ रचना का अवलम्ब लेकर वर्ण-व्यवस्था ने अपने इस सामाजिक संतुलन और संगठन के ध्येयों को पूर्ण करने की चेष्टा की। अर्थ रचना के परिप्रेक्ष्य में एक ब्राह्मण का वर्ण-धर्म उसे बताता रहा है कि वह परिग्रह से बचे और अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक साधना मे तल्लीन रहे। क्षत्रिय के लिये उतना ही धन संचय आवश्यक है जिसमे वह और उसके आश्रितजनों के पालन-पोषण का कार्य हो सके। इसी प्रकार वैश्य सम्पत्ति का संचय तो कर सकता है किन्तु उसका उपयोग निजी सुख-सुविधा के लिये नहीं। समाज के आर्थिक आधारों को सुदृढ़ बनाने की इच्छा ही उसके मन में प्रधान होनी चाहिये। संक्षेप में तीनों वर्णों से यह अपेक्षा की गई कि वे समाज के हित संवर्धन में एक दूसरे के साथ रचनात्मक सहयोग करते रहेंगे और अपनी भूमिका अदा करते रहेंगे। साथ ही जो अशक्त हैं तथा समाज में अपने गुण, स्वभाव, कर्म के कारण प्रत्यक्ष रीति से किसी प्रकार का रचनात्मक योगदान नहीं दे सकते, जिनका कि अस्तित्व हर समाज में अनिवार्य है, वे अन्य वर्णो की सेवा द्वारा सहयोग कर सकते हैं। वर्ण-व्यवस्था के अधीन यह श्रेणी-विभाजन किसी के अधिक या कम प्रतिष्ठित होने की द्योतक नहीं है यह बात इसी से स्पष्ट है कि उसके अन्तर्गत जन्म के समय हर व्यक्ति शूद्र ही माना गया है। सत्य है, क्योंकि जब तक मनुष्य इस बात का प्रमाण न दे दे कि वह समाज सेवा किसी अन्य अधिक उपयुक्त रीति से कर सकने में समर्थ है तब तक उसका किसी श्रेणी में रखा जाना न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार 'वर्ण-व्यवस्था' पर एक सर्वतोमुखी दृष्टि से ज्ञात होता है कि उसका नियोजन कुछ इस प्रकार से किया गया है कि उसकी सहायता से मनुष्य की विभिन्न प्रकार की क्षमताओं का उपयोग अलग-अलग रीति से ठीक-ठीक दिशाओं में किया जा सके और वे सब मिलकर समाज को सुसंगठित बनाने, उसे स्थिरता प्रदान करने और प्रगति के पथ पर ले जाने के ध्येय की पूर्ति में सहायक सिद्ध हो सकें।

मनोविज्ञान के गहन समझ पर आधारित भारतीय समाज दृष्टि मानवीय *'स्व'* के दोनों पक्षों, एक वह जिसमे स्व समाज के सम्पर्क में सामाजिक प्राणी के रूप में रहता है, दूसरा वह जिसमें वह केवल अपने तक सीमित रह कर अपने चतुर्मुखी विकास के लिये प्रयत्न करता है, का समन्वय करके चलती है। यह दोनों ही पक्ष उसके लिये अनिवार्य है एक के अभाव में दूसरे का विकास संभव नहीं। यदि वह एक पर आधारित रहेगा तो या तो वह अपना अस्तित्व खो देगा या पूर्णस्वार्थी हो जायेगा।

प्राचीन हिन्दू समाज-दर्शन के पूर्वोक्त, अवलोकन से ज्ञात होता है कि इसकी समाज-व्यवस्था की संकल्पना में सर्वागीणता के सूत्र निहित हैं। हिन्दू विचारक जीवन के चार चरणों की कल्पना करते हैं। व्यक्तिगत अनुशासन द्वारा मनुष्य के जीवन व्यापार का निर्देशन करने के लिये जहाँ एक ओर *'आश्रम धर्म'* व्यवस्था अंगीकृत है, वहीं दूसरी ओर मुनष्य के अपने सामाजिक जीवन का सुचारू रूप से चलाने के लिये *'वर्ण धर्म'* व्यवस्था को गढ़ा गया। इन दोनों धर्मों में व्यक्ति और समाज दोनों के अनुशासित जीवन की संकल्पना है। एक दूसरे से संयुक्त तथा एक दूसरे की पूरक होने के कारण यह व्यवस्था *'वर्णाश्रम'* रूप में स्वीकृत है।

'आश्रम व्यवस्था' के अन्तर्गत जीवन के विभिन्न चरणों में विशिष्ट प्रकार के पर्यावरणों को उपलब्ध कराते हुये व्यक्ति के निजी शिल्प पर बल दिया गया है। आश्रम के आधारों के रूप में हम *'पुरुषार्थ'* और *'ऋण'* की संस्तुति भी पाते हैं। जीवन

के चार विभाजित सोपानों में व्यक्ति क्रमशः एक-एक पुरुषार्थ की प्राप्ति करता चलता है। एक आश्रम में व्यक्ति एक पुरुषार्थ की प्राप्ति करता है और दूसरे में उसका प्रयोग तथा अन्य पुरुषार्थ की प्राप्ति की साधना करता है। उदाहरणार्थ गृहस्थाश्रम में व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त धर्म का व्यावहारिक प्रयोग और उसके साथ अर्थ और काम की साधना भी करता है। आश्रम व्यवस्था का दूसरा आधार ऋण (गुरू ऋण, पितृ ऋण, देव ऋण) है। इनमें से ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरू ऋण, गृहस्थाश्रम मे पितृऋण और वानप्रस्थ में देव ऋण की निष्पत्ति समझी जाती है। इन ऋणों से उऋण होने के लिये निश्चित आश्रम के कर्त्तव्यो का पालन करना आवश्यक है। इस प्रकार आश्रम यह बताता था कि व्यक्ति का आध्यात्मिक लक्ष्य क्या है? उसे अपने जीवन को किस प्रकार ले चलना है? तथा अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में उसे क्या-क्या तैयारियाँ करनी हैं?

'वर्ण व्यवस्था' के अन्तर्गत समष्टि के हित संवर्धन को अधिक महत्व दिया गया है। यह व्यक्ति के सामाजिक पक्ष को लेकर निर्धारित की गई है। व्यक्ति की अपनी अन्तर्निहित क्षमताओं, गुणों और प्रवृत्तियों इत्यादि के आधार पर ही समाज में उसके स्थान को निर्धारित करने का प्रयास किया गया है। वर्ण-व्यवस्था भारत में सामाजिक-विभाजन के रूप में ऋग्वैदिक काल से अस्तित्व में हैं। वेदों में सारे के सारे सामाजिक संगठन की कल्पना एक मानव रूप अथवा *'सामाजिक शरीर'* के रूप में की गई है इसके विभिन्न अवयव श्रम-विभाजन के सिद्धान्तों के अधीन संगठित होने वाले भाँति-भाँति के सामाजिक वर्गो का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह सत्य है कि इस व्यवस्था ने समय-समय पर हिन्दू समाज की समस्त गतिविधियों को स्वनिहित विशेषताओं से प्रभावित किया। परिणामस्वरूप देश में होने वाले अनेकानेक परिवर्तनों तथा संघर्षो में इसकी क्रान्तिकारी भूमिका रही। परवर्ती काल में सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि सभी अवस्थाओं का इसने अपनी वर्णगत व्यवस्था में किसी न किसी रूप में दिशा निर्देशन किया।

'वर्ण' शब्द का अर्थ

'वर्ण' शब्द का शाब्दिक अर्थ विवेचन करने से ज्ञात होता है कि 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के "वृञ् वरणे" अथवा *'वरी'* धातु से हुई है, जिसका अर्थ है *'चुनना'* या *'वरण'* करना। *'वर्ण'* और *'वरण'* शब्दों में साम्य भी है। संभवतः *'वर्ण'* से तात्पर्य वृत्ति से है अर्थात् किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से। समाजशास्त्रीय भाषा में *'वर्ण'* का अर्थ *'वर्ग'* से है, जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय के आबद्ध है। वास्तव में वर्ण उस सामाजिक वर्ग की ओर इंगित करता है जिसका समाज में विशिष्ट कार्य और स्थान है, जो अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों अथवा समूहों से सर्वथा अलग होता है तथा अपने हितों और स्थितियों के विषय में जागरुक होता है।[१२]

'वर्णों' की उत्पत्ति के सन्दर्भ में प्रथम श्लोक *'ऋग्वेद'* के *'पुरुष सूक्त'* में मिलता है जिसके अन्तर्गत बताया गया है कि *'ब्राह्मण वर्ण' से उस 'पुरुष' (जिससे शायद सम्पूर्ण मानव जाति का ही संकेत मिलता है) के मुख का, 'राजन्य' (क्षत्रिय) वर्ग से उसकी भुजाओं का, 'वैश्य वर्ण' से उसके जंघा प्रदेश का तथा 'शूद्र वर्ण' से उसके ही चरणों का बोध होता है।*[१३] इस प्रकार यहाँ समाज की कल्पना एक *'पुरुष'* के रूप में की गई है। जिस प्रकार पुरुष अपने विभिन्न अंगों के सपुञ्ज रूप में सम्पूर्ण व्यक्तित्व की संज्ञा प्राप्त करता है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंग परस्पर सपुञ्ज रूप में समाज के व्यक्तित्व

का निर्माण करते है। *महाभारत* के *'शान्ति पर्व'* में विराट पुरुष के स्थान पर ब्रह्मा का उल्लेख किया गया है।[१४] ब्रह्मा के शरीर के भिन्न अवयवों से वर्णों की उत्पत्ति के विचार का उल्लेख करते हुए *महाभारत* में इसके (उत्पत्ति विषयक समस्या के) सैद्धान्तिक पक्ष को भी उजागर करने का प्रयास किया गया है। यहाँ वर्ण-व्यवस्था के सृजन एवं वर्ण-भेद के विषय की सैद्धान्तिक समीक्षा के व्यापक सन्दर्भ भी मौजूद हैं।

वर्णों की उत्पत्ति सम्बन्धी मतों का गहन विश्लेषण विषयान्तर होगा अत: इससे बचते हुये यह कहना पर्याप्त है कि इस विवेचना का तात्पर्य भारतीय समाज मे परिकल्पित उस आदर्श समाज-व्यवस्था का रूपांकन करना है जिसे एक जीवित समाज के लिये बने रहना अनिवार्य माना गया। यह सत्य है कि वर्ण-व्यवस्था में लगातार समाप्त होता उसका लचीलापन तथा अन्ततः जाति-व्यवस्था में परिणत श्रेणी-विभाजन की जड़ता का दोष समाहित हो गया जिसका कारण निश्चय ही इस आदर्श व्यवस्था के विस्तृत आधारों का विस्मृत किया जाना है। वर्णों की उत्पत्ति का उपर्युक्त विवरण ही यह स्पष्ट करता है कि आदर्श रूप में एक जीवित समाज के लिये इन चारों वर्णों का बना रहना अति आवश्यक है। इस वर्णन से यह परिलक्षित होता है कि समाज के किसी भी अंग का कम महत्व नहीं है। जिस प्रकार किसी शरीर के विभिन्न अवयवों की अपनी उपयोगिता है कोई श्रेष्ठ अथवा अश्रेष्ठ नहीं है, उसी भाँति समाज रूपी शरीर के चारों वर्ण रूपी अवयव की अपनी उपयोगिता है। एक के भी अभाव में शेष अपूर्ण हैं, एक अपूर्ण शरीर। वर्ण-व्यवस्था के रूप में एक आदर्श समाज-व्यवस्था की परिकल्पना के विस्तृत और सबसे अधिक स्पष्ट आधार की विवेचना भगवद्गीता में उपलब्ध है।

खण्ड (क) गीता

(अ) गीता दृष्टि में 'वर्ण'

प्रत्येक समाज में विभिन्न भूमिकाएँ पायी जाती हैं जिनके संचालन के लिये विभिन्न प्रकार की क्षमताएँ चाहिये, प्रतिभा चाहिए और उतने ही प्रकार के प्रशिक्षण चाहिये। इसके अतिरिक्त हर समाज में सभी सदस्यों की प्रतिभा एक सी नहीं होती इसलिये समाज का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दें जिसके द्वारा हर व्यक्ति को अपनी योग्यता और प्रशिक्षण के अनुरूप यथोचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया जा सके। आदर्श समाज के गठन की यह मनोवैज्ञानिक समझ हमें भगवद्गीता के समाज-दर्शन में उपलब्ध होती है।

गीता वर्णित समाज के चातुर्वर्ण्य विभाजन में मुख्यतया गुणों का विचार सन्निहित है अर्थात् यह कि मनुष्य के अपने जन्मजात शारीरिक एवं मानसिक गुणों, प्रवृत्तियों और क्षमताओं तथा उनके विभिन्न योगों के आधार पर ही उसकी गणना किसी वर्ण-विशेष में की जाती है। इन अर्थों में मनुष्यों के अपने निजी गुण ही ऐसे मूलभूत तत्व हैं जो उन मन:नैतिक आधारों की सृष्टि करते हैं जिन पर सारी वर्ण व्यवस्था खड़ी हुई है। अत: गीता वर्णित वर्ण अथवा सामाजिक वर्ग के विचार का ज्ञान उसके गुण सिद्धान्त के स्पष्टीकरण से सम्भव होगा।

गीता के अनुसार संसार का समस्त व्यापार सत्, रज और तम इन तीनों गुणों के मेल से चलता है।[१५] *"इन गुणों से उद्भूत होने वाले (संसारीजन) मायाजाल में उलझ जाने के कारण ही मुझको (परमात्मा) नहीं देख पाते।"*[१६] सम्पूर्ण सृष्टि

की भाँति ही संसार के समस्त मनुष्यों में भी यही तीन गुण समाये हुये हैं क्योंकि वे भी सृष्टि का ही एक अंग है।[१७] *"इन तीनों गुणों में से सत् निर्मलता का प्रतीक है, इसलिये वह जाज्वल्यमान एवं स्वस्थ प्रकृति का है तथा मनुष्य को शांति एवं ज्ञान के पथ का अनुसरण करने की प्रेरणा प्रदान करता रहता है।"*[१८] रजोगुण अपनी प्रकृति में उद्दाम है इसलिये वह नाना प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति से सम्बन्धित कामनाओं का एवं उनके प्रति पाये जाने वाले आसक्ति के भाव का प्रतीक है जिसके प्रभाव में प्राणी कर्मशील बना रहता है।[१९] *"तमोगुण अज्ञान का प्रतीक है जो समस्त प्राणियों को मायाजाल में लिप्त रहने के लिये बाध्य करता है और उन्हें निद्रा, आलस्य तथा प्रमाद से घेरे रहता है।"*[२०]

भगवद्गीता में वृत्तियों को भी गुणात्मक कहा गया है। इन विभिन्न वृत्तियों के भेदों *(सात्विक, राजसिक, तामसिक)* का वर्णन यहाँ बड़े व्यापक रूप मे हुआ है और वह प्रत्येक प्रसंग में व्यक्ति को सचेत व सावधान बनाने वाला है, उच्च जीवन की प्रेरणा से युक्त है। क्रमश: ज्ञान वृत्ति, कर्म वृत्ति तथा कर्त्ता के गुणात्मक भेद का वर्णन करते हुये श्रीकृष्ण बताते हैं कि *"जिस ज्ञान के द्वारा व्यक्ति समस्त भूतों मे एक ही अव्यय भाव का दर्शन करता है, सभी विभक्त वस्तुओं में एक ही अविभक्त तत्व को देखता है, वह ज्ञान सात्विक है।"*[२१] स्पष्ट है कि यह ज्ञान उर्ध्व चेतना से ही प्राप्त हो सकता है। साधारण मनोमयी चेतना एकत्व का दर्शन नहीं करती, वह बहुत्व में, नानात्व में विभक्त हुई चेतना है। गीता मन की साधारण वृत्ति से होने वाले ज्ञान को राजसिक कहती है। *"जो ज्ञान समस्त भूतों में पृथक् भाव से नानात्व को, अलग-अलग भावों को जानता है, वह राजसिक है। परन्तु, जो ज्ञान अल्प है, एक ही कार्य में इस प्रकार आसक्त हो जाता है मानो वही सब कुछ हो, मानो उसका कोई तत्वार्थ हो ही नहीं, वह तामसिक ज्ञान होता है।"*[२२]

कर्म वृत्ति के सन्दर्भ में गीता का मत है : *"जो कर्म नियत है, नियमन पूर्वक किया गया है, संगरहित है, रागद्वेष विहीन होकर, बिना फल की कामना के किया गया है, सात्विक है। जो कर्म कामना-वासना से अहंकार द्वारा बहुत बड़े-बड़े आयास से किया गया है वह राजसिक है। जो कर्म परिणाम और हानि तथा हिंसा अथवा पौरुष की उपेक्षा करके मोह से आरम्भ किया जाता है वह तामसिक कर्म है।"*[२३]

कर्ता के विषय में गीता की वाणी है : *"जो कर्ता आसक्ति से रहित और अहंकार के वचन न बोलने वाला, धैर्य और उत्साह से युक्त है, सिद्धि अथवा असिद्धि में निर्विकार रहता है, वह सात्विक कर्ता है। जो कर्ता लोभ के अधीन कर्म फल की ईप्सा रखता है, रागी है, हिंसात्मक है, अपवित्र है, हर्ष और शोक से अन्वित है, वह कर्ता राजसिक है। जो कर्ता अयुक्त है, प्राकृत है, स्तब्ध है, शठ है, असद्-वृत्ति वाला है, आलसी है, विषादी है, दीर्घ-सूत्री है, वह तामसिक है।"*[२४]

किसी भी कर्ता की प्रवृत्ति अपनी-अपनी समझ और अपनी-अपनी लगन के अनुरूप होती है। उसकी समझ उसकी बुद्धि के अनुरूप होती है और उसकी लगन उसके संकल्प और धृति के अनुसार होती है। गीता बुद्धि और धृति के भी सात्विक, राजसिक, तामसिक भेद स्पष्ट करती है। इस सन्दर्भ में गीता का कहना है : *"जो बुद्धि प्रवृत्ति और निवृत्ति को जानती है, क्या करने योग्य है, क्या करने योग्य नहीं है, इसे जानती है, भय और अभय को समझती है, बन्धन और मोक्ष को जानती है, वह बुद्धि सात्विकी है। जिस बुद्धि से व्यक्ति धर्म और अधर्म को, कार्य और अकार्य को अयथावत् समझे, वह बुद्धि राजसिक*

है। जो बुद्धि अधर्म को धर्म मान ले और अहंकार से ढकी हुई, सभी विषयों को विपरीत अर्थों में समझे, वह तामसी बुद्धि है।''[२५]

बुद्धि जैसा जानती है, संकल्प और धृति की वैसी ही दशा होती है, वैसी ही धारणा बन जाती है, उसी के अनुसार व्यक्ति की आस्था होती है, उसी के अनुसार उसके विकल्प होते हैं, निश्चय और निर्णय होते हैं। गीता धृति के भी सात्विक, राजसिक, तामसिक भेद बताती है : *''जिस अव्यभिचारिणी धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को योग के द्वारा धारण किया जाय, वह धृति सात्विकी है। जिस धृति से फल की आकांक्षा करने वाला व्यक्ति आसक्ति के द्वारा धर्म और काम तथा अर्थ इत्यादि को धारण किये रहता है, वह धृति राजसिक है। जिस धृति से दुर्बुद्धि व्यक्ति स्वप्न और भय तथा शोक और मद को पकड़े रहता है, उन्हें छोड़ता ही नहीं, वह धृति तामसी है।''*[२६]

इस प्रकार गीता से मनुष्य के स्वभाव का निर्धारण जहाँ गुण से किया जाता है, वहीं उसके समस्त कर्मों का मूल भी यही गुण सिद्धान्त है। गीता तो यहाँ तक मानती है कि *''इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, जितना भी जीवन है, वह सब त्रिगुणात्मक है।''*[२७]

गीता प्रतिपादित गुणों के सन्दर्भ में मनुष्य की जन्म-जात प्रवृत्तियों, गुणो, रूचियों, प्रेरणाओं और आकांक्षाओं के आधार पर उसकी मन: रचना का जो वर्णन है उसे ही आगे चलकर सामाजिक सम्बन्धों, समाज में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के समूहों की अपनी-अपनी विशेषताओं तथा सम्पूर्ण सामाजिक संगठन के साथ जोड़कर दिखाया गया है। ये गुण ही मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों को गढ़ते हैं, उनकी रूचियों, क्षमताओं और सीमाओं का निर्धारण करते हैं और यह बताते हैं कि वह सामाजिक जीवन में कहाँ तक और कैसा योगदान देगा। वे इस बात का भी निर्धारण करते हैं कि मनुष्य के भावी चरित्र का तथा उसके अपने गुणों का विकास किस दिशा में भली-भाँति हो सकता है। अत: किसी भी समाज-व्यवस्था और उसके संगठन में इन तत्वों का संयोजन दृष्टिगत रखना अनिवार्य है। यह दृष्टि गीता के समाज-दर्शन का आधार है।

गीता में सामाजिक संगठन की सुदृढ़ता और उसकी प्रगति के लिये आवश्यक समझे जाने वाले समस्त कर्मों के विभाजन का आधार भी *'गुण सिद्धान्त'* को माना गया है। यहाँ उसे *'गुण-कर्म-विभाजन'* की संज्ञा दी गयी है।[२८] गीता में बताया गया है कि जिस प्रकार मनुष्यों के स्वभाव का निर्धारण करने वाले उनके गुण अलग-अलग है, उसी प्रकार उनके गुणों के अनुरूप ही उनके कर्म भी अलग-अलग हैं जिनका निर्वाह उन्हें करना चाहिये।[२९]

गीता के त्रैगुणों (सात्विक-राजसिक-तामसिक) की विवेचना के अन्य निहितार्थ भी हैं। गीता की मनोवैज्ञानिक दृष्टि इस तथ्य से परिचित है कि मानव के व्यावहारिक जीवन का संपादन संचालन उसकी बुद्धि और धृति के अनुसार ही होता है। सामान्यत: व्यक्ति का जीवन सुख की आकांक्षा से प्रचलित रहता है, और अपने सभी प्रयासों के द्वारा वह सुख का अनुभव करना चाहता है। इस विषय में भी गीता का सात्विक-राजसिक-तामसिक विवेचन है, जिसकी सहायता से उच्च्व जीवन की साधना करने वाला मनुष्य सजग होकर सात्विकता की ओर उन्मुख होता रहे। इस प्रयत्न की अनिवार्यता त्रिगुणात्मक जीवन के लिये आवश्यक है तथा आधार है सात्विक-जीवन।

गीता मे त्रैगुण्य की विवेचना तीनों गुणों के भेद का वर्णन मात्र नहीं है, उसमें साधना का यह स्पष्ट संकेत भी है कि सात्विक जीवन का विकास किया जाय। प्रकृति का जीवन, पृथ्वी का लौकिक जीवन विकासात्मक जीवन है। प्रत्येक व्यक्ति के केन्द्र मे उसका *"स्व"* है, उसका *"स्वत्व"* है और इसके अनुरूप ही प्रत्येक व्यक्ति का विकास होता है। उस *'स्व'* के अनुरूप ही सभी व्यक्तियों का अपना-अपना स्वभाव होता है, उसी के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का *'स्वधर्म'* और *'स्वकर्म'* होता है। प्रत्येक व्यक्ति का प्रयास, उसकी साधना का उसके स्वाभाविक विकास के साथ गहरा सम्बन्ध है। इसी प्रसंग में श्रीकृष्ण चातुर्वर्ण्य का भी तात्पर्य उद्घाटित करते हुये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रादि के स्वभाव और गुण की चर्चा करते हैं।[३०] जिससे स्पष्ट होता है कि ये चारों वर्ण केवल सामाजिक अथवा आर्थिक व्यवस्था के निमित्त किसी श्रम-विभाजन के हेतु मनुष्यों का वर्गीकरण मात्र नहीं है बल्कि, उनका एक ऐसा प्राकृतिक आधार भी है जिसमे मनुष्य की स्वाभाविक योग्यताओं का विकास सन्निहित है। वे योग्यताएँ और क्षमताएँ विशेष-विशेष हैं और सभी का अपना-अपना महत्व है; सभी स्वाभाविक है और सभी व्यक्ति के विकास में प्रयोजनीय हैं। उनका वर्णन स्वयं इस बात का द्योतक है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किसी देश विशेष के नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के ऐसे महत्वपूर्ण अंग है जिनका स्वाभाविक विकास हुआ है, हो रहा है और निश्चय ही होना चाहिये।

गीता मानती है कि सभी कर्मो के मूल में वह *'स्वभाव'* है जिससे उन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) की प्रवृत्ति होती है। यह स्वभाव है- प्रत्येक व्यक्ति का आंतरिक केन्द्र, अन्त: प्रकृति। इन कर्मों के लिये कोई बाह्य निर्धारण या बाह्य नियुक्ति नहीं हो सकती। प्रत्येक व्यक्ति की अन्त: प्रकृति उसके स्वाभाविक कर्म के लिये उसे प्रेरित करती है। उस अन्त: प्रकृति में निहित है प्रत्येक व्यक्ति के विकास का विधान, उस सिद्धि का निंयम जो प्रत्येक व्यक्ति के लिये सम्भव है, सुनिश्चित है। यदि व्यक्ति अपने गुणों या योग्यताओं के प्रतिकूल व्यवसाय या सामाजिक कर्त्तव्य को चुनता है, तो उसके इस चयन से जहाँ उसके जीवन की सफलता धूमिल होती है, वहीं समाज-व्यवस्था में भी अस्त व्यस्तता आती है।

गीता में वर्ण-व्यवस्था के पीछे हम एक मनोवैज्ञानिक आधार को भी देख सकते हैं जिसका समर्थन *डॉ० राधाकृष्णन* और पाश्चात्य विचारक *श्री गैरल्ड हर्ड* ने भी किया है।[३१] मानव स्वभाव में ज्ञानात्मकता या जिज्ञासावृत्ति, साहस या नेतृत्व वृत्ति, संग्रहात्मकता और शासित होने की प्रवृत्ति या सेवा भावना पायी जाती है। सामान्यत: मनुष्यों में इन वृत्तियों का समान रूप से विकास नहीं होता है। प्रत्येक मनुष्य में इनमें से किसी एक का प्राधान्य होता है। दूसरी ओर सामाजिक दृष्टि से समाज-व्यवस्था में चार प्रमुख कार्य हैं शिक्षण, रक्षण, उपार्जन और सेवा। व्यक्ति को चाहिए कि वह अपने स्वभाव में जिस वृत्ति का प्राधान्य हो, उसके अनुसार सामाजिक व्यवस्था में अपना कार्य चुने। जिस प्रकार स्वाभाविक वृत्तियों के आधार पर सामाजिक कार्यो का विभाजन किया गया, उसी आधार पर क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण बने। इस स्वभाव के अनुसार व्यवसाय या वृत्ति विभाजन में श्रेष्ठत्व और हीनत्व को कोई प्रशन नहीं उठता।

गीता की चातुर्वर्ण्य समाज व्यवस्था में उच्च नीच का भाव कहीं भी संकेतित नहीं है। केवल एक जगह कृष्ण स्त्री, वैश्य और शूद्र को पाप योनि बताते हैं।[३२] वहाँ भी वाक्य रचना में पाप योनि के बाद एक अर्द्धविराम मानकर स्त्री, वैश्य,

शूद्र से भिन्न पाप योनियों का वर्णन भी माना जा सकता है। उस हालत में पाप योनि पश्वादि को विषय करने वाली हो जायेगी। परन्तु यदि *'पापयोनय:'* का सम्बन्ध वाक्य भेद के भय के कारण स्त्री, वैश्य, शूद्र के साथ भी लगाया जाय तो भी यह स्पष्ट है कि केवल शूद्र को नीच माना गया हो, ऐसा नहीं है। इसमे जातिगत भावना होने से तो ब्राह्मणी और क्षत्राणी भी स्त्री ही है और उसे शूद्र की तरह नीच माना गया, ऐसा मानना पड़ेगा। वस्तुत: पाप का तात्पर्य वैयषिक प्रवृत्ति है और गीता की दृष्टि में स्त्री, वैश्य और शूद्र जन्म (योनि) से ही अर्थ काम प्रधान दृष्टि रखते है, इसलिये उन्हे यहाँ पापयोनि कह दिया गया है, उच्च नीच की भावना लाने के लिये नहीं। समग्र गीता का अध्ययन भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि स्वधर्म अर्थात् अपने-अपने धर्म का पालन किसी भी दूसरे वर्ण-धर्म के पालन से किसी भी प्रकार कम फल देने वाला या कम ऊँचा नहीं है। अत: एक आदर्श से अनुप्राणित समाज के घटकों में उच्च नीच की भावना कभी न आये, यह जैसा वेदों का आदर्श साथ-साथ खाने और पीने के द्वारा बताया गया है,[३३] वैसा ही सब भोगों के साथ-साथ भोगने का आदर्श गीताकार को भी अभीष्ट है।

गीता की दृष्टि में नैतिक श्रेष्ठत्व इस बात पर निर्भर नहीं है कि व्यक्ति क्या कर रहा है या किन सामाजिक कर्त्तव्यों का पालन कर रहा है क्योंकि उसके लिये जिज्ञासा, नेतृत्व, संग्रह या दैन्य आदि सभी वृत्तियाँ त्रिगुणात्मक है अत: सभी दोषपूर्ण है।[३४] गीता इस बात को अधिक महत्ता प्रदान करती है कि व्यक्ति स्वधर्म का पालन किस निष्ठा और योग्यता के साथ कर रहा है। गीता के लिये यदि एक शूद्र अपने कर्त्तव्यों का पालन पूर्ण निष्ठा और कुशलता से करता है तो वह अनैष्ठिक और अकुशल ब्राह्मण की अपेक्षा नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ है इतना ही नहीं वह अकुशल ब्राह्मण पदच्युत होने के कारण गीता के समाज में ब्राह्मण वर्ण से अभिचिह्नित नहीं किया जायेगा।

निश्चितत: गीता वर्णित वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध सामाजिक कर्तव्यों के परिपालन से है। लेकिन विशिष्ट सामाजिक कर्त्तव्यों के परिपालन से व्यक्ति श्रेष्ठ या हीन नहीं बन जाता, उसकी श्रेष्ठता और हीनता का सम्बन्ध तो उसके नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास से है। गीता स्पष्टतया यह स्वीकार करती है कि व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से स्वस्थान के निम्नस्तरीय कर्मो का सम्पादन करते हुए भी आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से ऊँचाईयों पर पहुँच सकता है। श्री कृष्ण कहते हैं *''व्यक्ति चाहे अत्यन्त दुराचारी रहा हो अथवा स्त्री, शूद्र या वैश्य हो अथवा ब्राह्मण या राजर्षि हो, यदि वह सम्यक्रूपेण मेरी उपासना करता है तो वह श्रेष्ठ गति को ही प्राप्त करता है।''*[३५] अत: गीता के अनुसार आध्यात्मिक विकास का द्वार सभी के लिये समान रूप से खुला हुआ है।

वर्ण-व्यवस्था जैसा कि उपरोक्त वर्णनों में निर्दिष्ट होता है, व्यक्ति के सामाजिक पक्ष को लेकर निर्धारित है। इसके विपरीत *'आश्रम व्यवस्था'* व्यक्ति के वैयक्तिक पक्ष को लेकर स्थापित की गई है। इस अध्याय के प्रारम्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हिन्दू विचारकों ने जीवन के चार चरणों की कल्पना की है। जिस प्रकार यहाँ समाज को चार वर्गों में विभक्त किया गया है उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन को भी चार भागों में विभक्त किया गया है। आश्रम-व्यवस्था व्यक्ति के विभिन्न कार्यो में पूर्वापर क्रम निश्चित करके उसे इस बात का ज्ञान कराती है कि वह अपने जीवन को एक ऐसे क्रम में आबद्ध कर दे, जिसमें उसके विभिन्न सामाजिक दायित्वों की पूर्ति आयु के विभिन्न स्तरों में हो सके। गीता के सन्दर्भ में जब हम आश्रम-

व्यवस्था की विवेचना करना चाहते हैं तो इसके लिए हमें पूर्णत: महाभारत (जिसका गीता एक अंश है) में उपलब्ध विचारों पर आश्रित होना पड़ता है। संक्षेप में महाभारत में उपलब्ध आश्रम-व्यवस्था सम्बन्धी मत सामान्य भारतीय चिन्तनधारा के समतुल्य ही है। गीता भी आश्रम-व्यवस्था को उसी रूप में स्वीकृत करती है, फिर भी प्रत्येक आश्रम के विशेष कर्त्तव्य क्या है, इसका समुचित विवेचन गीता मे उपलब्ध नहीं है। वस्तुत: गीता की दृष्टि प्रमुखत: प्रवृत्ति प्रधान होने से उसमें वर्ण-व्यवस्था पर जोर दिया गया है।

खण्ड (ख) गाँधी

(अ) गाँधी दृष्टि में 'वर्ण'

गॉधी जी की प्राचीन वर्ण-व्यवस्था में दृढ़ आस्था थी। वर्ण-धर्म का गाँधी ने वही अर्थ बताया है जो सामान्यत: भारत में प्राचीन काल से मान्य रहा है। वर्ण धर्म की परिभाषा करते हुये उन्होंने कहा है कि- *"मनुष्य के धन्धों के चुनाव का पूर्ण निश्चय ही वर्ण है। वर्ण का नियम यही है कि प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजों के धन्धों का अनुसरण करते हुए अपना जीविकोपार्जन करेगा। इस तरह से वर्ण एक प्रकार से वंशानुक्रम का नियम है।"*[३६] स्पष्ट है कि गाँधी इस विचार से पूर्णतया सहमत है कि वर्ण-धर्म वंश परंपरागत सिद्धान्त है तथा प्रत्येक व्यक्ति का वर्ण उसके पिता के वर्ण द्वारा ही निश्चित होता है, अत: जीविकोपार्जन के लिये उसे पैतृक व्यवसाय ही स्वीकार करना चाहिये कोई अन्य व्यवसाय नहीं। गाँधी जीविकोपार्जन के लिये किसी भी परिस्थिति में वर्णधर्मानुसार परंपरागत पैतृक व्यवसाय के सिद्धान्त का उल्लंघन करना उचित नहीं मानते, क्योंकि उनके विचार में इससे मनुष्य का घोर नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन होता है और समाज में अनुचित आर्थिक संघर्ष तथा विनाशकारी प्रतियोगिता की वृद्धि होती है परिणामस्वरूप मानव का जीवन दु:खमय हो जाता है।

उन्होंने इस व्यवस्था के संदर्भ में आगे कहा- *"वर्ण असल में धर्म है, अधिकार नहीं। इसलिये वर्ण का अस्तित्व केवल सेवा के लिये ही हो सकता है स्वार्थ के लिये नहीं। इसी कारण न तो कोई उच्च है, न कोई नीच। ज्ञानी होते हुये भी जो अपने को दूसरों से उच्च मानेगा, वह मूर्ख से भी बदतर है। उच्चतर के अभिमान से वर्ण वर्णच्युत हो जाता है। यहॉ यह भी जान लेना आवश्यक है कि वर्ण धर्म में ऐसी कोई बात नहीं कि शूद्र ज्ञान का संचय अथवा राष्ट्र की रक्षा न करे। हाँ, शूद्र अपने ज्ञान के विनिमय का अथवा राष्ट्र रक्षा को अपनी अजीविका का साधन न बना लें। ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय परिचर्या न करे, यह भी बात नहीं है, परन्तु परिचर्या के द्वारा अजीविका न चलायें। इस सहज स्वाभाविक धर्म का यदि सर्वथा पालन किया जाय तो समाज में जो उपद्रव आज हो रहे हैं, एक दूसरे के प्रति जो प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है, धन इकट्ठा करने हेतु जो कष्ट उठाये जा रहे हैं, असत्य का जो प्रचार हो रहा है और जो युद्ध के साधन तैयार किये जा रहे हैं, वे सब शान्त हो जाय। इस नीति का पालन सारा संसार करे न करे, सभी हिन्दू करें न करें, पर जितने लोग इस व्यवस्था पर चलेंगे उतना लाभ तो संसार को होगा ही। मेरा विश्वास बढ़ता ही जाता है कि वर्ण धर्म से जगत का उद्धार होगा। वर्ण-धर्म का सच्चा धर्म सेवा-धर्म है। जो कुछ किया जाय सेवा भाव से ही किया जाय।"*[३७]

गाँधी वर्ण-धर्म की अपनी जन्मना मान्यता के आधार पर अपने पैतृक व्यवसाय को ही अपनाने पर बल देते हैं। यदि

समाज के चार अंगों के विभाजन से अपनी क्रिया सरलतापूर्वक चला सके तो वह अच्छा समाज होगा। अच्छा समाज बनाने में मनुष्य का योग अत्यन्त महत्व का होता है। वर्ण-धर्म के अनुसार तब यह आवश्यक होता है कि अपनी जीविका निर्वाह के लिये उस वर्ण का व्यक्ति अपने ही वर्ण के पेशों को अपनाये। यदि ऐसा ही संयोजन किया जायेगा तो विभिन्न विषमताओं का अन्त हो जायेगा, समाज के प्रत्येक वर्ण की उपयोगिता और हर पेशे का सम्मान समझ में आयेगा। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा- *"मैं मानता हूँ मनुष्य जिस प्रकार अपना आकार अपने जनक से पाता है वैसे ही वह विशिष्ट चारित्रिक गुण भी उन्ही से पाता है। इस बात को स्वीकार करने का अर्थ है अपनी स्फूर्ति को संचित करना। अगर व्यक्ति इन मान्यताओं को स्वीकार कर उस पर अमल करें, तो वह अपनी भौतिक आकांक्षाओं पर नियमानुसार रोक लगा सकता है और उस रोक के द्वारा वह अपने अन्दर उस स्फूर्ति को आध्यात्मिक शोध और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में बढ़ने के लिये मुक्त छोड़ देता है।"*[३८]

कुछ लोग ऐसे भी हैं जो स्वेच्छा से हृदयगत भावनाओं के आधार पर अन्य व्यवसाय अपनाना चाहते हैं। ऐसे लोगों के लिये गाँधी जी का मत है कि सेवा के लिये ही अन्य व्यवसाय को अपनावे अपनी जीविका के लिये नहीं। यदि एक शूद्र वर्ण का व्यक्ति उस क्रिया को करता है जो ब्राह्मण वर्ण से सम्बन्धित है, तो क्या उस शूद्र को ब्राह्मण कहा जायेगा? इसका जवाब देते हुये गाँधी ने कहा- *"वर्ण का निर्णय तो जन्म के द्वारा होता है किन्तु उसका संरक्षण उसके कर्त्तव्यों का पालन करके ही किया जा सकता है। ब्राह्मण माता-पिता का पुत्र ब्राह्मण होगा किन्तु, यदि वयस्क होने पर उसके जीवन मे ब्राह्मणोचित गुण अभिव्यक्त नहीं हुए तो उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकेगा। वह ब्राह्मणत्व से च्युत हो जायेगा। दूसरी ओर ब्राह्मण के रूप में उत्पन्न न होने वाला भी ब्राह्मण माना जायेगा। यद्यपि वह स्वयं अपने लिये उस उपाधि का दावा नहीं करेगा।"*[३९] गाँधी का यह मत महाभारत के इस कथन से साम्य रखता है कि अपने जन्म, संस्कार, ज्ञान अथवा कुल मात्र के ही आधार पर कोई द्विज नहीं हो जाता; अपनी वृत्ति (कर्त्तव्य) के आधार पर ही कोई इन श्रेष्ठ-जनों की कोटि में आता है।[४०]

गाँधी का यह मत कि प्रत्येक व्यक्ति को जीविकोपार्जन हेतु अपना पैतृक व्यवसाय ही करना चाहिये, विचारकों द्वारा पर्याप्त आलोचना का शिकार होता है। सर्वप्रथम हम उन आलोचक बिन्दुओं पर विहंगम दृष्टि डालते हैं, पुन: गाँधी की समग्र दृष्टि के आलोक में इनकी विवेचना करेंगे। यदि प्रत्येक व्यक्ति जीविकोपार्जन हेतु अपना पैतृक व्यवसाय करने के लिये ही बाध्य हो जैसा गाँधी जी ने कहा है, तो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से व्यावसायिक मार्गदर्शन-जिसे आधुनिक युग में अति आवश्यक समझा जाता है उसका कोई औचित्य नहीं है। ऐसे में इन व्यावसायिक मार्गदर्शन सम्बन्धी केन्द्रों को समाप्त कर देना चाहिये।

वर्तमान युग में वैज्ञानिक एवं औद्योगिक प्रगति के फलस्वरूप अनेक ऐसे व्यवसायों का उदय हो चुका है और हो रहा है, जिनकी वर्ण-धर्म के व्यवस्थापक प्राचीन हिन्दू शास्त्रकारों ने कल्पना भी नहीं की थी। ऐसी स्थिति में यदि आज पैतृक व्यवसाय निर्वाचन का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय तो इन सब नवीन व्यवसायों को समाप्त कर देना पड़ेगा। मानव समाज की औद्योगिक तथा वैज्ञानिक प्रगति की दृष्टि से इसके जो घातक परिणाम होंगे उनकी ओर गाँधी का ध्यान नहीं गया। इसके अतिरिक्त आज ऐसी सैनिक, सामाजिक तथा प्रशासनिक सेवाओं का विकास हो चुका है जिनमें स्थान प्राप्त करने के लिये मनुष्य में कुछ विशिष्ट शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं का होना अनिवार्य है। क्या यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है

कि इन सेवाओं में नियुक्त व्यक्तियों के बच्चों में वे सभी योग्यताएँ होंगी जिनके फलस्वरूप वे अपने पैतृक व्यवसायों को ग्रहण कर सके? क्या सेनापति, डाक्टर, वकील, न्यायाधीश, मंत्री आदि के बालक अनिवार्यत: अपने पैतृक व्यवसायों को ग्रहण करने के योग्य हो सकते हैं? ऐसी स्थिति में यह समझना कुछ कठिन ही है कि वर्तमान समय में पैतृक व्यवसाय की क्या उपयोगिता है।[४१]

आलोचकों के अनुसार गाँधी का यह मत कि शूद्र को मानसिक विकास के लिये अधिकाधिक ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार है किन्तु वह जीविकोपार्जन के लिये इस ज्ञान का उपयोग नहीं कर सकता, का वास्तविक अभिप्राय समझना कठिन है।

प्रस्तुत आलोचना बिन्दुओं को गाँधी के समग्र चिन्तन के आलोक में देखना आवश्यक है। उनके मानव प्रकृति सम्बन्धी इन विचारों कि *"मानव सर्वदा अपूर्ण रहेगा परन्तु अपने को पूर्ण करने का प्रयास सदा करता रहेगा"*[४२] से ध्वनित होता है, मनुष्य अनंत संभावनाओं से युक्त है। साथ ही, मानव परिपूर्णता आत्मोपलब्धि है। निश्चय ही चारों वर्ण मानव वर्ण विभाजन है। अत: चारों वर्णों में गाँधी अनंत संभावनाएँ स्वीकार करते हैं, साथ ही परम लक्ष्य है, आध्यात्मिक उन्नति द्वारा आत्मोपलब्धि करना। मनुष्य के आध्यात्मिक उत्थान में वर्ण धर्म को गाँधी सहायक मानते हैं *"यदि हम सब वर्ण के नियम का अनुसरण करें तो हम अपनी भौतिक महत्वाकांक्षा को सीमित कर सकेंगे और हमारी शक्ति उन महान क्षेत्रों का अनुसंधान करने के लिये बच जायेगी जिनके द्वारा हम ईश्वर को जान सकते हैं।"*[४३]

उपर्युक्त कथनांश में गाँधी जिन दो महत्वपूर्ण तथ्यों की ओर इंगित करते हैं वह है- (i) भौतिक महत्वाकांक्षा को सीमित करना तथा (ii) अपनी शक्ति (स्फूर्ति) का संचित होना। प्रथम तथ्य का सम्बन्ध निश्चय ही गाँधी की इस जीवन दृष्टि का प्रतिफल है, जिसका मूल है- *सादा जीवन उच्च विचार।* स्वत: गाँधी के जीवन को व्याख्यायित करता यह मूल मन्त्र हमें बताता है कि भौतिकता की बेलगाम महत्वाकांक्षाएँ धन एकत्र करने के अनुचित साधन उपलब्ध कराती हैं, जिसे प्राप्त करने के पश्चात भी मनुष्य का आध्यात्मिक उत्थान संभव नहीं होता। जबकि पैतृक व्यवसाय भौतिक इच्छाओं पर अंकुश रखता है।[४४] पैतृक व्यवसाय द्वारा जीविकोपार्जन का गाँधीवादी निहितार्थ यह है कि व्यक्ति को अन्य व्यवसाय अपनाकर मात्र धन का उपार्जन नहीं करना चाहिये। इस सन्दर्भ में गाँधी का मत एकदम स्पष्ट है कि अन्य व्यवसायों का चयन केवल सेवा के उद्देश्य से करना चाहिये अजीविका के लिये नहीं। गाँधी का मूल मन्त्र 'सादा जीवन' या संयमित जीवन है निश्चय ही प्रत्येक व्यवसाय इस उद्देश्य हेतु पर्याप्त है। इस सन्दर्भ में गाँधी के एक अन्य मान्यता को भी हम सम्बद्ध कर सकते हैं। गाँधी का मत है व्यक्ति को उतना ही संचय करना चाहिये जितने में उसका जीवन निर्वाह संभव हो सके। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है शेष उपार्जित धन समाज की सम्पत्ति होने के कारण उसके हितार्थ प्रयुक्त होनी चाहिये निश्चय ही गाँधी का यह मत समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जहाँ आवश्यक सम्पत्ति वितरण से गरीब-अमीर का भेद नहीं है।

गाँधी जी के अनुसार *"........वर्ण का नियम शक्ति संरक्षण के नियम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि मैं मेहतर हूँ तो मेरा पुत्र मेहतर क्यों न हो? .... मेरा तात्पर्य यह है कि जिसका जन्म मेहतर के रूप में हुआ है उसे अनिवार्यत:*

मेहतर के रूप मे ही जीविकोपार्जन करना चाहिये; इसके पश्चात वह अन्य कोई भी कार्य कर सकता है।''[४५] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि गाँधी जी जीविकोपार्जन के लिये किसी भी परिस्थिति में वर्ण धर्मानुसार परम्परागत पैतृक व्यवसाय के सिद्धान्त का उल्लंघन करना उचित नहीं मानते।

उपर्युक्त मतों के स्पष्टीकरण के लिये हम गाँधी के मानव प्रकृति सम्बन्धी उनके विचारों पर पुन: आते हैं। वे मानते हैं कि *''सभी मनुष्य संसार में कुछ ऐसी प्राकृतिक प्रवृत्तियों को लेकर पैदा होते हैं जो परिवर्तनीय है, लेकिन उसी के साथ कुछ निश्चित सीमाओं को लेकर भी पैदा होते हैं, जिनके परे वे नहीं जा सकते। साथ ही मनुष्य अपनी मन:स्थिति को बदल सकता है और उसका नियमन कर सकता है परन्तु उसे मिटा नहीं सकता ईश्वर ने उसको इतनी स्वतन्त्रता नहीं दी है। यदि एक तेंदुआ अपने शरीर के काले धब्बों को बदल सकता तो केवल तभी मनुष्य भी अपने आध्यात्मिक संरचना की विचित्रताओं को परिमार्जित कर सकता है।''*[४६] यद्यपि यह स्वीकारते हुये कि मानव अपनी आदतों के साथ जीता है, गाँधी यह भी मानते हैं कि उसके लिये अपनी इच्छा शक्ति के प्रयोग द्वारा जीना श्रेयस्कर है।[४७]

यहाँ महाभारत का वह वृतान्त देना समीचीन है जहाँ विश्वामित्र जो जन्मना क्षत्रिय थे तथा अपने कर्मों के प्रताप से ब्राह्मण हो गये। अपने वर्ण परिवर्तन में विश्वामित्र को जिन कठिनाईयों का सामना करना पड़ा वे वस्तुत: वर्ण-भेद या किसी सामाजिक भेदभाव के कारण सामने नहीं आयी थी वरन् वे सत्व, रजस्, तमस् इत्यादि के किन्हीं प्रकृति प्रदत्त गुणों के आधार पर ही उनके समक्ष प्रस्तुत हुई थी।[४८] अपनी जन्मजात रूचियों, प्रवृत्तियों और गुणों के स्वरूप में परिवर्तन कर सकना व्यक्ति के लिये सरल नहीं है। उसके लिये कठोर तपश्चर्या करनी पड़ती है। यही कारण है कि वर्ण परिवर्तन की दिशा में विश्वामित्र को किन्हीं सामाजिक बाधाओं का सामना नहीं करना पड़ा, जिन बाधाओं को उन्होंने पार किया वे सामाजिक धरातल पर न होकर मानसिकता के धरातल पर ही थीं।

चूँकि, गाँधी वर्ण-धर्म को शक्ति-संरक्षण का नियम कहते हैं अत: व्यक्ति यदि अपने वर्ण धर्म के विपरीत व्यवसाय का चयन करता है, तो एक ओर यदि अपने से उच्च वर्ग का व्यवसाय करता है तो अधिक प्रयास से अपनी शक्ति का क्षय करता है वहीं दूसरी ओर यदि अपने से निम्न वर्ण का व्यवसाय करता है तो अपनी क्षमता का पूर्ण प्रयोग न कर समाज का अहित करता है। इसके अतिरिक्त जीविकार्थ पैतृक व्यवसाय के साथ अन्य व्यवसायों को करने की स्वतन्त्रता देकर गाँधी समाज सेवा की नैतिकता को स्वीकार करते हैं। इसके लिये हम प्रयोगकर्मी गाँधी के जीवन को भी उदाहरणस्वरूप ले सकते हैं जिन्होंने वही नियम प्रस्तुत किये जिन्हें स्वयं अपने जीवन में उतार सकना संभव माना। उन्होंने अपने पैतृक व्यवसाय से सर्वथा पृथक् राजनीति को मानव सेवा के मार्ग के रूप में चुना।

वर्ण-धर्म का समर्थन गाँधी के इन विचारों से भी समेकित करके देखा जाना चाहिये। उदाहरणार्थ गाँधी का शरीर-श्रम का सिद्धान्त जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को उतना शारीरिक श्रम करना चाहिये जितना उसके दैनिक जीवन-यापन के लिये पर्याप्त है। उनका कहना है *''........ शरीर की आवश्यकता की पूर्ति शरीर द्वारा ही की जानी चाहिये......।''*[४९] गाँधी का उपर्युक्त सिद्धान्त उन अकर्मण्य लोगों के लिये स्पष्ट सन्देश है, जो अपने घर में उपस्थित जीविकाश्रम से बचकर अन्यत्र व्यवसाय

की तलाश में अपनी शक्ति और समय नष्ट करते हैं। गाँधी के वर्ण-धर्म की मान्यता में ऊँच-नीच का भाव कदापि न था। गाँधी के आश्रम जीवन में श्रम के सिद्धान्त का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनिवार्य था। गाँधी के वर्ण धर्म में प्रत्येक व्यवसाय की अपनी शुचिता तथा गरिमा थी। उनके लिये मेहतर का कार्य कोई हीनता का द्योतक नहीं अपितु जीवन का अनिवार्य व आवश्यक हिस्सा है। गाँधीवादी चिन्तक *दादा धर्माधिकारी* कहते हैं, लेकिन *''इन कार्यों में जबरदस्ती का अंश कम से कम हो। जबरदस्ती की जगह मर्जी आनी चाहिए।''* इसकी अहिंसक प्रक्रिया क्या होगी? उसका मुख्य आधार मनुष्यों का पारस्परिक सम्बन्ध होगा। समाज में जो काम अप्रतिष्ठित या अरूचिकर माने जाते हैं, उन कामों को करने वालों के साथ आत्मीयता का सम्बन्ध कायम करना होगा।[५०]

सामान्य दृष्टिकोण से यदि हम व्यक्ति के पैतृक व्यवसाय परिवर्तन का मूल उद्देश्य जानना चाहते हैं, तो उसके कारण में हमें जो बातें ज्ञात होती है वे हैं धन की अधिक आकांक्षा, स्वव्यवसाय के प्रति हेय बोध अथवा अरुचि आदि नाकारात्मक दृष्टि, साथ ही उस व्यवसाय के लिये आवश्यक योग्यता या क्षमता का न होना। गाँधी पैतृक व्यवसाय के परिवर्तन के कारणस्वरूप सभी नकारात्मक प्रवृत्ति को अस्वीकार करते हैं। मात्र धन अथवा हीनता का दृष्टिकोण कर्त्तव्य की गरिमा और नैतिकता को नष्ट करता है जबकि उनके लिये, कर्त्तव्य अपने में एक सद्‌गुण है। जहाँ तक अरूचि की बात है इसका सीधा निहितार्थ है कि किसी अन्य व्यवसाय में व्यक्ति की रूचि है। यहाँ गाँधी व्यक्ति को इतनी स्वतन्त्रता अवश्य देते हैं कि वह उन कार्यों को समाज सेवा के निमित्त कर सकता है। गाँधी का यह मत कि ब्राह्मण माता-पिता का पुत्र ब्राह्मण होगा किन्तु वयस्क होने पर उसके जीवन में ब्राह्मणोचित गुण अभिव्यक्त नहीं हुए तो, उसे ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता। इसी कथन का यदि विस्तार किया जाय तो शूद्र माता पिता का पुत्र वयस्क होने पर यदि शूद्रोचित गुण को अभिव्यक्त नहीं करता तो, वह शूद्र नहीं कहलायेगा निश्चय ही वह या तो वैश्य है या क्षत्रिय या फिर ब्राह्मण। निश्चित रूप से नियत वर्ण में उत्पन्न व्यक्ति में (उदाहरणार्थ ब्राह्मण में यदि शिक्षण की योग्यता व क्षमता नहीं है) यदि उस व्यवसाय को करने की योग्यता व क्षमता या गुण नहीं है, तो वह उस वर्ण से च्युत माना जायेगा। अत: गाँधी स्पष्ट करते हैं *''वर्ण का संरक्षण उसके कर्त्तव्यों का पालन करके ही किया जा सकता है, साथ ही एक अन्य जो महत्वपूर्ण बात है, वह है कि व्यक्ति स्वयं अपने लिये (वर्ण) उपाधि का दावा नहीं करेगा।''*[५१]

गाँधी का समग्र चिन्तन इस मन्तव्य की पुष्टि करता है कि उनके लिये पैतृक व्यवसाय को स्वीकार करने की अनिवार्यता पर बल देने का अर्थ है- प्रत्येक व्यक्ति कर्म के प्रति नैतिक दायित्व-बोध से युक्त हो, अपनी क्षमता तथा योग्यता का पूरा प्रयोग समाज सेवार्थ करे, अपने व्यवसाय के प्रति हीनता बोध से ग्रसित न हो, बल्कि उसकी महत्ता समझकर गरिमा का भाव रखे, साथ ही जीविकोपार्जन का एक संयमित दृष्टिकोण रखकर अपनी शारीरिक एवं मानसिक योग्यता का विकास करे जिसमें उसकी आध्यात्मिक उन्नति का निगूढ़ रहस्य है। गाँधी का श्रम- विभाजन सम्बन्धी यह विचार सभी मनुष्यों को उनकी योग्यता के आधार पर व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता को कहीं भी बाधित नहीं करता। यह सत्य है कि समाज में तथाकथित निम्न कोटि (जो गाँधी दृष्टि में निकृष्ट या निम्न कदापि नहीं है) के व्यवसाय किसी न किसी रूप में अवश्य रहेंगे क्योंकि वे

आवश्यक हैं और कुछ व्यक्तियों को उन कार्यो के साथ लगा रहना होगा, क्योंकि सभी मनुष्यों का समान व्यवसाय करना न तो संभव है न ही वांछनीय। गाँधी दृष्टि में यदि कुछ वांछनीय है, तो वह है- प्रत्येक कर्त्तव्य की सामाजिक प्रतिष्ठा।

निश्चित रूप से आज ऐसी अनेक सेवाओं का प्रचलन है कि जिनके लिये शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं का एक साथ होना अनिवार्य माना गया है। भारतीय परम्परा मे मान्य वर्ण-व्यवस्था का श्रम-विभाजन सिद्धान्त यह प्रतिपादित नही करता कि व्यक्ति में जिस गुण का आधिक्य है (जैसे ब्राह्मण में जिज्ञासवृत्ति, क्षत्रिय में नेतृत्व या रक्षण वृत्ति इत्यादि) केवल तत्सम्बन्धी वृत्ति करेगा, तथा अन्य का परित्याग करेगा। इसी के समतुल्य मत को प्रस्तुत करते हुये गाँधी कहते हैं *''ब्राह्मण केवल शिक्षक ही नहीं है। वह प्रमुखत: शिक्षक है किन्तु जो ब्राह्मण श्रम करने से इंकार करता है, वह मूढ़ माना जायेगा क्योंकि प्राचीन ऋषि जो वन में रहते थे लकड़ी काटते और लाते थे, गाय पालते थे एवं युद्ध भी करते थे किन्तु जीवन में उनका प्रमुख कार्य सत्यान्वेषण ही था। उसी तरह एक विद्याविहीन राजपूत अच्छा नहीं माना जाता था, चाहे वह अस्त्र संचालन में कितना ही कुशल क्यों न हो।''*[५२] इसी प्रकार अन्य वर्णों के लिये भी दोनों ही (शारीरिक एवं मानसिक विकास) आवश्यक है। वे भारतीय परम्परा के सर्वथा विरुद्ध कुछ शास्त्रों में मान्य इस मत को अमान्य करते हैं कि शूद्रों को ज्ञान प्राप्त करने का अधिकार नहीं है बल्कि उनका मानना है *''शूद्र को ज्ञान प्राप्त करने का उतना ही अधिकार है जितना ब्राह्मण को।''*[५३] यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के रूप में विभाजित जातिगत समाज का वर्ण-धर्म से क्या सम्बन्ध है?

गाँधी कहते है, वर्ण का जाति-प्रथा से कोई सम्बन्ध नहीं है। *''वर्णाश्रम का यह अर्थ आज नहीं समझा जाता। मैंने स्वयं अनेक बार कहा है कि आज जो वर्णाश्रम धर्म समझा और अमल किया जाता है, वह असली वर्णाश्रम धर्म की अत्यन्त बुरी नकल है। इस तोड़-मरोड़ को दूर करने के लिये हमें असल को नहीं तोड़ देना चाहिये।''*[५४]

गाँधी वर्ण विभाग को जन्मना मानते हैं, बहुत से लोगों ने वर्ण को कर्म के अनुसार माना है। स्वयं गाँधी जी की *'गीतामाता'* में- *''चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः* का वर्णन आता है। वर्ण विभाग को जन्मना मानने से गाँधी के सन्दर्भ में अनेक भ्रम उत्पन्न होते हैं अत: इस पर उनके स्पष्ट कथनों की विवेचना आवश्यक है। गाँधी जी की भारत यात्रा के दौरान उनसे पूछे गये कुछ प्रश्न और उत्तर जिसका प्रस्तुतिकरण *महादेव देसाई* ने किया; का उल्लेख समीचीन है जो उनके मतों को स्पष्ट करने में सहायक है।''

प्रश्न- *वर्ण-धर्म का सिद्धान्त जिस प्रकार आपने प्रतिपादित किया है, शास्त्रों में मिलता है या वह केवल आपका ही है?*

उत्तर- *मेरा नहीं है। मैंने इसे भगवद्गीता से लिया है।*

प्रश्न- *मगर आप तो भगवद्गीता का आधार रखते हैं न? उसमें तो वर्ण को गुण और कर्म पर माना है। आप यहाँ जन्म को कहाॅ से ला रखते हैं?*

उत्तर- *मैं भगवद्गीता का ही प्रमाण देता हूँ क्योंकि मैं इसे एकमात्र पुस्तक पाता हूँ, जिसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं*

उठाई जा सकती। यह सिर्फ सिद्धान्त निश्चित कर देती है और प्रयोग आप स्वयं खोज लीजिये। गीता मे गुण और कर्म जन्म से मिलते हैं। भगवान कृष्ण ने कहा है- "चातुर्वर्ण्य मया सृष्टं", यानि चारों वर्ण मैने बनाये है, और मैं समझता हूँ कि वे जन्म से है। अगर वर्ण-धर्म जन्म पर निर्भर न हो तो है ही क्या?[५५]

अत:, *"मैं जन्मना वर्ण-विभाग में विश्वास रखता हूँ। यदि ऐसा न होता तो वर्ण-व्यवस्था का कोई अर्थ ही नहीं रहता, वर्ण-व्यवस्था का कुछ उपयोग ही न रहता। तब तो केवल शब्द जाल मात्र रह जाता।"*[५६] गाँधी ने वर्णाश्रम को जहॉ स्वीकार किया वही जाति-व्यवस्था की भर्त्सना की। वह *"वर्णाश्रम को जन्म पर आधारित एक स्वस्थ कार्य का विभाजन"* मानते थे। जाति-व्यवस्था अपने आज के प्रचलित रूप में *"मूल का एक प्रदूषित स्वरूप"*[५७] है। जन्म से जुड़ी वरिष्ठता और कनिष्ठता की मान्यता असत्य आधार वाक्यों पर आधृत है। जन्म पर इस कलंक को हटाना एक कर्त्तव्य है जिसके द्वारा हम वर्णाश्रम को परिष्कृत भी करेंगे। *"मेहतर के बच्चे बिना अपमानित हुये या महसूस किये मेहतर बने रह सकते हैं और वे ब्राह्मणों से ज्यादा अस्पृश्य नहीं माने जायेंगे। एक मेहतर की जीविका उतनी ही योग्य है जितनी एक अधिवक्ता या तुम्हारे राष्ट्रपति की।"*[५८] गाँधी के अनुसार यही हिन्दू धर्म था।

गाँधी यह जरूर मानते थे कि वर्णाश्रम से भिन्न जाति-प्रथा एक *"घृणित और पापपूर्ण कट्टरता"* है। उसकी अपनी सीमाएँ और त्रुटियाँ हैं, किन्तु उसके बारे में कुछ भी वैसे ही पापपूर्ण नहीं है जैसे कि अस्पृश्यता के बारे में। वह शरीर के एक कुरूप विकास अथवा एक फसल के खरपतवारों के समान ही जाति-प्रथा का एक सहउत्पाद है। *"जाति को जात-बहिष्करण के कारण विनष्ट करना वैसे ही गलत होगा जैसे कि शरीर में एक कुरूप विकास होने के कारण उसको विनष्ट करना। अस्पृश्यता जाति-प्रथा का उत्पाद नहीं है, अपितु हिन्दू धर्म में घुस आये ऊँच और नीच के अन्तर के कारण जनित हुआ है और वह उसको खोखला कर रहा है।"*[५९] वह अम्बेडकर से असहमत थे, जिनका ये मानना था कि वर्णाश्रम धर्म को समाप्त किये बगैर अस्पृश्यता नहीं जा सकती। अपने साप्ताहिक *'हरिजन'* में लिखते हुये गाँधी ने वर्णाश्रम तथा जाति पर अपने मान्यताओं को सारांश में प्रस्तुत किया। वे कहते हैं :

"(१) यद्यपि स्मृतियों और अन्य स्थानों में मेरी मान्यता के विपरीत गद्यांश विद्यमान हैं, तथापि मैं वेदों के वर्णाश्रम में विश्वास रखता हूँ, जो कि पद की पूर्ण समानता पर आधारित है।

(२) शास्त्रों का वर्णाश्रम आज व्यवहार में अनुपस्थित है।

(३) वर्तमान जाति-प्रथा वर्णाश्रम के एकदम विरुद्ध है।

(४) वर्णाश्रम में अन्तर्विवाह या अन्तर्भोजन का कोई निषेध न था और न होना चाहिये। अपने पैतृक व्यवसाय को बदलने का निषेध है।

(५) शास्त्रों में जन्म से अस्पृश्यता जैसी कोई भी चीज नहीं है, मैं इसे हिन्दू धर्म पर एक घिनौना धब्बा और एक पाप मानता हूँ।

(६) सुधारकों के लिये जाति को नष्ट करने का सबसे प्रभावी त्वरित तथा सबसे गैर नाजायज तरीका स्वयं के व्यवहार

में उसे प्रारम्भ करना और सामाजिक बहिष्कार के परिणामों का सामना करना है। परिवर्तन क्रमिक एवं अप्रत्यक्ष होगा।''[६०]

(ब) गाँधी और हरिजन

यह एक गलत धारणा है कि गाँधी ने भूतपूर्व अस्पृश्यों के लिये 'हरिजन' शब्द को सर्वप्रथम गढ़ा था। चूँकि वह अपने व्याख्यानों और लेखनों में अस्पृश्य, (अनटचेबिल) शब्दों का प्रयोग किया करते थे। इन जातियों के अनेक लोगो ने इसकी शिकायत की फलस्वरूप जब उन्होंने तत्सम्बन्धी सुझावों को आमंत्रित किया तो एक शिक्षित पूर्व अस्पृश्य ने गुजरात मे प्रथम कवि-सन्त *नरसी मेहता* द्वारा पूर्व में प्रयुक्त किये गये *'हरिजन'* शब्द को सुझाया था।

'हरिजन' का अर्थ है *'ईश्वर का आदमी'।*[६१] गाँधी ने इस शब्द को भली मनसा - कि यद्यपि यह पूर्व अस्पृश्यों के पद में कोई परिवर्तन न ला पाये तथापि यह बदला हुआ नाम कम से कम एक तिरस्कृत पद के प्रयोग से छुटकारा दिलायेगा– के साथ इस शब्द का प्रयोग करते हुये लोकप्रिय बनाना शुरू किया था लेकिन उन दिनों अम्बेडकर एवं अन्य अनेक शिक्षित अनुसूचित जाति वर्ग के लोगों ने *'हरिजन'* शब्द के प्रयोग पर अपनी आपत्ति जताई क्योंकि उनका मानना था कि उसके अपने अभद्र निहितार्थ हैं।

(i) अस्पृश्यता

अस्पृश्यता के प्रचलन को गाँधी ने अत्यन्त निन्दनीय पाया और महसूस किया कि *'अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर एक धब्बा है।'*[६२] किसी रूप में अस्पृश्यता उन्हें गहरा दु:ख देती थी। वह स्पष्टत: कहते थे कि यदि हिन्दू धर्म अस्पृश्यता पर वस्तुत: कृपादृष्टि बनाये रखता है, तो उन्हें स्वयं हिन्दू धर्म का परित्याग करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होगी और यह प्रचलन *''स्मृतियों का एक अप्राधिकृत दुरुपयोग तथा प्रेम का एक निषेध है जो कि हिन्दू धर्म का आधार है।''*[६३] वास्तव में हमें एक ऐसे व्यक्ति जो कि एक द्विजातीय से उसके सभी लोगों के संग आ रहा है, के स्पष्टवादिता और भावनाओं को सराहना चाहिए। १९३२ में पूना समझौते के पूर्व उन्होंने अम्बेडकर से वार्ता के दौरान यहाँ तक कहा : *''मैं दत्तक रूप से एक अस्पृश्य हूँ।''*[६४]

गाँधी के उक्त विचार सितम्बर १९३१ में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन के उपरान्त ब्रिटिश सरकार द्वारा अनुसूचित जाति के लिये पृथक् निर्वाचन प्रणाली की अम्बेडकर की माँग को स्वीकार किये जाने की प्रतिक्रिया में उनके प्रबल विरोध में परिलक्षित हुये। इस *'कम्यूनल अवार्ड'* की तत्काल प्रतिक्रिया में गाँधी ने एक आमरण अनशन की घोषणा की जिसे *अम्बेडकर* ने *'एक राजनैतिक नाटक (stunt)'* बताया था। गाँधी ने यह अनुभव किया कि पृथक् निर्वाचन प्रणाली अनुसूचित जातियों (हरिजन) को और अलग-अलग कर देगी तथा हिन्दू समाज में जातीय विभाजन को स्थायी रूप से चिरस्थायी कर देंगे।[६५] *''राष्ट्रवादी प्रेस ने उपरोक्त कथन को काफी प्रचारित किया और अम्बेडकर की काफी आलोचना की। अम्बेडकर को इस बात का क्षोभ था कि 'कम्यूनल आवार्ड' में दलित वर्गों के लिये विशेष प्रतिनिधित्व को गाँधी ने अपनी आत्मबलि हेतु एक बहाने के रूप में चुना।''*[६६]

मालवीय और अन्य लोगों के द्वारा अम्बेडकर तथा गाँधी के बीच एक मध्यस्थकारी भूमिका के फलीभूत होने के क्रम में दोनों ने यरवदा जेल में वार्तालाप किया। अम्बेडकरनेसभी सीटों के लिये *पैनल प्रणाली (जिसे 'संयुक्त निर्वाचन प्रणाली' के नाम से भी जाना जाता है)* के गाँधी सुझाव को स्वीकार किया और दोनों ही दस वर्षो के पश्चात एक जनमत संग्रह के लिये राज़ी हुये। सितम्बर २४, १९३२ को दोनों ने एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसे आज *'पूना समझौता'* कहा जाता है।

(ii) अस्पृश्यता विरोधी अभियान

हरिजनों के दु:ख तथा उनकी शोचनीय दशाओं के प्रति अत्यन्त संवेदनशील गाँधी ने सम्भवत: प्रथम एवं द्वितीय गोलमेज सम्मेलनों में अम्बेडकर द्वारा लिये गये कट्टर रुख से आहत होकर लोगों के मध्य अस्पृश्यता के प्रचलन की बुराईयों और उस प्रचलन की धार्मिक मान्यता के अभाव के प्रति एक जागरूकता पैदा करने के लिये राष्ट्र स्तरीय अभियान छेड़ा। १९३२ में गाँधी ने *'अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ' (जिसे सर्वेन्ट्स ऑफ दि अनटचेबल्स सोसायटी के नाम से भी जाना जाता है)* की स्थापना दलित समुदायों में सामाजिक सुधार और शैक्षणिक प्रगति के उपक्रम हेतु की।[६७] उन्होंने आवासीय व्यावसायिक स्कूलों के साथ उनके बच्चों के लिये अनेक स्कूल भी प्रारम्भ किये। इसके साथ, सफाई कर्मी संघों, सहकारी ऋण सोसायटियों और आवासीय सोसायटियों की स्थापना हुई। आगे गाँधी ने ११ फरवरी १९३३ को पूना से एक साप्ताहिक- *'हरिजन'* निकालना प्रारम्भ किया जिसका प्रमुख उद्देश्य उनके ही शब्दों में हरिजन युवाओं को *"अस्पृश्यता के विरुद्ध अभियान से जुड़े भारत के विभिन्न हिस्सों में सप्ताह भर में किये गये कार्यक्रमों का एक सार-संक्षेप"* देना था।[६८]

गाँधी ने सम्पूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण भी किया इसके पहले हरिजन सेवार्थ सितम्बर १९३३ साबरमती आश्रम को *'हरिजन सेवक संघ'* को दान में दे दिया। बाद में वव वर्धा स्थित *'सत्याग्रह आश्रम'* में चले गये। ७ नवम्बर १९३३ को वर्धा से गाँधी ने *'हरिजन यात्रा'* प्रारम्भ की। प्रत्येक सप्ताह सैकड़ों किलोमीटर देश के विभिन्न हिस्सों में निरन्तर भ्रमण करते हुये हरिजन-कोष के लिये धन तथा बहुमूल्यों के रूप में चन्दा इकट्ठा किया जिसका कुल योग दो माह में नब्बे हजार रुपये आया। जहाँ कहीं भी गाँधी गये उन्होंने हरिजनों की बस्तियों में जाकर और साथ ही सवर्ण हिन्दुओं को हरिजनों के साथ भोजन के लिये मनाते यद्यपि स्वयं वह व्यक्तिगत रूप से निश्चित नहीं थे कि अन्तर्जातीय भोजन एक अनिवार्य सुधार था तथा उनके लिये सार्वजनिक नलकूपों और मन्दिरों को प्रयोग हेतु खोल दिया जाना चाहिये।[६९] वे सजातीय हिन्दुओं को हरिजनों के साथ भोजन और विवाह करने के लिये विवश करने में विश्वास नहीं करते थे जहाँ कहीं भी गाँधी ने सभा को सम्बोधित किया वहाँ लोग भारी संख्या में उपस्थित हुये और उनकी उपस्थिति में उपरोक्त मसलों पर उनके अनुरोधों को माना। यह दीगर बात थी कि गाँधी के जाने के बाद मंदिरों और नलकूपों को शुद्ध किया गया। गाँधी ने सजातीय हिन्दुओं को प्रबुद्ध भी किया कि अस्पृश्यता हिन्दू धर्म द्वारा अनुमन्य नहीं है तथा ऐसा कोई भी प्रचलन एक पाप और एक अपराध है। इस तूफानी दौरे ने गाँधी के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव डाला परन्तु यह गाँधी के अडिग निश्चय को तोड़ न सका और बीच-बीच में उन्होंने उतना ही आराम किया जितना उनके लिये जरूरी था। गाँधी की इच्छा थी कि प्रत्येक हरिजन बालक एक साफ-सुथरे तरीके से रहना

और स्कूल जाना सीखे। उन्होंने उनको निम्नलिखित के अनुपालन द्वारा आन्तरिक सुधार को चलाने की सलाह दी :

"(१) *हरिजनों के मध्य सफाई और स्वास्थ्य को प्रोत्साहन। एक भंगी तब तक साफ नहीं है जब तक अपने गंदे कार्य से उसने स्वयं को साफ न कर लिया हो। सेवा के उपरान्त जब उसने अपने को साफ कर लिया हो तो उसे समाज के किसी अन्य सदस्य के समान ही स्वीकार किया जाना चाहिये।*

(२) *गंदे कार्यों (जैसे-मल ढोना) को करने के बेहतर तरीकों का प्रयोग।*

(३) *यदि मांस का पूर्णत: त्याग नहीं तो, गोमांस और सड़े हुये मांस को त्याग देना चाहिये।*

(४) *नशीले पदार्थो का परित्याग।*

(५) *अभिभावकों को जहॉ कहीं भी वे उपलब्ध हों दिनी-स्कूलों में अपने बच्चों को भेजने तथा स्वयं अभिभावको को रात्रि-स्कूलों में जाने के लिये प्रेरित करना।*

(६) *आपस में अस्पृश्यता का अन्त।*"[७०]

गाँधी बिना किसी बाध्यता के तथा सजातीय हिन्दुओं के स्वैच्छिक सुधार के पक्षधर थे, "*मेरी यह बिल्कुल इच्छा नही है कि मन्दिरों को हरिजनों के लिये खोल दिया जाय जब तक कि खोलने के लिये सजातीय हिन्दू जनमत परिपक्व नहीं है।*"[७१] आगे वह मानते थे कि समाज सुधार में सरकार की कोई सक्रिय और अग्रणी भूमिका नहीं है वह केवल शासित की अभिव्यक्त इच्छा की एक विधायिका एवं कार्यपालिका थी। उनका यह भी स्पष्ट मत था कि कानून की शक्ति द्वारा छुआछूत को नहीं हटाया जा सकता। वह हरिजनों के द्वारा किसी धर्म-परिवर्तन के पक्षधर नहीं थे क्योंकि धर्म तात्विक रूप से एक हृदयस्थ मामला था तथा हिन्दू धर्म द्वारा छुआछूत मान्य नहीं थी।

वर्णाश्रम धर्म और जाति-व्यवस्था में गाँधी द्वारा किया गया अन्तर जनमानस के लिय एक अबूझ पहेली साबित हुआ है उनका दृष्टिकोण वर्णाश्रम को कार्य का एक प्रकार्यात्मक भेद मानता है और अन्य स्तरीयकरण के आधार नियम की अनदेखी करता है। आगे, उनका यह विचार कि जाति को समाप्त होना चाहिये यदि वह अस्पृश्यता बढ़ाती है। हिन्दू धर्म में उनकी निष्ठा से बेमेल है, जो जाति को एक पवित्र वैधता प्रदान करता था। उनके तर्क की अस्पृश्यता धर्म द्वारा अनुमोदित नहीं तथा वह हिन्दू धर्म पर धब्बा था; आम लोगों के लिये ज्यादा मायने नहीं रखता था जो स्वभाव और विश्वास से धार्मिक थे, और यदि जाति धर्म द्वारा अनुमोदित थी, तो उसका अनुपालन होना ही था। उनके लिये धर्म उनके जीवन को निर्दिष्ट करता है तथा जाति उनके जीवन का एक रास्ता है। दोनों आन्तरिक रूप से सम्पृक्त है तथा इसलिये दोनों को अनुपालित करना चाहिये। अत: गाँधी संरचनात्मक सुधार नहीं अपितु केवल प्रकार्यात्मक सुधार प्रस्तावित कर रहे थे।

हिन्दू धर्म के आंतरिक विरोधाभासों को *अम्बेडकर* द्वारा निम्नलिखित शब्दों में साफ तौर पर उजागर किया गया है : "*वह धर्म जो व्यक्ति के आत्मसम्मान की मान्यता को पाप के रूप में देखता है वह एक धर्म नहीं बल्कि बीमारी है, वह धर्म जो एक मलिन जानवर को छूने की अनुमति तो देता है लेकिन व्यक्ति को नहीं वह धर्म नहीं एक पागलपन है, वह धर्म जो यह कहता है कि एक वर्ण धर्नाजन नहीं कर सकता, हथियार नहीं उठा सकता बल्कि मानव जीवन का एक मजाक है, वह*

धर्म जो यह शिक्षा देता है कि ज्ञानी को अज्ञानी बने रहना चाहिये, कि गरीब को गरीब बने रहना चाहिये, एक धर्म नही बल्कि एक सजा है।''[७२]

जहाँ तक अस्पृश्यता के विरुद्ध गाँधी की अपीलों और अथक कार्य का प्रश्न है, उनके शब्द महज नारे साबित हुए तथा उनके कार्य की प्रशंसा तो हुई लेकिन न तो कांग्रेस के द्वारा और न ही उनके असंख्य अनुयायियों के द्वारा अनुपालित किया गया। शताब्दियों पुरानी रीतियों और व्यवहारों को एक रात में सिर्फ इसलिये नहीं बदला जा सकता कि वे एक महान नेता की शिक्षा है। नेता को आदर मिला लेकिन वह उस धर्म से अलग थे जिसमें आम जनता की दैवी आस्था थी।

मुखर्जी का मत है, *अस्पृश्यता के प्रश्न पर अम्बेडकर ज्यादा स्पष्ट थे। विजातीय जाति-व्यवस्था का एक सहउत्पाद है,जब तक जातियाँ रहेंगी तब तक विजातियाँ भी रहेंगी और जाति-व्यवस्था के विनष्टीकरण के अतिरिक्त विजातीय की मुक्ति नहीं हो सकती।*[७३] *''अस्पृश्यता को पूर्णत: बन्द करना होगा।''*[७४]

गाँधी श्री नारायण गुरू के इस सलाह को नहीं मानते थे कि सिर्फ अस्पृश्यता के लिये नहीं, अपितु जाति की समाप्ति के लिये उन्हें कार्य करना चाहिये। उनके अपने दृष्टिकोण कि *'अस्पृश्यता हिन्दू धर्म पर धब्बा है'* तथा *'अस्पृश्यता एक पाप है'* गाँधी जयन्ती, वर्दन्ति दिवस पर आह्वान के लिये महज नारे बन कर रह गये हैं। यदि नगरों और शहरों में अस्पृश्यता का व्यवहार ज्यादा प्रचलित नहीं है तो इसका कारण उसके विरुद्ध कानून या गाँधी के उपदेशों के प्रति आदर नहीं है, बल्कि नगरीकरण, औद्योगिकीकरण, शिक्षा, आधुनिकता की बढ़ती प्रवृत्ति इत्यादि जैसे अन्य कारण हैं। यद्यपि गाँधी मानते थे कि *''मेरे हरिजन कार्य के पीछे कोई राजनैतिक मंशा नहीं है,''*[७५] तथापि यह नोट करना महत्वपूर्ण है कि उन्होंने अस्पृश्यता विरोधी अभियान कम्यूनल अवार्ड तथा तदुपरान्त हुये पूना पैक्ट के पश्चात छेड़ा था। वास्तव में अम्बेडकर के शब्दों में, हरिजन सेवक संघ का मुख्य उद्देश्य अनुसूचित जनजातियो को *'सामाजिक एवं राजनैतिक समतुल्य'* बनाना नहीं था और *''श्री गाँधी के सम्मुख कभी कोई ऐसा उद्देश्य नहीं था तथा वो कभी ऐसा करना नहीं चाहते थे......... यह एक लोकतान्त्रिक और क्रान्तिकारी का कार्य है श्री गाँधी इनमें से कोई भी नहीं हैं।''*[७६]

अम्बेडकर गाँधी के साथ हुये अपने समझौते (पूना समझौते की ओर इंगित करते हुये) के अपने निर्णय पर काफी पश्चाताप करते थे और २३ सितम्बर १९४४ को अनुसूचित जाति संघ को सम्बोधित करते हुये उन्होंने पृथक् निर्वाचन की पुनर्मांग को उठाया। पूना समझौते की यह व्यंग्योक्ति थी कि स्वयं अम्बेडकर १९५२ के आम चुनावों में पराजित हुये;इसका कारण उन्होंने संयुक्त निर्वाचन प्रणाली को आवंटित किया तथा एक उदास टिप्पणी की : *''दलित वर्गों के स्वनिर्भर आन्दोलनों को पूना समझौते ने एक मृत्यु आघात दिया।''*[७७]

(स) 'आश्रम' एवं गाँधी दृष्टि

गाँधी, 'आश्रम-व्यवस्था' जो प्राचीन भारतीय इतिहास में श्रममूलक कार्य विधियों और अध्यात्ममूलक निर्देशों से महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती थी, के गुणों से अभिभूत होकर आज की विकृत परिस्थिति में पुन: इस व्यवस्था की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। आज की दयनीय स्थिति के विषय में वे कहते हैं : *''आज यदि वर्ण विरुद्ध हो गये हैं, तो आश्रम*

पूर्णतया लुप्त हो गये हैं। लेकिन मुझे जरा भी सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म की पूर्ण सफलता का यह आश्रम-व्यवस्था रहस्य है।''[७८] इस व्यवस्था में गाँधी जी का पूर्ण विश्वास था और उनकी मान्यता थी कि यह तर्क अपने पूर्ण रूप में स्थापित हो सकता है, जबकि वर्ण-धर्म, जिसके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है, पुनः प्रतिष्ठित हो जाय।[७९] वर्णाश्रम की प्रतिष्ठा में समाज की सच्ची प्रतिष्ठा सन्निहित है।

गाँधी के अनुसार *''आश्रम का अर्थ है मनुष्य जीवन के चार विभाग। .... ब्रह्मचर्य आश्रम का नियम है कि दूसरे यानि गृहस्थाश्रम में वे प्रवेश कर सकते हैं, जिन्होंने कम से कम पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन किया हो। और चूँकि हिन्दू धर्म की सारी कल्पना ही मनुष्य को अच्छा बनाने की, उसे ईश्वर के निकट पहुँचाने की है, इसलिये ऋषियों ने गृहस्थाश्रम की भी एक मर्यादा बाँध दी और हम पर वानप्रस्थ और संन्यास का बन्धन रखा। लेकिन आज सारे हिन्दुस्तान में एक भी सच्चे ब्रह्मचारी, सच्चे गृहस्थ को खोज निकालना असम्भव है; वानप्रस्थ और संन्यासी की तो बात ही नहीं है। हम अपनी बुद्धिमत्ता में भले ही इस योजना पर हँस लें, लेकिन मुझे इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दू धर्म की सफलता का यही एक कारण है।''*[८०]

आश्रम-व्यवस्था को गाँधी हिन्दू धर्म का एक योगदान मानते थे वे कहते हैं *''आश्रमों के रूप में उसका योगदान है, जो एक अनोखा योगदान है इसके समान चीज सारे संसार में नहीं है।''*[८१] गाँधी इस व्यवस्था के माध्यम से एक उदात्त नियम की स्थापना को प्रोत्साहित करते हैं जिस पर चलकर समाज व्यवस्थित रूप से संचालित हो सकता है।

खण्ड (ग) मूल्यांकन

सामाजिक विभाजन की अनिवार्यता को स्वीकार कर गीता वर्णाश्रम व्यवस्था के रूप में समाज को इस स्थिर नियम पर आधृत करती है कि हर एक से उसकी सामर्थ्य के अनुसार काम लो और उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप सब कुछ दो। मनोवैज्ञानिक रूप से गीता की वर्ण की अवधारणा मानव स्वभाव की एकरूपता के अस्तित्व को अमान्य करती है और समाज में प्रत्येक जाति-दायित्व की वैयक्तिकता को अभिपुष्ट करती है। चूँकि मानव और मानव में प्रकृति (गुण) के तत्व अलग होते हैं उसी प्रकार क्रिया के सर्वप्रमुख गुण पर अधिष्ठापित जाति कर्त्तव्य जाति-जाति में भिन्न होते हैं। व्यक्तियों के पास विभिन्न मानसिक संरचनाएँ होती है वे सभी एक और समान आदर्श का अनुपालन नहीं कर सकते।[८२] चूँकि व्यक्तियों के प्रकार्यात्मक समूह साथ-साथ रहते और काम करते हैं अतः वर्ण की सक्रियता वैयक्तिक है, जो उसकी प्रकार्यात्मक वैयक्तिकता और स्वतन्त्रता का निर्वाहन करती है। इस प्रकार गीताकृत वर्ण-धर्म के अधीन मान्य जाति कर्त्तव्य, प्राकृतिक प्रकार्यात्मक अन्तरों को प्रोत्साहित करता है तथा वर्ण-धर्म का प्रत्यय अन्य वर्ण धर्मों को समसमाहित करते हुये उदार सामाजिकता का पोषक है, कहने का तात्पर्य है कि एक तरह से यह सामाजिक विभाजन की अनिवार्यता को समुचित आधार प्रदान करता है। यह बात गीता की इस उद्घोषणा से और भी स्पष्ट होती है कि सामाजिक पद तथा आध्यात्मिक योग्यता में व्यक्ति का उत्थान व पतन उसके अपने जाति कर्त्तव्य की साकारता को परिशुद्ध करने पर निर्भर करता है। इस प्रकार यह व्यक्ति के लिये सामाजिक और आध्यात्मिक विकास की आशा प्रदीप्त करती है।

गीता में चातुर्वर्ण्य निश्चय ही सामाजिक आदर्श है लेकिन चातुर्वर्ण्य के प्रसंग में ध्यातव्य है कि वेदों में कहीं भी

यह स्पष्ट निर्देश नहीं है कि समाज में चातुर्वर्ण्य रचना का आधार क्या है? वेदों का विचार करने से ज्ञात होता है कि जन्म एक प्रधान निर्णायक होने पर भी केवल जन्म से निर्णय वेदो को इष्ट नही है। महाभारत काल में भी जन्म से जाति काफी रूढ़ हो चुकी थी, फिर भी जगह-जगह युधिष्ठिर जैसे प्रधान नायक एवं भीष्म जैसे प्रधान वक्ता के द्वारा यह कहलवाया गया है कि जन्म-मात्र से वर्ण की सिद्धि नहीं होती एवं जहाँ तदत्त गुणों को देखा जाये वहाँ जन्म के अभाव में भी ब्राह्मणत्व स्वीकार कर लेना चाहिये। ये प्रसंग यह सिद्ध नहीं करते कि जन्म का कोई हिस्सा जाति निर्णय में है ही नहीं। इन प्रसंगों से यही ज्ञात होता है कि व्यावहारिक दृष्टि से अधिकतर जन्म ही निर्णायक होता है। परन्तु हम यहाँ केवल यह निर्देश करना चाहते हैं कि जन्ममात्र ही जाति का निर्णायक नहीं, इसका निर्देश हमें जगह-जगह मिलता है। आज परिस्थिति ऐसी विचित्र है जिसमें चातुर्वर्ण्य को रखते हुये हमें सोचना पड़ेगा कि किसी आधार पर ही इसको रखा जाय। यह भी निश्चित है कि जन्म, गुण और कर्म तीनों को उसका घटक मानना पड़ेगा। केवल एक को मानकर मर्यादा सुरक्षित नहीं रहेगी। लेकिन आज की जातिप्रथा के मृत रूप में जन्म ही एकमात्र वर्ण का निर्णायक रह गया है, वह भी उतना ही अवैदिक है जितना कुछ आधुनिक विचारकों का केवल कर्म के आधार पर जाति-निर्णय का नवीन सिद्धान्त। तीनों के समन्वित रूप से वर्ण का संरक्षण सम्भव हो सकेगा।

मनोविज्ञान के प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तित्व अनुवंश एवं पर्यावरण का फल है। वर्ण इसका ही व्यावहारिक रूप है। आज केवल अनुवंश को मानकर पर्यावरण को हम भुला देंगे तो भी हम गलती करेंगे। अनुवंश के संरक्षण के लिये ही विवाह सम्बन्धी नियम बनें एवं पर्यावरण के नियंत्रण के लिये भोजन और स्पर्श आदि नियमों का निर्माण किया गया। इन दोनों का नियामक धर्म बना रहे, इसलिये अधिकार और कर्मों का विस्तृत विवेचन किया गया। संक्षेप में चातुर्वर्ण्य का यही दार्शनिक्र एवं वैज्ञानिक पक्ष है। गीता में भी इसी को *'मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः'*, *'शमोदमः शौर्यं तेजः'* इत्यादि के द्वारा संक्षेप में सूत्र रूप में कहा गया है। श्रीकृष्ण स्वयं गुणों को आनुवंशिक मानते थे। लेकिन स्पष्ट है आज के तनुबिन्दु और क्रोमोसोम्स के परिवर्तन से गुणों के परिवर्तन तक पहुँचा हुआ विज्ञान केवल अनुवंश के अधीन नहीं रह सकता। परन्तु यदि उस स्तर पर परिवर्तन नहीं किया गया है तो केवल संभावनाओं के द्वारा व्यक्तित्व का परिवर्तन मान लेना अंधविश्वास के सिवाय और कुछ भी नहीं है।

गीता ने वर्णसांकर्य एक दोष माना है, वह भी इसी दृष्टि से ही माना है। हम देखते हैं कि गीता स्वयं इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करती है क्योंकि श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों ही जाति के प्रतिरक्षक हैं, वे जाति-व्यवस्था पर आधारित सामाजिक संरचना को बनाये रखना चाहते हैं और उसे स्थिर करके सामाजिक विखण्डन तथा अराजकता को रोकना चाहते हैं। हालाँकि एक सामान्य व्यक्ति के लिये अर्जुन का *'जातियों के अन्तर्सम्मिश्रण' (वर्णसंकरता)* पर विस्मय और श्रीकृष्ण का *'जातियों के कुसंगठन' (confusion of castes)* पर चिन्तित होना समान अर्थ प्रेषित करता प्रतीत होगा। लेकिन गीता का सही ज्ञान रखने वाला यह पाता है कि दोनों जाति की मान्यता और उसकी सामाजिक कर्मिता का भेद न केवल मात्रा में है, बल्कि प्रकार में भी है। अर्जुन की जाति (वर्ण) की अवधारणा व्यक्ति के पैतृक जन्म पर आधारित पारम्परिक अवधारणा है कि जबकि श्रीकृष्ण उससे मूलतः हटकर व्यक्ति के गुण और कर्म पर बल देते हैं। अर्जुन व्यक्ति के वंशानुगत जन्म के बाह्य पहलू से जाति को

देखते हुये उसे प्राकृतिक मानता था और परिवार तथा प्रजाति की सामाजिक एवं धार्मिक परम्पराओं का गुणगान करता है। वह जातियों के मिश्रण की रोकथाम हेतु अपने सत्यनिष्ठ कर्त्तव्य से विमुख होना चाहता था। जन्म से, प्रकृति और पालन से योद्धा जाति का होते हुये वह युद्ध करने के अपने जाति कर्त्तव्य के बजाय जाति की शुद्धता को प्रसंस्करित करने को प्राथमिकता देता है। इस प्रकार वह सुसंतति विज्ञान के नियम को मानने वाला एक अशमनीय विश्वासी था। वह विभिन्न जातियों की सामाजिक समानता के नियम पर आधृत सामाजिक सहयोग का पक्षधर नहीं था। उसकी जाति की अवधारणा सामाजिक एकत्व और बन्धुत्व को प्रोत्साहित करने की अपेक्षा क्रमिक सामाजिक दुर्व्यवस्था तथा संक्षरण को प्रोत्साहित करती थी। अत: गीता मानती है कि जाति की उपरोक्त मान्यता अधोगत्यात्मक है, जो कि जाति के सामाजिक सिद्धान्त हेतु एक असाम्यतावादी उपागम का सूत्रपात करती है।

गीता के सम्प्रभु, श्रीकृष्ण जाति की अवधारणा को एक सामाजिक रूप से उदार तथा सृजनात्मक अर्थ प्रदान कर अर्जुन के मिथक् को तोड़ते हैं। उसके कर्त्तव्य पर बल देते हुये वह जाति के प्रत्यय और मूल्यों के सामाजिक चिन्तन को क्रांतिकारी बना देते हैं। जैसा *राबर्ट माइनर* ने इंगित किया : *''कृष्ण कुल धर्म, 'पारिवारिक दायित्व' की तुलना में 'वर्ण-धर्म', 'वर्ग-दायित्व' को प्राथमिकता देते हुये प्रतीत होते हैं।''*[८३] चूँकि अर्जुन स्वधर्म की सामाजिक प्रकृति तथा आध्यात्मिक महत्व को नहीं जानता, इसलिये वह वर्ण-धर्म की सामाजिक प्रकृति एवं अभ्रंशनीयता से भी अनभिज्ञ था। परन्तु श्री कृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति का अंतर्निहित स्वभाव और कार्य की गुणवत्ता न केवल उसका जन्म (गुण) अपितु उसकी जाति को भी निर्धारित करता है। *श्री अरविन्द के शब्दों में ''जाति क्रम में एक व्यक्ति का पद उसके जन्म से नहीं बल्कि उसकी क्षमताओं तथा आंतरिक प्रवृत्ति के द्वारा'' तय होता है।*[८४]

वर्तमान सामाजिक विभाजन के रूप में मान्य जाति-व्यवस्था गीता मत के सर्वथा विपरीत है। श्रीकृष्ण द्वारा वंशानुगत जन्म को जाति के आधार के रूप में नकारना और कर्म एवं गुण पर *''कार्यों में अंतर करने हेतु उनका बल गीता की सामाजिक शिक्षाओं को एक महत्व एवं विकासशील गुण प्रदत्त करता है जो जाति के प्रत्यय के विपरीत है।''*[८५] *स्वामी विरेश्वरानन्द* लिखते हैं : *''श्रीकृष्ण ने समाज के इस विभाजन के आधार को परिवर्तित कर आर्य समाज में सामाजिक उदारवाद का सन्निवेश किया, तथा आर्य सामाजिक ढाँचे में अनार्यों का अंतर्समाहिकीकरण सम्भव बनाया।''*[८६] *गीता का अनुगमन करते हुये गाँधी का मत था कि ''वर्ण का जाति के साथ कोई सरोकार नहीं है। अस्पृश्यता की तरह, जाति हिन्दू धर्म पर कलंक है।''*[८७]

नि:सन्देह गाँधी के विचार हिन्दू मतों में अधिष्ठापित हैं, जो व्यवस्था में परिवर्तन को समायोजन एवं परिष्करण के दृष्टिकोण से रखते थे। उदाहरण के लिये जाति पर गाँधी का कभी एकपक्षीय दृष्टिकोण नहीं रहा। एक लेख में,[८८] गाँधी ने असंदिग्धार्थ रूप से हिन्दू सामाजिक संरचना की अक्षुण्णता का कारण जाति-व्यवस्था को माना जो अपनी वर्णनात्मक एवं प्रणालीय क्षमताओं के कारण स्वराज और सामाजिक सुधार के बीजों से परिपूर्ण थी। प्रारम्भ में गाँधी अन्तर्विवाह और अन्तर्भोज पर जातीय प्रतिबन्ध का समर्थन करते थे किन्तु बाद में उन्होंने अपनी कट्टरता को परिवर्तित करते हुये इस प्रकार के समागम की अनुमति दी थी।

पिछली शती के तीसरे दशक का उत्तरार्द्ध एक अन्य मायने में गाँधी की सफलता का सम्मिलन प्रस्तुत करता है जहाँ एक ओर वर्ण धर्म को जाति-प्रथा से और दूसरी ओर अन्तर्भोज और अन्तर्विवाह पर प्रतिबन्धों को अलग करने का प्रयास किया गया। तदुपरान्त हम उनको समकालीन जाति-व्यवस्था को एक *"मूल चातुर्स्तरीय विभाजन की एक अनुकृति"*[८९] कहते हुये पाते हैं जिसने *"हिन्दू धर्म और भारत को अपमानित किया था।"*[९०]

हिन्दू समाज के शास्त्रीय चातुर्विभाजन को अपने शुरुआती लेखों में गाँधी द्वारा जाति के समतुल्य रखा जाता है। गाँधी के इस जाति बचाव को एक ऐतिहासिक दृष्टि आयाम में देखा जाना चाहिये। गाँधी कहते थे कि: *"जातियों की वृहद् व्यवस्था न केवल समुदाय की धार्मिक आवश्यकताओं का उत्तर है बल्कि उसकी राजनैतिक आवश्यकताओं का भी। ग्रामीण अपने आंतरिक मामलों को जाति-व्यवस्था के माध्यम से प्रबंधित करते थे तथा उसी के द्वारा किसी शासकीय सत्ताओं से सम्बन्ध स्थापित करते थे। एक राष्ट्र, जो जाति व्यवस्था पैदा करने की क्षमता रखता था, के लिये व्यवस्थापन की उसकी शक्ति को अस्वीकृत करना संभव नहीं है।"*[९१]

गाँधी रूढ़िवादी हिन्दू धर्म के महज एक सुधारवादी टिप्पणीकार नहीं थे बल्कि, उन्होंने हिन्दू धर्म के लिये जाति प्रथा को आप्रासंगिक सिद्ध करने का प्रमाणित उपक्रम किया। गाँधी जाति-व्यवस्था को अनैतिक, अमानवीय व अन्यायपूर्ण मानते थे तथा अपने सार्वजनिक जीवन के दो दशकों को तथाकथित अस्पृश्यों के उद्धार और भलाई के लिये समर्पित किया; जिन्होंने सदियों से अपमान, अन्तर्भेद तथा शोषण सहा था।

गीता द्वारा स्वीकृत पारम्परिक व्यवस्था में कुछ विशेष परिवर्तनों का अनुमोदन करते हुये भी गाँधी का विश्वास था कि आदर्श परिस्थिति में वर्ण-व्यवस्था परिशुद्ध थी क्योंकि वह व्यक्तियों के मध्य परम समानता प्रसूत करती थी। इस सन्दर्भ में उनका परिवर्तन यह था कि वे विभिन्न वर्णों को लम्बवत के बजाय क्षैतिज मानते थे। साथ ही, वर्ण-व्यवस्था के वंशानुगत मूल्य को इस हद तक परिष्कृत करते हैं जिस हद तक वह पैतृक व्यवसाय के चयन को सीमित करता था।

वर्ण के वंशानुगत प्रकृति पर गाँधी का बल देना उन्हें एक कट्टरवादिता के आरोप से युक्त करता है। लेकिन निष्पक्षता के साथ यदि इसका अध्ययन किया जाये तो हम पाते हैं कि वर्ण-व्यवस्था द्वारा वंशानुक्रमण की बात पर बल देने का अर्थ उत्तराधिकार अथवा वंशपरम्परा का समानार्थी नहीं, बल्कि पर्यावरण सम्बन्धी प्रभावों पर अधिक बल देना है। वस्तुत: वंशानुक्रमण और उत्तराधिकार (अथवा वंश परम्परा) में अन्तर होता है। वंशानुक्रमण का अर्थ किसी के कुल, पूर्वजों या वंश की परम्परा से न लगाकर उन गुणों के समूह से ही लगाया जाना चाहिये जिन्हें अपने साथ लेकर ही एक मनुष्य इस संसार में जन्म लेता है। वंशानुक्रमण मनुष्य को ऐसी विभिन्न क्षमताओं से विभूषित करता है जिनमें से कुछ एक स्पष्टता के साथ व्यक्त हो जाती हैं, तो कुछ अव्यक्त ही रह जाती है और फिर या तो उसी रूप में या फिर कुछ क्षीण रूप में एक पीढ़ी से दूसरी को हस्तान्तरित होती रहती है। इन गुणों और क्षमताओं की दृष्टि से हर व्यक्ति शेष औरों से भिन्न ही होता है। इन क्षमताओं के योग से मनुष्य के *'बीज रूप'* का, उसकी जन्मजात प्रकृति का, उसके मूलाधारों का अथवा यों कहें कि उसकी *'निर्धारित रूपरेखा'* का निर्माण होता है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है व्यक्तित्व अनुवंश और पर्यावरण का फल है। *'पर्यावरण' (जिसे शास्त्र में क्षेत्र अथवा कर्मभूमि की संज्ञा दी गयी है)* बहुत कुछ मनुष्य की अपनी ही *'सृष्टि'* का परिचायक है। किसी भी प्रकृति प्रदत्त वस्तु के स्वरूप को ढाला और गढ़ा तो जा सकता है, परन्तु किस सीमा तक तथा किन दिशाओं मे गढ़ा या ढाला जा सकेगा यह बहुत कुछ उस वस्तु विशेष के अपने गुण और स्वरूप (अन्तर्वस्तु) पर ही निर्भर है। मनुष्य की अन्तर्निहित क्षमताओं पर यह बात अक्षरश: लागू होंती है। एक समान पर्यावरण में प्रत्येक मनुष्य उसके प्रति (अपने स्वभाव, गुण, आवश्यकताओं और सामर्थ्य इत्यादि के अनुसार) अलग-अलग रीति से प्रतिक्रिया करता है। सत्य है कि बाह्य दृष्टि से कोई भी पर्यावरण कितना ही एकरसतापूर्ण क्यों न दृष्टिगोचर होता हो, मनोवैज्ञानिक रीति से वह किन्हीं दो व्यक्तियों के लिये कभी एक जैसा हो ही नहीं सकता।

गाँधी द्वारा पैतृक व्यवसाय को स्वीकार करने का अर्थ पर्यावरण सम्बन्धी उन प्रभावों पर बल देना है जो व्यक्ति इसके द्वारा प्राप्त करता है। वे परिस्थितियाँ, जो पैतृक व्यवसाय के सम्बन्ध में कदम-कदम पर तरह-तरह के ज्ञान प्रदान करती है और व्यक्ति के मन में रूचि और निष्ठा को जागृत रखती है, गाँधी के लिये ज्यादा मायने रखती हैं। इसी प्रकार व्यक्तियों के जन्मजात गुणों पर आधारित जाति-व्यवस्था की सामाजिक सेवा के एक वैज्ञानिक प्रणाली के रूप वकालत करते हुये *ऐनी बेसेन्ट* का कहना है *''प्राचीन व्यवस्था के अन्तर्गत युवाओं को अपने भविष्य के राष्ट्रीय एवं सामाजिक दायित्वों के लिये प्रशिक्षित किया जाता था और यह पश्चिम में प्रशिक्षित व्यवसायों तक सीमित न रह कर विशेषीकृत तथा व्यवसायपरक प्रशिक्षण के रूप में पुनर्प्रकट हो रहा है .... तथा इस प्रकार प्रत्येक का राष्ट्र के प्रति मूल्य अपने अनिवार्य आदरपूर्ण व्यवसाय के द्वारा अभिवृद्ध हो रहा है क्योंकि एक प्रकार्यात्मक राष्ट्रीय जीवन शैली व्यवस्थित हुई है।''*[१२]

निश्चय ही आज के निपुण व्यवसाय गीता की वर्ण-व्यवस्था से किसी रूप में भिन्न नहीं है। उदाहरण के लिये एक क्षत्रिय के पारम्परिक कर्त्तव्य और एक आधुनिक वैज्ञानिक अभियन्ता या प्राविधिक (टेक्नोलॉजिस्ट) कर्ता के कार्य के बीच कोई प्रकार्यात्मक भेद प्रतीत नहीं होता। वैज्ञानिक क्षत्रिय योद्धा के समान राष्ट्रीय हितों की रक्षा हेतु स्वयं में आक्रामक और प्रतिरक्षक की द्वय भूमिकाओं को समन्वित करता है। इसी प्रकार एक दार्शनिक या राष्ट्रनेता जो विश्व शान्ति का पुरोधा है, वह एक ब्राह्मण के आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है जिसका सर्वप्रमुख गुण है 'सत्व' जो शान्ति का द्योतक है। कृषि तथा पशु चिकित्सक, *''अधिवक्ता एवं चिकित्सक को वैश्यों के सदृश माना जाना चाहिये।''*[१३] जो राष्ट्र नेता (ब्राह्मण), वैज्ञानिक (क्षत्रिय) कृषि और पशु चिकित्सक इत्यादि को प्रशासकीय संसाधन के रूप में विभिन्न क्षमताओं द्वारा अपनी सेवाएं प्रदत्त करते हैं उन्हें शूद्र माना जा सकता है। अत: वर्तमानकालीन प्राविधिकीय समाज भी गीता के चातुर्वर्णीय कार्य प्रणाली से मुक्त नहीं है। संशोधनों के साथ जाति (वर्ण) को बनाये रखने का पक्ष लेते हुये *सिस्टर निवेदिता* ने लिखा : *''यदि भारत को अपनी राष्ट्रीय कार्यकुशलता को पुन: प्राप्त करना है तो अपने पूर्वजों के इस पुरातन उपकरण को स्वयं भारतीय लोगों द्वारा निर्णयित प्रक्रिया द्वारा संशोधित करना होगा।''*[१४] एक ऐसे समाज में जिसके नागरिकों को सभी चातुर्वर्ण्यों के कर्तव्यों में प्रशिक्षित किया जाता है, को अभिमान्य करते हुये स्वामी चिद्भवानन्द ने लिखा : *''वर्ण-धर्म एक आदर्श समाज व्यवस्था पर अंतिम शब्द है।''*[१५]

उसी प्रकार गाँधी भी उस अनिवार्य नियम को पुनर्स्थापित करने की दलील पेश करते हैं जिन पर कि मूल वर्ण आधारित था। यद्यपि इसका उल्लेख करना अनिवार्य है कि वंशानुक्रम पर आधारित वर्ण के नियम में कट्टर आस्था से गाँधी कभी विचलित नहीं हुये। वर्ण को जन्मना मानने का विचार भी वे गीता से नि:सृत करते हैं क्योंकि गुण और कर्म उनके अनुसार जन्म से ही मिलते हैं। कर्म और पुनर्जन्म की हिन्दू पूर्वमान्यताओं पर विश्वास के तार्किक परिणामस्वरूप जन्म योनि (मानव या पश्वादि) का निर्धारित होना आश्चर्य का विषय नहीं है, लेकिन ये मनुष्य की स्वतन्त्रता को बाधित नहीं करते। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि गाँधी के लिये उपर्युक्त कथन का अर्थ वर्तमान समय में जन्म के जड़ सिद्धान्त पर आधारित जाति व्यवस्था से नितान्त भिन्न है। वर्ण के छद्म आवरण में स्वांगाभिनीत जाति रूपी दानव की आलोचना करते हुये गाँधी ने लिखा है: *"वर्ण के नियम का अनुपालन करने में हमारी असफलता हमारी आर्थिक एवं आध्यात्मिक अवनति दोनों के लिये ही बड़ी जिम्मेदार है।"*[९६] तथा, *"....... वर्णाश्रम और जाति में कोई मेल नहीं है। जाति जरूर ही हिन्दू धर्म पर एक बोझ है और जैसा कि मैंने पहले बतलाया अस्पृश्यता वर्णाश्रम धर्म पर लगी हुई जंग है।"*[९७] आगे गाँधी कहते हैं : *"आप से जितना हो सके उनका विरोध कीजिये। वर्ण के नाम पर प्रचलित इस जाति प्रथा के असुर का नाश कीजिये। वर्ण के इस भ्रष्ट स्वरूप ने ही हिन्दू धर्म और भारतवर्ष को नीचे गिराया है।"*[९८]

गाँधी का उपर्युक्त सामाजिक यथार्थ उनके अपने लिये स्व अर्थी प्रणाली के निर्देशांकों द्वारा अभिप्रेरित था जिसके विभिन्न हिस्से को लोगों ने अपने दृष्टिकोणों के अनुसार पंसद और नापसंद किया। वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध तत्कालीन एवं आधुनिक अनेक विद्वानों ने आपत्ति उठाई और इसे वर्तमान समाज-व्यवस्था के लिये अनुपयोगी बताया है। गाँधी जी के समय ही- *"जात-पात तोड़क मण्डल"* के संचालक *श्री सीताराम* के पत्र की कुछ पंक्तियाँ निम्न हैं, जों गाँधी जी को उन्होंने लिखे थे- *"आपका वर्ण-व्यवस्था का सिद्धान्त इस युग में असाध्य है और निकट भविष्य में उसके पुन: जी उठने की आशा नहीं। परन्तु, हिन्दू जाति भेद के दास हैं वे उसे नष्ट नहीं करना चाहते इसलिये आप जब अपनी आदर्श और काल्पनिक वर्ण-व्यवस्था का प्रचार करते हैं तब उनको जाति से चिपटे रहने का बहाना मिल जाता है। इस प्रकार वर्ण विभाग की काल्पनिक उपयोगिता का समर्थन करके आप सामाजिक सुधार की बहुत हानि कर रहे हैं। .... वर्ण-व्यवस्था की जड़ पर कुठाराघात किये बिना अस्पृश्यता को दूर करने का यत्न करना रोग के केवल बाह्य लक्षणों की चिकित्सा करने के समान है .... अस्पृश्यता एवं जाति भेद को मिटाने के लिये शास्त्रों की सहायता ढूढ़ना कीचड़ को कीचड़ से धोने के समान है।*[९९]

डॉ० अम्बेडकर ने भी इस व्यवस्था के विरुद्ध आपत्ति की *"चातुर्वर्ण्य के आधार पर हिन्दू समाज को मान्यता देना असम्भव है क्योंकि वर्ण व्यवस्था छेदों से भरे बर्तन के समान है या आत्म क्षतिकार व्यक्ति के सदृश है। अपने गुणों के आधार पर कायम रहने में यह असमर्थ है और जाति प्रथा के रूप में विकृत हो जाने की इसकी आन्तरिक प्रवृत्ति है।"*[१००]

अम्बेडकर आदि के विचार निश्चय ही एक सत्य का प्रतिपादन करते हैं जिनसे सहमत हुआ जा सकता है लेकिन इससे इस व्यवस्था के धर्म कर्म का विचार दोषपूर्ण सिद्ध नहीं हो जाता। सच तो यह है कि समय बीतने के साथ हर वस्तु के स्वरूप में कुछ न कुछ विकृति आ ही जाती है। हिन्दू विचारक भी इस बात से सर्वथा अनभिज्ञ न थे। इसी कारण उन्होंने

अपनी रचनाओं में धर्म के कल्याणमय स्वरूप से लोगों के विचलित हो जाने के विषय की तथा उनके व्यवहारों में आ जाने वाली विकृति की चर्चा जगह-जगह पर की है। गीता में श्रीकृष्ण स्वयं ही कहते हैं कि जब लोगों के मन में 'धर्म' के प्रति ग्लानि और अरूचि उत्पन्न होती है तब उसकी स्थापना के लिये और इसे पुनरूज्जीवन प्रदान करने के लिये कई बार उनको स्वयं ही इस संसार में जन्म लेना पड़ता है।

यहाँ इस प्रश्न का उठाया जाना प्रासंगिक है कि यदि वर्णाश्रम जाति प्रथा के रूप में विकृत (जैसा कि प्रामाणिक रूप से आज हम देखते हैं) हो जाने की प्रवृत्ति से युक्त है, तो क्या इसे नष्ट कर दिये जाने से जाति प्रथा का समूल नाश होगा? या आज के वैज्ञानिक युग में धर्म की स्थापना के लिये मानव समाज अवतार की बाट देखे? वर्णाश्रम का समूल नाश जिससे जाति-प्रथा का अन्त हो जाये निश्चय ही स्वागत-योग्य मार्ग है, किन्तु जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है सामाजिक मनोविज्ञान इस बात की पुष्टि करता है कि समाज कभी श्रेणी-विहीन हो ही नहीं सकता। गीता व्यक्तियों को समाज में-देव और असुर-इस प्रकार के प्रभेद पर खड़ा करती है। गीता का यह श्रेणी-विभाजन ही उसके समाजशास्त्र का प्रथम स्वरूप है। यदि श्रेणी-विभाजन अनिवार्य है तो वर्णाश्रम के मूल स्वरूप पर समाज के विभाजन का विरोध केवल इस शर्त पर किया जा सकता है जबकि हम इससे बेहतर, पूर्णत:सुसंगठित, दोषरहित अन्य वैकल्पिक समाज विभाजन का सिद्धान्त प्रस्तुत करें अन्यथा विरोध का कोई औचित्य नही है। निश्चय ही विरोध प्रगति का आधार बन जाता है, किन्तु विरोध को (जब हम समाज के सन्दर्भ मे प्रयुक्त करते हैं) हमेशा सृजनात्मक होना चाहिये। विरोध का यह दृष्टिकोण समाज में अव्यवस्था होने की संभावना को कम करता है। मात्र विरोध के लिये विरोध करना अवांछनीय हैं।

समाज में श्रेणी-विभाजन की इस अनिवार्यता को सन्मार्गित करने का एक मार्ग यह भी है कि पहले से स्थापित व्यवस्था को अपने-अपने देश और काल की अर्वाचीन परिस्थितियों के अनुकूल बनाते हुये इसके मूल में निहित धर्म के विचार को हृदयंगम किया जाय। चूँकि, धर्म का मूलभूत विचार इतना अनुदार नहीं होता और सर्वथा होना भी नहीं चाहिये, कि वह भावी प्रगति के द्वार को बन्द करे। गाँधी इस मार्ग का ही चयन करते हैं वे अपने विरोधी के विचार की हत्या नहीं करते न ही उस विचार को आत्महत्या हेतु प्रेरित करते हैं। *डॉ० अम्बेडकर* के विषय में उनका कहना है कि डॉ० अम्बेडकर तो हिन्दू धर्म के लिये चुनौती हैं। उनका पालन-पोषण एक हिन्दू की तरह हुआ और एक हिन्दू नरेश द्वारा शिक्षित किये जाने पर भी, सवर्ण कहे जाने वाले हिन्दुओं द्वारा अपने और स्वजाति वालों के साथ होने वाले व्यवहार से वे इतने निराश हो गये कि न केवल सवर्ण हिन्दुओं को बल्कि, उस धर्म को भी छोड़ने का विचार कर रहे हैं जो उनकी तथा तमाम हिन्दुओं की संयुक्त विरासत है। लेकिन इसमें अचरज की कोई बात नहीं है क्योंकि किसी प्रथा या संस्था के बारे में राय उसके प्रतिनिधियों के व्यवहार से ही तो बनायी जा सकती है।[१०१] गाँधी का प्रस्तुत मत किसी संस्था की अपेक्षा मनुष्य को प्रमुख मानता है।निश्चय ही एक समाज या संस्था का सम्बंधित प्राणी ही इस बात को ज्यादा बेहतर समझ सकता है कि उसे कैसा समाज अभीष्ट है, तदनुसार उसकी प्रवृत्ति तथा दायित्व-बोध निर्धारित होगा। गाँधी किसी संरचनात्मक परिवर्तन की अपेक्षा मानव के नैतिक स्वभाव को अपील करते थे और उनका उपागम वस्तुत: एक 'हृदय परिवर्तन' था।

गाँधी द्वारा तर्कविहीन स्वपरम्परा की आलोचना ही उन्हें ऐसे प्रगतिशील विचारों से युक्त करती है, लेकिन तर्कयुक्त परम्पराओं का समर्थन कर वे विप्लवकारी दृष्टिकोण के भागेदार कभी नहीं बने। उन्होंने न केवल वर्णाश्रम धर्म में घुस आई विकृतियों की ओर इंगित किया बल्कि उन्हें दूर करने का अनथक प्रयास भी किया। साथ ही, अन्तर्भोज और अन्तर्विवाह की अपनी कट्टरता को प्रगतिशील विचारो से प्रक्षालित किया।

वर्ण-व्यवस्था का हमारा सम्पूर्ण अध्ययन यह प्रतिस्थापित करता है कि गीता वर्ण के सामाजिक सिद्धान्त के प्रति एक साम्यतावादी उपागम का सूत्रपात करती है उसकी जाति (वर्ण) कीं अवधारणा जो व्यक्तिगत सम्मान, सामाजिक समानता और प्रकार्यात्मक स्वतन्त्रता को मानती है, समाज में सामाजिक उदारवाद की सृजनात्मक प्रक्रिया को मुक्त प्रवाह करती है। वह व्यक्ति के जन्मना पैतृक सामाजिक पद को जातिकर्तव्य के अनुपालन के अधीनस्थ रखते हुये जाति के आकारगत सामाजिक महत्व को निर्वासित करती है तथा सभी जातियो के दायित्वों को सामाजिक पद एवं आध्यात्मिक योग्यता के समतुल्य रखती है। स्वदायित्व को करने का अधिकार गीताकृत आदर्श समाज व्यवस्था का आधार बनता है। गीता की समाज व्यवस्था सक्रिय और परार्थवादी है। योग्यता की अवहेलना इस समाज में कदापि स्वीकार्य नहीं इसका प्रतिफल वह सामाजिक अव्यवस्था या युद्ध की अवश्यंभाविता के रूप में प्रतिपादित करती है। गीता के लिये मनुष्यों के अन्तर्निहित 'सर्वप्रधान' गुण ही सामाजिक विकास क्रम की दशा एवं दिशा को निर्दिष्ट करते हैं। सामाजिक विकास वैयक्तिक अन्तर्चेतना के त्रिगुणात्मक बन्धन से क्रमिक विमुक्तीकरण में जाकर समाप्त होता है। एक विभेदक प्रतिस्पर्धीय तथा प्राधिकारवादी व्यवस्था का निदान व्यक्ति के निष्काम कर्म के संवर्धन में निहित है जो एक समस्थितिक मानस के साथ कार्य करता है। वर्ण-व्यवस्था की प्रकार्यात्मक उन्नति तथा स्वतन्त्रता व्यक्ति के समस्थैतिक दृष्टिकोण को स्थिर किये बगैर लड़खड़ाने लगेगी।

गाँधी के विचार में गीता के विचार विन्यास की एकता स्पष्ट परिलक्षित होती है। समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था को समकालीन परिप्रेक्ष्य से समेकित करते हुये वे कुछ संशोधनों और परिवर्तनों को प्रस्तुत करते हैं। निश्चित रूप से विचार रूपी इस कलाकृति के रूप में उसे विभिन्न लोगों ने विभिन्न प्रकार से मूल्यांकित किया और कहना न होगा कि वे सभी को प्रसन्न नहीं कर पाये परन्तु इसने उन्हें एक सौन्दर्यशास्त्री संतुष्टि प्रदान की। वर्णाश्रम धर्म के सन्दर्भ में गाँधी को एक रूढ़िवादी, उदार या क्रांतिकारी मानना एक गैर-महत्वपूर्ण बात है।वास्तव में वह एक यथार्थवादी, शुद्ध प्रयोजनवादी थे; जो पारस्परिक प्रविधियों से युक्त एक अत्यन्त जटिल और बहुलतावादी समाज को रूपान्तरित करने की कठिनाईयों को जानते थे। वर्णाश्रम धर्म की पारम्परिक अवधारणा को उन्होंने उर्ध्व विकसित कर सार्वभौमिक वैधता प्रदान की। एक व्यावहारिक आदर्शवादी के रूप में गाँधी ने अनुभव किया कि एक परम्परावादी समाज में व्यक्ति अपने पर्यावरण का एक अचेतन बन्दी था, जो परिवर्तन के चेतन प्रयासों के प्रति तत्पर रूझान नहीं दिखायेगा। अत: गाँधी ने अन्तर्चेतना की अपील और अनुनय द्वारा उच्च जाति को परिवर्तित करने के दृष्टिकोण से बलात शक्ति प्रयोग के स्थान पर अहिंसा का सहारा लिया।

पाद-टिप्पणी संदर्भ

१- इस सम्बन्ध में आर० एम० मॅकीवर कृत 'कम्युनिटी' के १२४-५ पृष्ठों तथा सी० एच० कूले कृत "सोशल आर्गेनाइजेशन-ए स्टडी ऑफ दि लार्जर माइंड", स्क्रिब्नर्स, न्यूयार्क, १९२९ के चौथे खण्ड को देखें।

२- ए० डब्ल्यू० स्माल : "जनरल सोशियोलॉजी", १९२०, पृ० २७५।

३- वही

४- ईवा रोज़ेनफेल्ड : 'सोशल क्लासिफिकेशन इन ए क्लासलेस सोसायटी', अमे०सो०रि०, दिसम्बर १९५१, १६, ६, पृ० ७६६-७७४।

५- इस सम्बन्ध मे देखे, आर० एस० एलिस कृत "दि सायकोलॉजी ऑफ इन्डिविजुअल डिफरेन्सेज", १९३० अध्याय xvi, शीर्षक "इंडिविजुअल डिफरेन्सेज ऐन्ड सोशल डिफरेन्सियेशन" पृ०स० ३८६-४०४; साथ ही ए० अनॅस्तासी: "डिफरेन्शियल सायकोलॉजी" संशो० संस्क०, (मैकमिलन, न्यूयॉर्क, १९५८) पर भी अपनी दृष्टि डालें।

६- विस्तृत विवेचना के लिये किंग्सले डेविस तथा डब्लू ई० मूर द्वारा अमे० सो० रिव्यू, अप्रैल, १९४५, भाग १०, २ के पृ० २४२-४९ पर संयुक्त रूप से लिखे गये "सम प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रॅटीफिकेशन" नामक एक लेख पर अपनी दृष्टि डालें। उक्त लेखकों के इस मत कीपुष्टि, कि किन्हीं सामाजिक भूमिकाओं और स्थितियों की अपनी-अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के प्रभाव में और किन्हीं सामाजिक ध्येयों की पूर्ति के लिये इन भूमिकाओं और स्थितियों पर समुचित प्रतिभा वाले सुयोग्य व्यक्तियों को प्रतिष्ठित बनाने की एक सामाजिक आवश्यकता के दबाव में, दुनिया के हर समाज में वर्गों का बन जाना एक तरह से स्वाभाविक ही होता है, रोज़ेनफेल्ड द्वारा किये गये उस अध्ययन से भी हो ही चुकी है।

७- वही

८- इन शब्दो का प्रयोग और उनका विश्लेषण सबसे पहले गिड्डिंग्स द्वारा अपनी प्रख्यात पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी' के अन्तर्गत ही किया गया था (देखे उक्त पुस्तक का पृ० १६)। "एक जैसे पन की चेतना" से सम्बन्धित अवधारणा के विषय पर प्रकाश डालते हुए टी० एन० कार्वर ने अपनी पुस्तक "एसेंशियल फैक्टर्स ऑफ सोशल इवोल्यूशन" (हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३५) के अन्तर्गत बताया है कि "समाजशास्त्रीय चिन्तन के क्षेत्र में उसे अब तक की सबसे अधिक सुलझी हुई धारणाओं में से एक ही माना जाना चाहिये क्योंकि उससे हमारी बहुत सी वैचारिक एवं व्यावहारिक समस्याओं को सुलझाने में बड़ी मदद मिली है (देखें पृ० १६४)।" गिड्डिंग्स ने उसकी कल्पना सामाजिक जीवन को टिकाये रखने वाले एक मूलाधार के ही रूप में की थी। "एक जैसे पन की चेतना" के स्वरूप को ओर भी स्पष्ट बनाते हुए वे कहते हैं कि "वह सामाजिक जीवन के मूल में प्रवाहित होता पाया जाने वाला एक ऐसा अत्यन्त ही मूल तत्व है जिसका निवास लोगों के मानस-पटल की गहराइयों में ही होता है। उससे मेरा अभिप्राय चेतना की गहराइयों में विद्यमान पायी जाने वाली एक ऐसी अवस्था से है जिसके प्रभाव में, जीवन के शृंखला-सोपान के अन्तर्गत ऊँचाई-निचाई के धरातल पर प्रतिष्ठित पाया जाने वाला हर प्राणी, अन्य प्राणियों की तुलना में, अपने सदृश अन्य प्राणियों के साथ ही अधिक मात्रा में तादात्म्य का अनुभव किया करता

है।.......... अपनी व्यापकता में उसके द्वारा जड़ और चेतन जगत के ही बीच भेद की एक रेखा खींची जाती है। चेतन प्राणियों के इतने बड़े क्षेत्र में भिन्न-भिन्न जातियों और नस्लों के प्राणियों के बीच भेद का एक प्रमुख आधार भी पुन: वही बनता है। मानव समाजों मे प्रजातीय एवं राजनैतिक आधारों पर जो ये तरह-तरह के समूह और संगठन बने हुये पाये जाते हैं, उनको एक दूसरे से पृथक् करने वाला तत्व भी बस एकमात्र वही है। वही एक वर्ग के लोगों को दूसरे से अलग करता है और वही लोगों को एक दूसरे के निकट आने की एवं तरह-तरह के समूहों और संगठनों को जन्म देने की प्रेरणा प्रदान किया करता है। एक प्रकार की रीति नीतियो मे और दूसरे प्रकार की रीति-नीतियों में जो अन्तर हम देखते है वह भी हमें उसके ही कारण दिखायी देता है। उसके ही प्रभाव की परिधि में हम भावनाओं और विवेक के पैमाने पर उन लोगों के साथ एक भिन्न ही प्रकार का आचरण करने लग जाते है जो हमसे अधिक मिलते जुलते हुए नहीं होते और हमसे असमान ही होते हैं।'' (देखे- गिड्डिंग्स कृत ''प्रिंसिपल्स ऑफ सोशियोलॉजी, पृ० १७-१८; गिड्डिंग्स के इस कथन को कार्वर ने अपनी पूर्वोक्त रचना में उद्धृत किया है)।

९- गिंसबर्ग, एम० : 'स्टडीज़ इन सोशियोलॉजी' (मैथ्यूएन, लन्दन, १९३२), पृ० १६१

१०- वही, पृ० १५९-१६१

११- उदाहरण के लिए मनुस्मृति : पी०एच० पंड्या, संपा० (गुज०प्रि० प्रेस, बम्बई, १९१३) viii,३९-३८ के अन्तर्गत चोरी के लिए निर्धारित किये गये दण्ड की व्यवस्था को देखें, जिसमें बताया गया है कि एक शूद्र पर उसके द्वारा चुरायी जाने वाली वस्तु के मूल्य की आठ गुनी मात्रा तक का, एक वैश्य पर सोलह गुनी मात्रा तक का, और एक क्षत्रिय पर कोई बत्तीस गुनी मात्रा तक अर्थ-दण्ड आरोपित किया जा सकता है। परन्तु जहाँ तक एक ब्राह्मण का प्रश्न है उस पर तो उसकी मात्रा चौंसठ गुने से लेकर एक सौ अट्ठाईस गुने तक बढ़ायी जा सकती है। इस दण्ड-विधान की तुलना हम इनसे भी कर सकते है- गौतम धर्मसूत्र : एल० श्रीनिवासाचार्य, संपा० (गवर्न० ओरि०लाइ०सी० मैसूर, १९१७) xii, पृ० १५-१७, तथा याज्ञवल्क्य स्मृति : एस०सी० विधाभूषण द्वारा अनु०, ii, पृ० २६०

१२- जयशंकर मिश्र : प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८६, पृ० ५१-५२

१३- ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य: कृत:।

अरू तदस्य यद्वैश्य: पदभ्यां शूद्रोऽजायत।। ऋग्वेद : x,९०,१२

ऋग्वेद में ही पुरूष सूक्त के अतिरिक्त अनेक अन्य स्थलों में समाज के वर्ण विभाजन का उल्लेख आया है। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ३५वें सूक्त की १६वीं और १८वीं ऋचाओं में तीन वर्णो का उल्लेख आया है। इसी तरह पहले मण्डल के ११३ वें सूक्त की १६वीं ऋचा के अन्तर्गत तो चातुर्वर्ण्य विभाजन की चर्चा की गयी है।

१४- महाभारत : शांतिपर्व, १२२.४.५

ब्राह्मणों मुख्न: .... शूद्रो विनिर्मित:।।

१५- भगवद्गीता : अध्याय २.४५ और ७.१२

१६- वही : अध्याय ७.१३

१७- वही : अध्याय १४.५

१८- वही : अध्याय १४:६

१९- वही : अध्याय १४:७

२०- वही : अध्याय १४:८

२१- वही : अध्याय १८:२०

२२- वही : अध्याय १८:२१-२२

२३- वही : अध्याय १८.२३-२४

२४- वही : अध्याय १८: २६-२८

२५- वही : अध्याय १८:३०-३२

२६- वही : अध्याय १८.३३-३५

२७- वही : अध्याय १८:४०

२८- वही : अध्याय ४:१३

२९- वही : अध्याय १८:४१

३०- वही : अध्याय १८: ४२-४४

३१- राधाकृष्णन, एस्० : दि भगवद्गीता, पृ० ३५३

३२- भगवद्गीता : अध्याय ९:३२

३३- ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै,

तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै । तैत्तरीय आरण्यक, ८।२

३४- भगवद्गीता : अध्याय १८:४८

३५- वही : अध्याय ९:३०,३२,३३

३६- यंग इण्डिया, २४:११.१९२७

३७- हरिजन सेवक, २१.४.१९३३

३८- यंग इण्डिया, जि० ३, पृ० ३८६

३९- हरिजन, २८.९.१९३४

४०- महाभारत : अनु० १४३, ६० कहा है,

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।

कारणानि द्विजत्वस्य व्रतावेव तु कारणम्॥

४१- वर्मा, वेद प्रकाश : महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन, पृ० ८९-९०

४२- तेन्दुलकर, डी०जी० : महात्मा, भाग-४, पृ० १३

४३- गाँधी : हिन्दू धर्म, पृ० ३६२-३६८

४४- द्रष्टव्य- गाँधी जी की भारत यात्रा के दौरान उनसे पूछे गये प्रश्न। प्रस्तुति महादेव ह० देसाई, (सम्पादक)

प्रश्न- आप कहते रहे है कि वर्ण धर्म हमारी भौतिक इच्छाओं का अंकुश रखता है। यह किस प्रकार होता है?

उत्तर- जब मैं अपने बाप का ही धन्धा करता हूँ तो मुझे उसको सीखने के लिए स्कूल में जाने की भी जरूरत नहीं है और यो मेरी मानसिक शक्ति आध्यात्मिक खोजों के लिए मुक्त हो जाती है; क्योंकि मेरी रोजी निश्चित हो जाती है जब मै दूसरे धन्धों पर मन लगाता हूँ तो आत्म प्राप्ति की अपनी शक्ति बेच देता हूँ; एक कानी कौड़ी में अपनी आत्मा बेच देता हूँ। (नीति : धर्म : दर्शन) पृ० ४२०

४५- गाँधी : हिन्दू धर्म, पृ० ३८८

४६- सत्याग्रह इन साउथ अफ्रीका : अनु० बी०जी० देसाई, द्वितीय संस्करण, नवजीवन, १९५०, पृ० २१२

४७- तेन्दुलकर, डी०जी० : महात्मा, भाग ४, पृ० १३

४८- महाभारत : (आदि पर्व) ७१,७९

४९- गाँधी : ट्रुथ इज़ गॉड, पी०के०प्रभु (संपा), नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५५, पृ० १३५

५०- दादा धर्माधिकारी : अंहिसक क्रान्ति की प्रक्रिया, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९६२, पृ० ९४-९७

५१- हरिजन, २८.९.१९३४

५२- यंग इण्डिया, १७, जुलाई, १९२४ एवं वर्ण व्यवस्था पृ० १०.११

५३- महात्मा गाँधी : हिन्दू धर्म, पृ० ३६६

५४- यंग इण्डिया, ६ अक्टूबर, १९२७

५५- नीति:धर्म:दर्शन : उत्तरप्रदेश गाँधी स्मारक निधि, सेवापुरी, वाराणसी, १९६८, पृ० ४२०-४२१

५६- हरिजन सेवक, १४.४.१९३३

५७- गाँधी : अस्पृश्यता, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५४, पृ० ६

५८- वही : पृ० ६-७

५९- तेन्दुलकर डी०जी० : 'महात्मा' : लाइफ ऑफ मोहन दास करमचन्द्र गाँधी, खण्ड-३, (१९३०-३४) प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, नई दिल्ली, में उद्धृत, पृ० १३४

६०- गाँधी : कास्ट मस्ट गो एण्ड दि सिन ऑफ अनटचबिलिटी, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९६४ में उद्धृत, पृ० ३-४; यहाँ केवल आवश्यक बिन्दुओं को ही उठाया गया है।

६१- वही, पृ० ६५

६२- दलित वर्ग सम्मेलन, अहमदाबाद मे दिये गये एक व्याख्यान से उद्धृत देखे- गाँधी : अस्पृश्यता, पृ० २

६३- वही : पृ० २-३

६४- मुखर्जी, हीरेन्द्रनाथ : गाँधी, अम्बेडकर एण्ड दि एक्सटिरपेशन ऑफ अनटचबिलिटी, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८२, पृ० १८

६५- गाँधी : कास्ट मस्ट गो एण्ड प्रैक्टिस ऑफ अनटेचबिलिटी, पृ० ७०

६६- कुबेर, डब्लू० एन० : डा० अम्बेडकर : एक आलोचनात्मक अध्ययन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७३, पृ० १०७

६७- तेन्दुलकर, डी० जी० : 'महात्मा', खण्ड-३ पृ० १२५

६८- वही : पृ० १९१

६९- देखें, तेन्दुलकर : 'महात्मा', खण्ड-३ और गाँधी कास्ट मस्ट गो एण्ड प्रैक्टिस ऑफ अनटेचबिलिटी, कथन उद्धृत

७०- वही

७१- गाँधी : अस्पृश्यता, पृ० १३

७२- मुखर्जी, हीरेन्द्रनाथ : गाँधी, अम्बेडकर एण्ड दि एक्सटिरपेशन ऑफ अनटेचबिलिटी, में उद्धृत, पृ० २५

७३- वही : पृ० २१

७४- वही : पृ० २७

७५- तेन्दुलकर, डी०जी० : महात्मा, खण्ड-३ पृ० २२५

७६- अम्बेडकर : मिस्टर गाँधी एण्ड दि इमैन्सिपेशन ऑफ दि अनटचेबिल्स, पृ० ५४

७७- कुबेर : डा० अम्बेडकर : एक आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १०८

७८- यंग इण्डिया, २०.१०.१९२७

७९- हरिजन २८.९.१९३४

८०- यंग इण्डिया, ३.११.१९२७

८१- महात्मा गाँधी : हिन्दू धर्म क्या है, नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली, १९९३, पृ० ४९

८२- स्वामी प्रभवानन्द : स्प्रिचुअल हैरिटेज ऑफ इण्डिया, जार्ज एलन एण्ड अनविन लि., लन्दन, १९६२, पृ० १०४

८३- राबर्ट, माइनर एन : भगवद्-गीता एन एक्जिजेरिकल कमेन्टरी, हेरिटेज पब्लिशर्स, नई दिल्ली १९८२, पृ० ५३

८४- ऋषभाचन्द (संपा०) : दि मेसेज एण्ड मिशन ऑफ इण्डिया बाइ श्री अरविन्द, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६४, पृ० ४०

८५- पन्निकर, के० एम० : हिन्दूइज़्म एण्ड दि वेस्ट, पंजाब यूनीवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चण्ड़ीगढ़, १९६४, पृ० ४२

८६- स्वामी विरेश्वरानन्द : 'दि भगवद्गीता : इट्स सिन्थिटिक कैरेक्टर', दि कल्चरल हैरिटेज़ ऑफ इण्डिया, खण्ड-II, पृ० १९३

८७- हिंगोरानी, आनन्द (संपा.) : दि टीचिंग ऑफ दि गीता बाय एम० के० गॉधी, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, पृ० ८३

८८- लेख दृष्टव्य; दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गाँधी, खण्ड ix,१९६३, पृ० १८०-१८१

८९- यंग इण्डिया २१.१.१९२६, पृ० ३०

९०- वही, २४.११.१९२७

९१- हरिजन, २०.४.१९४० पृ० १०८

९२- बेसेन्ट एनी : इण्डियन आइडियल्स, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, आड्यार, मद्रास, १९६५ पृ० १६

९३- स्वामी चिद्भवानन्द : दि भगवद्गीता, तपोवन पब्लिशिंग हाउस, तिरुप्पराईथुराई, १९६७, पृ० ९१४

९४- सिस्टर निवेदिता : दि वेब ऑफ इण्डियन लाइफ, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा,१९५०, पृ० १५८

९५- स्वामी चिद्भवानन्द : दि भगवद्गीता, पृ० ९१६

९६- हिंगोरानी, आनन्द (संपा.) : दि टीचिंग ऑफ दि गीता बाय एम० के० गाँधी, पृ० ८४

९७- यंग इण्डिया, ३.११.१९२७

९८- नीति : धर्म : दर्शन : पृ० ४१९

९९- हरिजन, १८ जुलाई, १९३६

१००- बी० आर० अम्बेडकर : ऐनिहिलेशन ऑफ कास्ट एण्ड एप्लाई टू महात्मा गांधी, पृ० ५७

१०१- महात्मा गाँधी : हिन्दू धर्म क्या है?, पृ० ११३

पंचम अध्याय

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं सामाजिक दायित्व

मनुष्य स्वतन्त्र और सर्जनशील प्राणी है। स्वतन्त्रता का उपभोग करते हुए मनुष्य की चयन-क्रिया दूसरी समस्त स्वतन्त्र क्रियाओं के साथ संलग्न रहती है। दर्शन में शताब्दियों से यह विवाद चला आ रहा है कि यदि प्रकृति जगत् में कार्य-कारण का नियम व्याप्त है तो मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र कैसे हो सकता है? फिर स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ क्या है? यहाँ उक्त दार्शनिक विवाद में पड़े बिना जो हमें अभीष्ट नहीं है, इसका समाधान यहाँ हम केवल इतना मानकर चलें कि मनुष्य में कम और अधिक उपयोगी या लाभ-हानि का भेद देखने की क्षमता प्रत्यक्ष सिद्ध है, वैसा देखकर उसके अनुरूप इष्टतर प्राप्ति के लिए क्रियाशील होना ही कर्म-स्वातन्त्र्य है। हम भौतिक वस्तुओं के संचालक विधानों का पालन करते हुए ही उन वस्तुओं को इस प्रकार व्यवस्थित करते हैं कि वे हमारे प्रयोजनों की पूर्ति कर सके। ये प्रयोजन उपयोगितापरक भी होते हैं तथा सौन्दर्य-परक एवं नैतिक मूल्यों से सम्बद्ध भी। हम मूल रासायनिक तत्वों से अनेक प्रकार के रासायनिक यौगिक तैयार करते हैं जिनके तरह-तरह के उपयोग होते हैं, किन्तु हम मात्र सौन्दर्य-वृद्धि के लिए भी उपस्कर (*फर्नीचर*) एवं फूलों को नये रूपों में सँजोते या व्यवस्थित करते हैं। इस प्रकार का सँजोना हमारी परिष्कृत सौन्दर्य-भावना का अपेक्षी होता है। सौन्दर्य तथा नैतिकता की वृत्तियों को भौतिक गतियों से समीकृत नहीं किया जा सकता, इसलिए उन्हें कार्य-कारण शृंखला के अन्तर्गत रखना उचित नहीं जान पड़ता। वास्तव में उक्त वृत्तियों की गति आदर्शोन्मुख प्रेक्षण द्वारा निर्धारित या प्रभावित होती है।

भारतीय चिन्तनधारा स्वतन्त्रता को विस्तृत आयाम देती है, स्वतन्त्रता का पूर्ण अर्थ केवल इतना नहीं है कि व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से कर्तव्यपालन कर सके, किसी के दबाव में रहकर नहीं, स्वतन्त्र संकल्प ले सके, किसी के कहने पर नहीं। साथ ही वह केवल यह भी नहीं है कि वह तमाम घेरों से, प्राचीरों से, बन्धनों से मुक्त होकर विचरण कर सके। घेरे से भागना या तोड़ कर निकलना ही पर्याप्त नहीं, घेरे का आतंक पीछे छोड़ आना भी आवश्यक है, तभी स्वतन्त्रता पूरी होती है। जीवन्मुक्त होना, सम्बद्ध होना, केवली होना या योगमय परमसिद्धि तक पहुँचना भी पर्याप्त नहीं है। वास्तविक स्वतन्त्रता इसमें है कि अपने शुभ-अशुभ कर्म का दायित्व दूसरे के ऊपर न सौंपना, स्वेच्छा से जिस देश-काल में जन्म लिया हो, जिस देश-काल को कर्मक्षेत्र बना रखा हो, उसके प्रति और उसके गोचर लोक के प्रति (मानवमात्र के प्रति ही नहीं) दायित्वों को वरण करना है। मनुष्य जन्म की सार्थकता चार ऋणों की स्वीकृति और उनकी अदायगी के प्रयत्न में होती है, न कि उनको सीधे नकारकर उच्छृंखल बनने से। जो परमहंस की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, तथागत की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, श्रीराम और श्रीकृष्ण की भाँति पुरुषोत्तम और महायोगी की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं। योगीश्वर शिव की तरह काल के काल बनकर अपने भीतर सबकुछ समाहित कर लेते हैं, महावीर की तरह जितेन्द्र (सब कुछ अपने वश में करने वाले) की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जो हद को प्राप्त करके अनहद की स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जो चैतन्य महाप्रभु के समान महाभाव में वर्तमान हो जाते हैं, वे भी लोकानुग्रह के वशीभूत होकर लोकयात्रा करते ही करते हैं। वे न भी करें तो उनकी स्वतन्त्रता खंडित नहीं होगी, करें तो भी स्वतन्त्रता खंडित नहीं होती, एक प्रकार से उनकी परीक्षा होती है। यह आकस्मिक नहीं था कि स्वाधीनता आन्दोलन

मे हमने जेल को कृष्ण मन्दिर की संज्ञा दे दी थी। हमारे भीतर एक गहरा जातीय संस्कार था कि कोई कारागृह स्वाधीनता की चेतना को बंद करके नहीं रख सकता।

ऐसी स्वतन्त्रता को कतिपय निरपेक्ष मूल्यों के रूप में अलग-थलग रख करके नहीं समझा जा सकता। तन्त्रशास्त्रों में स्वातन्त्र्य का अर्थ है–आवरण रहित चैतन्य प्रकाश, या खुला-खुला प्रकाश, अबाधित प्रकाश। महायान बौद्ध धर्म में प्रज्ञापारमिता का भी यही अर्थ है, संसार के पार चली गयी प्रज्ञा। तत्त्वमसि .... (*वह तुम हो। वह अप्रमेय, अनन्त तुम हो*) के साक्षात् अनुभव का भी यही अर्थ है, कैवल्य (*केवल शुद्ध चैतन्य रह जाना, सब कुछ अन्य उपसर्ग धुल जाना, छँट जाना*) भी स्वातन्त्र्य ही है। परन्तु यह स्वातन्त्र्य निश्छल, निष्क्रिय, आत्मारामी या शून्य भाव है। सृष्टि की सक्रियता के बिना इस स्वातन्त्र्य की परीक्षा नहीं होती। रचना ही (*किसी भी प्रकार की रचना अर्थात् अपने भीतर समाहित शक्ति का बाहर उन्मीलन, प्रकाशन, रूपायन या शब्दायन*) सामान्य जन की उस मुक्ति का प्रमाण है, जो कुछ देर के लिए ही सही, वह सघन अनुभूति और उसके सघन सम्प्रेषण की उत्कंठा के क्षण में प्राप्त कर लेता है। रचना या भारी-भरकम शब्द दें तो सृष्टि भी विराट् पुरूष, समष्टि चैतन्य का महाशून्य के स्वातन्त्र्य का प्रमाण है कि वह न कुछ क़रने के लिए स्वतन्त्र होते हुये भी अपने बावजूद रचता है और उस रचना की प्रक्रिया में अपने स्वातन्त्र्य तक को ईंधन बनाकर झोंक देता है।

तन्त्रों में इसे विमर्श कहा जाता है, स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा (*नयी पहचान*) कहा जाता है। इसी का स्फुरण स्पन्द रूप, नाद रूप तथा बिन्दु रूप में होता है। यही लोक में बीज रूप (*जीवकोश रूप*) में होता है। वेदों में, पुराणों में बराबर यही कथानक मिलता है कि आदि में एक था, उसका कोई नाम, कुल, गोत्र नहीं, बस था। अकेले उसका मन रमता नहीं था। उसने सोचा, मैं एक से अनेक हो जाऊँ। उसने अपने को सिरजा। सिरजने वाला अपने को सिरंजने के बाद एकदम छोड़ देता है। ब्रह्मा (*प्रजापति*) ने अपने को रचा वाक् के रूप में (*प्रथम नाद के रूप में, प्रणव के रूप में*) और उस रूप पर मोहित हो गये। यह शुभ नहीं था कि रचनाकार अपनी रचना को (*जो दूसरों के लिये है*) अपनी माने। इसलिए इस प्रथम रचनाकार का सिर काट लिया गया, उनका शरीर सन्ध्या की लाली बनकर छा गया। तब प्रजापति को नया शरीर मिला और उन्होनें अपने कर्तव्य के अभिमान से छुट्टी पाने के लिए कठोर तप किया। तप को तपा अर्थात् अपने को तप बना दिया, सृष्टि की प्रबल इच्छा बना दिया, वे व्यक्ति रूप में कुछ न रह गए, भले ही रचनाकारों की समष्टि के रूप में व्यक्ति रहे हों। तब क्रम से सृष्टि के स्तर पर स्तर खुले, कमल के जैसे पटल खुलते हो, वैसे सृष्टि खुली। उसका वितान हुआ। सृष्टि की इस प्रक्रिया को जीना ही स्वतन्त्रता को साधना है। यज्ञ हो, कोई अनुष्ठान हो, कोई भी इस भावना से किया गया व्यापार हो, सब वितान ही कहा जाता है। प्रजोत्पत्ति भी वितान है, इसलिए उसे केवल प्रजा (*प्रकृष्ट उत्पत्ति*) नहीं कहा जाता, उसे सन्तान (*सम्यक् रूप से विस्तार*) भी कहा जाता है। ये सभी वितान तभी आवरण या घेरा बनते हैं, जब वितान रचने वाले के भीतर यह भाव आता है कि यह वितान मैंने रचा है, तभी वह स्वतन्त्रता कुछ समय के लिये खो देता है। फिर उसे छुटकारा पाने के लिए एक आश्रम से दूसरे आश्रम, दूसरे से तीसरे आश्रम, और तीसरे से चौथे आश्रम में जाना होता है। चार आश्रमों की परिकल्पना चार ऋणों से छुटकारा पाने के लिए ही की गयी है। *'ऋण'* का शाब्दिक अर्थ है, भागना (*किसी दायित्व से भागना*), भूलने

की कोशिश करना, उड़ना। अब इसका अर्थ उधार है। शतपथ ब्रह्मण में चार ऋणों- ऋषिऋण, पितृऋण, देवऋण और भूतऋण की–अवधारणा दी हुई है। भूतऋण के बाद भी उत्तरवर्ती ग्रन्थों में मनुष्यऋण की बात भी आयी है। वैसे भूतऋण में मनुष्यऋण समाविष्ट है, क्योंकि समस्त भूतों या प्राणियों में मनुष्य भी तो है। अतएव जब तक हम अपने दायित्व का विस्तार नहीं जानते, अपनी देनदारी नहीं जानते, उनकी पूर्ति नहीं करते, तब तक स्वतन्त्रता का अर्थ नहीं होता। इसलिए हमारे जीवन में स्वतन्त्रता की खोज का अर्थ दायित्व-बोध से जुड़ा हुआ है।

सामाजिकता के सन्दर्भ में दायित्व-बोध की ज्ञान-मीमांसा हमें नैतिक मूल्यों तक ले जाती है, जिनके लिए संस्कृत-वाङ्मय में *'धर्म'* शब्द का प्रयोग प्रचलित रहा है। यह शब्द *'धृञ्'* धातु से *'मन्'* प्रत्यय लगने से निष्पन्न होता है जो धारण करने का अर्थ देता है। कहा भी गया है- *'धारणाद् धर्ममित्याहु: धर्मो धारयति प्रजा:।'* तात्पर्य धर्म से ही लोक का धारण (या स्थिति) होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि जहाँ-जहाँ मानव-समाज है, वहाँ-वहाँ किसी-न-किसी रूप मे, धर्म या नैतिकता युक्त सामाजिक दायित्व की अवधारणा पायी जाती है। दायित्व चलनात्मक पदार्थ-क्रिया है, जिसके उत्क्षेपण, अवक्षेपण आदि अनेक भेद हैं। किन्तु नैतिक दृष्टि से हर क्रिया दायित्व नहीं है, अपितु संकल्पित क्रिया ही दायित्व कहला सकती है। साथ ही यह आवश्यक नहीं कि सभी संकल्पित कर्म नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित हों, किन्तु यह आवश्यक है कि वे कर्म किसी-न-किसी कोटि के मूल्यों के उत्पादन या अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख हों अन्यथा उन्हें दायित्व की संज्ञा नहीं प्रदान की जा सकेगी। किसी भी मानवीय दायित्व के केवल प्रत्यक्षगम्य पहलू या रूप को देखकर उसकी अच्छाई या बुराई का सही निर्णय करना सम्भव नहीं है। वैसा निर्णय करने के लिए हमें जहाँ एक ओर यह देखना होता है कि विचाराधीन कर्म का प्रेरक मनोभाव क्या था, वहीं दूसरी ओर यह भी देखना अपेक्षित होता है कि उस कर्म का कर्त्ता से भिन्न लोगों के जीवन पर अच्छा या बुरा क्या प्रभाव पड़ा। किन्तु यह सब जानने के लिए केवल प्रत्यक्ष का सहारा लेना पर्याप्त नहीं है। वास्तव में मनुष्यों द्वरा अनुष्ठित प्रत्यक्षगम्य गतियाँ हमें तभी सार्थक दायित्व जान पड़ती है जब हम उन गतियों में निहित उद्देश्य या प्रयोजन को देख (या भाँप) सकने की स्थिति में होते हैं।

सामाजिक दायित्व का उदय इस चेतना में होता है कि अपनी जीविका और समाज के हित के लिए कौन कितना परिश्रम और योगदान कर रहा है। उक्त चेतना से हम दायित्व के मानदण्ड का क्रमश: साक्षात्कार करते हैं, इस मानदण्ड का मुख्य रूप है कि हर व्यक्ति को अपने श्रम का फल मिलना चाहिए। इस दृष्टि से किसी दूसरे के श्रम की कमाई को हड़प लेना अन्याय है। सामाजिक दायित्व का सम्बन्ध मुख्यतया उपयोगी मूल्यों के न्यायपूर्ण वितरण और लेन-देन से होता है। उपयोगी मूल्यों के सन्धान के प्रश्न के सन्दर्भ में, मनुष्य की स्थिति दूसरों (अन्य जीवों) से इसलिए भिन्न है कि वह उक्त मूल्यों का अन्वेषण और उत्पादन सचेत भाव और सर्जनमूलक प्रयत्न से करता है। परन्तु सच यह है कि मनुष्य जैसा संवेदनशील प्राणी कभी भी केवल उपयोगिता के धरातल पर जीते हुए और केवल उपयोगी मूल्यों के लिए संघर्ष करते हुए सन्तुष्ट और सुखी नहीं हो सकता। *छान्दोग्य उपनिषद्* में कहा गया है- *'यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखम् अस्ति'*, अर्थात् असीम, विराट् या भूमा ही सुख रूप है, अल्प या सीमित में सुख नहीं। उपयोगिता से समीकृत समस्त लाभ सीमित होते हैं, यह सीमा उनकी

सापेक्षता में ही निहित रहती है। सामाजिक दायित्व का आदर्श संवेदनशील एवं उच्चाशय व्यक्ति द्वारा समस्त उपयोगितापरक संघर्षों के परे जाने की बात करता है तथा निर्वैयक्तिक न्याय-भावना का आग्रह और पालन उच्चतर दायित्व बोध का द्योतक होता है। इसके अन्तर्गत गुणात्मक विवेक और निष्पक्ष दृष्टि का स्थान एवं महत्व है, जो सामाजिक धरातल पर सर्जनात्मकता तथा नैतिक मूल्य की समेकित प्रेरणा से उर्ध्वमुख, विकासपरकता की माँग और सिद्धि की समीक्षात्मक मूल्यानुचिन्तन में प्रत्यक्ष रूप से स्थापित होता है। सामाजिक दायित्व के इस समन्वित रूप को हम *'गुणात्मक सर्जनात्मक मानववाद'* की आख्या दे सकते हैं।

खण्ड (क) गीता

(अ) स्वधर्म एवं व्यक्तिगत स्वतन्त्रता

क्रांति या युद्ध को सामान्यतया मानव स्वतन्त्रताओं का विनाशकारक माना जाता है। यह व्यक्ति के जीवन, आजादी, सम्पत्ति और खुशहाली के अधिकार का हनन करता है। युद्ध के वातावरण का यथार्थ नागरिक को राष्ट्रहितों में अपनी निजी आजादियों को त्यजने के लिए दबाव बनाता है। विरोधाभासक रूप से, युद्ध की ज्वालाओं से मानव स्वतन्त्रता विभिन्न रंगों में अंकुरित हुई है। *हेराक्लिटस* के इस कथन- *'युद्ध सभी वस्तुओं का जनक है'*- से सहमत होते हुए, *श्री अरविन्द* ने कहा कि यह एक गम्भीर सत्य को इंगित करता है। उन्होनें लिखा: *''अपने शुद्ध भौतिक पहलुओं के साथ युद्ध और विनाश न सिर्फ यहाँ हमारे जीवन का एक सार्वभौम सिद्धांत हैं, बल्कि हमारे मानसिक तथा नैतिक अस्तित्व के भी। यह स्व-प्रमाणित है कि मनुष्य के बौद्धिक, सामाजिक, राजनीतिक, नैतिक, वास्तविक जीवन में, हम एक संघर्ष के बगैर आगे कोई वास्तविक कदम नहीं उठा सकते। ऐसा संघर्ष–जो जीवन्त और अस्तित्ववान है तथा जो जीवन्त और अस्तित्ववान होने को प्रयासरत है–के मध्य एवं उनके मध्य जो दोनों ही की पृष्ठभूमि में अपनी समष्टि में स्थित है।''*[१]

गीता भी कुरूक्षेत्र की पवित्र भूमि पर युद्ध के घटनाक्रम का फायदा उठाते हुए नागरीय स्वतन्त्रताओं (जो स्वभावतः अनिश्चित परीक्षणात्मक हैं) की समस्याओं को उठाती है और एक *'परम् निरपेक्ष स्वातन्त्र्यावस्था'* का निरूपण करती है। इस स्वतन्त्रता को *''केवल अपनी आत्मा की कीमत पर ही त्यागा जा सकता है।''*[२] अतएव गीता *स्वतन्त्रता से मुक्ति (freedom)* को विलग करती है, क्योंकि गीता में विवादास्पद मुद्दा मानव स्वतन्त्रता और दैवीय निर्धारणवाद के बीच नहीं, अपितु मानव *स्वतन्त्रता (liberty)* तथा *मुक्ति (freedom)* के बीच है। बाह्य स्वतन्त्रता एवं आंतरिक मुक्ति के भेद को समझाते हुए *श्री अरविन्द* अपनी कृति- *'वॉर एण्ड सेल्फडीटरमिनेशन'* में इंगित करते हैं कि स्वतन्त्रता *''परिपूर्णता की दशा है, लेकिन हमारा सांसारिक अस्तित्व इसी कुंजी को तलाशने में विफल रहा है। शायद यह इसलिए है कि वास्तविक मुक्ति केवल तभी सम्भव है जब हम अपने स्व-अस्तित्ववान आत्मतत्व में अवस्थित हो अनन्तकालिक जीवन जीये, जैसा कि वेद हमको आज्ञा देते हैं, किन्तु हमारी लौकिक तथा प्राकृतिक ऊर्जाएँ शुरूआत में इसको स्वयं अपने भीतर न खोजकर, हमारी अपनी बाह्य दशाओं में तलाशती हैं।''*[३] गीता का उद्देश्य व्यक्ति की निरन्तन आंतरिक विमुक्ति को प्रक्षेपित करना है, न कि बाह्य स्वतन्त्रताओं से उसकी सम्पृक्तता को। श्री कृष्ण अर्जुन में निर्लिप्त मुक्तावस्था उपजाने के लिए दृढ़संकल्पित हैं। लेकिन अर्जुन प्रारम्भ में, अपना

झुकाव क्षणिक स्वतन्त्रता की ओर दर्शाता है, जो उसे मुक्ति की परमावस्था से विहीन कर देगी। चूंकि उसकी अहंवादी इच्छा प्राकृतिक गुणों की क्षणभंगुरता से अनुशासित होती है, श्रीकृष्ण उसे गुणातीत होकर प्रशांत मन से युद्ध करते हुए इस मुक्ति को प्राप्त करने की सलाह देते हैं। गीता के अनुसार, समभावी मानसावस्था, वैयक्तिक मुक्तावस्था का प्रतिनिधित्व करती है, जो अपरिवर्तनीय तथा अपरिमित है। यह निर्विकार, निर्लिप्त अद्वैतात्मक विमुक्ति है, जो कि तार्किक, आदर्शवादी और सनातन है, न कि परिवर्तनीय, गुणात्मक, अंहकारी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता। निर्लिप्त अनासक्त इच्छा प्रबुद्ध एवं परिशुद्ध है, जो वास्तव में विमुक्ति की दैवावस्था से सुसंगत हैं।

स्वतन्त्रता से मुक्ति के गीताकृत विभेदीकरण से हम अग्रलिखित बिंदु निकाल सकते हैं। आनुभविक स्वतन्त्रता स्वभावत: वैयक्तिक है पर व्यक्ति की अनासक्त मुक्ति का आयाम सार्वभौमिक है। स्वतन्त्रता व्यक्ति के सामाजिक पद की द्योतक है, जबकि मुक्ति व्यक्ति की सममानसावस्था की। स्वतन्त्रता कालनिर्धारित होती है, वहीं मुक्ति कालातीत एवं असीम है। स्वतन्त्रता आंतरिकता और बाह्यता की एक विकासोन्मुखावस्था में है, परन्तु मुक्ति एक स्वअंतर्निहितावस्था है। यह अपनी अभिवृत्तियों में आध्यात्मिक है तथा बाह्य वातावरण एवं परिस्थितियों में अभिव्यक्त होती है। अव्यक्त परमनिरपेक्ष का यह चिरन्तन निवास है। *स्वामी विवेकानन्द* के शब्दों में, *"जहाँ कहीं भी जीवन है, वहाँ मुक्ति की यह गवेषणा है तथा यहीं मुक्ति ईश्वर के सदृश है।"*[४]

गीता अर्जुन को स्मरण कराती है कि मुक्ति की परमावस्था को मोक्ष कहा जाता है, और उसे प्राप्त करने के लिए उसको अविराम प्रयास के लिए प्रोत्साहित करती है। वह परमावस्था को दैवोप्लब्धावस्था, आत्मा-परमात्मा सम्मिलन, अमर्त्यता, समावस्था, नि:स्वार्थ-कर्म, तथा सर्वोच्चावस्था आदि के रूप में चित्रित करती है।

चूँकि गीता का मोक्षवादी उपागम लचीला है, वह ज्ञानी से लेकर समाज बहिष्कृत, सभी की पहुँच में है। मोक्ष का अभिप्राय है सत्य स्वानुभूति। वैयक्तिक दृष्टिकोण से, यह परमात्मा के साथ आध्यात्मिक संगम हेतु उपक्रम है। सामाजिक दृष्टि से, यह उस मनोवृत्ति का परिचायक है जिसके अंतर्गत जीवनमुक्त अपनी वैयक्तिकता को संजोये संसार के कल्याण प्रोत्साहन में कार्यरत रहता है। विमुक्तावस्थाओं को वर्गीकृत करते हुए, *आर० एन० दान्डेकर* ने लिखा: *"वस्तुत: हिन्दू विचारक तीन प्रकार की मुक्ति की चर्चा करते हैं- मृत्यु के समय उसके साथ प्राप्त मुक्ति(सद्योमुक्ति या विदेहमुक्ति) जहाँ मृत्यु वास्तव में मृत्युविहीन बना देती है; चरण-क्रमबद्ध मुक्ति (क्रममुक्ति); तथा जीते जी मुक्ति (जीवनमुक्ति)। इस अंतिम (मुक्ति) को ही भगवद्गीता स्थितप्रज्ञ, योगी एवं भक्त के वर्णनों के द्वारा मानव के सर्वश्रेष्ठ साध्य के रूप में ओजपूर्वक प्रस्तुत करती है।"*[५]

चूंकि अर्जुन एक योद्धा था और आध्यात्मिक मार्गों में चलने के लिए निपुण नहीं था, मुक्ति प्राप्त करने के लिए गीता उसे अनेक विकल्पों की शिक्षा देती है। गीता की शिक्षाओं की व्याख्या करने के लिए *प्रो० ड्यूश* ने एक शब्द-युग्म खोजा है- *"प्रगतिशील शैक्षणिक प्रविधि।"* इस प्रविधि का विश्लेषण करते हुए उन्होंने लिखा : *"इस प्रविधि का उपयोग करना भगवद्गीता की सुन्दरतम सूक्ष्म शैलियों में से एक है। कृष्ण द्वारा अर्जुन को कुछ पढ़ाया जायेगा वह या तो ठीक उसकी संज्ञानता के स्तर का है (जहाँ शिक्षा के पूर्ण होते ही वह कर्म करने के लिए उत्प्रेरित होता है), या जो उसकी स्वप्रबोधनात्मकता*

से कुछ परे है, पर जिसे वह अनुक्रमिक रूप से अपने अनुभव में निध्यासित करने में सक्षम है।''[६] उदाहरणार्थ, अर्जुन को उसकी अपनी निष्क्रियता से झकझोर कर बाहर निकालने के लिए, वह कहती है मुक्ति-अवस्था पौरूषत्व के अर्थो में ही उपलब्ध हो सकेगी।

गीता अर्जुन की अपनी रक्त-सम्बंधात्मक विमूढ़ता की अत्यन्त आलोचक है, जिसने उसकी सैन्य-वृतियों को उदासीन कर उसे युद्धक्षेत्र में निष्क्रिय कर दिया। *''बार-बार उसके मुख से 'परिजन' शब्द रख, गीता का रचयिता उसकी अज्ञानता एवं अंधकार (जिसमें वह डूबा है) की सीमा को दर्शाना चाहता है।''*[७] चूँकि वह युद्ध के सन्दर्भ में शारीरिक तथा मानसिक दुर्बलता प्रकट करता है, अतएव गीता उसके भीतर पौरूषत्व का भाव समाहित कराना चाहती है। गीतोपदेश यह है कि *''पौरूषत्व प्रसूत कर्म मुक्ति की ओर तथा उसका विपरीत, बंधन की तरफ ले जाता है।''*[८] वह उसे अपौरूषत्व के वशीभूत न होने के प्रति सचेत करती है। वह उसे शिक्षित करती है कि शक्ति और मुक्ति का रहस्य अपने जातिगत धर्म के अनुपालन में सन्निहित है। वह उसे सुख-दु:ख, जय-पराजय को एक समान मानते हुए, *''युद्ध करने का आह्वान करती है, चूँकि ऐसे युद्ध से वह पाप का भागीदार नहीं बनेगा।''*[९] वह कहती है कि मुक्ति आलसी और निष्क्रिय के लिए नहीं, अपितु समभावी व्यक्ति के लिए है, जो कर्म में निर्लिप्त है। गीता का समभावी व्यक्ति अन्याय के प्रति अन्यमनस्क नहीं रहता तथा सामाजिक असमानताओं को निष्कासित कर सामाजिक मुक्ति, अपरिग्रह पैदा कर आर्थिक मुक्ति और कुशासन का प्रतिरोध कर राजनीतिक मुक्ति को फलीभूत करने का प्रयास करता है।

गीता की सनातन मुक्ति का हमारा अध्ययन यह स्थापित करता है कि वह आनुभविक लौकिक स्वतन्त्रता को मान्यता देती तो है, लेकिन साथ ही उसे व्यक्ति की परम मुक्ति की प्राप्ति के अधीनस्थ करती है। व्यक्ति की सक्रियात्मक मुक्ति सामाजिक और राजनीतिक परिपूर्णता को संवर्धित करती है। *श्री अरविन्द* के अनुसार, *''मुक्ति का गहनतम अर्थ है शक्ति वर्धन तथा स्वाभाविक धर्म के नियमानुसार परिशुद्धता की ओर उन्नति करना।''*[१०]

हम गीताकृत व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (मुक्ति या मोक्ष) के उपरोक्त विवेचना के उपरान्त अब *'स्वधर्म की मान्यता'* की चर्चा करेगें। मानव कर्म मानव स्वभाव के विकास पर आधारित है। गीता मानव स्वभाव को मानते हुए उसकी इच्छाओं को पूरा करने का प्रयास करती है। वह संकेत करती है कि किस प्रकार मनुष्य प्रबुद्ध, नैतिक एवं आध्यात्मिक है। ये सभी तीन पहलू मानव स्वभाव की रचना करते हैं।[११] उसकी मानव स्वभाव की अवधारणा निरंतरता और विकास के द्वारा चिन्हित है। वह स्वीकार करती है कि मानव स्वभाव जैविक, मनोवैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया में हैं। जैविक रूप से, वह व्यक्ति पर पूर्वप्रसूत आदतों और सामाजिक पर्यावरण के प्रभाव को स्वीकारती है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, वह कहती है कि आत्मा पूर्वजन्मों के संस्कारों या आंतरिक गुणवृत्तियों को साथ लेकर चलती है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से, जिस व्यक्ति का योग से पतन हुआ है, वह अपने पूर्वजन्म का स्मरण करता है तथा आत्ममुक्ति के लिए अविराम प्रयास करता है। अतएव मानव स्वभाव अंतर्निहित जैविक एवं मनोवैज्ञानिक गुणों तथा अर्जित आध्यात्मिक उपक्रम का एक सम्मिश्रण और समन्वय है। *डा० राधाकृष्णन* के शब्दों में *''गीता द्वारा मानव स्वभाव का प्रत्येक आयाम उत्तरित तथा सम्पूर्ण होता है।''*[१२] स्वअर्जित

तथा उत्तराधिकृत दोनों गुण व्यक्ति के स्वभाव का निर्माण करते हैं। स्वभाव में मानव के स्वाद, अभिरूचि, क्षमता और मनोवृत्ति सन्निहित होते हैं। *"स्वभाव स्वकर्म को निश्चित करता है, अपने स्वकर्म को करना स्वधर्म है।"*[१३]

गीता की स्वधर्म की मान्यता स्वभाव-जनित गुणानुसार निर्लिप्त कर्मरतता के परिप्रेक्ष्य में स्वभाव के प्रति अभिपुष्टि की शिक्षा देती है। वह प्रत्येक व्यक्ति को स्वधर्म की आज्ञा देते हुए समग्र समाज को सर्वोच्च उद्देश्य तक ले जाने का प्रयत्न करती है।

स्वधर्म की आध्यात्मिक वैयक्तिक अभिपुष्टिवादी अवधारणा अमूर्त वैदिक *'ऋत्'* से संजात है। *'ऋत्'* का अर्थ है *"वस्तुओं का क्रम"*, जो दुर्व्यवस्था और अराजकता को वर्जित करता है। उसका विपरीत *'अनऋत्'* है, यानि दुर्प्रणालीय असंयोजन। *'ऋत्'* सार्वभौमिक शिवमय नैतिक व्यवस्था है जो ब्रह्माण्ड को संचालित रखती है। वैदिक देव वरूण उसके संरक्षक है। *'ऋत्'* के अर्थ की व्याख्या करते हुए, *डा० राधाकृष्णन* ने लिखा: *"मूलत: यह अवधारणा सूर्य, चन्द्रमा और तारों, दिन, रात और ऋतुओं के नियमित परिवर्तनशीलता से सूझी गयी होगी। ऋत् विश्व-प्रणाली का द्योतक है। ब्रह्माण्ड मे प्रत्येक वस्तु जो व्यवस्थित है, उसका नियम ऋत् है। यह प्लेटों के सामान्यों के समतुल्य है। आनुभविक जगत ऋत् का प्रतिबिम्बन या छाया है, जो सभी परिवर्तनशील समीकरणों में अपरिवर्तनीय रहता है।"*[१४] उसे सभी का जनक कहा जाता है। वह निरपेक्ष एवं गैर-उल्लंघनीय है और वृहत्सृष्टि तथा सूक्ष्मसृष्टि दोनों को ही नियंत्रित करती है। ऋत् की व्यवस्था में, देवता इस ब्रह्माण्ड के रचयिता नहीं वरन् उसके समर्थक हैं। अशुभ से अपनी विपक्षता में, उसको *"बर्बर और कठोर" (उग्रम्)* पुकारा जाता है। वह नैतिक एवं सामाजिक निहितार्थों के लिए आश्रय उपलब्ध कराती है। जैसा *ए० सी० बोस* ने इंगित किया: *"समाज का आदर्श ब्रह्माण्डीय व्यवस्था, ऋत् को सामाजिक व्यवस्था में अनुवादित करना है।"*[१५]

निरपेक्ष दृष्टिकोण से वेदों का ऋत् और सापेक्ष दृष्टिकोण से गीता का स्वधर्म संरचनात्मक - प्रकार्यात्मक रूप से समान हैं। स्वधर्म सनातन, नैतिक ऋत् की सटीक भौतिक अनुकृति है। यह मानते हुए कि व्यक्तिनिष्ठ संसार वस्तुनिष्ठ संसार पर शासन करता है, *स्वामी विवेकानन्द* ने कहा: *"एक परमशुद्ध सत्य को इन दोनों ही संसारों के अनुभवों के साथ समन्वित होना चाहिए। सूक्ष्मसृष्टि वृहद्सृष्टि की साक्ष्य और वृहद्सृष्टि सूक्ष्मसृष्टि की साक्ष्य बनें; भौतिक सत्य का अपना प्रतिपर्ण आंतरिक जगत में हो तथा आंतरिक जगत का प्रमाणीकरण उसके बाहर हो।"*[१६] वास्तव में स्वधर्म ऋतम् के अस्तित्व के साक्ष्य का संवहन करता है। सद्गुण व्यक्ति के धर्मानुपालन में अवस्थित है। स्वधर्म एक *"सत्यकाम"* है[१७], और सत्य के दैवीय सार *"उसके कर्म, ऋतम्, सत्यम्, में है,- मन और शरीर की सम्यक क्रियाओं का नियमन करती देवत्व की सत्यता।"*[१८]

गीता का स्वधर्म, अपने प्रतिपर्णीय ऋत् सदृश, वैयक्तिक नि:स्वार्थ कर्म का *"नियामक विचार"*[१९] है। वह विभिन्न मनुष्यों की आंतरिक वैयक्तिकता और व्यक्तित्व का संविधान देती है। वह स्वभावत: स्वनियामक, स्व-संचालित तथा स्व-सत्यनिष्ठ है। वह स्व-नियामक इस अर्थ में कि वैयक्तिक क्रिया को निर्दिष्ट करता अस्तित्व का कटु न्यायवादी व्यक्तिनिष्ठ नियम है। वह स्व-संचालित है क्योंकि वह व्यक्ति स्वभाव में कर्म के सर्वप्रमुख गुणानुसार कार्य करता है। वह स्व-सत्यनिष्ठ है चूँकि वह व्यक्ति के प्रयासों (सम्यक् और असम्यक्) को पुरस्कृत तथा दंडित करता है। स्वधर्म को, *"व्यक्ति के विशेष*

मनो-आध्यात्मिक प्रगति के एक प्रतिबिम्बन के रूप में समझना चाहिए।''[२०]

स्व-नियामक स्वधर्म वैयक्तिक कर्म एवं चिंतन के स्वरूप पर बाहर और अंदर दोनों ओर से प्रशासक के रूप में कार्य करता है। उत्थान और पतन, स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता, व्यक्ति के कर्तव्य-पालन पर निर्भर करती है। चूंकि वह वैयक्तिक पहल और सहमति पर आधारित है, वह प्रकृति तथा कर्म में लोकतांत्रिक है। स्व-कर्तव्यानुपालन में कोई बाह्य दबाव नहीं होता। सभी प्रकार के स्वधर्म सामाजिक मूल्य एवं आध्यात्मिक विकास में समान होते हैं। प्रत्येक जाति में धर्म *''ब्रह्मवत्, पवित्र बल के रूप में उपस्थित रहता है।''*[२१] स्वधर्म व्यक्ति का स्वानुभूत कर्तव्य है, जिसकी वह अवज्ञा नहीं कर सकता। वह वास्तव में अभिपुष्टिवाद का नैतिक, सामाजिक और राजनीतिक पहलू निर्मित करता है।

स्वधर्म के नैतिक पहलू पर बल देते हुए गीता व्यक्ति में अभिपुष्टिवाद को सुदृढ़ करती है। स्वधर्म की अपनी नैतिक प्रतिरक्षा में वह अशमनीय है और किसी को उससे विमुख होने की अनुमति नहीं देती। वह व्यक्ति के अशुद्ध स्वधर्म की भी महिमा गाती है, जो परमानन्द देता है। वह कहती है: *''स्व-कर्तव्य, लाभ से रिक्त होते हुए भी, किसी अन्य के सुपालित कर्तव्य से वरीयता योग्य है। स्व-कर्तव्यानुपालन में मृत्यु भी, अनुकम्पा प्रदान करती है;* (जबकि) पर-कर्तव्य भय से भरा है।''[२२] *''प्राप्य मौके पर''*[२३] पाप के आधारों पर वह अर्जुन से अपने कर्तव्य, जिससे वह स्वजन्मत: समीकृत है, को न त्यागने के लिए कहती है।

गीता का स्वधर्म, जो प्रकृत्या एकात्मक है, एक अंहकारी को विरोधाभासी या द्वन्द्वात्मक प्रतीत होता है, जो उसे स्वतन्त्रता और अधिकार, जय और पराजय के रूप में जान पड़ता है। वह सर्वदा वस्तुओं के यथार्थ के प्रत्यक्षीकरण में विभंजक तथा सविरोधी होता है। वह स्वार्थ हित-सिद्धि के बारे में सोचता है और समाज के सामान्य हितों को अपवर्जित कर देता है। इसके विपरीत, समभावी व्यक्ति को स्वधर्म निर्लिप्त कर्तव्य की सूचना देता है। यदि गीता उसे स्वार्थी इच्छा मानती, तो वह योद्धा अर्जुन को साधक बनने की अनुमति दे देती। जब कर्तव्य अहंवाद से अभिप्रेरित होती है, तो व्यक्ति उसे किसी अन्य आकर्षक कर्तव्य, पराधर्म, के लिए त्याग देगा। चूंकि वह व्यक्ति के विकासवादी नैतिक एवं आध्यात्मिक प्रगति का विनाशक है, गीता उसकी आलोचना करती है। वह अनैतिक और अतार्किक है; कुछ समय के लिए व्यक्ति *''पाशविक जीवन चक्र में फंस कर पराधर्म के अधीन लगभग यांत्रिक रूप से कार्य करता है।''*[२४] श्री कृष्ण स्वधर्म की शिक्षा व्यक्ति की नैतिक पूर्णता तथा सामाजिक प्रगति की दृष्टि से देते हैं। *''स्वधर्म को धारण किये रखना श्रेयस् प्राप्त करने का एक निश्चित साधन है।''*[२५] समभावी व्यक्ति अपने स्वधर्म को समर्पण-भाव से करता है।

चूंकि चिरन्तन सर्तकता व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का मूल्य है, निर्लिप्त स्वधर्म व्यक्ति की नैतिक शुचिता की रक्षा करता है। यह ध्यान-योग्य है कि गीता स्वचेतनानुसार कर्म-स्वातन्त्र्य को मान्यता देती है। चूंकि वह वैदिक धार्मिक अनुष्ठानों की अंधविश्वासों के रूप में आलोचना करती है, वह निश्चित तौर से एक गैर-पुष्टिवादी, जो निर्विकार तर्कणायुक्त है, को अपने नैतिक दायित्व के रूप में सामाजिक कुरीतियों के विरूद्ध आवाज़ उठाने की अनुमति देगी। जैसा *के०एम० पन्निकर* ने संकेत किया है, भारत की प्रमुख बौद्धिक परम्परा समाज व्यवस्था की पूर्वशर्तों में–मुक्त जाँच, समालोचना और विरोध है। सनातन

धर्मानुयायियों ने तत्कालीन सुधारकों को उनके जीवनकाल में ही नास्तिक घोषित कर दिया था। महान शंकर को प्रछन्न बुद्ध घोषित किया गया; वैष्णव संस्थापकों पर ब्राह्मणत्व के विरूद्ध निम्न जातीय लोगों को भड़कानें का आरोप लगा; एक कट्टर द्वारा गॉधी को एक प्रछन्न ईसाई मनवाने का हमला हुआ। इन सभी को ध्यान में रख, *पन्निकर* ने लिखा: *''भगवद्गीता पढ़ते हुए अकसर मैं सोचता हूँ कि क्या उस समय के सनातनियों ने स्वयं श्रीकृष्ण की, वेदावादारतस् (लोग जो वेद-विवेचना में मग्न थे) के बारे व्यंगात्मकता, जिनके (पुष्पितम् वचनम्) अलंकृत वाक्पटुता को अर्जुन ने पूर्णत: अस्वीकृत कर दिया, आलोचना की होगी अथवा नही।''*[२६]

गीतानुसार, स्वभावत: मनुष्य एक सामाजिक प्राणी और एक सामाजिक अभिपुष्टिवादी है, जिसका आधार उसका नि:स्वार्थ सामाजिक कर्म है। मानव स्वभाव सक्रिय प्रकृति के गुणों के अंतर्समीकरण के कारण है। गीता और सांख्य दर्शन, यद्यपि, सामाजिक क्रिया की गैर-उल्लंघनता पर मतभेद रखते हैं। सांख्य दर्शन का अनुयायी, जो स्वयं को प्रकृति के बन्धन से मुक्त करता है, सामाजिक कर्म से अलग रहता है। परन्तु गीता का व्यक्ति उसकी पूर्णता में स्वतन्त्रता पाता है। गीता मानव स्वभाव के दमन या व्यक्ति के नि:स्वार्थ सामाजिक कर्म को रोकने की अनुमति नहीं देती है। वह कहती है: *''मानव न तो बिना कर्मरत हुए कर्म से स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है; और न ही महज कर्म के परित्याग द्वारा परिपूर्णता को उपलब्ध हो सकता है।''*[२७] गीता का कर्मयोगी, गुणातीत होकर, सामाजिक उन्नति तथा बंधुत्व को प्रोत्साहित करने का सतत् प्रयास करता है। गीता कहती है परमसम्प्रभु भी सामाजिक व्यवस्था की स्थिरता और एकता के लिए निरंतर कार्यरत रहते हैं। व्यक्ति का स्वधर्म लोकसंग्रह को प्रोत्साहित करना है। *''अपने लोकसंग्रह के आदर्श को उपनिषदीय आदर्श मोक्ष के साथ अपनी अनासक्तियोग, अर्थात, कर्म में त्याग, न की कर्म का त्याग की शिक्षा के द्वारा समन्वित करना,''*[२८] गीता की मुख्य विषय-वस्तु है।

श्रीकृष्ण प्रथम भारतीय सामाजिक चिन्तक थे, जिन्होनें गैर-उल्लंघनीय नि:स्वार्थ सामाजिक क्रिया की परिपूर्ति तथा सामाजिक व्यवस्था के निर्वाहन के लिए मानव स्वभाव के गुणों को रूपांतरित किया। *ज़ीमर* के अनुसार, पाश्चात्य आधुनिक दार्शनिकों के एकदम विपरीत, हिंदू दर्शन का प्राथमिक सरोकार सर्वदा सूचना नहीं, बल्कि मानव स्वभाव का रूपांतरण तथा *''बाह्य जगत एवं स्व-अस्तित्व दोनों का एक पुनर्नवा स्व-प्रबोधन है; एक रूपातंरण सम्भाव्यता इतना पूर्ण, जो एक पूर्ण धर्मांतरण या पुनर्जन्म के समान होगा।''*[२९] गीता इंगित करती है कि स्वधर्म की व्यक्ति की सामाजिक क्रिया की अनदेखी सामाजिक पाप करने तुल्य है। निष्क्रियता मानव स्वभाव को अज्ञानता तथा बंधन के निम्नतम तामसिक स्तर पर गिरा कर रख देती है। गीता कामेच्छा से प्रेरित कर्म को कर्माभाव से ऊपर श्रेणीबद्ध करती है। इसी कारण वह अर्जुन को स्वधर्म, यानि स्वत्व के सत्य नियम की परिपूर्ति के लिए न सही, कम से कम स्वर्ग प्राप्ति के लिए युद्धोत्प्रेरित करती है। *प्रो० बलबीर सिंह* के अनुसार, गीता स्वधर्म को आत्मा की स्वतन्त्रता के द्वारा विनिश्चितता में सम्पादित सर्वोच्च नैतिक मूल्यवादी कर्म के रूप में मानती है। *''इसी उच्चतर दृष्टिकोण से ही गीता का ईश्वर स्वर्ग प्राप्ति को भी व्यक्ति के असीम मूल्य तथा अपरिवेक्षणीय भाग्य की परिपूर्ति का कोई विकल्प नहीं मानता।''*[३०]

स्वधर्म का सामाजिक पहलू स्थापित करता है कि व्यक्ति एक पृथक्कृत नहीं, अपितु सामाजिक प्राणी है, जो समाज के प्रति अपने नि:स्वार्थ कर्तव्य के लिए ऋणी है। स्वधर्म करना एकांत में रहना नहीं है, बल्कि दूसरों के साथ सहयोग में कार्य करते हुये सामाजिक स्थायित्व एवं विकास को प्रोत्साहित करना है, जैसा *हेनरी डेविड थोरो*, प्रसिद्ध अराजक-व्यक्तिवादी विचारक ने, मार्च १८४५ से सितम्बर १८४७ तक कानकार्ड, मैसेच्यूसेट्स के किनारे वाल्डेन झील के पास एकांत, सरल, स्व-निर्भर तथा स्व-पूर्णता के अपने जीवन के साथ प्रयोग के उपरान्त अनुभूत किया। गीता का सामाजिक अभिपुष्टिवादी सामाजिक कार्यो में भाग लेते हुए सामाजिक भलाई में योगदान करता है, जैसा *विपिन चन्द्र पाल* ने लिखा: *''व्यक्ति अपनी परम्-अनुभूति तथा उच्चतम आत्माभिव्यक्ति अपने समाज में और इसके द्वारा पाता है तथा उसी प्रकार उसका समाज अपनी सर्वोच्चाभिव्यक्ति एवं उपलब्धि अपने तत्व-व्यक्तियों के जीवन तथा कर्मों में और उसके द्वारा प्राप्त करता है। व्यक्ति और उसका समाज सामाजिक बुनावट के ताने-बाने सदृश हैं। व्यक्ति को वास्तविक रूप से समझने के लिये, हमें उसकी सामाजिक पारिस्थितिकी में तथा उसके माध्यम से उसका अवलोकन करना चाहिए।''*[३१]

वस्तुत:, गीताकृत स्वधर्म के अभिपुष्टिवाद का सामाजिक पहलू समाज में वर्ण, आश्रम, जाति, आदि जैसे सभी दूसरे लौकिक धर्मो का आधार-स्तम्भ है। यह जीवन के लौकिक और पारलौकिक पहलुओं को समेकित कर सुनिश्चित करता है कि व्यक्ति का त्रुटिपूर्ण स्वधर्म भी उसे अनुकम्पायुक्त करता है, तथा एक निम्न-जाति व्यक्ति भी इच्छारहित स्वभाव-जन्य सामाजिक कर्म करते हुए सद्गुणी बन सकता है। *थोरो* ने भी अपनी कृति-*वाल्डेन या लाइफ इन दि वुड्स (१८५४)* में समान विचार प्रस्तुत करते हुए लिखा: *''आपका जीवन कितना भी निकृष्ट क्यों न हो, उसका सामना करो और उसे जियो; उससे मुँह न चुराओ और न ही उसको अपशब्द बोलो। वह तुम्हारे जितना बुरा नहीं है। जब तुम सबसे धनिक होते हो तो वह सबसे गरीब दिखेगा। गलतियाँ ढूढँने वाले स्वर्ग में भी कमियाँ निकाल ही लेगें।''*[३२] स्वधर्म व्यक्ति-स्वातन्त्र्य और सामाजिक पाबंदियों, व्यक्तिगत अधिकारों तथा सामाजिक कर्तव्यों, पारस्परिक सहायता और सामाजिक सहयोग को समन्वित करता है। वह सामाजिक विशेषाधिकारों, सामाजिक तथा आर्थिक प्रतिस्पर्धा को निर्वासित करता है और व्यक्ति एवं उसके सामाजिक दायित्वों में द्वन्द्व को समाप्त करता है। विज्ञान जो हमें हमारे कर्तव्य या धर्म को समझने लायक बनाता है *''धर्मशास्त्र या सामाजिक नैतिकता का विज्ञान''* है।

गीता सामाजिक अभिपुष्टिवाद बनाम गैर-अभिपुष्टिवाद की समस्या को कुरूक्षेत्र में सामाजिक संतुलन के निर्वाहन तथा उसमें विघ्न पड़ने के द्वन्द्वात्मक घटनाक्रम के माध्यम से प्रस्तुत करती है। जहाँ अर्जुन पहले का हितैषी है, वहाँ श्रीकृष्ण दूसरे का। गीता का स्वधर्म, जो *''व्यक्ति के लोक दायित्व की मान्यता का एक नियम''*[३३] है, कर्तव्यमूलक द्वन्द्वात्मक समस्या का निवारण कर देता है। तद्नुसार, अर्जुन अभिपुष्टि की यांत्रिक भावना का परिचायक है, तो श्रीकृष्ण मानव की सृजनशील भावना के द्योतक हैं।

एक सामाजिक अभिपुष्टिवादी की तरह योद्धा अर्जुन परिवार की पवित्रता, आनुवांशिक जाति-व्यवस्था की उपयोगिता और नस्ल की निरंतरता की ओर इंगित हुए सामाजिक-राजनीतिक अराजकता से बचकर किसी भी कीमत पर सामाजिक संतुलन

बनाए रखना चाहता था। त्रिलोकों की सम्प्रभुता के लिए भी युद्ध न करने के अपने दृढ़ निश्चय को अभिव्यक्त करता है। उसकी शांति के लिए इच्छा और स्थापित सामाजिक व्यवस्था के लिए आदर उसकी अभिपुष्टिवादिता को दर्शाता है। किंतु जब युद्ध की घड़ी उसके सामाजिक कर्तव्य की मांग करती है, वह मौकापरस्त बन राजनीतिक असत्यनिष्ठता के विरूद्ध लड़ने से इन्कार कर देता है। वह यांत्रिक रूप से सामाजिक स्थायित्व बनाए रखना चाहता है, पर असत्यनिष्ठता के खिलाफ अपने सृजनात्मक राजनीतिक कर्तव्य की अपनी प्रतिरक्षा से बचने का इच्छुक भी है। उसका अभिपुष्टिवाद असंगत और गैर-जिम्मेदार, असामाजिक तथा समाज के लिए अहितकारी है।

यदि कोई मध्यस्थता भी करता है कि एक शांतिवादी के रूप में युद्ध में हिस्सा न लेना अर्जुन का स्वधर्म है, तो उसका शांतिवाद, लोक-दायित्व पर आधारित होते हुए भी निर्लिप्त न होने के कारण संदेहास्पद है। परिव्याप्त सामाजिक और राजनीतिक अन्याय के प्रति उसका शांतिवाद सहिष्णुता तथा उदासीनता का एक अपवित्र दृष्टिकोण रखे हुए है। वह अन्याय से लड़ने की अपेक्षा उसके आगे आत्मसमर्पण कर देगा। एक अन्यायी समाज में जीना और उसे सहना अपनी अन्तर्चेतना को धोखा देना है। एक शांतिवादी कम से कम नैतिकता के धरातल पर अशुभ का निष्क्रिय प्रतिरोध प्रस्तुत करेगा अथवा एक सत्याग्रही गाँधी के समान आत्म-बल का प्रयोग कर अशुभ अभिकर्त्ता से पाप छुड़वा देगा। परन्तु अर्जुन के समान, अपने स्वधर्म को नकारना समाज में अराजकता फैला देगा।

श्रीकृष्ण, अर्जुन के विपरीत कहते हैं कि सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं का निर्वाहन व्यक्ति के स्वधर्म की सृजनात्मक भावना पर निर्भर करता है। एक पतनशील, असत्यनिष्ठ, अस्थिर सामाजिक व्यवस्था के यांत्रिक निर्वाहन की तुलना में श्रीकृष्ण व्यक्तिगत पहल और स्वधर्म के आदेश को सर्वोच्च वरीयता प्रदान करते हैं।

वास्तव में, एक राजनीतिक अभिपुष्टिवादी वह है जो अपने वर्ग कर्तव्य को करता है, न की वह जो समाज की बाह्य व्यवस्था की पवित्रता की दुहाई दे स्वकर्तव्यविमुख हो जाये। अत: अर्जुन, आरामतलब अभिपुष्टिवादी "मौके पड़ने पर" एक गैर-अभिपुष्टिवादी हो जाता है, जब उसका सामना अपने वर्ग कर्तव्य की समस्या से होता है। श्रीकृष्ण, सैद्धान्तिक गैर-अभिपुष्टिवादी, तब समाज के प्रतिरक्षक अथवा अभिपुष्टिवादी बन जाते हैं जब वो समाज के प्रति वर्ग-दायित्व या स्वधर्म की वकालत करते है। स्वधर्म का अर्थ महज शांतिवाद नहीं जैसा उसे अर्जुन ने गलत समझा, बल्कि अनिवार्य गैर-उल्लंघनीय और निर्लिप्त वर्ग-कर्तव्य है जैसा श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया। *मोनियर विलियम्स* के शब्दों में, *"जातिगत दायित्वों को अन्य सभी दायित्वों, जिसमें मित्रता तथा परिजनों से समीकृत दायित्व भी है, से ऊपर उत्कर्षित करना"*,[३४] गीता का मुख्य उद्देश्य है।

अपने कर्तव्य को करने की शिक्षा देने में न ही नैतिक विज्ञान और न ही दर्शन में कुछ नया है। पर गीता के स्वधर्म में गैर पारंपरिक यह है कि वह व्यक्ति को बिना कामना के वर्ग-कर्तव्य करने के लिए प्रोत्साहित करती है। उसका स्वधर्म भारतीय दर्शन के रूढ़िवादी पंथों के धार्मिक कर्तव्यों तथा पारम्परिक नीतिशास्त्र के अनुमन्यताओं तथा वर्जनाओं से हट कर बात करता है। जहाँ नैतिकताएँ सही चीजें करने एवं वर्जित होने से बचने के नियम से समीकृत होती हैं, वहीं व्यक्ति का स्वधर्म

आकर्षण-विकर्षण की द्वन्द्वताओं से परे होकर समस्थैतित्य कर्म से ओतप्रोत होता है। गीता उसे उस व्यक्ति पर लागू करती है जो प्रकृति के गुणों से आबद्ध है और उस कर्मयोगी पर भी जिसने उनको पार कर लिया है। गीता उसे सिर्फ वर्ग-दायित्व के अर्थ में व्याख्यायित करती है, न कि मीमांसा दर्शन की विधि या पारम्परिक धार्मिक अनुष्ठानों के अर्थ में। न ही वह स्वधर्म को व्यक्ति की अज्ञानता के वेदान्तिक अभिव्यक्ति के रूप में नकारती है। चूंकि स्वधर्म नैतिक एवं दार्शनिक दृष्टि से गैर-पारम्परिक है, उसे रूढ़िवादी नहीं कहा जा सकता है।

आलोचक यह आरोप भी लगा सकते हैं कि चूँकि गीताकृत स्वधर्म अभिपुष्टिवाद का उपेदश देता है, वह प्रतिक्रियावादी, यथास्थितिवादी और अलोकतान्त्रिक है। वह इंगित करते हैं कि वह व्यक्ति को समाज में एक विशेष वर्ग-कर्तव्य तक परिसीमित कर उसे विकास तथा सामाजिक अवसर की समानता से वंचित रखता है। पर गीताकृत स्वधर्म रूढ़िवादिता की इस व्याख्या को खारिज़ करता है। यह मानते हुए कि स्वधर्म संसार के कल्याण के लिए स्वानुभूत-अभिवृत्ति है, न कि विभिन्न जातियों के लिए मनु द्वारा निर्धारित कर्तव्य, *पन्निकर* ने लिखा: *"उस अर्थ को तनावपूर्ण करना गीता की सम्पूर्ण भावना के विरूद्ध है, जिसे श्रीकृष्ण ने यों कहा कि यदि एक व्यक्ति अस्पृश्य पैदा हुआ है तो उसे अपनी स्थित से सन्तुष्ट हो संसार-कल्याण के लिए पूर्ण निर्लिप्तता के साथ अपने दायित्वों को निभाना चाहिए। इससे एकदम अलग, गीता समाज में मानव की समानता की शिक्षा देती है, क्योंकि कृष्ण द्वारा सृजित चातुर्वर्ण व्यवस्था, गुण और कर्म, अर्थात्, व्यक्ति की अपनी पात्रता तथा उसके द्वारा चयनित कर्म-शैली पर आधृत है।"*[३५] स्वधर्म आत्म-संतुष्टि पर आधारित है, न कि सामाजिक महत्वाकांक्षा पर तथा गीता का व्यक्ति समाज में अपने सामाजिक पद के लिए लालायित रहता है। वह स्वधर्म को केवल कर्म और गुण के अर्थों में व्याख्यायित करने में उदार है।

व्यक्ति का स्वधर्म उदारवाद और समाजवाद दोनों के लक्षणों को अभिपुष्ट करेगा तथा उनसे अन्तर भी। जहाँ मुक्त-व्यापार व्यवस्था में व्यक्ति केवल खुद के लिए जीता व काम करता है और कभी बिना भौतिक प्रोत्साहन के नहीं, वहीं समाजवाद में, व्यक्ति को समाज के लिए कार्य करने के लिए विवश किया जाता है। दोनों राजनीतिक व्यवस्थाओं में, व्यक्ति या तो आर्थिक प्रोत्साहन या सर्वोच्च सामूहिक हितों के रूप में बलात्कार के अधीन है। एक ओर, व्यक्तिवाद सामाजिक हितों को नकारता है, दूसरी ओर समाजवाद व्यक्तिगत प्रथमोद्योग एवं विकास की अनदेखी करता है। लेकिन स्वधर्म न ही समाज के लिए व्यक्तिगत हितों को और न ही सामाजिक हितों को व्यक्ति के लिए बलि चढ़ाता है। जब वह व्यक्तिगत पहल तथा संसाधनपूर्णता, गुण और कर्म का पक्ष लेता है, वह उदार है। परन्तु स्वधर्म उदारवाद को अनुकूलित करता है, जब वह समाज से लोकसग्रंह या नि:स्वार्थ प्रकार्यात्मक सेवा को समीकृत करता है। कर्म व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का पक्षधर बन, स्वधर्म उदारवाद के, तथा नि:स्वार्थ सेवा के लिए तत्पर बन, समाजवाद के निकट आता है। वह व्यक्तिगत और सामाजिक हितों दोनों पर बराबर बल देता है। वह उदारवाद और समाजवाद दोनों को संशोधित कर, एकांगी दृष्टिकोण को परिमार्जित कर, उन पर एक संयत प्रभाव डालेगा।

गीता के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की चर्चा ने यह प्रमाणित किया कि आनुभविक स्वतन्त्रता की अपनी सीमाएँ है। दुर्योधन

की दानवी स्वतन्त्रता और अर्जुन की नागरीय स्वतन्त्रता अहंकारी हैं। गीता अर्जुन के मानवीय उपागम को उसके वर्ग-कर्तव्य पर बल देते हुए परिपूर्ण बनाती है। उसने दर्शाया कि मुक्ति की दशा व्यक्ति के नि:स्वार्थ प्रयत्न के साधनाधीन है। तद्नुसार, निर्लिप्त् कर्म न केवल व्यक्ति, अपितु समाज की परम मुक्ति को प्रोत्साहित करता है। वह स्वार्थरहित लौकिक कार्य से आध्यात्मिक विमुक्तावस्था को विलग नहीं करता है। वह व्यक्ति से असम्भव की आशा नहीं करता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य स्वाभाविक नियम, धर्म के प्रति आज्ञाकारिता में निहित है। उसकी स्वधर्म की मान्यता व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी तथा एक अभिपुष्टिवादी भी बनाती है, जो उसके लोक दायित्व की परिपूर्ति पर बल देता है। चूंकि गीता परधर्म, दूसरे के दायित्व की भर्त्सना करती है, जो व्यक्ति की निजता को विनष्ट कर देता है, वह समाज व्यवस्था में जाति-कर्तव्यो में दुर्व्यवस्था को भी अमान्य करती है।

(ब) वैयक्तिक एवं सामाजिक नैतिकता

गीता आध्यात्मिकता का एक उपदेश है, जो उपनिषदीय चिंतन को ज्यादा प्रभावी, ज्यादा सुग्राहय, ज्यादा व्यावहारिक एवं लोकप्रिय रूप में प्रस्तुत करती है। वह ब्रह्माण्डीय, मानवीय और स्वर्गीय अस्तित्व से विपुल उदाहरणों के द्वारा अस्तित्व के आध्यात्मिक उद्भव की ठोस रूप में व्याख्या करती है। गीता ईश्वर को (स्वघोषित श्रीकृष्ण को ईश्वरावतार के रूप में) समग्र अस्तित्वों के स्त्रोत तथा निर्वाहक के रूप में प्रतिष्ठित करती है। जैसा स्वयं श्रीकृष्ण कहते हैं- *''मुझमें से सबकुछ का निर्गमन होता है।''* इस परिप्रेक्ष्य में, जीवन का मूल्य और अर्थ अस्तित्व के अनुभवमूलक *क्रिया-अवयवों (modes)* को मान्यता देने तथा परम आध्यात्मिक सत्ता के साथ उनके एकीकरण की निष्पत्ति में समाहित है। यह एकीकरण न केवल अनुभवमूलक मूल्यों की सत्यता को सुरक्षित करता है, अपितु उनके मूल्यमीमांसक महत्व की भी अभिवृद्धि करता है।

उपरोक्त पृष्ठभूमि में, गीता में सामाजिक नैतिकता के ऊपर सैद्धांतिक चिंतन पाया तो जाता है, पर वह जीवन्त सन्दर्भ में नहीं है। नि:सन्देह, गीतोपदेशित जीवन के नियमों के गहन सामाजिक निहितार्थ है, चूंकि गीता-दर्शन सामाजिक जीवन पर व्यावहारिक रूप से मनन करता है। कर्म का सामान्य दर्शन, जो गीता का मुख्य मत है, व्यवहार और अपने प्रभाव में प्रामाणिक रूप से सामाजिक है। गीता के अनुसार, सभी नैतिक सद्गुण जो जीवनादर्श का निर्माण करते हैं, अपने निहितार्थों तथा प्रभावों में सामाजिक हैं तथा इन्हीं में हम जीवन के सामाजिक नैतिकता के गीतावादी दृष्टिकोण को तलाश सकते हैं। गीता में सामाजिक नैतिकता की समस्या सीधे (अर्थात् प्रथमोध्याय उपरान्त के सत्रह अध्यायों से निर्मित ग्रंथ के मुख्यांश में) नहीं उठाई गई है।

एकमात्र प्रत्यक्ष तथा जीवन्त सामाजिक मूल्यवादी संदर्भ गीता के प्रथम अध्याय में प्राप्त होता है, जिसमें अर्जुन की चिन्ता युद्ध प्रसूत सामाजिक–पारिवारिक त्रासदी के इर्द-गिर्द अभिकेन्द्रित है, यद्यपि उसका गहरा सरोकार उन सांस्कृतिक मूल्यों से है जो सिर्फ पारिवारिक व्यवस्था को अर्थ प्रदान कर सकते हैं। यद्यपि अर्जुन की चिन्ता का श्रीकृष्ण द्वारा कोई सीधा उत्तर गीता में नहीं दिया गया है, फिर भी यह स्पष्ट समझा जा सकता है कि मात्र युद्ध से बचकर सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों को प्रसंस्कृत नहीं रखा जा सकता। उनको सुनिश्चित करने का एकमात्र मार्ग गीता प्रतिपादित नैतिक-आध्यात्मिक दर्शन है।

प्रथम अध्याय के उपरांत, गीताकृत सामाजिक नैतिकता को ग्रंथ में हुए लौकिक मूल्यों के विवेचनों में ही पाया जा

सकता है। *'काम'* मूल लौकिक मूल्य है जो समाज उपजाकर सामाजिक नैतिकता के प्रश्न को जीवन्त करता है। गीता *'काम'* को जीवन की दैवीय रीति मानती है, लेकिन केवल तब जब वह धर्म, यानि, सामाजिक-नैतिक सत्यनिष्ठा के नियम से परिशुद्ध तथा नियमित होता है। अन्य लौकिक मूल्य जैसे *'अन्न'* के परिप्रेक्ष्य में गीता सामूहिक रसोई, सामूहिक भोजन, दूसरों के साथ अन्न बॉटने आदि अन्न के आध्यात्मीकृत प्रकार प्रस्तावित करती है।

गहनतर तथा वृहत्तर सामाजिक निहितार्थ, गीतानुसार उन वैयक्तिक सद्गुण में निहित है जो आध्यात्मिक प्रत्याशियों की उपलब्धि होती है। लेकिन कतिपय सामाजिक नैतिक मूल्यों को गीता सीधी मान्यता देकर उल्लेख करती है। इस सन्दर्भ में, एक प्रत्याशी की अर्हता का एक कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तद्नुसार, ईश्वर उन भक्तों से प्रेम करते हैं, जो सामाजिक रूप से सर्वाधिक समायोजित होकर दूसरों को चिन्ता में डाले बगैर, दूसरों के दुराचरण से स्वयं परेशान नहीं होते हैं।[३६] यह सामाजिक समायोजन एक ओर नैतिक-आध्यात्मिक नियंत्रण एवं दूसरी ओर आध्यात्मिक सर्वोच्चता तथा सहिष्णुता के द्वारा प्राप्त होता है।

गीता में प्रथम अध्याय के अलावा कहीं भी विशेष सामाजिक सम्बन्धों का ब्यौरा नहीं मिलता है, केवल वहाँ जहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन के एक मित्र और शुभचिन्तक के रूप में उसके प्रति जीवन के गहनतम सत्यों को उद्घाटित करते हैं। एक मित्रतापूर्ण मनोवृत्ति सामान्य मानव सम्बंध का सार है, जो गीतानुसार, आध्यात्मिक-सामाजिक समायोजन पर आधृत है तथा ईश् उपनिषद् में रेखांकित गैर-विद्वेषता की सामान्य मानव मनोवृत्ति का एक उदार वर्णन है। एक भक्त और आध्यात्मिक आंकाक्षी के एक महत्वपूर्ण सद्गुण के रूप में मित्रता और करूणा को गीता महत्ता देती है। भारत की धार्मिक-आध्यात्मिक परंपरा से सहमति रखते हुए, गुरू-शिष्य सम्बंध ही एकमात्र विशिष्ट सामाजिक सम्बंध है, जिसे गीता मान्यता देती है। अर्जुन अपने विषाद में एक शिष्यवत् आस्था तथा विनम्रता के साथ श्रीकृष्ण के शरणागत होकर उनसे कर्मयोग का ज्ञानादेश प्राप्त करता है।

सामाजिक नैतिकता उन वैयक्तिक नैतिक मूल्यों से भी प्रदर्शित होती है, जिसका गीता के अंतिम तीन अध्यायों में विशेष रूप से व्यापक उल्लेख मिलता है। वैयक्तिक नैतिक मूल्य निहितार्थत: सामाजिक है जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सामाजिक भलाई साधते हैं। कुछ वैयक्तिक मूल्य जैसे विनम्रता, संयम, परित्याग, शांति, शुचिता आदि परोक्ष रूप से सामाजिक हित सिद्ध करते हैं, तो उनमें कुछ जैसे निर्विद्वेषता, मित्रता, दया, दान, अहिंसा आदि प्रत्यक्ष रूप से। इन वैयक्तिक नैतिक मूल्यों का निद्ध्यासीकरण एवं अनुशीलन अन्यों के लिए सांस्कृतिक लाभ में फलित होता है। वैयक्तिक हित परार्थवादी है तथा वैयक्तिक मूल्यों की परार्थवादिता उन्हें सामाजिक बना देती है। दूसरों के साथ सम्बंध में ही वैयक्तिक नैतिकता प्राप्त की जाती है और वह सामाजिक आचरण, आनंद तथा दूसरों के हित में ही अभिव्यक्त होती है। अत: वह उपलब्धियों, निहितार्थ तथा अभिव्यक्ति में सामाजिक है।

उपनिषदों की भांति, गीता में भी कुछ ऐसे कथन खाजे जा सकते हैं जो परित्याग, निर्लिप्तता तथा तपस्या प्रतिपादित करते हैं, जिन्हें गैर-सामाजिक या असामाजिक कर्मवृत्तिवादिता भी माना जा सकता है। गीता में एक स्थान पर सत्य ज्ञान के

संविधान स्वरूप परिवार से निर्लिप्तता को अभिपुष्ट किया गया है।[३७] एक आध्यात्मिक प्रत्याशी को एकांकी जीवन भी अनुमोदित किया गया है।[३८] ग्यारहवें अध्याय में अपने विराट ब्रह्माण्डीय स्वरूप में ईश्वर के मुख में जाते सभी योद्धाओं (अर्थात् अर्जुन के परिजनों) का मृत्योन्मुख मार्ग भी सामाजिक एवं पारिवारिक असम्पृक्तता को दर्शाता है। यह अर्जुन के अपने उपदेश के प्रारम्भ में अभिकथित सामाजिक असम्पृक्तता के सिद्धांत को अभिपुष्ट करता है, जो अनिवार्यत: व्यक्ति की नैतिकता तथा आत्मा की नि:संशय अमर्त्यता से समीकृत है जो अनादि काल से सामान्यत: भारतीय जनों तथा विशेषत: भारतीय योद्धाओं को प्रेरित करती आयी है। यह दूसरों की अपेक्षा स्वयं के भौतिक अस्तित्व से असंलग्नता है।

किन्तु, परिवार से असम्पृक्तता, एकांत तथा शांति को सर्वोच्च परमोपलब्धि हेतु आध्यात्मिक अनुशीलन की रीतियों के रूप में समझना चाहिए, जिसे अधिकांशत: जीवन के पारिवारिक, सामाजिक एवं संवादी आचरण में गलत रूप में समझा जाता है। यदि इन्हें असामाजिक यानि दूसरों के हितों के प्रतिकूल मान लिया जाय तो ये कर्मयोग के आनंदमय परार्थवाद तथा भक्ति अनुप्राणित ईश्वर सेवार्थ शरणागति से विसंगत हो जायेगी। वे उस सत्य-ज्ञान से भी असंयत हो जायेंगी जो आत्मा के सदृश है और जो आनंदमय अद्वैतता की अपनी अभिव्यक्ति के व्यावहारिक विधियों के रूप में सेवा तथा प्रेम में सन्निहित हैं।

यह उल्लेखनीय है कि गीता वैयक्तिक नैतिकता को एक प्रशंसनीय नैतिक आचरण-संहिता के रूप में अनुमोदित करती है जो आध्यात्मावगति का माध्यम है। गीता में वैयक्तिक नैतिक मूल्यों को मानव में *'दैवीय'* मूल्यों के रूप में विवेचित करना इस तर्क विवाद-विषय कि *'धर्म भावना से ओत-प्रोत नैतिकता है'* को पूर्वानुमानित रूप से न्यायोचित ठहराना है। यहाँ पर भावना जो धर्म से संयोजित है मनोवैज्ञानिक नहीं, आध्यात्मिक है।

उपनिषदों के समान ही आस्था गीता में सर्वोच्च वैयक्तिक नैतिकता है। यह मानवास्तित्व का सार है। अपनी आस्था के अनुरूप मनुष्य का स्वरूप होता है। गीतानुसार सत्य ज्ञान आस्था के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह अहम् और बुद्धि की अनुभवातीत अवस्था द्वारा आध्यात्मिकता को सुनिश्चित करती है। आस्था कतिपय परम सत्ता में विश्वास एवं सम्मान है। अत: उसका अर्थ है अहम् तथा बुद्धि का एक समर्पण। दोनों ही द्वन्द्वात्मक हैं और इसलिए आध्यात्मिकता तथा आनंद, जो कि एकीकृत अद्वैतता से गुणयुक्त हैं, के लिए अहितकारी है। निषेधात्मक रूप से, आस्था है अहम्-बुद्धि-परान्तरण। विध्यात्मक रूप से, वह विनम्रता और प्रेम में मुखरित होती है। आस्था सत्य की सर्वश्रेष्ठता को चखती है, जिसे सर्वोच्च माना जाता है। किन्तु विनम्रता का अर्थ आस्थावान की हीनता नहीं। वह केवल उसे घमंड तथा अहंकार से मुक्त करती है। वह आस्थागत वस्तु की सर्वश्रेष्ठता को इंगित करती हैं। लेकिन ये असंगतियाँ केवल एक दूरी से द्वन्द्वावशेषों के कारणवश प्रतीत होती हैं। सत्य की एकात्मकता की अनुभूति होने पर, विभेद तथा द्वन्द्व अदृश्य हो जाते हैं। श्रीकृष्ण के अभिकथनों में कहीं भी अहंवाद परिलक्षित नहीं होता। *'मैं'* का प्रयोग महज एक भाषायी वृतान्त और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है, जो अहम् से परे सर्वोच्च परमात्मा की ओर इंगित करता है। श्रीकृष्ण द्वारा एक सारथी पद को स्वीकार करना तथा सुदामा के साथ उनका व्यवहार उनकी विनम्रता के प्रमाण हैं।

'विनय' गीता में स्पष्टत: उल्लिखित नहीं, लेकिन वह आस्था की अनिवार्य दशा तथा प्रतिफलन है। ईश्वर को समर्पित

करने एवं कर्म के सन्दर्भ में विशेषत:, गीता अहंवाद की निंदा करती है। विनयविहीन आत्म-समर्पण निरर्थक है।

एक भक्त, एक योगी या आकांक्षी की अर्हताओं के रूप में गीता अनेक विशिष्ट नैतिक मूल्यों की गणना करती है, जिनके अपने विशिष्ट सन्दर्भ एवं अर्थ हैं, पर वे सभी आस्था तथा विनम्रता के उपप्रमेय हैं और आस्था से प्रेरित तथा अहंवाद के पराभाव से अभिपुष्ट होते हैं। वे भक्त जो स्वयं को ईश्वर का प्रिय बनाना चाहते हैं, उन्हें दूसरों से ईर्ष्या नहीं रखनी चाहिए, उनसे मित्रता तथा करूणाभाव बनाए रखना चाहिए, अहंकारविहीन होना चाहिए, इत्यादि।[३९]

नैतिक मूल्य मानव के दैवीय गुणों के रूप में वर्णित है। वे गीता के सोलहवें अध्याय में विस्तारपूर्वक गिनाये गए है। अभय, शुचिता, दान, संयम, सादगी, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, परित्याग, शांति, धोखेबाजी से बचना, दया, अलोलुपता, मृदुलता, सहिष्णुता, सहनशीलता, विनम्रता, आदि उनमें उल्लेखनीय हैं। इन धनात्मक नैतिक मूल्यों के विलोम अशुभ या दुर्गुणात्मक नैतिक नृमनोवृत्तियों का भी उल्लेख हुआ है। जहाँ दैवीय सद्‌गुण आध्यात्मिक प्रकाशता तथा मानव-मुक्ति में सहायक है, वहाँ पैशाचिक दुर्गण मानव-बंधन का कारण। ये है : घमंड, आडम्बर, अहंकार, क्रोध, कठोरता,[४०] कोमपिपासा, दम्भ, मोहासक्ति।[४१]

सांख्य के त्रिगुणों के अनुसार नैतिक मूल्यों की विवेचना तथा सद्‌गुणों का वर्गीकरण गीता की एक प्रमुख विषय-वस्तु है। उल्लेखनीय रूप से गीता भौतिक तथा अधिभौतिक को नैतिकता की लौकिक प्रणाली एवं पारलौकिक प्रणाली के द्वारा समीकृत कर जीवन में एक कड़ी का निर्माण करती है जो कि अस्तित्व के विभिन्न आयामों को समन्वित करता है, जिनके मध्य छलांगें होते हुए भी ये कड़ियाँ इन आयामों की सीमाओं को सन्निकट ला एक से दूसरे तक छलांगों को सुविधित करती हैं। सांख्यवादी त्रिगुणात्मक नैतिक जीवन की विवेचना लौकिक और नैतिक-जीवन के सारे मूल्यों में एक स्तरीकरण सृजित करती है। अन्न तथा अन्य लौकिक मूल्य उनमें एक या अन्य गुण के प्रभुत्वानुसार कम या अधिक नैतिक या आध्यात्मिक हो जाते हैं। आध्यात्मिक आकांक्षा के परिप्रेक्ष्य में नैतिक जीवन की इस श्रेणी बद्धता का महान व्यावहारिक महत्व है। दान, तपस्या, आदि जैसे नैतिक मूल्यों के परिमाणात्मक स्तरीकरण का महान सुधारात्मक मूल्य है। वह नैतिक-आध्यात्मिक जगत में परिव्याप्त समूची भ्रामकता को मिटा सकता है। मूल्यों के परिमाणवादी मानदंड का समालोचनात्मक प्रयोग वास्तविकता की विनिश्चयता तथा मूल्यों की उत्तमता को सुनिश्चित कर सकता है जो भौतिक से नैतिक तथा नैतिक से आध्यात्मिक स्तर पर छलांगों को सुगम्य कर सकता है।

जीवन के इस गुणात्मक स्तरीकरण के आलोक में कर्म, भक्ति और ज्ञान के आध्यात्मिक मूल्य का समुचित अनुमान लगाया जा सकता है। जीवन की यह श्रेणीबद्धता नैतिकता के एक समन्वित सिद्धांत को प्रकट करती है जो आनुभविक जीवन को जीवन के सर्वोच्च आध्यात्मिक साध्य के साथ समन्वित करता है। इसे कर्म-योग कहा गया है जो गीताकृत नैतिकता का प्रधान प्रत्यय है। यह योग से सम्पक्षित कर्म है, जो आध्यात्मिक अनुभव, सममनोस्थिति, कर्म में कुशलता आदि को परिलक्षित करता है। गीता में वर्णित कर्म का सिद्धांत साधना तथा कर्मणा का एक दुरूह समायोजन अथवा समन्वय है। गीतानुसार, साधना क्षणिक मानस अंतर्मुखीकरण नहीं, अपितु एक स्थायी कर्म संवर्तनीय समायोजनात्मक मानसावस्था है।ऐसे समायोजन

की शंक़र दार्शनिक विरोधाभासिता के रूप में भर्त्सना करते हैं। आध्यात्मिक अनुभव तथा आनुभविक कर्म की अतिभौतिक असंगति से इंकार नहीं किया जा सकता, पर यह अहंकार, स्वार्थ तथा संकल्प से युक्त सामान्य कर्म के बारे में ज्यादा सत्य है। आध्यात्म तथा कर्म की असंगति घटती और ढ़ीली होती जाती है जैसे-जैसे कर्म ज्यादा-से-ज्यादा परार्थवादी तथा स्वत:स्फूर्तमय बनता जाता है। परार्थवाद और स्वत:स्फूर्तता दोनों आध्यात्म के चरित्र हैं। इन गुणों से युक्त होने पर कर्म आध्यात्मिक हो जाता है। कर्म वैसे भी आत्मा से पराया नहीं है। आत्मा के गत्यात्मक आयाम को उपनिषदों और गीता में मान्यता प्राप्त है। इसे अर्हता के साथ समझना होगा कि न तो गत्यात्मकता आध्यात्मिक सत्ता का सम्पूर्ण है (वह उससे परे है) और न ही आध्यात्मिक गत्यात्मकता एक आयामी है। एक आयामी कर्म कालिकता एवं पूर्ण संकल्पता से आबद्ध हो जाता है। परार्थवाद, स्वत:स्फूर्तता तथा आनन्द आध्यात्मिक कर्म में अतीन्द्रियता की संकल्पना को चिन्हित करती है। आत्मा के साथ कर्म का समायोजन एवं संवर्तनीयता आध्यात्मिक दर्शन का वह अनुभवातीत नियम है, जो तर्क तथा बुद्धि से प्रमाणित नहीं किया जा सकता, पर केवल वास्तविक आध्यात्मिक अनुभव में सुनिश्चित किया जा सकता है।

कर्म-योग गीता के आध्यात्मिक गतिशील दर्शन का द्योतक है, जिसके अंतर्गत कर्म को उसके समग्र अनुभूत सन्दर्भों मे देखा गया है। गीता कर्म के पाँच कारण - अध:स्तर, अभिकर्ता, कर्मेन्द्रियाँ, प्रेरक व्यवहार तथा पूर्व जन्म के संचयित प्रभाव–का प्रतिपादन करती है।[४२] ज्ञान, ज्ञान की वस्तु तथा ज्ञान का विषयी कर्म के तीन प्रेरक तत्व हैं।[४३] ये कर्म के अभिज्ञात्मक प्रतिपर्ण हैं। कर्म के कार्यपालक प्रतिपर्ण इन्द्रियाँ, कर्म एवं अभिकर्त्ता हैं।[४४] कर्म का यह विश्लेषण कर्म के विभिन्न पहलुओं को उद्घाटित कर हमें विस्तारपूर्वक विवेचनीय और प्राप्य कर्म के आध्यात्मिकरण के बारे में संज्ञान कराता है।

इस क्रम में, कभी-कभी यों प्रवृत्त किया जाता है कि निष्काम कर्म (कर्तव्यों का निर्लिप्त कार्यान्वयन) का अनुपालन व्यक्ति के लिए परम सुख तथा मुक्ति सुरक्षित करता है। शाब्दिक रूप से *'निष्काम कर्म'* का अर्थ है इच्छारहित कर्म। इस सन्दर्भ में, निम्नलिखित सम्बन्धित प्रश्नों को उठाया जा सकता है : (१) कर्म क्या है?, (२) इच्छा क्या है?, (३) कर्म और इच्छा किस प्रकार जुड़े हैं?, तथा (४) क्या इच्छा-रहित कर्म सम्भव है?

एक कर्म एक क्रम-समीकरण निर्मित करता है लेकिन कार्य-कारणतावादी क्रम-समीकरण नहीं। कर्म अंतरतम रूप से एक स्वतन्त्रतामूलक अवधारणा है और स्वतन्त्रता न केवल बाध्यता, बल्कि कार्य-कारणता के भी विरूद्ध है। जब कर्म कार्य-कारणता की परिधि में आ जाता है, तब वह एक परिघटना से अपृथक्कीय हो जाता है। ऐसे कर्मों को सराहा नहीं जाता; कभी-कभी हम इस प्रकार के कर्म को प्रकृतय: यांत्रिक मानते हैं। आगे, अभिकर्ता यदि कर्म नहीं करना चाहता, कर्म नहीं होता, जबकि एक घटना के बारे मे हम ऐसा नहीं सोच सकते हैं। वास्तव में, यदि कार्य-कारणता की कड़ी उपस्थित है तो एक घटना घटेगी, परंतु यदि कार्य कारणता की पृष्ठभूमि तैयार भी हो, तो एक कर्म नहीं भी घट सकता है। इच्छा मन की एक उत्कट अभिलाषा है। व्यक्ति भौतिक वस्तुओं या अभौतिक वस्तुएँ जैसे नाम, प्रसिद्धि, आनन्द और सर्वोपरि मुक्ति की अभिलाषा कर सकता है। चूंकि इच्छा की उपस्थिति कर्म होने की अनिवार्यता तय नहीं करती, यह दर्शाता है कि इच्छाएँ कर्म को विवश नहीं करती। यदि क़ारणों को प्रभाव का भौतिकाधार माना जाय तो इच्छा को कर्मों का कारण इसलिए नहीं कहा

जा सकता क्योंकि इच्छाएं प्रकृत्या भौतिक नहीं होती हैं। आगे, कभी-कभी भौतिक कारणता के गुण प्रभाव के रूप में प्रकट हो जाते हैं। परंतु इच्छा और कर्म के मध्य ऐसा कोई अनिवार्य कार्य-कारणता सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। पर किसी भी कर्म को अभिलाषा, मंशा और उत्कंठा के सन्दर्भ बिना बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में निष्काम कर्म की अवधारणा को गीता के दूसरे अध्याय के सैंतालिसवें श्लोक में प्रतिज्ञापित किया गया है। इसके पक्ष में तर्क कामनाओं के द्विआयामी विभक्तीकरण सांसारिक तथा गैर-सांसारिक पर आधारित है। काण्टवादी *'अहैतुक आदेश'* के सिद्धांत तथा *ब्रैडले* के *'कर्तव्य के लिए कर्तव्य'* की मान्यता के विपरीत निष्काम कर्म की अवधारणा *''स्वत: प्रमाण्यीकरण''* के शास्त्रार्थी विषय में अधिष्ठापित नहीं है। उसका प्रमाणीकरण स्वयं के अंदर से नहीं, बल्कि *'धर्म'* की विवेचना से निकलता है। अत: निष्काम कर्म की नैतिकता को नृकेन्द्रित तथा काण्टवादी नैतिकता को अनृकेन्द्रित रूप में चरित्रांकित किया जा सकता है।

प्रथम दृष्ट्या, ऐसा प्रतीत होगा कि निष्काम कर्म की मान्यता एकल तार्किता तथा जीवनादर्श की प्राक्कल्पना पर आधारित है। निष्काम कर्म को सम्पादित करना ही जीवन का एकमात्र उद्देश्य है तथा सभी तर्क उसी के पक्ष में मोड़े गए है। परन्तु वास्तव में, इस मसले पर गीता उदारवादी रूप से खुली है। इसके समर्थन में, सभी मानव उपक्रमों को तीन प्रकारों, अर्थात् ज्ञान, कर्म और भक्ति में वर्गीकृत करती है। आगे, इनको विभिन्न तरीकों के रूप माना जा सकता है जिनके माध्यम से मानव व्यक्तित्व प्राय: स्वयं को प्रकट करता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति या तो ज्ञान, कर्म, भक्ति के अलग-अलग मार्ग को मान सकता है या फिर ज्ञान और कर्म को साथ लेकर। अतएव, गीता द्वन्द्वात्मक नैतिक परिस्थितियों में बहुतार्किकता को मान्यता देती है। नैतिकता का स्रोत न तो तार्किकता के सार्वभौमिक नियम में या न ही अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख में निहित है। वह बल्कि नि:स्वार्थता एवं आत्म-बलिदान में समाहित है। गीता इस विषय-बिंदु पर बल देती है। व्यक्ति द्वारा किसी नैतिक नियम को मूल मानना, उसकी प्राथमिकता के बारे में प्रश्न उठाता है। इन परिस्थितियों में या तो व्यक्ति कतिपय नियमों को स्वप्रमाणित मानकर स्वीकार कर ले या फिर एक चक्रक दोष में फंसा रहे। परंतु किसी भी स्थिति में, आधार-वाक्य तथा तर्क-पद्धतियाँ निष्कर्ष को प्रमाणित करती हैं। इस प्रकार के तर्कों की वकालत न्यायोचित्यता के रूप में तो कारगर है, पर निष्कर्ष को साबित करने में विफल ही रहता है। आगे, तर्क पद्धतियों की स्वीकार्यता स्वमनाधारित कतिपय मूल्यों पर आश्रित होती है। इस आलोक में देखने पर, किन्हीं भी सामाजिक दशाओं में नि:स्वार्थता तथा आत्माहुति सरल तर्कत: इसीलिए सर्वोच्च मूल्य माने जायेगें क्योंकि ये आदर्श वो सीमाएँ है जिनके आगे कोई व्यक्ति नहीं जा सकता है। इस हद तक कर्म जो इस आदर्श के समीप या निकटस्थ आता है उसे नैतिक कहा जा सकता है। अंतत: निष्काम कर्म का सिद्धांत इस परमादर्श की ओर ले जाता है। *डेविड रिजमैन* की भाषा में, *''एक अभिकर्त्ता जो अनासक्त होकर कर्म करता है, उसे 'स्वायत्त व्यक्ति' कहा जा सकता है। ऐसा व्यक्ति न तो परम्परा, न तो व्यक्तिनिष्ठ सनक या धुन, न ही दूसरों जैसे दबाव समूहों और शक्ति खेमों से निर्दिष्ट होता है। वह सिर्फ एकात्मक अति-तार्किक नियम से विनिर्दिष्ट होता है और फिर भी स्वयं के लिए जिम्मेदार होता है।''*[४५]

वैयक्तिक एवं सामाजिक नैतिकता के संदर्भ में, गीता की मूल्यमीमांसा में ऐसे निश्चित अतिभौतिक तथा आध्यात्मिक नियमों को समाविष्ट किया गया है, जिनका एक मूल्यांतरण आवश्यक माना गया है। इस मूल्यांतरण की विस्तृत प्रक्रिया में इन मूल्यों की दशाएँ तथा अपक्वताएँ मूलत: इतने ज्यादा परिमाण एवं परिमाप में परिवर्तित हो गये होते है कि इसे उनका रूपांतरण भी माना जा सकता है। नि:सन्देह, वे कतिपय सन्दर्भों और चरित्रों को बनाए रखते हैं, जिनके द्वारा उनकी स्ववर्गात्मक संबद्धता को पहचाना जा सकता है, फिर भी वे कतिपय गुणों की जरूरत में होते है जो उनके पास नहीं होते जैसा कि उन्हें सामान्यतया जीवन तथा दर्शन में माना जाता है। स्पष्टत: ये चरित्र या गुण आध्यात्मिक होते है और इसीलिए यह मूल्यातंरण आध्यात्मिक है।

गीता वैयक्तिक एवं सामाजिक नैतिकता का एक अतीन्द्रियवादी दृष्टिकोण पेश करती है, जो इन नैतिक मूल्यों के स्वअंतर्निहित चरित्र का निषेध तो नहीं करता, लेकिन निश्चित रूप से वह इन मूल्यों की कतिपय मूल प्राक्कल्पनाओं, विशेषत: वैयक्तिकता, अंहकार, संकल्पता, अभिकर्तावादिता तथा फलेच्छा से सम्बन्धित प्राक्कल्पनाओं की अनुभवातीत स्थिति प्रतिपादित करती है। वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों की इन परिसीमाओं के पराभाव में ही आत्मा का इन नैतिक मूल्यों के साथ एकीकरण जीवन के आनुभविक क्रियावयवों को प्रेरित एवं प्रदीप्त कर सकेगा।

मानव उस सीमा तक नैतिक है जिस सीमा तक उसने संकल्पवाद तथा अहंवाद को पार कर परार्थवादी आध्यात्मिक सदृशीकरण प्राप्त कर लिया हो। नैतिकता तथा परार्थवाद एवं पद्धतियाँ जिनके माध्यम से आध्यात्मिकता उच्चतर से उच्चतर मात्रा में पायी जा सके, आध्यात्मिकता तथा जीवन को परस्पर समीकृत करती हैं। नैतिकता आध्यात्मिकता की ओर बढ़ा एक कदम है। वह सापेक्ष आध्यात्मिकता है। नैतिक स्वतन्त्रता आध्यात्मिक स्वत: स्फूर्तता के सद्गुण द्वारा स्वाभाविक अहंकारी संकल्पता का निरोध एवं पराभाव है। नैतिक बल प्राकृतिक संकल्पता को एक चुनौती है तथा उसका सापेक्ष पराभाव है। संकल्पता तथा अहंकार का पूर्ण पराभाव अस्तित्व के साथ आत्मा, नैतिकता के साथ आध्यात्मिकता और स्वतन्त्रता के साथ स्वत: स्फूर्तता को पूर्णत: सदृशीकृत कर देगा। वह संकल्पता से पूर्ण विमुक्ति की अवस्था है, एक ऐसी दशा जिसमें अस्तित्व पूर्णत: आध्यात्मिक बन जाता है और नैतिक मूल्य उसी प्रकार स्वत: स्फूर्तत: अभिव्यक्त होता है जिस प्रकार फूलों से सुवास तथा सूर्य से प्रकाश।

निष्कर्षत:, गीता का ब्रह्माण्डीय अध्यात्मवाद वैयक्तिक एवं सामाजिक नैतिकता के मूल्यों के मूल्यांतरण हेतु एक अतिभौतिक आधार उपलब्ध कराता है, जिसके अनुसार नैतिक परार्थवाद तथा नैतिक स्वत: स्फूर्तता वे बिंदु हैं जहाँ नैतिकता आध्यात्मिकता में परिपक्व होती है या समाहित हो जाती है। नैतिक बल तथा स्वतन्त्रता वे माध्यमिक पद्धतियाँ हैं जो नैतिकता से आध्यात्मिकता तक का परिर्वतन सुलभ कराती हैं। इन्हीं पद्धतियों से गुजर कर कर्म अतिभौतिक रूप से कर्म-क्रिया में उर्त्तीण हो जाता है और फिर भी जीवन की गत्यात्मक व्यावहारिकता को अक्षुण्ण बनाए रखता है।

खण्ड (ख) गाँधी

(अ) राज्य का आदर्श - रामराज्य

"स्वराज रामराज्य का समानार्थी है, पृथ्वी पर सत्यनिष्ठता के साम्राज्य की स्थापना है",[४६] गाँधी ने कहा था। राजनीतिक स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय ब्रिटिश हाउस ऑफ कामन्स, या रूस के सोवियत शासन की एक नकल से नहीं था। उनके पास व्यवस्थाएँ उनकी अपनी मेधा के अनुकूल थी। हमारे पास अपनी मेधा के अनुरूप व्यवस्था होनी चाहिए। अतएव गाँधी ने उसको रामराज्य, यानि *"जन सम्प्रभुता पर आधारित विशुद्ध नैतिक प्राधिकार के रूप में वर्णित किया है।"*[४७] इसलिए गाँधी बारम्बार दुहराते हैं कि *"स्वशासन के बगैर कोई स्वराज या रामराज्य नहीं हो सकता।"*[४८] स्वशासन के बिना सर्वशासन एक रंगे गये खिलौने (आम) की तरह भ्रामक और निराशाजन्य साबित होगा, जो बाहर से देखने में आकर्षक लगेगा, पर भीतर से खोखला तथा खाली होगा। लेकिन, वह समाज में कोई शोषण और असमानता सहन नहीं करेगें। यद्यपि वह वर्ग संघर्ष को अनिवार्य भारतीय मेधा के लिए अनजाना मानते हैं, उनके सपनों का रामराज्य *"राजकुमार और रंक दोनों के अधिकारों को समान रूप से सुनिश्चित करता है।"*[४९]

समय-समय पर गाँधी द्वारा किए गए इन स्पष्टभाषी अभिकथनों के बावजूद, उनकी रामराज्य की अवधारणा को काफ़ी विवादास्पद बना दिया गया है। सनातनी हिंदू उसे धर्म पर आधारित एक आदर्श राज्य का एक यूटोपिया (स्वप्नलोक) मानते हैं, जबकि मुस्लिमों में राजनीतिक रूढ़िवादी उसे हिंदू राज के एक घोषणा-पत्र के रूप में चिन्हित करते हैं। वामपंथी और तथाकथित प्रगतिवादी उसे या तो उदार राजतन्त्र या स्वेच्छाचारी तन्त्र का एक प्रतीक मानते हैं, जिसने सीता की अपनी बिना किसी गलती के एक अति नाजुक अवस्था में उनको निष्कासित किया। राम एक देव पुरूष हैं या एक मानव, एक ऐतिहासिक पात्र हैं या मिथकीय-यह तय करना इस संक्षिप्त अध्ययन के क्षेत्र से परे है। फिर भी हम इन्कार नहीं कर सकते कि रामवाद ने भारतीय मानस पर अत्यन्त शक्तिशाली प्रभाव डाल रखा है। सम्भवत: यह इस तथ्य के कारण है कि अनेक लोगों के लिए राम आत्म-सन्तोष तथा लोक-स्थिति (या लोक-सिद्धि) के दोनों रूपों को समाहित करते लोक हित के उच्चतम आदर्श के द्योतक हैं। राम की परिपूर्णता उनके अत्यंत प्रतिष्ठित व्यक्तित्व तथा श्री सम्पन्न आचरण में सन्निहित है। वह आदर्शावतार, सद्गुणता की प्रतिमूर्ति एवं परिशुद्धता के अभिविन्यास है।[५०] हिंदू मानस उनमें आदर्श पति, भाई, पिता, पुत्र, राजा आदि की साकारता पाता है। वानर-राज बालि का अशोभनीय वध तथा कतिपय तपश्चर्याओं के कारण निम्न जातीय शम्भुक के वध (वास्तव में जिनकी अपनी न्यायोचित्यताएँ हैं) की दुखमय कथाओं आदि अपवाद के अतिरिक्त राम का चरित्र लगभग बेदाग है। यहाँ तक कि सीता का वनागमन केवल यह दर्शाता है कि आदर्श सम्राट राम लोक सम्प्रभुता के आदर्श को ऊँचा रखने के लिए वैयक्तिक कष्ट जैसी यातना की सीमा तक जा सकते हैं। राम-कथा का नैतिक उद्देश्य मानवता की सेवा के लिए एक जीवनादर्श प्रस्तुत करना है। अत:, यह कथा किसी विशेष समूह या किसी पंथ तक सीमित नहीं रही, बल्कि यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची भारतीय सांस्कृतिक आदर्शवादिता का प्रतिदर्श तथा नैतिकता का एक मानदंड बन गया है। संक्षेप में, रामवाद उत्तम आदर्शवाद की एक धार्मिक पद्धति है।

राम-कथा ने न केवल प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय साहित्य को प्रभावित किया, अपितु उसने तमिल, तेलगू, मलयालम, कन्नड़, उड़िया, बंगाली, असमिया, गुजराती, मराठी, हिन्दी, उर्दू, आदि आधुनिक भारतीय साहित्य पर भी अपनी छाप डाली है। वह चीन और तिब्बत, श्री लंका, नेपाल, मलेशिया, म्यानमार, थाइलैंड, इंडोनेशिया, लाओस, वियतनाम, फिजी तथा अनेक पश्चिमी देशों में भी, और कई योरोपीय भाषाओं जैसे अंग्रेजी, जर्मन, पुर्तगाली, फ्रांसिसी, रूसी, आदि मे दूर तथा विस्तृत यात्रा कर चुकी है।[५१] अत: हम न्यायसंगत रूप से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि राम-कथा न केवल हिंदुओ की, अपितु सारी मानवजाति की एक अनमोल निधि रही है। अब तक चार रामायण सम्मेलनों का आयोजन किया जा चुका है, जिनमें से एक १९७१ में मुस्लिम बहुल देश इंडोनेशिया में हुआ। सम्राट अकबर के राजदरबार का महान मुस्लिम विद्वान, अब्दुर रहीम खाने-खाना, तुलसीदास कृत रामचरितमानस को कुरान जितना स्व-प्रमाणित मानता है।[५२] राम-कथा ने अनेकों यूरोपीय विद्वानों जैसे जार्ज़ ग्रियरसन, ग्रिफीथ, विन्सेंट स्मिथ, जे०इ० कारपेन्टर, तासी टोरी, एफ०एस० जार्ज़, ई० ग्रिब्वज़, ऐटकिन्सन, एच०एच० विलसन, वोरोननिकोव़, बुल्के, आदि को आकर्षित किया। अत: यदि इंग्लैंड में शेक्सपियर, फ्रांस में होमर, जर्मनी में गोथ़े को साम्प्रदायिक या संकीर्णवादी नहीं माना ज़ाता, तो वाल्मीकि अथवा तुलसीदास को क्यों ऐसी उपाधि दी जाती है? सद्‌गुणों, बल, सत्यता, सुदृढ़ता तथा कर्मठता का अधिकारी होने के अतिरिक्त,[५३] राम को सत्यनिष्ठता का यथार्थ मूर्तिमान माना गया है।[५४]

यह ध्यान रखना चाहिए कि गाँधी के राम एक *महागाथा (meta-narrative)* के महानायक हैं। वह सिर्फ हिंदुओं या सवर्णों के राम नहीं थे। आदिवासियों, गिरीजनों, दलितों और अल्पसंख्यकों के बीच ही नहीं, दक्षिण के मातृपूजकों और शैवों से लेकर उत्तरपूर्व के नागाओं, मेघों और मैतेइयों के बीच भी राम कथा उतनी ही प्रचलित थी। इस कथा के अनेक रूप थे। आज भी हैं। हर जाति, हर समुदाय ने राम को अपने रूप में मूर्त किया था। सब के अपने-अपने राम थे। वे राम तुलसी के भी थे, मलिक मोहम्मद जायसी के भी। वे ऐसे राम थे जिनकी छवि मुगलकाल में हुमायूं के राज की टकसाल में ढ़ाले गए सिक्कों पर अंकित थी। वे ऐसे राम थे जिनके सामने अकबर का दीने-इलाही सिर झुकता था और किसी कट्टरपंथी मौलवी या इमाम की औकात नहीं थी कि उस पर कुफ्र का फ़तवा ज़ारी कर सके। गाँधी के राम एक सहिष्णु समावेशी और उदात्त भारतीय सभ्यता की अजस्त्र बहने वाली सांस्कृतिक धारा के केन्द्र में रहें हैं।

लेकिन, गाँधी रामायण और गीता की एक प्रतीकात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वह उन्हें ऐतिहासिक तथ्य नहीं बल्कि इन महाकाव्यों को एक आध्यात्मिक युद्ध-घटनाक्रम का सांकेतिक चित्रण मानते हैं। रामायण राम और रावण जैसे ऐतिहासिक पात्रों के बीच की एक लड़ाई नहीं, अपितु शुभ तथा अशुभ की दो शक्तियों के मध्य हुआ एक आध्यात्मिक संग्राम है। ऐसी पुनर्प्रस्तुतियों के पीछे उद्देश्य अशुभ तथा शुभ की अंतर्संघर्षात्मक सनातन सत्य को निरूपित करना है, जिसका विभिन्न धर्मों तथा आस्थाओं की मिथकियों में भी दृष्टांत मिलता है। इसलिए, गाँधी की रामराज की अवधारणा को साम्प्रदायिक या संकीर्णतावादी रूप में चिन्हित करना, एक काफी अनुदार आलोचना होगी। गाँधी ने साफ कहा है कि *"मेरे राम स्वयं ईश्वर हैं। वह पहले भी थे, आज भी है और वह भविष्य में भी बने रहेगें।"*[५५] यह परिभाषा किसी और की नहीं, बल्कि परमेश्वर

की ही हो सकती है। आधुनिक आलोचकों द्वारा तुलसीदास के मध्ययुगीन विचारों, विशेषत: रामराज्य के रूप में राजतन्त्र का उनके बचाव की आमतौर पर निन्दा हास्यास्पद मालूम पड़ती है। आधुनिक युग के लिए राम-कथा की प्रासंगिकता की समस्या काफी गहन है। एक नई पीढ़ी बड़ी हो रही है, जिसका किसी अवतार या यहाँ तक कि भगवान में भी विश्वास नहीं। किन्तु इसी आधुनिक पीढ़ी की बहुसंख्या मानव के आध्यात्मिक स्वरूप तथा देवत्व में आस्था रखती है। *''नैतिक आचरण का महान महत्व, भगवान की प्रभुसत्ता की एक दिव्य संचेतना और मनुष्य की अशुभ्रता, कर्मकांड का सापेक्षत: गैर-महत्व तथा अंतत: दूसरों के कल्याण को प्रोत्साहित करने की एक वास्तविक कामना राम-कथा का संदेश है।''*[५६] यह स्पष्ट और बलपूर्वक कहा गया है: *''भाई, परहित समान कोई धार्मिक कृत्य नहीं, परअहित सदृश कोई अन्य दुष्कृत्यता नहीं।''*[५७] यह सार्वभौमिक नीतिशास्त्र तथा सार्वभौमिक धर्म का करीब-करीब एक प्राक्कथन है।

यद्यपि, गाँधी द्वारा राम-नाम की परिचायकता में एक अन्य कारण भी मौजूद है। भगवान के नाम को स्मरण करना (जपना) भक्तिभाव का सर्वाधिक परिशुद्ध रूप है। इसे *'नाम-साधना'* कहा गया है। भक्त भगवद्नाम का आह्वान करते हुए अपने सम्पूर्ण विश्वास तथा आस्था को व्यक्त करता है, *''जो अप्राप्तकर्ता के लिए प्रबन्धन और सहचरविहीन के लिए करूणा है। वह अभागे के लिए भाग्य तथा सद्गुणविहीन के लिए सदगुण है।''*[५८] लेकिन नाम जपना महज एक अभियांत्रिक क्रिया में अपकर्षित नहीं होना चाहिए। प्रभु को *''सप्रेम''* याद रखना चाहिए। उसका नाम *''लंगड़े के लिए हाथ-पैर; अन्धे के लिए आँखें; भूखे के लिए माता-पिता, बेसहारा के लिए सहारा''*[५९] है। व्यक्ति अच्छा हो या बुरा, दायें हो या बायें, *''फिर भी अंत में राम-नाम सबके लिए फलदायी होगा।''*[६०] *''राम का स्मरण सभी रीतियों का राजा तथा राम को विस्मृत करना सर्वोपरि भूल है।''*[६१] राम-नाम *''मेरा हित, मेरे भगवान है,''*[६२] *''मेरे माता और पिता है।''*[६३] तुलसीदास के लिये यह नाम इतना महान है, जैसा कि वह अत्युक्तिपूर्ण तरीके से कहते हैं, नाम स्वयं प्रभु राम से भी अधिक महान है।[६४] वह इस सीमा तक कह सकते हैं कि अपने विपरीत क्रम में भी राम-नाम का उच्चारण मुक्ति सुरक्षित करेगा।[६५] नाम की उपलब्धि स्वयं राम की उपलब्धि से ज्यादा है।[६६] भगवान का नाम जपना सभी धर्मों में समान है, लेकिन यह भारतीय संस्कृति का एक विशेष गुण है जिसे गाँधी ने विरासत में पाया। वेद तथा उपनिषद् भी *''नाम''* की प्रशंसा करते हैं, जो *''नमन''* मूल से व्यूत्पन्न है, जिसका अर्थ है विनम्रता। हमें पता होना चाहिए कि गाँधी भगवान को विनम्रता के देवता के रूप में सम्बोधित करते हैं। अतएव, हम राम और रामायण पद-शब्दों की प्रतीकात्मक-रहस्यवादी महत्ता को समझ सकते हैं। *बाइबिल* कहती है : *''शब्द परमेश्वर के साथ था और शब्द परमेश्वर था।''*

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, राम राज्य का अर्थ है एक ऐसा आदर्श राज्य जहाँ प्रजा भौतिक दु:ख, दुर्भाग्य तथा अशुभ परिस्थितियों की त्रियामी व्यवस्थाओं से मुक्त होगें।[६७] आधुनिक शब्दावलियों में, वहाँ कोई भूख, रोग, प्राकृतिक या मानव-रचित आपदाएँ नहीं होंगी। सभी नर-नारी परस्पर प्रेम से पवित्र ग्रन्थों, आज्ञाओं एवं सत्यनिष्ठा के अनुसार जीवनयापन करते थे।[६८] अपने चार स्तम्भों- सत्य, शुचिता, करूणा तथा दान के साथ सत्यनिष्ठा सकल विश्व को शासित करती थी और कोई स्वप्न में भी पाप करने की सोच नहीं सकता था। सभी नर-नारी पूर्णनिष्ठा पूर्वक भगवद्नमन करते थे तथा परमानंद के

उत्तराधिकारी थे।[६९] वहाँ कोई नवजात मृत्यु, असामयिक मौत या किसी भी प्रकार की पीड़ा नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति मनोहर और स्वस्थ था। कोई भी दरिद्र, दुखी या अभावग्रस्त नहीं था; कोई भी अज्ञानी या मंगलसूचक चिन्हों से खाली नहीं था।[७०] सभी नर-नारी आडम्बरविहीन रूपेण भले, धर्मपरायण तथा निष्ठावान, चतुर एवं गुणसम्पन्न; सभी दूसरों की योग्यताओं को मानने वाले, सभी शिक्षित और विवेकशील, दया के कृतज्ञ तथा निश्छल रूप से प्रज्ञावन थे।[७१] संसार में एक भी प्राणी, चर और अचर नहीं था जो काल, कर्म, स्वभाव से उपजे किसी तरह के भी रोगों से पीड़ित हुआ करता था।[७२] यह सब कुछ स्वप्नलोकी चित्रण महसूस होगा, परन्तु जब हम ह्वेंग-सांग, फाह्यान, इब्न-ब्रतूता, इत्सिंग, अल-बेरूनी, मेगस्थनीज़,आदि विदेशी तीर्थ-यात्रियों के वृतांतों का अवलोकन करते हैं, तब हम भारतीयों में उच्चतम स्तर की ईमानदारी, सदाचार एवं विद्वता का छायांकन प्रस्तुत हुआ पाते हैं, तथा तब उपरोक्त तथ्य की संगतता को हम समझ सकते हैं। सभी नर-नारी उदार और दानी थे।[७३] प्रत्येक पति एक पत्नी व्रत लिया करता था और प्रत्येक पत्नी मनसा-वाचा-कर्मणा अपने पति के लिए अनन्यरूपेण समर्पित रहा करती थी।[७४] समाज अपराध तथा अपराधियों से इतना अधिक मुक्त था कि दंड, धोखाधड़ी तथा शोषणकारी इच्छा अनसुनी और अज्ञात थी।[७५] प्रकृति भी यों सहयोग करती थी कि जंगल भी साल भर फूलते-फलते थे। हाथी और शेर मित्रवत रहते थे और प्रत्येक प्रकार के जानवर तथा पक्षी अपनी स्वभावज शत्रुता को भुलाकर एक-दूसरे के साथ महानतम समन्वय में जीते थे,[७६] इत्यादि। जब रामराज्य स्थापित था, तब तीनों भूभाग आनन्द मनाते थे तथा सभी चिन्ताएँ समाप्त हो गयी थीं। कोई भी दूसरे के प्रति विद्वेष भाव नहीं रखता था, चूंकि राम की गौरवपूर्ण अनुकम्पा प्रत्येक चलराशिता का शमन कर चुकी थी।[७७] प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय तथा अवस्थानुसार अपने दायित्वों को सम्पादित करता था। वे सभी भय, दु:ख, या रोग से पीड़ित हुए बिना सुख का आनन्द उठाते थे।[७८]

पद्यात्मक अत्युक्ति से अलग, रामराज्य संरचना में राजतन्त्र, पर प्रकार्य में लोकतन्त्र है। यद्यपि राजतन्त्र मुख्यत: वंशानुगत था पर व्यवहार में नए राजा के नाम का प्रस्ताव निवर्तमान राजा अपनी मंत्रीपरिषद् की सलाह से किया करता था,[७९] परंतु वास्तव में उसको औपचारिक मान्यता प्रजा (लोक सम्मत) द्वारा मिला करती थी। राजा दशरथ ने भी अयोध्यावासियों की मतैक्य सहमति मांगी थी जब वह राम का राज्यारोहण करना चाहते थे।[८०] इसलिए, राम, जब वह पूर्णत: सम्प्रभु बनते हैं, तो राजसभा से अति विनम्रता पूर्वक बोले: *"मैं न तो कुछ अनुचित बोलूँगा और न ही अपने प्राधिकार का प्रयोग करना चाहूँगा; आप मुझे सुने तथा जैसा उचित समझे कार्य करें; यदि मैं कुछ ऐसा कहता हूँ तो अनुचित प्रतीत होता है, मेरे भाइयों, तो मुझे रोकने (टोकने या सयंमित) करने से मत डरिएगा।"*[८१] राजा के ज्येष्ठ पुत्र का राज्यारोहण करना परम्परानुरूप था, पर एक ऐसा दृष्टांत है जब राजा सागर का ज्येष्ठ पुत्र अपने अशुभ तथा पापमय व्यवहार के कारण इस विशेषाधिकार से वंचित हो जाता है। राम के मामले में भी, जनता के एक हिस्से से हो रही कदाचित अनुदार लोक निन्दा को सन्तुष्ट करने तथा सिंहासन की मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए अपनी पत्नी को निर्वासित करना पड़ा।[८२] यह दर्शाता है कि राजा के लिए राज्य-हित से प्रिय कुछ भी नहीं है। राजा प्रजा की इच्छाओं के विपरीत कभी कुछ नहीं करेगा। यदि कोई वस्तु धर्म के नियम के विरूद्ध नहीं, लेकिन किसी प्रकार लोकमत के ख़िलाफ़ है, तो राजा को ऐसे कार्यों से बचना चाहिए। इस सम्बंध

में सीता का निर्वासन एक उदाहरण था। रामराज्य का आदर्श है कि जनता तथा जनता का सुख सर्वोपरि है। राम कहते हैं: *"राजा जिसका शासन अपनी प्रिय प्रजाजनों को पीड़ा पहुँचाता है निश्चित नरक का भागी होता है।"*[८३]

रामराज्य का सूमचा प्रशासन सत्यनिष्ठता के नियम पर आधारित माना जाता था। स्वयं राम सत्यनिष्ठा की साक्षात् मूर्ति थे। राजसिंहासन को सत्यनिष्ठता का अधिष्ठान कहा जाता था। राजा की अध्यक्षता में तथा उसकी अनुपस्थिति में राज पुरोहित के सभापतित्व में कार्यशील राज परिषद् या सभा में समाज के सभी वर्गो का प्रतिनिधित्व होता था और आदरणीय सदस्यों को आर्य या आर्य मिश्रा के रूप में पदनामित होते थे। ग्रामीण तथा नगरीय क्षेत्रों की संयुक्त परिषद्-पौर जनपद या सभा में सरकारी और गैर-सरकारी दोनों प्रकार के सदस्य होते थे। सरकार की ओर से मंत्री तथा गैर-सरकारी ओर से राज्यों तथा महत्वपूर्ण नगरों से प्रतिनिधि होते थे। राजधानी या महानगर से आये प्रतिनिधियों को पौर तथा अन्यों को जनपद कहा जाता था। पर्याप्त संकेत है कि इन प्रतिनिधियों को चुना जाता था, जैसा कि नैगमह, महातेरा, श्रेणी-मुख्य, गण-वल्लभ, जन-मुख्य आदि पदों से इंगित होता था। शीर्ष प्रशासन द्विस्तरीय था- मंत्रीपरिषद् तथा दूसरी परामर्शदाता परिषद्। एक श्रेष्ठिन् के नेतृत्व में स्थानीय निकाय भी होते थे। राष्ट्र-मुख्य या महात्तर के नेतृत्व में निम्न सदन-जनपद-भी होता था।

रामराज्य का मुख्य बल सत्यनिष्ठता तथा लोकार्पण पर था। भरत जिन्हें राम की अनुपस्थिति में अयोध्या का शासन चलाना था, से राम यह कहने को कहते है कि *"सिंहासन पर चढ़ने पर ईमानदारी के मार्ग को मत त्यागना; अपने प्रजाजनों का मनसा-वाचा-कर्मणा धारण-पोषण करना।"*[८४] यह हमें कौटिल्य का स्मरण कराता है जिसने कहा : *"प्रजा का सुख ही राजा का सच्चा सुख है। राजा सिर्फ प्रजा के कल्याण का संरक्षक तथा न्यासी है।"*[८५] कालिदास भी इस मत का समर्थन करते हैं।[८६] अपने प्रजाजनों के लिए राम के करूण-भाव का सुंदरतापूर्वक निरूपण करते हुएं वाल्मीकि कहते हैं कि राम अपनी प्रजा के लिए स्वयं उनसे ज्यादा गहनता से अनुराग-भाव रखते थे और उनकी खुशी पर अभिभावकों की तरह हर्षित हुआ करते थे।[८७]

ये सब होता इसलिए था कि रामराज्य के दौरान मूल्याधारित राजनीति थी। भरत को सान्त्वना देने के दौरान, राम नैतिकताविहीन राजनीति की निन्दा करते हैं। *"ऐसी राजनीति सार मन में गड़ी पड़ी कामना के समान पड़ा हुआ होता है।"*[८८] यद्यपि, सूर्पनखा रावण को उत्प्रेरित करते हुए कहती है: *"राज्यकौशल्य के बिना सम्प्रभुता, सद्गुण विक्षेदित धन, भगवान के अनअर्पित सद्काम तथा ज्ञान जो विवेक उत्पन्न नहीं करता- ये सभी विद्यार्थी, कर्त्ता या अधिकारी को कोई फल नहीं बल्कि जंजाल देता है।"*[८९] संक्षेप में, मूल्य-आधारित राजनीति रामराज्य का अधार-स्तम्भ है, जिसके अभाव में रामायण हैमलेट के दु:खान्त या महाभारत के पितृसंहारक युद्धों का एक चित्र प्रस्तुत करता। न तो राम या न ही भरत में राज-शक्ति के प्रति लिप्सा है। अयोध्या राज्य राम और भरत के बीच एक फुटबॉल सरीखे दिखता है। संक्षेप में, शक्ति के लिए कोई लोलुपता नहीं थी। सारे मानव इतिहास में, शायद ही ऐसा कोई प्रसंग मिलता हो जिसमें पदनामित- राजा (राम) अपने बाकी भाइयों को दरकिनार कर अकेले अपने राज्यारोहण पर शोकाकुल हुआ हो। राम कहते है: *"इस बेदाग उक्ति रेखा पर एकमात्र असली धब्बा यह है कि अपने कनिष्ठ भाइयों के अपवर्जन पर ज्येष्ठ सिहांसनारूढ़ होगा।"*[९०] राम की ऐसी प्रेममय तथा अनुग्रह पूर्ण अभिव्यक्ति

स्वयं अपने आप सभी के मन से अनुपयुक्त विचारों को भगा देती है। इसीलिए एक अपकर्षक: राज्यावरोहण अनुष्ठान के समय जब राम को वनगमन के बारे में सूचित किया जाता है, वह अपने पिता को ढाढ़स बँधाने का प्रयास करते है: *"आप एक अति क्षुद्र मसले के लिए शोकाकुल हो रहे हैं; और तरस इस बात का है कि किसी ने भी मुझे पहले से इससे अवगत नहीं कराया।"*[९१] वह आगे कहते है: *"इस पृथ्वी पर उसका जीवन धन्य है, जिसके पिता उसके कृत्यों को सुनकर सन्तुष्ट हैं। जीवन का चारों पुरस्कार उसकी मुठ्ठी में है जो स्वजीवन अनुरूप अपने अभिभावकों को प्रेम करता है।"*[९२] कवि उचित ही कहते हैं: *"राम मुखकमल की आभा न तो अयोध्या की गद्दी पर अपने बैठाए जाने के आसार से बढ़ी और न ही वन निर्वासन के दु:खपूर्ण अनुभव से क्लांत हुई।"*[९३] सिंहासन परित्याग एंव स्वैच्छिक निर्वासन की राम की स्वीकृति उनके दुर्लभ अनुग्रहमय लोकाचार की द्योतक है।

लेकिन युद्ध के नियमो के विरूद्ध उनके द्वारा बालि-वध इसका अपवाद माना जाएगा। राम उसका ऐसे वध करते है जैसे दुष्ट व्यक्ति अपने बाँबी में सोये एक अबोध सर्प का।[९४] बालि उचित ही अपने रोष को व्यक्त करता है कि *"यद्यपि मेरे प्रभु, आप सत्यनिष्ठता को समर्थित करने हेतु अवतरित हुए हैं, आपने मुझे किसी आखेटक की तरह भेदा है।"*[९५] राम अपना बचाव करते हुए कहते हैं: *"एक कनिष्ठ भाई की पत्नी, एक बहन, एक बहू और मेरी अपनी बेटी सब समान है। जो कोई भी इनकों कामुक दृष्टि से देखेगा बिना पाप मार दिया जाएगा।"*[९६] सत्यनिष्ठा के नियमोल्लंघन कर्ता को दंडित करना राजा का दायित्व था। किन्तु यह व्याख्या भी सभी को सन्तुष्ट नहीं करती है। माना कि राजा को दंडित करने का अधिकार है, पर एक भीरूतापूर्ण तरीके से करना आपत्तिजनक है। यह एक योद्धा के लिए तो अनुचित है ही, राम जैसे परम अनुग्रही एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए तो एकदम ही अनुपयुक्त। एकमात्र इसका बचाव यह है कि प्रेम और युद्ध में कुछ भी न्यायोचित तथा गलत नहीं होता तथा सम्भवत: एक सीधी आमने-सामने की लड़ाई में बालि न मरता और जब राजा द्वारा पापी को ऐसे मारा जाता है, उसे स्वर्ग प्राप्त होता है एवं दंड भोगने के उपरांत वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।[९७]

राम पर दूसरा ज्यादा गंभीर आरोप उनके सीधे प्रशासनाधीन स्वंयं उनके ही द्वारा शम्भुक का सिर काट लेना है, जो एक तपस्या कर रहा था। पूर्व में जैसा उल्लेख किया जा चुका है, रामराज्य में कोई असामयिक मृत्यु नहीं होती थी। पर ऐसा हुआ कि एक ब्राह्मण का पुत्र मर गया तथा इसको कतिपय मूल धार्मिक दायित्वों की अवहेलना पर आरोपित किया गया। उसकी एकमात्र गलती यह थी कि वह सशरीर स्वर्ग जाने के लिए कतिपय तपस्या कर रहा था। तत्कालीन प्रचलित धार्मिक रिवाजों और मूल्यों के अनुसार, किसी शूद्र को तपस्या करने लायक नहीं माना जाता था।[९८] शम्भुक का वध करने के उपरान्त, ब्राह्मण का पुत्र पुनर्जीवित हो उठा था।[९९] यह सुनने में काफी निन्दनीय नहीं लगता है। वैसे मूल्य निरपेक्ष बन चुके है तथा भेद-भाव का बड़े चाव से रसास्वादन होता है। अतएव तुलसीदास ने ऐसी उपकथा से अपनी रचना को अलग रखा है। यद्यपि, वाल्मीकि द्वारा यह विस्तारपूर्वक वर्णित की गई है[१००] और अध्यात्म रामायण में भी नैमित्तिकत: उल्लिखित हुई है।[१०१] सम्भवत: यह उपाख्यान अन्य दूसरों के साथ बाद में जुड़े हैं। राम, जो अस्पृश्य शबरी के पास जा सकते थे। गिद्धराज जटायु के साथ मित्रवत थे, तथा निषादों को भाई मानते थे, कैसे किसी शूद्र या निम्न-जाति व्यक्ति के विरूद्ध कोई दुर्भावना रख सकते थे।

अपने हाथों से राम जटायु की अन्तिम अन्त्येष्टिक्रिया एवं समुचित अनुष्ठान सम्पादित करते हैं।[१०२] क्या राम शबरी से नहीं कहे थे कि *"जाति, नातेदारी, वंश, दया, प्रसिद्धि, धन, शक्ति, सम्बन्धताओं, उपलब्धियों और क्षमता के बावजूद, एक व्यक्ति आस्था बिना एक जलरिक्त मेघ सदृश मायने रखता है?"* वह आस्था के सम्बन्ध के अतिरिक्त किसी अन्य सम्बंध को मान्यता नहीं देते।[१०३] अत: राम-कथा आस्था तथा प्रचलित ग्रंथात्मक मूल्यों को दो द्वन्द्वात्मक निष्ठाओं में विभक्त करती हुई दिखती है। पवित्र ग्रंथों का इतना प्रभाव था कि राम को भी, यद्यपि वे आज हमें कितने भी आपत्तिजनक लगें, उनका पालन करना पड़ा। राम ने *"अत्यधिक समझदारी"*[१०४] दर्शायी, जिसने आलोचना के लिए जगह छोड़ रखी है।

आधुनिक समय में रामराज्य से किसी को अप्रसन्नता नहीं होनी चाहिए। *"वह एक सुविधाजनक एवं वर्णनात्मक शब्दयुग्म है, जिसके अर्थ का कोई भी अन्य विकल्प करोड़ों लोगों को उतनी ही प्रभावशाली अभिव्यक्तता से सम्प्रेषित नहीं कर सकेगा।"*[१०५] गाँधी जनता जर्नादन के आदमी थे और इसलिए वह एक ऐसी *"सांस्कृतिक उक्ति"* प्रयुक्त करना चाहते थे, जो लोगों के हृदय तथा मन में गहरायी तक पैठ सके। गाँधी के अनुसार, रामराज्य मुस्लिमों के लिए *"खुदाई राज़"* तथा ईसाईयों के लिए *"पृथ्वी पर परमेश्वर का साम्राज्य"* है। गाँधी कहते हैं, *"मेरे लिए अन्य कोई पद्वति आत्म-दमनकारी और पाखण्डमय होगी।"*[१०६] गाँधी के लिए, रामराज्य सीता-राम सदृश एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।[१०७] राम से ज्यादा यह नाम शक्तिशाली है। ईश्वर को अनेक नामों से जाना जाता है। नि:सन्देह हजारों लोग राम और कृष्ण को ऐतिहासिक चरित्रों के रूप में देखते हैं और पूर्ण विश्वास करते हैं कि दशरथ पुत्र राम के रूप में भगवान आये थे, तथा उनकी आराधना करके व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यहाँ कल्पना और यथार्थ इतने जटिल रूप से सम्मिश्रित हुए है, कि उन्हें पृथक्-पृथक् करना असम्भव है। इसलिये, हमें मानने वालों और न मानने वालों, हिन्दुओं और मुस्लिमों की आस्था को समन्वित करना है। यदि सभी धर्म का स्रोत एक है, तो हमें उन्हें समेकित करते हुए यह मानना चाहिए: *"प्रत्येक मानव को उसकी आस्था के अनुसार।"*[१०८]

रामराज्य का आधार ही *"राजनीति का आध्यात्मीकरण अथवा हितकर राजनीति"*[१०९] है, जो आज वर्तमान समय की भी आवश्यकता है। *"जब तक लोगों के नैतिक तथा आध्यात्मिक गुण समुपयुक्त नहीं होते, राजनैतिक व्यवस्थाओं और संविधानों की अभिलिप्सा कारगर नहीं होगी।"*[११०] यदि हम राजनीति से नैतिक विवेचनाओं का बहिर्गमन कर देते हैं, तो वह अवसरवादिता तथा अनिश्चितताओं का दलदल बन अनिवार्य रूपेण शक्ति का एक विकृत प्रेम एवं अन्तहीन संघर्ष पैदा करेगा।[१११]

हम भूल जाते हैं कि राजनीतिक समस्या मूलत: एक नैतिक समस्या अथवा एक मूल्य की समस्या है। राजनीति में नैतिकता की समस्या पर प्रश्नवाचकता चिन्हित करना न मात्र अज्ञानता, अपितु ढोंग भी है। राजनीति की रामराज्यवादी अवधारणा मूल रूप से नीतिशास्त्र के द्वारा राजनीति को क्रान्तिकारी रूप से परिवर्तित करने या राजनीति को नैतिक बनाने के लिए है,[११२] या जैसा *अरस्तु* कहता है: *"एक 'पोलिस' (राज्य).......... राज्य के रूप में विलुप्त हो जाएगा।"*[११३] यदि राजनीतिक क्रिया के परिक्षेत्र को नियमित करने के लिए नैतिक मूल्य को हम नहीं लाते,[११४] नाभिकीय युद्धों में मानवता के भयंकर रूप से अपंग और समाप्त तक हो जाने का एक वास्तविक अंदेशा है। अत: गाँधी ने सही रूप में चेतावनी दी थी

कि *"धर्म विहीन कोई राजनीति नहीं है।"*[११५] *"धर्म के बिना राजनीति एक मृत्यु-जाल है।"*[११६] लेकिन यह समझा जाना चाहिए कि गाँधी के लिए धर्म का अभिप्राय शुष्क और निर्जीव कर्मकांड नहीं, बल्कि हमारे समग्र जीवन का नैतिक आधार है।[११७] इसीलिए सच्चे धर्म तथा सच्ची राजनीति में कोई भेद नहीं होता है। गाँधी के लिए, राजनीति में ईश्वर को समाविष्ट करना सत्य और प्रेम को समाविष्ट करना है।[११८] यह *"उच्चतर राजनीति"* या जैसा *यास्पर्स* कहते हैं: *"एक-आत्म-प्रदीप्त व्यक्ति की धार्मिक राजनीति"*[११९] है। अतएव "राजनीति *'राजनीतिक नैतिकता'*, जो एक अनिवार्य अशुभ नहीं, एक यथार्थवादी शिवत्व है, की पूर्व कल्पना स्वीकार करती है।"[१२०]

रामराज्य की महान प्रासंगिकता की दूसरी विशिष्टता प्रजाजनों के प्रति पूर्ण समर्पण में दृष्टिगोचर होती है। जनता की इच्छाओं और हित से अधिक कुछ नहीं है, न तो अपना भाई, पिता, माता और पत्नी। इन सांसारिक वस्तुओं का क्या कहना, स्वर्ग तथा परमानंद के प्रलोभन को भी अपनी प्रजा के विरूद्ध जाने से राजा को रोकना चाहिए। रामराज्य एक ऐसे आदर्श लोकतन्त्र का प्रकरण प्रस्तुत करता है जहाँ *"प्रमुख मुख सदृश जो अकेला सब खान-पान करता है, फिर भी विवेकानुसार बाकी सभी अवयवों का पोषण और निर्वाहन करता है।"*[१२१] उसका प्रशासन सर्वसम्मति से चलाया जाता है। यहाँ तक कि सार्वभौम सम्प्रभु, दशरथ की भी अपनी नहीं चलती जब तक *"राम को सिंहासन पर बैठाने का प्रस्ताव को उनके सलाहकारों की सहमति नहीं प्राप्त होती।"*[१२२] व्यवहार में राजा के पास कोई भी स्वविवेक नहीं होता है। उसे पवित्र ग्रंथों की आज्ञाओं, मुनियों और पुरोहितों के मार्गदर्शन, परामर्शदाताओं की सलाह तथा लोकमत के अनुसार कार्य करना होता है।

वह एक सर्वोत्कृष्ट कल्याणकारी राज्य भी था। विपन्नता, रोग, असाक्षरता अज्ञात थे। कोई असामयिक मृत्यु या किसी प्रकार का उत्पीड़न नहीं था। राम के शासन काल की सुख एवं सम्पन्नता सर्पराज तथां सरस्वती के वर्णन से भी ज्यादा थी।[१२३] सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन भी आदर्शमय थे।

गाँधी की अन्य मान्यताओं की भांति *'रामराज्य'* भी अंत: प्रज्ञापित है। यह विचार राजनीतिक तत्व विहीन भी नहीं है। रामराज्य में लोक-सम्प्रभुता के मूलाधार *"नैतिक प्राधिकार व शक्ति"* है।[१२४] *'जनतन्त्र'* शब्द में गुप्त यथार्थ का एक अनिवार्यांश रामराज्य के वास्तविक अनुभव को उपलब्ध करना है। साथ ही, यदि रामराज्य को अंतर्विकसित लोकतंत्र या स्व-शासन, या शक्ति-विकेन्द्रीयकरण के रूप में ग्राह्य करना, थोड़ी भी अस्पष्टवादिता को जन्म नहीं देता है। लोकतांत्रिक राज्य के रूप में रामराज्य के राम महाकाव्य के *'राम'* नहीं, अपितु *'आत्म-राम', (अंतर्अधिवासित सम्प्रभुता)* हैं। इस पारम्परिक प्रतीक के प्रयोग द्वारा गाँधी अपने विचारों को अनपढ़ जनता तक पहुँचा सके। गाँधीवादी लोकतन्त्र के मॉडल में एक निम्न स्तर से एक उच्च स्तर पर विकास क्रमानिवार्यता का द्विस्तरीय निरूपण हुआ है। एक स्तर पर एक आदर्शवादी राज्य का निरूपण है, जिसमें वैयत्तिक अधिकारों को नियंत्रित करने के लिए कोई राज्य या सरकार नहीं होगी। इस प्रकार की राजव्यवस्था को उन्होनें रामराज्य की संज्ञा दी। उप-आदर्शात्मक स्तर पर दूसरे राज-व्यवस्था के स्तर पर एक सरकार होगी जो व्यक्तियों को अधिकतम स्वतन्त्रता की अनुमति प्रदान करेगी। रामराज्य विकास का वह चरण होगा जहाँ नैतिक मूल्य व्यक्तियों के जीवन को अनुशासित करेगें। स्वराज्य वह अवस्था होगी जहाँ लोग सरकार और राज्य की आवश्यकता को फिर भी अनुभूत करेगें।

प्लेटो के अति महत्वपूर्ण व्याख्यान - *दार्शनिक-राजा के सिद्धांत* की गाँधीवादी रामराज्य की अवधारणा से तुलना की जा सकती है, यदि इस अनुवर्ती अवधारणा को सर्वजन हितोपलब्धि की ओर उन्मुख कृपालु राजतंत्र को सूचित करते पारंपरिक भारतीय अर्थ में व्याख्यायित करे। नि:संदेह दार्शनिकों का शासन एक सुधरी हुई राजनीतिक व्यवस्था की अपरिहार्य मांग करेगा। परन्तु रामराज्य की गॉधीवादी अवधारणा को एक प्रबुद्ध अराजकता की स्थिति-सूचकांक के रूप में माना जा सकता है, जिसके अंतर्गत सरकारी दबाव का अभाव विद्यमान होगा। यदि इस दूसरी व्याख्या पर बल दिया जाय, तो रामराज्य की दार्शनिक-राजा की मान्यता से तुलना नहीं हो सकती। वास्तव में, इस गाँधीवादी अवधारणा पर पाश्चात्य अराजकतावादी विचारधारा का प्रभाव पड़ा है, जो एक ऐसी व्याख्या को समुचित ठहरायेगी जो दार्शनिकों के शासनादर्श से पूर्णतया विलग होगी। भारतीय सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं में उनकी अंतर्दृष्टि एक गहन विशद् अध्ययन तथा व्यावहारिक समझदारी पर आधारित थी। ग्राम-स्वराज से आरम्भ कर रामराज या अहिंसात्मक उपकरणीयता मध्यस्थ प्रबुद्ध अराजकता को अंतत: प्रस्तावित किया। गॉधी एक ऐसे आदर्श राज्य की गवेषणा में थे जिससे राजकीय हस्तक्षेप के बगैर प्रत्येक व्यक्ति स्वशासक हो। एक यथार्थवादी के रूप में, अपने जीवनकाल में ही रामराज्य के परमोद्देश्य की परिणति को लेकर वह संशयी थे।[१२५]

कलियुग में, अंधे युग में जिसमे हम अभी जी रहे हैं, जीवन की दशा तथा गति मानव के सर्वोच्च साध्यों को पूरा करने में विचित्र रूपेण बाधक है, परंतु हम पृथ्वी पर यात्रियों सदृश उस सीमा तक परीक्षित हो रहे है, जिस सीमा तक हम परिव्याप्त भौतिकतावादी शक्तियों के साथ समझौता, या उनके शिकार बनने से इंकार करते हैं। रामराज्य का स्वर्णिम युग, वर्तमान या निकट भविष्य में अनुपलब्धीय है, तथा किसी भी स्थिति में, उसका सूत्रपात हमारे सहजनों की वैसी एक हिंसक अस्वीकृति से तो कदापि नहीं, जो हमसे भी ज्यादा भ्रमित और ग्रसित हैं। किंतु कलियुग तथा *"पैशाचिक"* सभ्यता को उनके स्वरूपों को पहचानते हुए, समाज सेवकों को *'सेनोबीटिक' (Cenobitic)* भिक्षुओं के समान जीना,[१२६] तथा धर्मयोद्धाओं के समान कार्यरत रहना चाहिए, जिससे रामराज्य का ज्यादा-से-ज्यादा वातावरण सृजित किया जा सके। कम से कम, उन्हें अपने उन सहजनों जो प्रथमत: स्वर्ग के राज्य को प्राप्त करने की इच्छा या तैयारी नहीं रखते, के लिए कलियुग की अशुभता के उत्थान के लिए तत्पर रहना चाहिए।

यद्यपि गाँधी अकेले विद्रोही स्वरूप खड़े रहने के उसके आत्मबल द्वारा व्यक्ति का मूल्यांकन मान्य करते थे, तथापि व्यवहार में, उनका यह अभिमत नहीं था कि अपनी रामराज्य की वैयक्तिक दृष्टि से अनुप्राणित नायक कलियुग में भी पूर्णत: अकेले खड़ा हो सकता है। वह अपनी ओर समान विचार नायकों के एक समूह को आकर्षित करेगा, जो अधिकांश मनुष्यों द्वारा सामान्यतया प्रयासित अंतर्दृष्टि, प्रकाशना और सहमति से गुणात्मक रूप से अधिक के प्राधिकारी होने का दावा करते हैं। दमनकारी प्रचलनों तथा अधिनायकवादी गुटों के विरूद्ध रामराज्य एक आद्य कथानक है, जिस तक ये विरोधी या सुधारवादी लौटना चाहता है। एक ऐसा कथानक है जिसे सभी समझ सकें तथा ऐसी अवधारणा में प्रत्येक यदि राम न भी बन सके तो उनको अभिमन्त्रित कर सके, जिसमें उसके भीतर का अदम्य साहस व ऊर्जा रोमांचकपूर्ण तरीकों से सामाजिक सन्धान का

उपक्रम प्रशस्त कर सके।

अगर गौर से देखें, तो यह विचित्र ही लगता है कि जो राम इस उपमहाद्वीप के एक छोर से दूसरे छोर तक इस हद तक लोकप्रिय रहे हों, जिनकी कथा घर-घर गायी जाती रही हो उनके महत्व को मध्यकाल में दक्षिण के विंध्याचल के उस पार के रामनंद और अवध प्रांत के तुलसी के बाद बीसवीं सदी में सिर्फ गांधी ने और वह भी इंग्लैंड और दक्षिणी अफ्रीका से लौटने के उपरांत पहचाना और इसे पहचानने के साथ ही उनकी महात्मा बनने की शुरूआत भी हुई। पूर्व-गाँधी राजनीतिक काल में राम की उपेक्षा का कारण साफ समझ में आता है। राम दरअसल अभिजात और उच्चवर्गीय कर्मकांडीय हिंदुओं के देवता कभी नहीं थे। वे लोकप्रिय मिथकीय चरित्र थे। अभिजात हिंदुओ में उनका उतना सम्मान नहीं था। जन-जन की चेतना में व्याप्त राम की आध्यात्मिक और भौतिक शक्ति को खोजने वाली आँख गाँधी के पहले नेताओं में नहीं थी।

गाँधी ने इन्हीं राम के नाम को अपनी राजनीति का प्रतीक बनाकर औपनिवेशिक शासन के विरूद्ध रामराज्य की स्वदेशी परिकल्पना प्रस्तुत की थी। साम्यवाद या पाश्चात्य *'डेमोक्रेसी'* से भिन्न एक नए ठेठ भारतीय राज्य का मॉडल। एक स्वदेशी यूटोपिया। वह पश्चिम के विज्ञान और आधुनिकता के पश्चात् प्रस्तुत किए गए काल्पनिक राज्यों (१८वीं सदी की फ्रांसिसी क्रांति का लोकतंत्र या प्रथम विश्वयुद्ध के बीचोबीच १९१७ की रूसी क्रांति का समाजवाद-साम्यवाद) की तुलना में अवैज्ञानिक, अधकचरा, पिछड़ा, अव्यावहारिक, और बचकाना लगते हुए भी आज भी जनमानस को लुभाता है, और बाकी दोनों अपनी चमक खोकर इतिहास के बासी दस्तावेज़ों में तब्दील हो गए हैं। संभवत: यदि गाँधी जीवित होते तो जिन सांप्रदायिक शक्तियों ने अंगरेजों से सांठगांठ कर देश को विभाजन और दंगों की आग में झोंक दिया था, वे उनका सामना उसी राम के अमोघ अस्त्र से करते। तय है कि राम की उस राजनीतिक अवधारणा को लेकर गाँधी-विभाजन और स्वातंत्र्योत्तर काल की राजनीति को प्रभावित करने का स्वप्न देख रहे थे।

सतयुग या क्रित्युग का स्वर्णिम कालीन रामराज्य के शास्त्रीय भारतीय मिथक पर आधारित गाँधी की परम् सामाजिक अन्तर्दृष्टि पुरातनता एवं प्रागऐतिहासिकता के धुंध में खो गयी थी। गाँधी की सक्रिय सामाजिक कल्पना। समय-समय पर उनको वर्तमान सत्यताओं के क्षेत्र से पूरी तरह बाहर ले जा स्वप्नलोकी परिकल्पना *'अराजकवादी का स्वर्ग'* तथा *'ईशनगर के आयाम'* में पहुँचा देती है। एक विचारक के रूप में गाँधी का सम्मोहन दो विपरीत मनोमुद्राओं - *टॉलस्टॉय* की समाजवादी मान्यता कि स्वर्ग का राज्य पृथ्वी पर प्राप्य है और *दोस्तोयवस्की* के रहस्यवादी विश्वास कि वह कभी फलीभूत नहीं किया जा सकता- के मध्य उनकी अन्तर्मुखी द्वन्द्वता में सन्निहित है। आधुनिक हिंदू मत सामान्यत: गैर-स्वप्नलोकी रहा है : रामराज्य बीते हुए सतुयग में था, तथा कलियुग अपरिहार्य बलप्रयोग का युग है। टॉलस्टाय के प्रभाव में गाँधी इस मत को चुनौती देना प्रारम्भ करते हैं, परन्तु अपने जीवन का अन्त एक ज्यादा दोस्तोयवस्कीवादी नैराश्यता के साथ करते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होनें अपने काल्पनिक, स्वप्नलोकी सामाजिक अंतर्दृष्टि या अपने व्यावहारिक आदर्शवाद तथा उसके मूर्त ठोस तत्काल कर्म की योजनाओं का त्याग कर दिया। उन्होनें यह अनुभव नहीं किया कि अपने समान, लागों के लिए असंभव दिखने वाले मानदंडों के अनुसार स्वयं को ढ़ालने के अपने आह्वान में वह गलत थे, पर साथ ही वह यह मानने के करीब आये कि उनसे ऐसा

करने की आशा रखना गलत है।[१२७]

सत्य और अहिंसा पर आधृत रामराज्य के *"यूक्लीडियन"* मॉडल, जो गाँधी की व्यक्ति-स्वातन्त्र्य एवं कर्तव्य, अंतर्चेतना, नायकत्व का आदर्श, नेतृत्व तथा जनसमूह, राजनीति का परिष्करण, प्रबुद्ध सामाजिकता से सम्बन्धित मान्यताओं को समाहित किए हुए है, का समाज दर्शन में अपना मूल्य है; लेकिन इन्हें निश्चित प्राप्त योग्य प्रत्यक्षीयकरणों के ठोसाकार माना नहीं जा सकता है। रामराज्य की अवधारणा में एक *"महत्वपूर्ण सत्य"* अवश्य है, किन्तु एक अर्थ में, वह भ्रामक पुनर्प्रस्तुतीकरण भी है। उसका निर्माण कर गाँधी उस प्राचीनतम परम्परा में जुड़े थे जो पश्चिम में प्लेटो तथा शास्त्रीय चीनी एवं भारतीय मनीषियों तक पीछे जाती है। यदि इस परम्परा की सर्जना को भविष्य की निश्चित सामाजिक यथार्थताओं की अभिव्यक्ति के रूप में न लिया जाय तो वह नागरीय शिक्षा का गम्भीर कार्य कर सकती है। गाँधी की 'रामराज्य' की सर्जना के विशिष्ट सन्दर्भ में अविकलता एक राजनीतिज्ञ के रूप में उनकी दृढ़ता, एक सन्त के रूप में उनकी एकमनस्थता, और एक साधक के रूप मे उनकी तपश्चर्या का समीकृत प्रतिफलन थी। इस अर्थ में उनका प्रबोधगम्य उत्साह उनकी सामाजिक नैतिकता की सार्वभौम महत्ता से च्युत नहीं होता। भूतकालीन धार्मिक मतों और वर्तमान वादों की परिसीमाओं से परे देखने में, युगदृष्टा गाँधी अपनी 'रामराज्य' की अवधारणा में मानवता की अप्रयुक्त नैतिक ऊर्जाओं के जलाश्य-स्रोतों से उत्प्रेरणा निकालते हुए भविष्य की सभ्यता के नैतिक आधार-स्तम्भों की ओर इंगित करते हैं।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा विश्व-नागरिकता

गाँधी के राजनीतिक चिंतन और सक्रियता का सर्वाधिक उत्पादक चरण, ऐतिहासिक दृष्टि से, आधुनिक अन्तरराष्ट्रीय समुदाय के सुदृढ़ीकरण का काल भी था, जिसने दो विश्व युद्धों की घटना के साथ अन्तरराष्ट्रीय परिवर्तनों को चिन्हित किया। भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन में पहले से व्यस्त रहने के बावज़ूद गाँधी ने 'लीग ऑफ नेशन्स' जैसे एक विश्व संगठन के उत्थान और पतन तथा उसके उत्तराधिकारी 'संयुक्त राष्ट्र संघ' एवं कैसे इन सब ने राष्ट्र-राज्यों के बाह्य व्यवहार को प्रभावित किया, को निश्चित देखा होगा। साथ ही गीता के प्रभाव ने भी गाँधी की अन्तर्राष्ट्रीयवादी भावना को प्रोत्साहित करने के लिए उत्प्रेरित किया। इस सदंर्भ में यह स्मरणीय रहे कि गीता ब्रह्माण्डीय एकात्मकता एवं मानवतावादी भ्रातृत्व की वेदान्ती मान्यता को *'लोकसंग्रह'* के विचार में संस्थायीकृत करती है, जो सार्वभौम कल्याण तथा राष्ट्रों की अन्तर्निर्भरता को प्रोत्साहित करता है। एक वेदान्ती के लिए सम्यक् जीवनचर्या का उद्देश्य एक बेहतर दुनिया में भूमिका निभाना है। *राजगोपालाचारी* के शब्दों में : *"वेदान्त की अपील विश्व के साथ एकता की एक भावना तथा उसके भविष्य के प्रति दायित्व बोध पर आधारित है। सामाजिक तथा नागरीय सहयोग स्थायी रूपेण उस नगर या गाँव का फायदा करता है, जहाँ का एक आदमी निवासी है; राष्ट्रवाद देश की भावी पीढ़ी को लाभान्वित करता है जिसका व्यक्ति नागरिक है; वेदान्त भावी संसार के कल्याण को साधता है जिसके हम सब वर्तमान निर्माता है।"*[१२८] जिस तरह गीता एक अज्ञानी के विश्वास को भी न तोड़ने के लिए समझदार व्यक्ति को सचेत करती है, उसी तरह उसका अन्तरराष्ट्रीयवाद एक राष्ट्र के स्वधर्म, निजता और आस्था के साथ खिलवाड़ नहीं करेगा। गीता का लोकसंग्रह राष्ट्रों में सार्वभौमिक समन्वय तथा स्थाई संयोजन का विकास करना चाहता है, न कि एक अन्तरराष्ट्रीय

राजनीतिक व्यवस्था के स्थापना के क्रम में उनकी अधीनस्थता।

इसके अतिरिक्त, गाँधी की नैतिकता की परम परिणति भी इसी अन्तरराष्ट्रीयता में समीकृत होती है। वह वैयक्तिक सचेत व्यवहार और मानवता के कल्याण के मध्य कोई द्वन्द्व नहीं देखते। वह बल्कि वैयक्तिक नैतिकता एवं सामाजिक नैतिकता या वैश्विक नैतिकता के व्यवहार में लचीलापन की वकालत करते दिखते हैं। और अंतत: वह नैतिकता का एक ऐसा मानदंड अनुमोदित करते है, जिसके अनुसार सभी कर्मों को मूल्यांकित किया जाय यानि जिसका अर्थ लोगों के कर्मों का परीक्षण करना है। यदि उनके कर्म मानवता के कल्याण के लिए सहायक हैं, तो उनको किया जाना चाहिए।[१२९] लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि नैतिकता के मामलों में गाँधी केवल *''अत:प्रेरणा''* पर ही बल नहीं देते हैं। वह एक व्यक्ति या राष्ट्र के लिए नहीं, बल्कि विस्तृत तथा व्यापक दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। तद्नुसार, नैतिक कर्म को सार्वभौमिक रूपेण सभी परिस्थितियों में स्वीकार्य होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, उनके अनुसार, नैतिकता को प्रकृत्या सार्वभौमिक होना चाहिए। गाँधी स्वयं कहते हैं: *''उच्चतम नैतिक नियम यह है कि हमें मानवता के कल्याण के लिए नि:स्वार्थत: काम करना चाहिए।''*[१३०] उसको स्वभावत: स्वार्थी नहीं होना चाहिए, अपितु समूची मानव जाति में परिव्याप्त होना चाहिए। एक विशिष्ट व्यक्ति के तात्कालिक लाभ से परे जाकर सबकी भलाई को अंगीकृत करना चाहिए। एक व्यक्ति का कल्याण अनिवार्यत: सभी अन्य व्यक्तियों के कल्याण से समीकृत है। अतएव गाँधी निश्चित रूपेण एक परार्थवादी हैं, लेकिन साथ ही वह उपयोगितावाद को नकारते हैं। अपनी बात को ज्यादा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ''जब तक व्यक्ति स्वार्थी रहता और दूसरों की खुशी के बारे में परवाह नहीं करता है, वह एक पशु से बेहतर नहीं और शायद बुरा है। उसकी श्रेष्ठतरता तभी दिखायी देती है, जब हम उसे अपने परिवार का ख्याल रखते हुए पाते हैं। वह और ज्यादा मानव अर्थात्, जानवर से ज्यादा ऊँचा तब होता है जब वह अपने परिवार की मान्यता में अपने देश या समुदाय को भी समाहित करता है। मानव जाति को अपना परिवार मानने के क्रम में वह स्वयं को इस सोपान पर और ऊपर पाता है।''[१३१]

गाँधी भारत के व्यापक क्षेत्र में राजनीति को लेकर आए और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के एक अभूतपूर्व सेनानी के रूप में अपनी भूमिका निभायी। अत: भारतीय जनमानस ने उन्हें राजनीतिक नेता और देश-भक्त राष्ट्रवादी के रूप में ही अधिक जाना-माना। नि:सन्देह गाँधी राष्ट्रवादी थे लेकिन जो उग्र और कट्टर राष्ट्रवाद आज दुनिया के लिए घातक सिद्ध हो रहा है और जिसने संसार की शांति के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न कर दिया है, उस राष्ट्रवाद के गाँधी कभी समर्थक नहीं थे। गाँधी राजनीतिक की अपेक्षा नैतिक अधिक थे तथा इसलिए उनका राष्ट्रवाद नैतिक साम्राज्य, जीवन की सहिष्णुता एवं आध्यात्मिक सिद्धांतों पर आधारित था। उनका राष्ट्रवाद वस्तुत: उनके विश्व-प्रेम का एक अंग था।

गाँधी ने राष्ट्रवाद को अत्यन्त शुद्ध रूप में हमारे सामने रखा। उन्होनें कहा, *''मेरा लक्ष्य विश्व-मैत्री है। हम विश्व-बन्धुत्व के लिए जीना और मरना चाहते हैं।''* एक अन्य स्थल पर उन्होनें कहा था कि *''मानवता के लिए मरने की आकाँक्षा के पूर्व भारत को जीना सीखना होगा।''*[१३२] गाँधी विश्व को पंगु और पीड़ित भारत का दान नहीं देना चाहते थे, उसकी सेवा के लिए साहसी, पौरूषमय एवं आत्मविश्वासी भारत भेंट करना चाहते थे।[१३३] इस वाक्य के भीतर गाँधी के भारत-प्रेम का

भावी रूप झलकता है। उनका कहना था कि *"यूरोप के चरणों पर लोटता हुआ भारत मानवता को क्या आशा दे सकता है? प्रबुद्ध और स्वतन्त्र भारत के पास निश्चय ही पीड़ित और कराहते हुए विश्व को देने के लिए स्वास्थ्य, धार्मिक शान्ति और मानवतावादी सद्-इच्छा का एक सन्देश होगा।"* ऐसा था गाँधी का राष्ट्रवाद जिसमें देशप्रेम के साथ ही विश्व-सेवा का भाव मुखरित है।

जीवनभर गाँधी ने भारत की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए अथक् परिश्रम किए, राष्ट्र-भाषा, राष्ट्रीय-शिक्षा और राष्ट्रीय एकता पर बल दिया और यह सब कुछ इसलिए किया क्योंकि उनके शब्दों में- *"मैं अपने देश की स्वतन्त्रता इस कारण चाहता हूँ कि अन्य राष्ट्र मेरे राष्ट्र से कुछ सीख सकें। मेरी राष्ट्रीयता उप-अन्तर्राष्ट्रीयता है।"* उन्होनें एक बार कहा था- *"यदि आवश्यकता पड़े तो सारे देश मर जाएँ ताकि मानवता जीवित रह सके।"*[१३३] स्पष्ट है कि गाँधी की दृष्टि में एक विशुद्ध देशभक्त-राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता की विरोधी नहीं है, बल्कि उसके विकास में सहायक है क्योंकि *"एक व्यक्ति के राष्ट्रीयतावादी हुए बिना अन्तर्राष्ट्रीयतावादी होना असम्भव है।"* राष्ट्रवाद कोई बुराई नहीं है, बुराई तो संकीर्णता एवं स्वार्थ और एकाकीपन की भावनाएँ हैं जिनसे आज के राष्ट्र ग्रसित दिखायी देते हैं। गाँधी को राष्ट्रीय जीवन की गन्दगी से नफरत थी। वे चाहते थे कि राष्ट्रीय जीवन में जो बुराइयाँ भर गई हैं, उन्हें निकाल फेंका जाय। वे भारतीय राष्ट्र में सजीव तथा सक्रिय अहिंसात्मक शक्ति पैदा करना चाहते थे। उनके राष्ट्रवाद में अंहकार का, दूसरी जातियों के सिर पर चढ़कर जबर्दस्ती बैठने का, अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के लिए दूसरे दुर्बल देशों का यथेच्छ उपयोग करने का भाव ही नहीं था।[१३४] "गाँधी के राष्ट्रवाद में एक ओर भारत के पीड़ित एवं दीन-दुखियों के उद्धार का भाव था और दूसरी ओर भारत की विश्व-भातृत्व का, विश्व-सेवा का एक प्रबल साधन बनने की आकाँक्षा। साथ ही एक बात यह भी है कि प्रारम्भ से ही अपने सिद्धान्तों के साथ वे ऐसी शर्तें लगाते जा रहे थे, जिससे पश्चिमी ढ़ंग की राष्ट्रीयता का भक्षक रूप हमें न देखना पड़े। उनका खादी-आन्दोलन, आश्रम-जीवन प्रयोग, आहार-विषयक प्रयोग, अहिंसा, दरिद्र नारायण का प्रेम, सात्विक वृत्तियों पर जोर, सरल जीवन प्रणाली सब राष्ट्रीयता को तामसिक मार्ग पर न जाने देने वाले अवरोधात्मक नियामक हैं।"[१३५]

यह सत्य है कि गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से पहले राष्ट्रीय आजादी चाहते थे क्योंकि सहयोग केवल बराबरी वाले के बीच हो सकता है, न की गुलामों और मालिकों के बीच। उनका राष्ट्रवाद, तीखा तो है, लेकिन *"अपवर्जक और पृथक् नहीं; वह स्वस्थ तथा प्रतिष्ठित अन्तरनिर्भरता है।"*[१३६] *"मैं भारत को शक्तिशाली और स्वतन्त्र देखना चाहूँगा जिससे कि वह स्वयं को विश्व के कल्याण के लिए शुद्ध और स्वैच्छिक आहुति के रूप में प्रस्तुत कर सके।"*[१३७] परन्तु राष्ट्रीय स्वतन्त्रता गाँधी की अर्थ निरपेक्ष स्वतन्त्रता नहीं जो प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीयवाद से विसंगत है। उन्होनें लिखा : *"राष्ट्रवाद सर्वोच्च मान्यता नहीं; सर्वोच्च मान्यता है विश्व समुदाय। मैं उस संसार में जीना नहीं चाहूँगा जो कि एक संसार नहीं।"*[१३८] वह एक वैश्विक संघ के विचार के प्रति सहानुभूति रखते थे तथा यह सुझाया कि *"ऐसे संगठन, जो समानता एवं मित्रता पर आधारित सार्वभौमिक अन्तरनिर्भरता लाएगी, को भारत को योगदान देना चाहिए।"*[१३९] *"संसार की भलाई निरपेक्ष स्वतन्त्र राष्ट्रों के द्वारा नहीं, अपितु मित्रवत् अंतरनिर्भर राष्ट्रों के एक संघ के द्वारा लाई जा सकती है।"*[१४०] उनके अनुसार, *"एकमात्र परिस्थिति जिसके*

अंतर्गत संसार जीवित रह सकता है, वह है तात्विक भागों के प्रतिनिधियों से निर्मित एक केन्द्रीय शासित संस्था के अधीन एक होकर।''[१४१] नेहरू को लिखे अपने पत्र में समान विचार को पुनः दोहराते हुए, *''तुम्हारे साथ सहमत होने में मुझें तनिक भी परेशानी नहीं है कि इन दिनों के तेज संचार और पूरी मानवता की एकात्मकता की बढ़ती चेतना में हमें यह मानना चाहिए कि हमारे राष्ट्रवाद को प्रगतिशील अन्तर्राष्ट्रीयता से विसंगति में नहीं रहना चाहिए। दुनिया के अन्य हिस्सों में हो रही घटनाओं से भारत अलग या अप्रभावित नहीं रह सकता। इसलिए, मैं पूरी तरह तुम्हारे साथ हूँ और यह कहता हूँ कि हमें दुनिया की प्रगतिशील ताकतों के साथ अपने को नियोजित करना चाहिए।''*[१४२]

१९३१ में जिनेवा में *'लीग ऑफ नेशन्स'* के बारे में बोलते हुए गाँधी ने कहा: *''इससे अपनी मध्यस्थता की शक्ति के द्वारा देशों के मध्य युद्ध को बदलने की आशा की जा रही है। लेकिन लीग के पास जरूरी शक्ति नहीं है।''*[१४३] किन्तु अपनी अहिंसा की वैचारिकी के प्रति सत्यनिष्ठ रहते हुए, गाँधी किसी भी पाशविक भौतिक ताकत के बलप्रयोग के खिलाफ़ थे। *''सिद्ध अधिकार क्रुद्ध, यानि रक्त-पिपासु साधनों के विरूद्ध सही मायनों के द्वारा प्रमाणित होने के काबिल होने चाहिए।''*[१४४] संयुक्त राष्ट्र संघ के गठन के लिए आहूत सैन फ्रांसिसकों सम्मेलन के समय भी उन्होनें स्पष्ट किया था कि *''एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस बल को बनाए रखना किसी प्रकार से शांति का एक प्रतीक नहीं है। सभी जातियों और राष्ट्रों की आजादी और बराबरी पर आधारित सच्ची शांति की स्थापना के लिए लड़ाई तथा हिंसा में विश्वास को छोड़ना पड़ेगा''* (१७.४.१९४५)। वह *''बलपूर्वक निशस्त्रीकरण के ऊपर एक शस्त्रयुक्त शान्ति के थोपे जाने के पूर्णतः विरूद्ध थे।''*[१४५] अतः, एक विश्व संगठन को अहिंसा एवं गैर-शोषण के द्वारा स्थापित किया जाना चाहिए। वास्तव में शोषण भी हिंसा है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की उपरोक्त वर्णित अपनी अवधारणा के सन्दर्भ में उनकी विश्व-नागरिक की मान्यता को उसकी स्वाभावित उपाख्यानात्मक अभिव्यक्ति के रूप में समझा जाना चाहिए। गाँधी लिंग, वर्ण और जाति के चाहे कितने ही भेदभावों के बावजूद सारे मानव-समाज को एक कुटुम्ब मानते थे। धर्म, सम्प्रदाय और राष्ट्र द्वारा मनुष्य-मनुष्य के बीच पैदा किए गए कृत्रिम भेदों को वह नहीं मानते थे। मानव-जीवन को गाँधी, जैसा हम पहले बता चुके हैं, अलग-अलग खानों में बँटा हुआ नहीं बल्कि एक और अखण्ड मानते थे। मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को नैतिक नियमों के आधार पर सुसम्बद्ध किया जा सकता है, ऐसा वह मानते थे। उनकी धारणा थी कि जैसा *बाइबिल* में कहा है : *''हम सब एक दूसरे के अंग ही हैं।''* इसलिए उनके मतानुसार राष्ट्रों के बीच ऐसा कोई झगड़ा हो ही नहीं सकता जिसका हिंसा का सहारा लिए बगैर पारिवारिक झगड़े की तरह निपटारा न किया जा सके।[१४६]

दक्षिण अफ्रीका में गाँधी ने अपने देशवासियों की स्थिति सुधारने का प्रयास किया था। इसी तरह उन्होनें अपने देशवासियों की विदेशी दासता से मुक्ति के लिए भी प्रयत्न किया। परन्तु देशवासियों की उनकी सेवा में दूसरों को अलग रखने की भावना नहीं थी। उनके राष्ट्रवाद और मानव-प्रेम के बीच कोई विरोध नहीं था। इतिहास में राष्ट्रवाद जिस तरह काम करता आया है उसमें तो वह न केवल दूसरों को अपने से अलग रखता है बल्कि बहुत बार तो विस्तारवादी भी बना है। उसमें नैतिकता की कसौटी अक्सर यही होती है कि *''गलत या सही, जो मेरे राष्ट्र के हित में हो वही सही है।''* गाँधी चूंकि सत्य और अहिंसा

को सर्वोपरि मानते थे, इसलिए उनकी ऐसी दृष्टि हो ही नहीं सकती थी। वह किसी को विदेशी या पराया नहीं मानते थे। दक्षिण अफ्रीका में वह अपने देशवासियों के लिए कार्य कर रहे थे, परन्तु गोरे भी उनके दोस्त थे और उनमें से कुछ ने अपनी जाति के अन्याय के विरूद्ध लड़ाई में उनकी मदद भी की थी। भारत में भी जब उन्होनें देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्न किया तब ऐसे अंग्रेज मित्रों की कमी नहीं रही जो अपने देशवासियों के लिए किए जा रहे उनके कार्य की कद्र करते थे। वे अगर ऐसा न मानते होते कि गाँधी का कार्य मानव-कल्याण के लिए है और केवल भारतवासियों तक सीमित नहीं है तो ऐसा कभी सम्भव नहीं होता। जिन विदेशियों ने गाँधी की मदद की वे स्वयं भी मानवतावादी थे, जिससे जहाँ भी मानव-कल्याण का कोई काम हो, उसमें उनकी स्वाभाविक दिलचस्पी थी। अन्याय और अत्याचार कहीं भी क्यों न हो, उसके वे विरूद्ध थे।

फिर गाँधी पद्धति या संस्था तथा उसके अंतर्गत काम करने वालों के बीच हमेशा अन्तर करते थे। वह मानते थे कि पद्धति या संस्था हानिकारक हो तो उसे सुधारा या छोड़ा जा सकता है, परन्तु इसकी वजह से उसमें काम कर रहे लागों को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। उन्हें तो प्रेम और सहिष्णुता से ही जीता जा सकता है। जलियांवाला बाग-हत्याकांड और पंजाब के अत्याचारों के बाद उनकी मांग सिर्फ यही थी कि क्रूर कृत्य करने वालों को भारत में उनके पदों पर न रहने दिया जाय और भारत के कोष से उन्हें पेंशन न दी जाय। गाँधी ने जब विदेशी कपड़ों का बहिष्कार आंदोलन शुरू किया तो बहुतों ने उनपर लंकाशायर के मिल-मजदूरों और उनके कुटुम्बियों को भूखों मारने का दोषारोपण किया था। इससे इन्कार करते हुए उन्होनें कहा कि भारत के लोगों को अपने खेती के काम से खाली होने पर अपने लिए कपड़े बनाने का पूरा हक है, यही नहीं बल्कि ऐसा करके अपने और अपने कुटुम्ब को अधभुखमरी की हालत में रखने वाली कमाई में वृद्धि करना उनका फ़र्ज़ भी है। साथ ही, उन्होनें कहा, उनके पड़ोसियों का भी फ़र्ज़ है कि वे उस कपड़े को खरीदकर उनकी मदद करें। गाँधी को लंकाशायर के श्रमिकों से कोई द्वेष नहीं था, यह जब गोलमेज सम्मेलन के सिलसिले में गाँधी इंग्लैंड में थे तब उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित कर उन्होनें स्वयं देख लिया। वहाँ के मजदूर तो बस उनका दृष्टिकोण समझने के लिए ही आतुर थे। इस क्रम में, उनके स्वदेशी तथा स्वराज आंदोलन के बारे में अक्सर ऐसी गलतफ़हमी हुई और की गई कि वह स्वार्थपूर्ण और दूसरों से द्वेष करने वाला है। गाँधी इसका यह कह कर समाधान करते थे कि ये आंदोलन प्राथमिक रूप से इंग्लैंड द्वारा दूसरे राष्ट्रों को बलपूर्वक अधीन कर उनको मुक्त विकास के अवसरों से वंचित करने की अन्यायपूर्णता के विरूद्ध निर्दिष्ट था।[१४७] उनका अभिमत था कि भारत को स्वतन्त्र करने में सहायता कर वह न केवल भारत की सहायता कर रहे थे बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटेन की भी, क्योंकि वह ब्रिटेन के लिए दूसरे राष्ट्र के प्रति अन्यायी होने की सम्भावना को खत्म भी कर रहे थे। उनके अनुसार, स्वदेशी मानव-सेवा का ही एक रूप है, जो पड़ोसी की आवश्यकताओं पर तुरन्त ध्यान देकर की जा सकती है। मानवता से प्रेम करने वालों को अपनी सेवा कहीं न कहीं से तो शुरू करनी ही पड़ती है। उसका पहला काम अपने पड़ोसी की सेवा से ही शुरू होना चाहिए, जिसकी कठिनाइयों को वह स्वयं देख समझ सकता है तथा इससे बढ़कर देश और मानव-जाति की सेवा के चरमोत्कर्ष में इस उपक्रम को ले जाया जाना चाहिए। यहाँ यह कहा जा सकता है कि गाँधी अपने से मतभेद रखनेवालों अथवा अन्य धर्मों और राष्ट्रों के लोगों की भावना का अधिक ध्यान रखते थे। वह मानते थे कि दूसरे विरोधी या

दुश्मन ही क्यों न हों, नैतिकता का तकाज़ा यही है कि उनके बजाय मनुष्य को अपने तथा अपने आदमियों के प्रति ही ज्यादा कड़ा होना चाहिए।

युगयुगांत से ऐसे अनेक तत्ववेत्ता, बुद्धिमान, वैज्ञानिक, कलाकार और राजनीतिज्ञ तक होते आये हैं जिन्होनें महसूस ही नहीं किया बल्कि ऐसा दावा भी किया कि हम विश्व-नागरिक हैं। परन्तु गाँधी की विश्व-नागरिकता की कल्पना और दृष्टि इन सभी से भिन्न है। जवाहरलाल नेहरू को लगता था और कई बार उन्होनें कहा भी कि उन्हें भारत में या पश्चिम में कहीं भी घर जैसा नहीं लगता। इसके विपरीत गाँधी कहते थे कि *''मुझे तो कहीं भी होऊं सर्वत्र घर जैसा ही लगता है और संसार के किसी भी भाग में वहाँ के किसी भी गांव की दशा सुधारने के काम के लिए मैं रह सकता हूँ।''*[१४८] इसका कारण यही था कि गाँधी सारी मानव-जाति के प्रति प्रेम-भाव रखते थे। उनका प्रेम न तो भावनावश था न बौद्धिक। उसके मूल में तो यह तथ्य था कि उनकी दृष्टि में दुनिया में कोई भी व्यक्ति इतना खराब नहीं हो सकता कि उसका सफाया ही कर दिया जाय। सभी ईश्वर की ही सृष्टि हैं, यही नहीं बल्कि सभी में उसका वास-दैवी या सनातन अंश है। फिर वह यह भी मानते थे कि पाप तो एक प्रकार की मानसिक व्याधि ही है। उचित शिक्षा और उपयुक्त सामाजिक वातावरण तथा मनुष्य के अपने प्रयत्नों से उसे ठींक किया जा सकता है। नैतिक दृष्टि से सुधर ही न सके ऐसा भी कोई मनुष्य हो सकता है, ऐसा वह नहीं मानते थे। सभी महान पैगम्बरों या अवतारी पुरूषो की भांति वह भी समग्र मानव-जाति के थे। बहिर्मुख होते हुए भी उन्हें शांति और समाधान अपने अन्तर में ही मिलता था। ऐसे प्राचीन वटवृक्ष के समान वह रहे जो सभी को अपनी शीतल छाया में आश्रय देता है और नष्ट किसी को नहीं करता।

विश्व-नागरिक होते हुए भी वह राष्ट्रवादी बराबर बने रहे। वह जानते थे कि एक ही राष्ट्र के नागरिकों में बहुत सी बातें समान होती हैं और अपने राष्ट्र की सेवा द्वारा विश्व की सेवा करने में- खासकर कि जब अपना राष्ट्र पराधीन हो- विशेष सुविधा रहती है। जब तक विश्व अलग-अलग राष्ट्रों में बटा हुआ है तब तक स्वतन्त्र राष्ट्र ही मानव-जाति की सेवा कर सकते हैं। अन्य सभी राष्ट्रों के प्रति वो जैसा प्रेम-भाव रखते थे वैसा अपने राष्ट्र से भी उन्हें प्रेम था। अपने आध्यात्मिक और नैतिक द्वन्द्वात्मक न्याय (तर्क) द्वारा उन्होनें राष्ट्रवाद तथा विश्व-मानववाद का सुंदर समन्वय किया।

पाद-टिप्पणी संदर्भ

१- श्री अरविन्द : ऐसेज ऑन दि गीता, पृ० ५५

२- राधाकृष्णन : रीलिजन एण्ड सोसाइटी, जार्ज एलन एंड अनविन लि०, लंदन, १९४८, पृ० ५९

३- श्री अरविन्द : दि ह्यूमन सायकिल, दि आयडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, वॉर एण्ड सेल्फ-डीटरमिनेशन, श्री अरविन्द आश्रम, पांडिचेरी, १९७७, पृ० ५९८-५९९

४- स्वामी विवेकानन्द : स्वामी विवेकानंद सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-१; अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९६२, पृ० ३३७

५- दांडेकर, आर० एन० : इनसाइट्स इन्टू हिंदूइज़्म, अजंता पब्लिकेशन, न्यू दिल्ली, १९७९, पृ० ६०

६- ड्यूश, इलियट : दि भगवद्गीता, होल्ट, राइनहार्ट & विन्सटन, न्यूयार्क, १९६८, पृ० २१-२२

७- महात्मा गाँधी : भगवद्गीता, पृ० १८

८- स्वामी चिदभावानंद : भगवद्गीता, पृ० २८

९- भगवद्गीता : अध्याय २:३८

१०- श्री अरविन्द : दि ह्यूमन सायकिल, दि आयडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, वॉर एण्ड सेल्फ डीटरमिनेशन, पृ० १७०

११- राधाकृष्णन : आवरहेरीटेज, हिंद पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, १९७३, पृ० ४४

१२- वही, पृ० ५१

१३- मुंशी, के एम० : भगवद्गीता एण्ड मॉडर्न लाइफ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६२,पृ० ५०

१४- राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, खंड-I, पृ० ७८-७९

१५- बोस, अविनाश चन्द्र : द कॉल ऑफ द वेदाज़, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६०, पृ० ५०

१६- स्वामी विवेकानंद : सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड - II, १९६३, पृ० ४३२

१७- ज़िमर, हीनरीच : फिलॉसफीज़ ऑफ इंडिया, बोलीजेन सीरीज XXVI, पैन्थीयोन बुक्स, न्यूयार्क, १९५३, पृ० १६१

१८- श्री अरविन्द : ऑन दि वेदाज़, १९६४, पृ० ६९

१९- पाल, विपिन चन्द्र : द सोल ऑफ इंडिया, द न्यू इंडियन प्रिंटिंग पब्लिशिंग कम्पनी लि०, कलकत्ता, १९४०, पृ० ५५

२०- ड्यूश, इलियट : दि भगवद्गीता, पृ० ८

२१- ज़िमर, हीनरीच : फिलॉसफीज़ ऑफ इंडिया, पृ० १६१

२२- भगवद्गीता : अध्याय, ३:३५

२३- बेसेन्ट, ऐनी : इंडियन आयडियल्स, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, आड्यार, मद्रास, १९६५, पृ० १६

२४- सिंह, बलबीर : फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी, ओरिएन्ट लॉगमैन लि०, नई दिल्ली, १९७१, पृ० ८५

२५- स्वामी चिद्भावानन्द : भगवद्गीता, पृ० १५२

२६- पन्निकर, के० एम० : द स्टेट एण्ड द सिटीजन, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६०, पृ० ९०

२७- भगवद्गीता : अध्याय, ३:४

२८- दांडेकर, आर० एन० : इनसाइट्स इन्टू हिन्दूइज़्म, पृ० ३०

२९- ज़ीमर, हीनरीच : फिलॉसफ़ीज़ ऑफ इंडिया, पृ० ४

३०- सिंह, बलबीर : फाउन्डेशन्स ऑफ इंडियन फिलॉसफी, पृ० ८०

३१- पाल, विपिन चन्द्र : मेमोरीज ऑफ माई लाइफ एण्ड टाइम्स, विपिन चन्द्र पाल इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता, १९७३, पृ० VII

३२- श्रीनिवास आयंगर, के० आर० (सपा०) : थोरोज़ वाल्डेन, आन्ध्रा विश्व विद्यालय, वाल्टेयर, १९५३, पृ० १०८

३३- सिन्हा, एच० एस० : कम्यूनिज़्म एण्ड गीता, दि कन्सेप्ट पब्लिशिंग क०, नई दिल्ली, १९७९, पृ० १८५

३४- विलियम्स, मोनियर : हिंदूइज्म, सुशील गुप्ता लि०, कलकत्ता, १९५१, पृ० १४६

३५- पन्निकर, के० एम० : हिंदूइज्म एण्ड द वेस्ट, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६२, पृ० ३९

३६- यस्मान्नौद्विजते लोको लाकान्नोद्विगते च य: ।। गीता, अध्याय १२:१५

३७- आसक्ति रनभिष्वङ्ग पुत्रदार गृहदिषु।। गीता, अध्याय १३:९

३८- विविक्त देश सेवित्व मरतिर्जमससदि।। गीता, अध्याय १३:१०

३९- गीता : अध्याय, १२:१३

४०- गीता : अध्याय, १६:४

४१- गीता : अध्याय, १६:१०

४२- गीता : अध्याय, १८:७४

४३- गीता : अध्याय, १८:१८

४४- गीता : अध्याय, १८:१८

४५- गीता : अध्याय, १८:६३

४६- यंग इंडिया, ४ मई, १९२१

४७- हरिजन, २ जनवरी, १९३७

४८- वही, २१ नवम्बर, १९३१

४९- अमृत बाजार पत्रिका, कलकत्ता, २ अगस्त, १९३४

५०- राधाकृष्णन : भारतीय दर्शन, खंड - I, पृ० ४८२

५१- राम के एक विशद् अध्ययन के लिए देखें, राम-कथा द्वारा फादर कामिल बुल्के, हिंदी प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९६२

५२- हिंदुओं को वेद साम, जामानहीं परगट कुरान।

५३- वाल्मीकि रामायण : बालकाण्ड, १-२, १.१२.१९।

५४- रामो विग्रहुन धर्मः।

५५- हरिजन सेवक (हिन्दी), २ जून, १९४६

५६- बुल्के, कामिल : ''रामचरितमानस एण्ड इट्स रेलेवेन्स टू दी माडर्न ऐज़, ''अंतर्राष्ट्रीय रामायण सेमिनार, दिल्ली, १९७५ में प्रस्तुत व्याख्यान

५७- रामचरितमानस, ७.४१.१

५८- तुलसीकृत विनय-पत्रिका, ६९. १-२

५९- वही, ६९. ३-४

६०- वही, ६६.३

६१- वही, ६७.२

६२- वही, २२५.४

६३- वही, २२६.५

६४- वही, २२८.१

६५- वही, ४

६६- वही, ५

६७- रामचरितमानस, VII.२०.१

६८- वही, VII.२०.१

६९- वही, VII.२०.२

७०- वही, २०.५

७१- वही, VII.२०.४

७२- वही, VII.२१

७३- वही, VII.२०.१

७४- वही

७५- वही, VII.२२

७६- वही, VII.२२.१-४; VII.२३; VII.२६

७७- वही, VII.१९.४

७८- वही, VII.२०

७९- वाल्मीकि, II.१.४२

८०- वही, II.१.४९; रामचरितमानस, II.५.२; II.५.४

८१- वही, II.१.४६,४८,४९; रामचरितमानस, II.४.१

८२- रामचरितमानस, VII.४२.२-३

८३- वाल्मीकि, VII.४५.१२ (पौरापवाध्)

८४- रामचरितमानस, II.७०.३; १५१.२

८५- कौटिल्य, अर्थशास्त्र, ११९.३४

८६- कालीदास, अभिज्ञान शाकुन्तलम्, ७.३४

८७- वाल्मीकी, II.२.४०-४१

८८- रामचरितमानस, II.३१५.१

८९- वही, III.२०.४-५

९०- वही, II.९.४

९१- वही, II.४४.४

९२- वही, II.४५.१

९३- वही, II. श्लोक २ (संस्कृत)

९४- वाल्मीकि, IV.१७.४०-४७

९५- रामचरितमानस,IV.९.४; वाल्मीकि, IV.१८.२०-२३,२८-२९

९६- वाल्मीकि, IV.१८.३२

९७- वही, IV.७४.२८-३०

९८- वही, IV.७५.१५

९९- वही, IV.७४,७५,७६

१००- आध्यात्म रामायण, VII.४.२५

१०१- रामचरितमानस, IV.३२

१०२- वही, IV.३४.२

१०३- "अतिशय विवेकशीलता से ज्यादा अविवेकी कुछ नहीं होता है" काल्टन, दी न्यू डिक्शनरी ऑफ थॉट्स, न्यूयार्क, स्टैन्डर्ड बुक कम्पनी, १९८४, पृ० ५२

१०४- हरिजन, १८ अगस्त, १९४६

१०५- गाँधी : इन सर्च ऑफ दी सुप्रीम, अहमदाबाद, नवजीवन प्रकाशन, खंड-I, पृ० २२१

१०६- हरिजन, २२ सितम्बर, १९४६

१०७- वही

१०८- धवन, गोपीनाथ : "गुडनेस पॉलिटिक्स", पॉलिटिक्स ऑफ परसुएसन, के०पी० मिश्रा & आर० अवस्थी (संपादक), बम्बई, मानकतल्ला, १९६७, पृ० ३३६-३९

१०९- नारायण, जे०पी० : ए प्ली फॉर दी रीकन्सट्रक्शन ऑफ इंडियन पॉलिटी, बम्बई, भारतीय विद्या भवन, १९६०, पृ० ३

११०- सोरोकिन, पी०ए० : रीकन्सट्रक्शन ऑफ ह्यूमैनिटी, बम्बई, भारतीय विद्या भवन, १९६९, पृ० १७१

१११- कुंजरू, एच० एन० : "स्प्रिचुअलाइज पॉलिटिक्स", महात्मा गाँधी - १०० वर्ष, राधाकृष्णन (सपां०), नई दिल्ली, गाँधी पीस फाउन्डेशन, १९६८, पृ० २२४

११२- वही

११३- अरस्तु : पॉलिटिक्स (अनु०), लदंन, जे० एम० डेंट & क०, १९१२, पुस्तक I, अध्याय II, पृ० ४

११४- कृपलानी, जे० बी० : गांधी चिंतन, ओरिएन्ट लाँगमैन्स्, १९६१, पृ० iii

११५- मलिक, बी०के० : गाँधी - ए प्रोफ़ेसी, बम्बई, हिन्द किताब, १९४८, पृ० ९०

११६- राधाकृष्णन (संपादक) : महात्मा गाँधी- ऐसेज़ एण्ड रिफलेक्शन्स्, पृ० १४

११७- तेदुंलकर, डी० जी० : महात्मा, खण्ड. IV, पृ० ३१८

११८- पेन्टर ब्रायक, एस० : गाँधी अगेन्स्ट मैकियावैलिज्म, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६०, पृ० १३

११९- यास्पर्स, कार्ल: "गाँधी ऑन हिज १००th बर्थडे", महात्मा गाँधी- १०० वर्ष, पृ० १७०

१२०- क्रिक, बी० : इन डिफेन्स ऑफ पॉलिटिक्स, पेनग्विन बुक्स, १९६४, पृ० १४१

१२१- रामचरितमानस, II.३१५

१२२- वही, II.४.२

१२३- वही, VII.२०.३; VII.२१.३

१२४- गाँधी : हिन्द स्वराज, पृ० ६७

१२५- लाल, जे० एन० : "गाँधियन डेमोक्रेसी एण्ड इट्स रेलेवेन्स", दि रेलेवेन्स ऑफ गाँधी टू आवर टाइम्स, नई दिल्ली, आर० अच्छूतन्, सचिव, कमेटी फॉर नेशनल एण्ड इन्टरनेशनल सेमिनार्स् ऑफ दि नेशनल कमेटी फॉर दी गाँधी सेन्टीनरी, १९७० में उद्धृत, पृ० १४६

१२६- पश्चिम में सेंट बासील तथा सेंट बेनेडिक्ट द्वारा एकांत साधु के इरेमेटिक जीवन के विकल्प के रूप में सेनोबीटिक जीवन को प्रस्तुत करते हैं। आगे, फ्रांसियन मठवाद गरीबी पर बल देता है तो बेनेडिक्टाइन मठवाद सादगी पर।

१२७- जुलाई १९४७ में, अपनी हत्या से छः मास पूर्व, उन्होनें स्वयं को कांग्रसी नेताओं से धोखा खाया और अपने देशवासियों से निराश हुआ पाया था। किंतु उन्होंने उनके लिए अपने द्वारा निर्धारित किए गए मानदड़ों पर खरे न उतरने के लिए उन पर आरोप नहीं लगाया। बल्कि यह उन्होंने माना कि उन्होंने अपने लिए उनकों कभी चुना या स्वीकारा ही नहीं।

१२८- राजगोपालाचारी, सी० : हिन्दूइज़्म, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५९, पृ० ९४

१२९- घोष, पी०सी० : महात्मा गाँधी- एज़ आई सॉ हिम; एस० चांद एंड कं०, १९६८, पृ० १९

१३०- वही, पृ० ४७

१३१- कृपलानी, कृष्ण : गॉधी ए लाइफ, प्रकाशक लेखक, १९६८, पृ० ६४

१३२- यंग इंडिया, १३ अक्टूबर, १९२१

१३३- सुमन, रामनाथ : गॉधीवाद की रूपरेखा, रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, १९८४, पृ० ४५-४६

१३४- देसाई, महादेव : भारतीय गाँवों में गाँधी जी, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५६, पृ० १७०

१३५- तेन्दुलकर, डी०जी० : 'महात्मा' में मत उद्धृत, खंड - II, पृ० ४६४

१३६- सुमन, रामनाथ : गॉधीवाद की रूपरेखा, पृ० ४६

१३७- यंग इंडिया, २६ मार्च, १९३१

१३८- यंग इंडिया, १९ सितम्बर, १९२५

१३९- यंग इंडिया, १३ अप्रैल, १९४१

१४०- गॉधी : मेरे सपनो का भारत, मत उद्धृत, यंग इंडिया, २६ दिसम्बर, १९२४

१४१- वही

१४२- हरिजन, ८ जून, १९४७

१४३- १३ सितम्बर, १९३३ को लिखे नेहरू को गाँधी के पत्र का अंश, जो डी०जी० तेंदुलकर द्वारा पहली बार प्रकाशित हुआ, अनुच्छेद १, खण्ड III, पृ० ३७५

१४४- शर्मा, बी० एस० : गाँधी एज़ ए पॉलिटिकल थिंकर, पृ० ३८९-९०

१४५- हरिजन, १४ अक्टूबर, १९३९

१४६- वही

१४७- नन्दा, बी० आर० : महात्मा गाँधी - ए बायोग्राफी, जार्ज एलन एंड अनविन लि०, लन्दन, १९५८, पृ० २१३

१४८- एश, ज्यौफरी : गाँधी - ए स्टडी इन रिवॉल्युशन ; एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६८, पृ० ७७

१४९- फ़िशर, लुई : दि लाइफ ऑफ महात्मा गाँधी ; हार्पर एंड कॉलिन्स ब्रदर्स, न्यूयार्क, १९५०, पृ० १३८

षष्ठम अध्याय

आर्थिक विचार एवं व्यवस्था

एक सामाजिक मूल्य के रूप मे भारतीय परम्परा *'अर्थ'* की अवधारणा को महत्वपूर्ण मानती है। प्राचीन हिन्दू दार्शनिको ने मानव इच्छाओ की संतुष्टि के लिए अनिवार्य उपकरणात्मक मूल्य को *'अर्थ'* की संज्ञा दी है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हम मनुष्य को इच्छाओं का पुञ्ज मान सकते हैं। कतिपय उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए इच्छाएँ अंत:प्रेरणाओं से उत्प्रेरित होती हैं। इच्छाएँ व्यक्ति के कर्मों को निर्धारित करती हैं तथा कर्म सर्वदा उन इच्छाओं की संतुष्टि की ओर निर्दिष्ट होते हैं। अतएव, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि अर्थशास्त्रियों ने मानव जीवन को इच्छाओं तथा उनको संतुष्ट करने के मार्गों से संयुक्त माना है। मानव इच्छाएँ अपने स्वभाव में अनेक एवं प्रकारों में भिन्न होती हैं और मानव प्रयासों तथा कार्यो से इनका सम्बन्ध बहुआयामी होता है। कोई भी इच्छा समुचित भौतिक अनुदान के संतुष्ट नहीं की जा सकती।

प्राचीन भारतीय परम्परा में जीवन के भौतिकवादी पहलुओं की महत्ता इसलिए है, क्योंकि मानव की आर्थिक सम्पन्नता का अभाव उसके व्यक्तित्व-एकीकरण की प्राप्ति में एक विध्यात्मक बाधक सिद्ध होता है, जो अच्छे जीवन-यापन को अवरूद्ध करता है। हिन्दू दार्शनिक कोई विमूढ़ साधक नहीं थे जिन्होंने धन की पूर्णत: भर्त्सना की है। दुर्भाग्यवश, हिन्दू चिन्तन के इस पहलू को पूर्णत: गलत तरीके से समझा गया, जिसने हिन्दू मूल्य-व्यवस्था में अर्थ के महत्व के सम्बन्ध में कतिपय भ्रामक कथनों को पैदा किया।

हिन्दू दार्शनिकों का सम्पत्ति का एक विवेकशील मूल्यांकन था। वे न तो उसके गैर-समालोचक सराहने वाले रहे और न ही उसकी समाप्ति के कट्टर समर्थक। तद्नुसार स्वयं अर्थार्जन एक धर्म-जीवन का मार्ग है। एक उपकरणीय मूल्य के रूप में यहाँ अर्थ की उपयोगिता व्यापक है क्योंकि वह न केवल लौकिक सुविधाओं को प्राप्त करने तक सीमित है, वरन् वह आध्यात्मिक सद्गुणों से युक्त एक नैतिक जीवन-यापन के लिए भी अनिवार्य है। अतएव एक आध्यात्मिक आकांक्षी जन भी उसकी उपेक्षा या अनेदखी नहीं कर सकता। मानव जीवन में सामान्य आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति किये बगैर आध्यात्मिक मूल्यों की प्राप्ति संभव नहीं है।[१] धन के बिना सद्गुण अव्यवहार्य है, जैसा कि महाभारत इंगित करता है: *''धन या लाभ के बिना न तो सद्गुण और न ही (वस्तुओं की) इच्छा को जीता जा सकता है।*[२]

अत: धन महत्वपूर्ण है, भौतिक संपदा मानव जीवन की आधारभूत आवश्यकता है[३] तथा उसे हिन्दू चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। *पंचतन्त्र* के अनुसार धन निरन्तर उत्साह, विश्वास और शाक्ति देता है।[४] परिजनों के बाद धन ही हमारा दूसरा साथी है।[५] और, धन ही निम्न कुल में जन्मने के बाद भी पृथ्वी पर आदरणीय है; कृपण अपनी सुशोभित वंशावली के बावजूद एक निर्मल चन्द्राभा के सदृश निन्दनीय है।[६] *महाभारत 'धर्म'* और *'काम'* को अर्थ के ही दो अवयव मानते हुये, *'अर्थ'* के महत्व को रेखांकित करता है।[७] *कमण्डक* इसी बिन्दु को प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब वार्ता (आर्थिक क्रिया) विनष्ट हो जाती है तब संसार प्रतीति में तो श्वास लेता होता है, लेकिन निश्चिततः मृत होता है।[८]

हिन्दू परम्परा में *'अर्थ'* की उपर्युक्त महत्ता यह प्रतिपादित करती है कि *'अर्थ'* यहाँ न केवल अनुमन्य बल्कि अनिवार्य

माना गया था। सर्वप्रथम, व्यक्ति को अपने परिवार के सदस्यों के निर्वाहन के अपने प्राथमिक दायित्वों की पूर्ति हेतु अर्थ चाहिये होता है। द्वितीय, व्यक्ति को ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी-जीवन के तीन आश्रमों में रहने वाले की भी देखभाल करनी होती है।[९] सामाजिक कर्मकाण्डों तथा कतिपय यज्ञों के स्वप्रदर्शन द्वारा, व्यक्ति से अपने मृत पूर्वजों की याद को धारण किये जाने की अपेक्षा होती थी।[१०] इन मान्यताओं के कारण ही हिन्दू दार्शनिक व्यक्ति के भौतिक संसाधनों के संवर्धन को अहैतुक आवश्यकता मानते थे।

'अर्थ' का उपर्युक्त निहितार्थ यह स्पष्ट करता है कि इसे शुद्धत: समाज मे मानव के कर्तव्यों की पूर्ति का एक माध्यम माना गया था। इस सन्दर्भ में यह जानना भी महत्वपूर्ण होगा कि *मार्शल* जैसे अर्वाचीन अर्थवेत्ता भी धन को महज एक साधन मूल्य मानते हैं। उनका अभिमत है कि *''धन सामान्य क्रय शक्ति है और उसे सभी प्रकार के साध्य (ऊँचे और नीचे, आध्यात्मिक और भौतिक) के लिये एक साधन के रूप में अर्जित करने की चेष्टा की जाती है।''*[११] *'अर्थ'* को एक साधन के रूप मे हिन्दू दार्शनिकों द्वारा बल दिये जाने का निहितार्थ यह प्रतीत होता है कि यदि साध्य जिसके लिये उसे अर्जित किया जा रहा है शुद्ध है, तो साधन की आकांक्षा अशुद्ध नहीं हो सकती। ऐसा कहने का यह कदापि अर्थ नहीं है कि आर्थिक मूल्यों का नैतिक उपागम स्वयं में एक साध्य होने की अपेक्षा पूर्णत: एक साधन के रूप में माना जाना चाहिए।

चूँकि, आर्थिक मूल्य को एक साध्य मानने में कुछ अनुचरी खतरे हैं जिनमें से उसके उपार्जन के साधनों के प्रति मनुष्य की अविवेकशील प्रवृत्ति कम उत्तरदायी नहीं है। इस तथ्य के आलोक में कि हिन्दू नीतिशास्त्र का यह एक बुनियादी नियम है कि साधन साध्यों जितने ही महत्वपूर्ण होते हैं, हिन्दू दृष्टिकोण के नैतिक महत्व की अनदेखी भी नहीं की जा सकती। स्वाभाविक रूप से अर्थ के उपार्जन के नैतिक साधन के साथ ही उसके समुचित सदुपयोग पर बल दिया जाना चाहिए।[१२] अतएव हिन्दू दार्शनिक मानते हैं कि साध्य अच्छा होने के बावजूद भी यदि उसे प्राप्त करने के साधन अनुचित है, तो साधन अपने सभी मूल्य को खो देता है।[१३] यह दृष्टि हमें भगवद्गीता और गाँधी के समाज दर्शन में अनेक काल परिवर्तन युग परिवर्तन के बावजूद अटल दिखाई देती है। अत: जीवन में व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु नैतिक साधनों का सहारा ही अभीष्ट है। अर्थ दर्शन के ये पहलू रेखांकित करतें हैं : (१) कि धनार्जन स्वयं के इन्द्रिय सुखों की संतुष्टि के लिए नहीं वरन् भागेदारी के ज्यादा उदात्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए होना चाहिए तथा (२) कि किसी को भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अनिवार्य धन से ज्यादा उपार्जन नहीं करना चाहिये।[१४]

अनुभूति की सम्भाव्यता के संदर्भ में नि:सन्देह यह मत अति आदर्शवादी प्रतीत होता है, किन्तु स्मरणीय है कि जब मनुष्य के अन्दर उपार्जन प्रवृत्ति की शक्ति इतनी अधिक है, जो बहुधा स्वयं उपार्जन को एक साध्य मान लेने में फलित होती है, साथ ही ऐसे विवेचनाओं से प्रभावित होती है जो हमेशा नैतिक नहीं होते, तब हिन्दू पद्धति में अन्तर्निहत आदर्शीकरण को संवरण करने योग्य मानव दुर्बलताओं के सन्दर्भ में समझा जाना चाहिए।

इन सिद्धान्तों की तब कोई आवश्यकता नहीं होती यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने दायित्वों की पूर्ति हेतु आवश्यक धन से ज्यादा पाने की कामना को अपने जीवन का सिद्धान्त नहीं बनाता। यदि व्यक्ति सामाजिकता के अलावा अंन्य हितों से उत्प्रेरित

नहीं हुये होते, तो श्रम और पूँजी की समस्या तथा राज्य के विभिन्न अंगों द्वारा सम्पत्ति के उपार्जन और उपयोग से सम्बन्धित कतिपय कानूनों और नियन्त्रणों को लागू किये जाने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं होती। *'अर्थ'* को शुद्धत: एक साधन तथा कभी भी अपने में अन्त न मानने की विचारशीलता एक ऐसे शान्तिपूर्ण समाज का विकास निर्दिष्ट करती है, जिसमें कोई व्यक्ति दूसरे के सुख को बाधित न करने की मनोकामना से कार्य करता है। यदि भौतिक सम्पदाओं के प्रति एक संतुलित दृष्टिकोण विकसित हुआ होता, तो वह उन सभी सामाजिक एवं राजनैतिक कुरीतियों को टाल देता जिसका विश्व वर्तमान में साक्षात्कार कर रहा है। सामाजिक अन्तर्समरसता का एक प्रतिष्ठापित तथ्य यह होता; समाज का विकास अवरूद्ध नहीं हुआ होता और सबसे ऊपर व्यक्ति और समाज के मध्य गतिशील और पारस्परिक सम्बन्ध दिशाहीन नहीं हुआ होता। *'अर्थ'* के सम्बन्ध में मानव प्रकृति की बेलगाम कामना के प्रति सजग तथा तद्‌जनित दोषों के कारण गीता इसको पुरूषार्थ की समेकित व्यवस्था से पृथक् कर एक अपवर्जक आदर्श के रूप में अभिकथित करती है। गीता की प्रमुख आपत्ति इस पुरूषार्थ की अवहेलना में निहित नहीं, बल्कि अर्थ के लिये अर्थ प्रवृत्ति के होने से है। गीता मानव प्रकृति की सहज विषय- लिप्तता के मनोवैज्ञानिक पहलू से परिचित है *(इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:)।*[१५] सम्भवत: इसीलिये वह *'अर्थ'* को उच्चतर सामाजिक हित के सन्दर्भ में और धर्म के सम्भाग के रूप में अधिग्रहीत करती है।

खण्ड (क) गीता

(अ) गीता कृत आर्थिक क्रिया - प्रकारों का वर्गीकरण

गीता मानव स्वभाव, देह-देही सम्बन्ध, सामाजिक विकास तथा परिवर्तन, कर्म वृत्ति इत्यादि को तत्वपूर्ण त्रिगुणों के आंतरिक विकास के द्वारा व्याख्यायित करती है। इसी पृष्ठभूमि पर गीता के व्यक्ति कृंत आर्थिक कर्म को भी आसुरी, तामसिक और धार्मिक प्रकारों में वर्गीकृत किया जा सकता है। आर्थिक कर्म का कोई भी पहलू (लौकिक या धार्मिक) गीता की पैनी और प्रखर दृष्टि से नहीं बचा है। एक ओर वह जहाँ उसके आसुरी रूप को न्यूनतम और निकृष्टतम तथा तामसिक प्रकार की सबसे स्वार्थी प्रवृत्ति की भर्त्सना करती है, वहीं दूसरी ओर कर्मकाण्डीय यज्ञ के स्वरूप और उद्देश्य को परिवर्तित करते हुए निष्काम उत्पादनशील कर्म की प्रशंसा भी करती है। गीता द्वारा विश्लेषित व्यक्ति के आर्थिक कर्म के विभिन्न रूपों की संक्षिप्त व्याख्या निम्नलिखित है-

(i) आसुरी आर्थिक कर्म

आर्थिक कर्म का आसुरी स्वरूप भौतिकवादियों से संपृक्त है। गीता उन्हें आसुरी इसलिये वर्गीकृत करती है क्योंकि वे ऐसे भावशून्य व्यक्ति है, जिन्होनें *''एक पैशाचिक, आसुरी तथा भ्रामक स्वभाव को ग्रहण कर लिया है''*[१६] वे कहते हैं कि संसार *''ईश्वर विहीन और अपने आप स्त्री-पुरूष के पारस्परिक समागम के द्वारा सृजित है। इसीलिए केवल भोगों को भोगने के लिए ही है; इसके सिवाय और क्या है''* तथा ऐसे लोग ''संसार के विनाश के लिए पैदा हुये है''।[१७] जहाँ तक उनके आर्थिक कार्यों की प्रकृति का प्रश्न है, *''उन्हें नहीं पता है कि सही कर्म क्या होता है, क्योंकि वे ऐन्द्रिक सुखों के आनन्द में लिप्त होते हैं''; वह अन्यायपूर्ण तरीकों से धनादिक बहुत से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं।''*[१८] अन्तत: वे धन

की मदान्धता से परिपूर्ण होते है। इस सन्दर्भ में श्री अरविन्द की चेतावनी महत्वपूर्ण है कि *"विज्ञान ने आर्थिक बर्बरता को प्रोत्साहित किया है; जो अब अपने संचयीकरण एवं समाप्ति की ओर बढ़ रही है। यह आर्थिक बर्बरता तात्विक रूप से उस चैतन्य व्यक्ति की है, जो अपने स्वत्व को चैतन्य-प्राण मानते हुए गलती करता है, तथा उसकी संतुष्टि को जीवन का प्रथमोद्देश्य स्वीकृत करता है।"*[१९]

(ii) तामसिक आर्थिक कर्म

व्यक्ति की तामसिक प्रकार की आर्थिक क्रिया मानव द्वारा मानव के शोषण पर आधारित है। *"तामसिक वृत्ति कपटी होता है जो दूसरों के जीवन-यापन (अजीविका) को चुराने के लिये प्रवृत्त रहता है।"*[२०] सत्य अर्थशास्त्र को असत्य अर्थशास्त्र से पृथक् करते हुए गाँधी ने भी लिखा है: *"एक अर्थव्यवस्था जो धन की ईश्वर तुल्य पूजा प्रेरित करती है तथा कमजोर की कीमत पर बलवान को सम्पत्ति अर्जित करने लायक बनाती है, वह एक मिथ्या और उचाट विज्ञान है। वह मृत्यु का टोना करती है।"*[२१] यह सत्य है कि गीता आसुरी और तामसिक प्रकार की क्रियाओं की भर्त्सना करती है, किन्तु आर्थिक क्रियाओं की निन्दा उसका प्रयास नहीं है। इसके विपरीत वह धार्मिक और आध्यात्मिक प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहित करने के लिए वैयक्तिक प्रतिबद्धता की संस्तुति ही करती है।

(iii) धार्मिक आर्थिक क्रिया

व्यक्ति की सत्यनिष्ठ आर्थिक क्रिया को प्रोत्साहित करने के संदर्भ में गीता कर्मकाण्डों को *'दान'* (१७:२०) तथा *'यज्ञ'* (१७:११) के रूप में संज्ञान करती है। वह किसी भी परिस्थिति में इनको न त्यजने के लिए व्यक्ति को आज्ञा देती है। *'यज्ञ'* की वैदिक मान्यता को स्वीकार करते हुए गीता उसे एक नया आध्यात्मिक अर्थ, एक व्यापक आर्थिक तत्व एवं एक सामाजिक उद्देश्य प्रदान करती है।

१) यज्ञ : एक आध्यात्मिक अर्थ

गीता में *'यज्ञ'* शब्द के दो प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। जहाँ वैदिक दृष्टि से प्रयोग है, जैसे *'यज्ञार्थत् कर्मणोन्यत्र'* वहाँ यज्ञ का अर्थ *आवो राजानमध्वरस्य रूद्रं* (देवाधिपति महादेव को यज्ञ के द्वारा आप लोग प्रसन्न करें) इत्यादि श्रुति प्रमाण से परमात्मा के लिये कर्म ही है। यज्ञार्थ कर्म *'यज्ञ'* कहा गया। *'यक्ष्ये दास्यामि'* इत्यादि स्थलों में यज्ञ का दूसरे अर्थ में प्रयोग है। यज्ञ के विषय में गीताकार आर्य एवं अनार्थ संस्कृति की मान्यताओं को संगत करने का भागीरथ प्रयास करते हैं क्योंकि दोनो संस्कृतियों का साथ-साथ रहकर किसी एक स्तर पर यदि मिलन न हो सके तो उनका कम से कम आपसी संघर्ष मिटाना सम्भव हो सके।

गीता कर्मकाण्डीय यज्ञ को पारलौकिक स्वर्गीय सुखों की प्राप्ति के परिप्रेक्ष्य में समझने की अपेक्षा देवताओं, पूर्वजों, आगंतुकों, आश्रितों एवं अन्ततः स्वयं अपने स्वत्व के प्रति दायित्वों की आपूर्ति के सन्दर्भ में अधिक देखती है। इन्हें एक गृहस्थ द्वारा सम्पादित *'पंचमहायज्ञ'* अर्थात् *'पंचकर्मी-यज्ञ-दायित्व'* कहा जाता है। गीता द्वारा अत्युत्कृष्ट हुई यज्ञ की यह प्रणाली अथर्ववेद की परम्परा में भी थी, *"जो आतिथ्य को यज्ञ और आश्वालयन सूत्र के समतुल्य रखती है तथा जो यज्ञ*

की अवधारणा को वेदों के अध्ययन और आतिथ्य तक विस्तृत करती है।"[२२] यज्ञों के पीछे गीता का उद्देश्य व्यक्ति में निर्लिप्त सेवा भाव को संचारित करना है, जिसे न केवल अपने निर्वाहन के लिए अपितु समाज के और यहाँ तक कि उपमानवीय जगत के लिए कार्य करना होता है। यज्ञ प्रासंगिक उद्देश्यों के लिए नहीं अपितु व्यक्ति के साथ सामाजिक दायित्वों की निरंतर परिपूर्ति के लिए होते हैं। चूँकि, यज्ञ शब्द समग्र क्रियाओं को समाहित करता है, *"इन दिनों में यज्ञ के चक्र को अर्थविहीन नहीं कहा जा सकता।"*[२३]

२) यज्ञः आर्थिक तत्व

गीता की यज्ञ की अवधारणा के अनुसार व्यक्ति को अपने आर्थिक कर्म के प्रतिफलों को स्वजनों के साथ मिलकर बाँटना चाहिए। चूँकि, यज्ञ एक स्वैच्छिक आधार पर एक वितरणात्मक अर्थव्यवस्था का द्योतक है; अतः वह कुछ व्यक्तियों के हाथ में धन संचयन एवं व्यक्ति द्वारा व्यक्ति के शोषण की कोई संभावना नहीं रखता। पण्डितो (विज्ञों) को धन वितरित करने सम्बन्धी कार्य को न्यायोचित ठहराते हुये *सिस्टर निवेदिता* ने लिखा कि *"यह नैतिकता (तथा इसीलिये पूर्वी अर्थशास्त्र) की पूर्वमान्यता है कि सम्पूर्ण वृहद संचयन अपने अनुवर्ती वृहत वितरण के लिए होता है।"*[२४]

'यज्ञ' में व्यक्ति के सम्पत्ति का प्राकृतिक अधिकार निहित है। इसका अर्थ यह भी है कि सम्पत्ति वैयक्तिक होते हुये भी सामाजिक आवश्यकताओं के निमित्त होती है। सम्पत्तिवान को स्वयं को उस सम्पत्ति का केवल सामाजिक संरक्षक मानना होता है। यज्ञ की गीता की व्याख्या वैयक्तिक पहल और उद्यमता को सामाजिक दायित्व के साथ अर्थात् वैयक्तिक सम्पत्ति के आहरण के अधिकार को समाज मे स्वैच्छिक धन वितरण के सामाजिक दायित्व के साथ समन्वित करती है। उसकी यज्ञ की अवधारणा में हमें पूँजीवाद और समाजवाद दोनों की अर्थव्यवस्थाओं के लक्षण देख सकते हैं। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के समान वह वैयक्तिक सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता देते हुये कठोर श्रम के द्वारा धनोपार्जन को प्रोत्साहित करती है और एक समाजवादी अर्थव्यवस्था के सदृश यह दर्शाती है कि धन वैयक्तिक उपयोग के लिये नहीं, अपितु लोक कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिये ही प्रयोज्य है। गीता की यज्ञ की यह अवधारणा निजी उद्यमता एवं लोक सेवा के मध्य एक समन्वित संतुलन बनाती है। *"निजी सम्पत्ति को समाप्त करने का कम्यूनिस्ट हल सम्भवतः केवल भौतिक सम्पदा (corpus possessions) को समाप्त करने में है, परन्तु गीता मालिक के रूप में उसके स्वामित्व की भावना (animus domini) को समूल विनष्ट करना चाहती है।"*[२५] यज्ञ के विषय में उसका यह कथन- *'इसके (यज्ञ) द्वारा देवताओं का पालन करना तथा देवताओं को आपको उत्साहित करने देना'*- को *'व्यक्ति को प्रोत्साहित करना समाज को प्रोत्साहित करना'*- के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। नियमित रूप से एक दूसरे को प्रोत्साहित करना स्वंय के सामाजिक दायित्व को परिपूर्ण करना है जो स्वयं एक प्रकार का यज्ञ है। *''अपने धन को उन्हीं सब लोगों (जो उसके विकास के लिए उत्तरदायी रहें हैं) के साथ बाँटने से सुरक्षा और ज्यादा विस्तार सुनिश्चित हो जाते हैं। लोककल्याण में वैयक्तिक कल्याण अनिवार्य रूपेण सन्निहित होता है। प्रकृति के इस अकाट्य नियम को कार्यान्वित करना यज्ञोपवीत करना है।"*[२६]

३) यज्ञः सामाजिक उद्देश्य

गीता की चातुर्प्रणालीय समाज व्यवस्था में जाति कर्म की अवधारणा स्वयं एक प्रकार का यज्ञ है।

एक ब्राह्मण द्वारा अपने विरासत में प्राप्त ज्ञान को, क्षत्रिय द्वारा एक न्यायपूर्ण उद्देश्य की प्रतिरक्षा के लिए अपनी शूरवीरता को, एक वैश्य द्वारा अपने कृषक उत्पाद को तथा एक शूद्र द्वारा समाज को अपनी सेवा अर्पित करना उनका स्वधर्म है।

यज्ञ की मूल भावना त्याग की है, इसके लिए यज्ञ की प्रक्रिया क्या है- इसे समझना आवश्यक है। व्यक्ति के लिए सर्वाधिक प्रिय है उसका अपना अस्तित्व और अहं। जब व्यक्ति इस अंह को भी समष्टि-सत्ता के प्रतीक ब्रह्म- के समक्ष अर्पित कर देता है तो वह आत्मज्ञान रूपी यज्ञ सबसे बड़ा यज्ञ हो जाता है। इस तरह ईश्वर तथा उसकी सष्टि की सेवा का यह भाव ही *''आत्म-बंधक कर्म को आत्म मुक्ति यज्ञ में परिणत कर देता है। देवत्व का सर्वश्रेष्ठ प्रकाट्य यज्ञ-क्रिया में होता है।''*[२७] यज्ञ करने वाला व्यक्ति जब अपनी अस्मिता का एक अंश *'समाज' (ब्रह्म)* के लिए छोड़ता है तो उसके मन मे से काम-क्रोध-मद-लोभादि किसी न किसी मात्रा में कम होने लगते हैं और इनके स्थान पर दया, उदारता, क्षमा मैत्री, करूणा, परदु:खकातरता, उपकार आदि के उदात्ततर भाव अभिवृद्ध होने लगते हैं।

यज्ञ-अर्पण के रूप में जाति-दायित्व की अवधारणा जातियों को संतुलित करने की प्रक्रिया (उच्च जाति के व्यक्ति को निचली जाति के व्यक्ति को अपने स्तर तक लाने का अनिवार्य प्रयास करना चाहिए) को भी सूचित करता है। यदि प्रत्येक जाति अपनी प्रकार्यात्मक क्रिया के फलों का अकेले परिसीमित उपयोजन करती है, तो जाति-कर्म पापमय हो जाता है क्योंकि यह समुदाय में एक-दूसरे का प्रोत्साहन नहीं करता है। *सिस्टर निवेदिता* के शब्दों में : *''एक सफाईकर्मी जो स्वच्छता के नागरीय आदर्श की सम्यक् सेवा करता है, उस एक ब्राह्मण से अच्छा नागरिक है जो केवल अपनी सेवा करता है।''*[२८] निर्लिप्त जाति-कर्तव्य व्यक्ति को दायित्वों के बन्धन से विमुक्त करता है। यज्ञ वास्तव में त्याग का पर्याय होने के कारण हमें समाजोन्मुख बनाने की पद्धति है। समाजोन्मुख बनने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यक्ति ईश्वरवादी बने। जो लोग ईश्वर, परलोक और आत्मा को स्वीकार नहीं करते वे भी सामाजिक कल्याण में अपना पूर्ण योगदान देते हैं। गीता का सिद्धान्त व्यवहारवाद और लोककल्याण पर आधारित है। अत: आधुनिक यज्ञ के लिए आत्मवादी होना आवश्यक नहीं है। समाजकल्याण के लिए अपनी आहुति देने वाला ही यज्ञकर्त्ता माना जायेगा।

(iv) आध्यात्मिक अर्थव्यवस्था : इच्छारहित (निष्काम) कर्म

अर्थवेत्ता भौतिक सम्पदा के आधार पर समाज को धनी और निर्धन वर्गों में विभक्त करते हैं, किन्तु गीता उनके कर्म के आधार पर उनको अज्ञानी तथा विवेकशील वर्गों में विभक्त करती है। अज्ञानी व्यक्ति जिसके कर्म क्षणिक सांसारिक इच्छाओं की प्राप्ति के प्रयास तक सीमित होते हैं, इच्छारहित कर्म के अंतर्वैभव को देखने में अक्षम है। विवेकशील व्यक्ति जो भौतिक सम्पदाओं के स्वामित्व को अस्वीकृत करता है, अपने इच्छा रहित कर्म के द्वारा भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों अर्थों में समाज की विपुलता को गुणात्मक रूप से अभिवृद्ध करता है। वह सामान्यत: समाज के भौतिक कल्याण और साथ ही मानवता के कल्याण को प्रोत्साहित करने का प्रयास भी करता है। गीता का इच्छारहित कर्म का सिद्धान्त समाज के लिये व्यक्ति के निष्काम कर्म रूपी धन के समर्पण भाव को अनुमोदित करता है। व्यक्ति का स्वार्थरहित कर्म जो दायित्व बाध्यता से विमुक्त है, समाज के प्रति एक धार्मिक अर्पण है। समर्पण के आदर्श की व्याख्या करते हुए, *आचार्य विनोबा भावे* ने कहा :

''जिस प्रकार यज्ञाग्नि में आहुति देते हुए हम कहते है 'यह इन्द्र के लिए है मेरे लिये नहीं', वैसे ही हम जो कुछ भी खेतों या उद्योगों में पैदा करते हैं, के लिए भी कहना चाहिए, 'यह समुदाय के लिये है, राष्ट्र के लिये है, मेरे लिये नहीं', हमें अपना सबकुछ समाज को समर्पित कर देना चाहिए।''[२९]

यह स्वीकार किया ही जाना चाहिये कि गीता का स्वार्थ रहित कर्म एक कल्याणकारी राज्य या लोकतांत्रिक समाजवादी राज्य के कार्यों का प्रतिनिधित्व करता है, जो लोक कल्याण को प्रोत्साहित करने के लिये इच्छारहित कर्म के अपने मिशन को उपयोजित करता है। समाजवादी राज्य गीता के इच्छारहित कर्म के चक्र को उठाता है। यह स्वीकार करते हुए कि समाज को एक धार्मिक अर्पण के रूप में वैयक्तिक कार्य को गुणाधीश करते हुए गीता समाजवादी सिद्धान्त प्रस्तुत करती है, *राजगोपालाचारी* ने लिखा : *''सामाजिक और आर्थिक सुधारको द्वारा हमें यह बताया गया है कि राज्य को यह देखना चहिये कि पुरूष तथा स्त्री बिना वैयक्तिक लाभों के केवल सामुदायिक कल्याण हेतु कार्य का ध्येय रखें और भगवद्गीता इसी की बात करती है।''*[३०] उस राज्य का अस्तित्व निरर्थक है जो गीता कृत इच्छारहित कर्म के आध्यात्मिक नारे को आत्मसात् करने में विफल रहता है। चूँकि, पूँजीवाद राज्य की आर्थिक प्रक्रिया में पाप निहित है, जिसे गीता दानवी एवं तामसिक गुण युक्त मानती है। गीता का इच्छारहित कर्म-दर्शन विभाज्यकारी प्रतिस्पर्धात्मक तथा उपार्जित अर्थव्यवस्था के लिए निश्चय ही एक सर्वरोगनाशक रामबाण औषधि है।

(ब) समानता (समता) की विवेचना

(i) समता के केन्द्रीय तत्व

आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत अनिवार्य केन्द्रीय तत्व *'समता का विचार'* अत्यन्त महत्वपूर्ण है।गीता के सिद्धान्त ऐसे विचारों की प्रतिस्थापना करते हैं जिसमें *'समता का तत्व'* सुरक्षित रहता है। सामान्यत: समाजविद् वैयक्तिक एवं सामाजिक समता के विचलन के दो कारण मानते हैं- एक मोह और दूसरा क्षोभ। मोह अर्थात् आसक्ति विचलन का एक आन्तरिक कारण है जो राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ (तृष्णा) आदि के रूप में प्रकट होता है। हिंसा, शोषण, तिरस्कार या अन्याय- ये क्षोभ के कारण है जो आन्तर मानस को पीड़ित करते हैं। यद्यपि मोह और क्षोभ ऐसे तत्व नहीं जो एक दूसरे से अलग और अप्रभावित हों, तथापि मोह के कारण आन्तरिक तथा उसके प्रकटन बाह्य हैं, जबकि क्षोभ के कारण बाह्य तथा प्रकटन आन्तरिक है। मोह वैयक्तिक बुराई है, जो समाज-जीवन को दूषित करती है, 'क्षोभ' समाज प्रक्षिप्त बुराई है, जो वैयक्तिक जीवन को प्रदूषित करती है।

चूँकि, मोह का केन्द्रीय तत्व आसक्ति (राग या तृष्णा) है तथा क्षोभ का केन्द्रीय तत्व हिंसा है, गीता अनासक्ति एवं अपरिग्रह के द्वारा दोनों का निरसन करती है। यद्यपि आसक्ति एक मानसिक तथ्य है, मन की ही एक वृत्ति है, तथापि उसका प्रकटन बाह्य है और उसका सीधा सम्बन्ध बाह्य वस्तुओं से है। वह सामाजिक जीवन को दूषित करती है। आसक्ति अन्य दोषों के साथ परिग्रह (संग्रहवृत्ति) का भी मूल है। आसक्ति ही परिग्रह है, परिग्रह या संग्रहवृत्ति सामाजिक हिंसा है। समग्र परिग्रह हिंसा से व्युत्पन्न है क्योंकि बिना हिंसा (शोषण) के संग्रह असम्भव है। व्यक्ति संग्रह के द्वारा दूसरों के हितों का हनन करता

है और इस रूप में संग्रह हिंसा का ही एक रूप है। आसक्ति से प्रतिफलित संग्रहवृत्ति ही सामाजिक एवं आर्थिक हिंसा का कारण है। अत: व्यवहार में अनासक्ति का प्रकटन *'परिग्रह विसर्जन'* या *'अपरिग्रह'* के सिद्धान्त में होता है।

१) अनासक्ति एवं अपरिग्रह

गीता के आचार दर्शन का केन्द्रीय तत्व अनासक्ति है। गाँधी ने तो गीता को *'अनासक्ति-योग'* ही कहा है। गीताकार ने भी यह स्पष्ट किया है आसक्ति का तत्व ही व्यक्ति को संग्रह और भोग वासना के लिए प्रेरित करता है। संग्रह भावना और भोग भावना से प्रेरित होकर ही मनुष्य दूसरों के अधिकारों की वस्तु का अपहरण करता है। गीता में कहा गया है कि *''आसक्ति के बन्धन में बँधा हुआ व्यक्ति कामभोग की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक अर्थ-संग्रह करता है।''*[३१] इस प्रकार गीताकार की स्पष्ट मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में अपहरण, शोषण एवं संग्रह की जो बुराइयाँ पनपती है वे सब मूलत: आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हैं। *''आसक्ति और लोभ नरक के कारण हैं। कामभागों में आसक्त मनुष्य ही नरक और अशुभ योनियों में जन्म लेता है।''*[३२] सम्पूर्ण जगत इसी आसक्ति के पाश में बँधा; इच्छा और द्वेष से सम्मोहित होकर परिभ्रमण करता रहता है। वस्तुत: आसक्ति के कारण वैयक्तिक और सामाजिक जीवन नरकीय बन जाता है। इसीलिये गीता फलासक्ति की समाप्ति पर अत्यधिक बल देती है श्रीकृष्ण कहते हैं- हे अर्जुन, तू कर्मों के फल में रही हुई आसक्ति का त्याग कर निष्काम भाव से कर्म कर।[३३] गीताकार आसक्ति के प्रहाण का जो उपाय बताता है वह यह है कि सभी कुछ भगवान के चरणों में समर्पित कर और कर्तृत्व भाव से मुक्त होकर जीवन जीना चाहिये।

गीता और वैदिक परम्परा यद्यपि संचय और परिग्रह की निन्दा करती है फिर भी वे परिग्रह त्याग को अनिवार्य नहीं बताती। गीता का समाज दर्शन अर्थव्यवस्था के इस पहलू से अनभिज्ञ नहीं है किं समाज-जीवन में शान्ति तभी सम्भव है, जब सम्पदा का उपभोग, संग्रह और वितरण नियन्त्रित हो। गीता की दृष्टि में परिग्रह त्याग से अधिक महत्वपूर्ण आसक्ति त्याग का विचार है। दूसरे शब्दों में, अनासक्त वृत्ति के लिये परिग्रह (सम्पत्ति) त्याग आवश्यक नहीं है। वैदिक परम्परा के राजा जनक पूर्ण अनासक्त होते हुए भी राजकाज का संचालन करते रहते हैं। अत: यहाँ अनासक्त भाव से अपरिग्रह को स्वत: जनित मान लिया गया है क्योंकि एक ओर विपुल संग्रह और दूसरी ओर अनासक्ति, इन दोनों में कोई मेल नहीं है। गीता इस बात को ज्यादा महत्व देती है कि जब अपरिग्रह अनासक्ति से फलित होगा तभी व्यक्ति और समाज में सच्ची शान्ति भावना आएगी। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर गीता परिग्रह की परिसीमा तथा निर्धारण के प्रश्न को बेमानी कर देती है। कितना परिग्रह (सम्पत्ति) उचित है? या परिग्रह की परिसीमा का निर्धारण कौन करेगा- व्यक्ति या समाज आदि प्रश्न आज के पूँजीवादी, समाजवाद तथा लोकतान्त्रिक सभी समाज में ज्वलन्त प्रश्न हैं। गीता की समाज दृष्टि समाज के इस मनोवैज्ञानिक पहलू को स्वीकार करके चलती है कि परिग्रह- मर्यादा का कोई सार्वभौम मानदण्ड सम्भव नहीं है।

सर्वमान्य तथ्य है कि आर्थिक संघर्षो का जन्म तब होता है जब सम्पदा का वितरण विषम और उपभोग अनियन्त्रित होता है। गीता सर्वप्रथम उपभोग का निस्तारण अनासक्ति सिद्धान्त से करती है, तदुपरान्त नैतिक दृष्टि से अर्थोपार्जन की प्रवृत्ति और श्रम निष्ठा को महत्व प्रदान कर अपने को इस भारतीय आर्थिक आदर्श से समेकित करती है *'शत-हस्तःसमाहर सहस्त्र*

हस्तः संकिर" अर्थात् सौ हाथों से इकट्ठा करो और सहस्त्र हाथों से बॉट दो। इस प्रकार गीता के लिये अनासक्ति से प्रतिफलित होने वाला अपरिग्रह का सिद्धान्त सामाजिक एवं आर्थिक अहिंसा कहा जा सकता है।

(ii) समानता का अर्थ-

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना में गीता की समानता सम्बन्धी विचारधारा का सार-संक्षेप निहित है। सम्पूर्ण गीता के अध्ययन में हम समानता के दृष्टिकोण को दो रूपों में पाते हैं (१) *द्वन्द्वता या विभेदीकरण* तथा (२) *एकत्व, अद्वैतता या समरसता।* विविधिकरण के दृष्टिकोण से समानता में व्यक्तियों और वस्तुओं की अनेकता अथवा बहुलता का अस्तित्व विद्यमान होता है। सभी मनुष्य इस अर्थ में समान है कि प्रत्येक की अपनी वैयक्तिकता, स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा वह स्वयं में एक साध्य होता है। एक व्यक्ति को दूसरे की तुलना में समान अधिकारों तथा अवसरों के मामले में समतुल्य माना जायेगा। इस प्रकार समानता का यह दृष्टिकोण सभी व्यक्तियों के प्रति समरूपता बनाये रखता है।

धृतराष्ट्र और दुर्योधन यद्यपि मानवों के समानता (विभेदीकरण अर्थ में) के बारे में बोलते हैं तथापि उनके समानता का दृष्टिकोण भी एक विचित्र रूप में एक सीमित एकत्व या समरूपता के दृष्टिकोण को प्रक्षेपित करता है। धृतराष्ट्र के लिए समानता उसके परिवार तक सीमित थी, जिसे वह - मेरे और उसके - 'मेरे पुत्र और पाण्डवों के पुत्र' इस विभेदात्मक अर्थ में बोलता था। 'मेरे' के इस अहंवादी प्रवृत्ति और 'तेरे' की विभेदात्मक प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुये गाँधी लिखते हैं : *"जब मैं किसी व्यक्ति या वस्तु को अपने रूप में देखता हूँ तो मेरे मन पर राग का अधिकार हो जाता है; तथा जब मैं उसको एक अजनबी के रूप में देखता हूँ तो घृणा या विकर्षण मेरे मन में घुस जाता है अतः हमें 'मेरे' और 'तेरे' का भेद भूल जाना चाहिए।"*[३४] दुर्योधन की समानता का दृष्टिकोण भी इसी प्रकार अपनी सेना तक सीमित था और वह उससे अपने को संपृक्त करके अभिचिन्हित करता है।उसने कहा : *"भीष्म द्वारा पूर्णतः सुरक्षित यह हमारी सेना अविजेय है।"*[३५] किन्तु इन दोनों के विभेदात्मक दृष्टिकोण के विपरीत अर्जुन अपने विरोधियों (जो उसके परिजन थे; और जिनसे वह सम्पृक्त था) के कल्याण की आशा करता था। ऐसा उदार दृष्टिकोण भी गीता की समतुल्यता के दृष्टिकोण से कमतर है, जो रहस्यवादी आध्यात्मिक आधार पर दोस्त या दुश्मन में कोई फर्क नहीं करती। गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं कोई भी उनके लिए घृणित या प्रिय नहीं है तात्विक रूप से वह सबके लिये समान है जैसा कि *श्री अरविन्द* ने इंगित किया- *"आत्मा की समानता ही एकमेव वास्तविक समानता है।"*[३६]

गीता के अनुसार समानता का अर्थ सुख और दुःख, शीत और ताप, जय और पराजय जैसे विरोधाभासी युग्मों के प्रति समतुल्यता के एक वैष्टिक दृष्टिकोण का संवर्धन है। वह कहती है कि चूँकि यह द्वन्द्वताएँ प्रकृति के गुणों से प्रसूत है इसलिये यह क्षणिक तथा प्रकृत्या *"समान"*[३७] है। समतुल्यता के इसी अर्थ में वह *समत्व*[३८] शब्द का प्रयोग करती है। व्यक्ति के जीवन में समत्व की भावनात्मक उन्नति की प्रक्रिया की व्याख्या करते हुये *एस० एन० दासगुप्ता* ने लिखा है : *"इस समत्व को तीन चरणों में प्राप्त किया जा सकता है : व्यक्तिनिष्ठ समानता या मानसिक समतुल्यता या दुःखों या सुखों में साधुवाद और निन्दा तथा जीवन की सभी परिस्थितियों में समानता; सभी व्यक्तियों अच्छे, बुरे या उदासीन, मित्र या एक दुश्मन के प्रति समान निष्पक्ष वस्तुनिष्ठ समतुल्यता; तथा स्वानुभूत अंतिम चरणीय समतुल्यता जब व्यक्ति सकल सांसारिक वस्तुओं से पूर्ण*

रूपेण अविचलित रहते हुये एक पारलौकिकता की अवस्था (गुणातीत) में निध्यासित करता है।''[३९]

अर्जुन के लिये समानता का मतलब नागरीय अधिकार है, परन्तु गीता उसे एक समरूप मानस अवस्था के साथ निष्काम कर्म संवर्धन के व्यक्ति के जन्मजात कर्तव्य के रूप में व्याख्यायित करती है। समानता का उसका वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण जो बाह्य विभेदीकरण या समानता की भावना को हटा देता है स्वयं अपने आप से समत्व की आंतरिक भावना को नहीं पैदा कर सकता। चूँकि समानता को वह महज एक अधिकार मानता था, उसके लिये वह इन्द्रिय नियन्त्रित था; जो व्यक्ति-व्यक्ति में भेद करता था और साथ ही अच्छे और बुरे, जय और पराजय के विरोधी द्वन्द्वताओं को प्राकृतिक तथा सनातन भी मानता था। गीता अर्जुन की इस सीमित वस्तुनिष्ठ समानता को संशोधित करती है।

गीता का यह अभिमत है कि अर्जुन की वस्तुनिष्ठ समानता परम सत्य नहीं है क्योंकि वह केवल एकांगिक, क्षणिक और अतार्किक है। दूसरे शब्दों में समानता का भाव तब तक एक काल्पनिक आदर्श बना रहेगा जब तक उसे व्यक्ति के अधिकार के रूप में देखा जायेगा। गीता के अनुसार वह केवल महज समानता का अधिकार नहीं अपितु समरूपता के साथ मन को सनियंत्रित करने की अनिवार्य वैयक्तिक कर्तव्य भावना भी है, जो व्यक्ति को अन्दर और बाहर दोनों दृष्टिकोण से समानता की भावना से अवगत करायेगा। गीता के अनुसार समरूपता मन की स्थिर अवस्था के साथ ही नि:स्वार्थ कर्म की एक अवस्था भी है। व्यक्ति को तर्क के स्थायित्व का संवर्धन कर विरोधों के जोड़ो की ओर उठते हुये उनके क्षणिक स्वभाव का आंतरिक संज्ञान करना होता है। गीता कहती है बाह्य रूपेण सामाजिक और राजनैतिक समानता को अर्जुन के निर्जीव दृष्टिकोण से नहीं, अपितु उस समरूप व्यक्ति के द्वारा अक्षुण्ण रखी जा सकती है, जो क्रिया से स्वतन्त्रता नहीं चाहता बल्कि जो अपनी स्वतन्त्रता निष्काम कर्म में पाता है। गीतोपदेशित समानता जो भावशून्य नकारात्मकता का अनुमोदन नहीं करती, को इंगित करते हुये *श्री अरविन्द* ने लिखा : *''वह एक ऐसी आंतरिक संतुलन और विस्तीर्णता की अवस्था है, जो आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का आधार निर्मित करती है। उस संतुलन के साथ, उस स्वतन्त्रता में हम वह कार्य करते हैं ''जिसे किया जाना चाहिये- एक ऐसा शब्द-युग्म जिसे गीता महत्तम व्यापकता के साथ प्रयुक्त करते हुए उसमें सर्वकर्मणि को समाहित करती है, जो सामाजिक कर्त्तव्यों या नैतिक दायित्वों से कही ज्यादा बड़ा है।''*[४०]

गीता कहती है कि व्यक्तिनिष्ठ समानता के साथ युद्ध करना आकर्षण एवं विकर्षण के द्वन्द्वों से मुक्त होकर नि:स्वार्थ कर्म-कर्तव्य में समानता और स्वतन्त्रता की परम एकात्मकता को प्राप्त करना है। वह इंगित करती है कि निष्क्रियता और कर्म फलासक्ति व्यक्ति को भौतिक एवं आध्यात्मिक बंधन में जकड़ देती है और चिरन्तन स्वतन्त्रता की अनुभूति नहीं हो पाती है। अत: कर्म में समत्व भाव को बनाए रखना मुक्त व्यक्ति का आध्यात्मिक प्रतीक है। कहा जा सकता है कि सम्भवत: श्री कृष्ण को छोड़कर, शायद ही किसी सामाजिक या राजनैतिक विचारक ने व्यक्तिनिष्ठ समानता और स्वतन्त्रता को नि:स्वार्थ कर्तव्य भाव से सम्पृक्त किया हो।

व्यैष्टिक समानता के प्रयोग की प्रशंसा करते हुये *आचार्य विनोबा भावे* ने कहा है कि *''साम्य योग का अभ्यास एक क्रांतिकारी दर्शन का प्रथम विशिष्ट संकेत है।''*[४१] यह एक आध्यात्मिक क्रांति को सन्निहित करता है क्योंकि गीता की समानता

की अवधारणा विकासोन्मुख है, जो समत्व का अभ्यास करते सामान्य जन को गुणातीत स्वानुभूति की अवस्था तक उठा देती है। वास्तव में गीता अर्जुन की शारीरिक एवं मानसिक निष्क्रियता को इसलिये भंग करना चाहती है क्योंकि वह समतुल्य भाव से परिपूर्ण उसके लौकिक कर्म को परिशुद्ध करने का उपदेश देते हुये उसे एक स्थितप्रज्ञ की अवस्था में उर्ध्वास्थापित करने का उद्देश्य रखती है। गीता की समतुल्य अवस्था अपने आध्यात्मिक स्वतन्त्रता एवं निर्लिप्त कर्म द्वारा समानता के एकत्व के प्रत्यक्षीकरण में *कपिल* के द्वन्द्वात्मक सांख्य दर्शन की समतुल्य अवस्था का परिष्करण प्रस्तुत करती है। इस प्रकार गीता द्वारा अनुमोदित समानता *"आत्मा की एक स्थैतिक अवस्था में प्रारम्भ और अन्त होकर केवल आत्ममुक्ति के लिये उपयोगी नहीं, बल्कि वह सर्वदा कर्मों का आधार है।"*[४२]

गीता की सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था एक ऐसे समाज की भूमिका प्रस्तुत करती है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सामाजिक समानता सुनिश्चित रहे। गीता का यह दृष्टिकोण है कि स्वगुण एवं कर्म आधारित प्रकार्यात्मक कर्तव्य का परिपूर्णन ही सामाजिक विकास, समानता तथा लचीलापन इत्यादि सुनिश्चित करता है। सामाजिक समानता के बिना कोई भी सामाजिक स्वतन्त्रता सुनिश्चित नहीं हो सकती जो व्यक्ति अपने सामाजिक समानता के दृष्टिकोण को स्वजाति तक परिसीमित करता है, वह न केवल सामाजिक समानता और एकता के विकास को अवरूद्ध करता है, अपितु समाज में सामाजिक बाधाओं को भी विस्तीर्ण करता है। परन्तु, गीता के अनुसार सामाजिक समानता व्यक्तियों के सामाजिक एकत्व के दृष्टिकोण के संवर्धन पर आधारित है। गीता प्रतिपादित उसकी चातुर्वर्ण्यीय जाति व्यवस्था न केवल जाति एवं व्यक्ति की स्वतन्त्रता एवं सामाजिक समानता को सुनिश्चित करती है, बल्कि मानवता की अन्तर्निर्भरता एवं सावयवी सामाजिक एकता के विकास की अन्तर्दृष्टि रखती है। जाति व्यवस्था जो यहाँ सामाजिक समानता की पूर्व शर्त पर आधारित है, मानवता के सामाजिक भ्रातृत्व के चिरन्तन आदर्श अर्थात् लोकसंग्रह को प्रोत्साहित करने की भी महत्ता अनुमोदित करती है।

१) लोकसंग्रह

'लोकसंग्रह' का अभिमत है कि मानव समाज एक अदृश्य सावयव है, जो व्यक्ति के सामाजिक जीवन को उसके भीतर सामाजिक एकता के दायित्व बोध को निध्यासित करते हुए गढ़ती है। वर्ग-बन्धुत्व को बनाये रखने की *मार्क्स* की उग्र वकालत के विपरीत लोकसंग्रह किसी एक विशेष जाति/वर्ग के अपवर्जक कल्याण और भाईचारे को प्रोत्साहित करने का उद्देश्य नहीं रखता। गीता-दृष्टि में लोकसंग्रह एक महत्वपूर्ण दायित्व-बोध है। यज्ञार्थ-कर्म अथवा लोक-संग्रहार्थ-कर्म गीता की उस कर्म साधना के सोपान हैं, जिसे कर्मयोग में विकसित होना है। श्रीकृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि यदि तुझे स्वयं कुछ प्राप्तव्य नहीं, तो भी लोकसंग्रह के लिए तुझे धर्म करना योग्य है। गीता में इसे इस प्रकार से कहा है कि *(लोक संग्रहं एवं अपि संपश्यन् कर्तुं अर्हसि)* लोकसंग्रह पर दृष्टि रखकर भी तुझे कर्म करना योग्य है।

लौकिक जीवन में कर्म का विशेष महत्व है। उसका आध्यात्मिक जीवन से भी सम्बन्ध है व्यक्ति एकाकी नहीं रहता; वह दूसरों के साथ एक सम्मिलित जीवन जीता है। उस सम्मिलित जीवन में अनुकरण होता है, और प्रत्येक व्यक्ति आदर्श का अनुवर्तन करता है।[४३] गीता में श्रीकृष्ण स्वयं का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं *"हे पार्थ ! मेरे लिये तीनों लोकों*

में कोई भी कर्तव्य नहीं है, और कुछ भी ऐसा अप्राप्य नहीं जिसे मुझे प्राप्त करना हो; तो भी मैं कर्म का आचरण करता हूँ।'' प्रयोजन है लोकसंग्रह : *''यदि मैं सदा सजग होकर कर्म न करूँ तो मनुष्यगण मेरा ही अनुवर्तन करके निष्क्रिय हो जायेगें, और प्रजा नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी।''* इस प्रकार गीता स्पष्टत: कर्म के द्वारा आध्यात्मिक विकास की भूमिका में लोकसंग्रह का आदर्श सम्मुख रखती है।[४४]

गीता का मुख्य उद्देश्य सामाजिक एकता के द्वारा सर्वकल्याण को प्रोत्साहित करना है। इसलिये वह समाज मे क्षणिक वर्ग हितों के सेवार्थ सामाजिक एकता की भावना को परिसीमित नहीं करती।

सर्वहारा अन्तर्राष्ट्रीयवाद का मार्क्सवादी आह्वान - *'संसार के श्रमिकों एक हो जाओ'* - गीता के लोकसंग्रह के आदर्श अर्थात् पारस्परिक सहयोग जनित मानवता के सार्वभौमिक कल्याण और एकता की अवधारणा की तुलना में खोखली एवं कट्टर प्रतीत होता है। मार्क्सवादी श्रमिक वर्गो के हितों के सीमित परिप्रेक्ष्य में अपनी सामाजिक साम्यता की अवधारणा का निरूपण करने के कारण मानवता की एकता का चिन्तन नहीं कर सकते। चूँकि, वह सामाजिक एकता को काल्पनिक मानते हैं तथा वर्ग-हितो को प्रोत्साहित करने में उनकी सामाजिक एकता की मान्यता खण्डित होती है। असंगत बेमेल वर्ग - *'Haves'* तथा *'Have-nots'* में समाज का विभाजन तथा वर्ग शत्रुओं के विनाश हेतु सर्वहारावादी एकता की उग्र वकालत गीता के लोकसंग्रह के आदर्श के एकदम विपरीत है।

सर्वहारावादी एकता के मार्क्सवादी दृष्टिकोण से अलग गीता का लोकसंग्रह वर्ग, जाति हितों के संकीर्ण और अपवर्जक विवेचनाओं को प्रोत्साहित करने का उद्देश्य नहीं रखता। *शंकर भाष्य* ने लोकसंग्रह को *''असम्यक् पथ गमन की प्रवृत्ति से मनुष्यों को छुड़ाने''*[४५] के रूप में परिभाषित किया है। वह व्यक्तिगत दावों की अवधारणा को अमान्य करते हुए किसी भी रूप में एक वर्ग/जाति द्वारा दूसरे के शोषण की शिक्षा नहीं देती। वह अलगाववादी दृष्टिकोण की भर्त्सना तथा सामाजिक एकता और सहयोग की शिक्षा को दृढ़ता पूर्वक प्रस्तुत करती है।

लोकसंग्रह समाज को एक वर्गाभिमुख संस्था नहीं मानता, तद्नुसार लोकसंग्रह का अर्थ *''चातुर्जातीय व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति को आवंटित कर्तव्य के अधीन विभिन्न कर्मों को इच्छारहित होकर करते हुये अन्य लोगों के लिये एक जीता जागता उदाहरण प्रस्तुत करना है।''*[४६] गीता की जाति-व्यवस्था जो समतुल्यता के साथ जाति इकाईयों के प्रकार्यात्मक कर्त्तव्यों को देखती है, लोकसंग्रह के आदर्श से सुसंगत है। लोकसंग्रह वह दायित्व है जिसे आसक्ति विहीन होकर निभाया जाना चाहिए। निर्लिप्त भावना के साथ कर्म करना ही गीता की आर्थिक समानता की अवधारणा की प्रथम सीढ़ी है।

२) आर्थिक समानता

गीता का लोकसंग्रह का आदर्श व्यक्ति के स्वार्थरहित कर्म में अनुप्राणित होता है, जो कर्मफलों से सम्पृक्तता की वैदिक शिक्षा तथा कर्म में परित्याग की उपनिषदीय शिक्षा को निर्लिप्त कर्म के सनातन भागवत सिद्धान्त के मध्यम मार्ग में समन्वित करती है। गीता के सम्प्रभु द्वारा पुनर्जागरित किया गया भागवत सिद्धान्त मानवता के इतिहास को प्रवाहमान स्वार्थ रहित क्रिया के अर्थ में व्याख्यायित करता है। गाँधी के अनुसार गीता की प्रमुख शिक्षा नि:स्वार्थ कर्म -

"अनासक्ति"[४७] है। जो व्यक्ति प्रेम और निष्ठा के साथ तहेदिल से समाज की सेवा करता है वह *"जीवनयापन योग्य पारिश्रमिक"*[४८] का हकदार है। यह *'जीवनयापन योग्य पारिश्रमिक'* व्यक्तियों की आर्थिक समानता का निर्माण करती है। आर्थिक समानता से गीता का अभिप्राय केवल कर्म पर, न कि उसके फल पर अधिकार से है।[४९] गीता में कर्तव्य अधिकारों के बीजाणु हैं इस तथ्य से इंगित करते हुये *आर०बी०लाल* ने लिखा : "हममें से अधिकांश लोगों के लिये कार्य एक खटनेवाला बोझिल कर्तव्य है। परन्तु, श्री कृष्ण उसे एक अधिकार कहते हैं, क्योंकि कर्त्तव्यों में अधिकार छिपे हुये होते हैं। इस दृष्टि से देखने पर, कार्य व्यक्ति का महत्तम विशेषाधिकार है......... कार्य वह एक सर्वोच्च अधिकार है जिससे अन्य सभी अधिकार प्राप्त किये जा सकते हैं।[५०] इसी सन्दर्भ में आगे बढ़ते हुए हम गीता के अन्तर्गत काम करने के अधिकार को प्राप्त करते है।

३) कार्य करने का अधिकार (Right to work)

गीता व्यक्ति के निर्लिप्त कर्म को देवता को अर्पित एक धार्मिक अर्घ्य मानती है। वह निष्क्रियता को पाप मानते हुये भर्त्सना करती है। भागवत सिद्धान्त को पुनर्जीवित करते हुय गीता के सम्प्रभु एक समरूपी समान आधार पर प्रत्येक और सबके लिये काम का अधिकार अनुमोदित करते हैं। तद्नुसार देवता भी इससे परे नहीं है; वे कहते हैं : *"तीनों लोकों में मेरे लिये न कुछ करने के लिये है न ही मेरे द्वारा प्राप्त करने लायक कुछ भी है; फिर भी मैं कार्य कर रहा हूँ"*[५१] गीता के काम करने का अधिकार शासक और शासित, स्थितप्रज्ञ तथा सामान्य जन, देवता और मानव के सामाजिक एवं आर्थिक पद स्थिति में कोई भेद नहीं करता है। जैसा कि *श्री अरविन्द* ने इंगित भी किया है; गीता द्वारा अनुज्ञापित समानता *"सर्वदा काम का एक आधार है"*[५२] चूँकि मानव स्वभाव में कर्म प्रवृत्ति अन्तर्निहित है तथा कोई एक क्षण के लिये भी निष्क्रिय नहीं रह सकता, अत: गीता की आज्ञा है- *"केवल कर्म ही तुम्हारा अधिकार है।"*

गीता स्थित *'काम करने का अधिकार'* एक ओर जहाँ समानता का द्योतक है, वहीं वह स्वधर्म को भी परिपूर्ण करता है। गीता व्यक्ति के *'काम करने के अधिकार'* को प्रकृति प्रसूत जाति कर्तव्य के अर्थों में व्याख्यायित करती है तथा उसे समाज के चातुर्स्तरीय व्यवस्था में संस्थागत करती है। यह सभी जातियों के प्रकार्यात्मक दायित्वों को समत्व की भावना से देखती है। *"प्रत्येक कार्य का आर्थिक, सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य समान होना चाहिए, तभी साम्य-योग को प्रस्थापित किया जा सकता है। गीता ने अतिविशिष्ट तरीके से यह उद्घोषणा की है कि स्वयं पर लागू किये जाने वाले नियम को दूसरों पर समरूपेण लागू किया जाना चाहिए।"*[५३]

गीता *'काम के अधिकार'* या प्रकार्यात्मक दायित्व को स्वभावत: निरपेक्ष, अकाट्य, गैर-प्रतिस्पर्धी तथा गैर-उपार्जित मानती है। व्यक्ति उसकी परिपूर्णता में न तो आकर्षण और न विकर्षण खोजता है। कार्य व्यक्ति को स्वनिर्भर एवं स्वपर्याप्त बना देता है। गीता सामाजिक परजीवियों के लिये कोई अवसर नहीं छोड़ती। वस्तुत: वह समाज को निरन्तर नि:स्वार्थ कर्म से निमग्न कर देना चाहती है। व्यक्ति कर्म के अधिकार के द्वारा न सिर्फ अपने कर्म में स्वतन्त्रता प्राप्त करता है तथा *'मोक्ष के लायक'*[५४] बन जाता है, बल्कि वह समाज-निर्वाहन को भी सुरक्षित करता है। *"जब तक आर्थिक और सामाजिक जीवन पारस्परिक समन्वय नहीं करेंगें, समाज सुदृढ़ नहीं होगा।"*[५५] गीता इच्छारहित कर्म के माध्यम से अपनी आर्थिक समानता की

अवधारणा में वैयक्तिक तथा सामाजिक दोनों ही हितों का समन्वयन करती है।

खण्ड (ख) गाँधी

(अ) गाँधीवादी अर्थनीति की प्रत्ययात्मक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

महात्मा गाँधी के लिये अर्थशास्त्र का उद्देश्य मनुष्य की सभ्यता का अध्ययन करना, उसकी गरीबी मिटाना, उसमें सदाचार की भावना सृजित करना तथा समाज से बुराईयों को दूर करना है। यह मत पाश्चात्य विद्वानों के मत के सर्वथा विपरीत है, जिन्होनें अर्थशास्त्र का सम्बन्ध भौतिकता से स्थापित किया था। गाँधी के विचारों से यह स्पष्ट होता है कि वे भौतिकवाद की अपेक्षा अध्यात्मवाद को अधिक महत्व देते थे।

जे०बी० कृपलानी का मानना है ''कि गाँधी जी के आर्थिक विचारों को यदि हम ठीक तरह समझना चाहें तो पश्चिम की आर्थिक विचारधारा से उत्पन्न धारणाओं से मुक्त रहकर ही ऐसा किया जा सकता है।''[५६] अन्य क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र में भी हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि गाँधी जी के समस्त क्रिया-कलाप के मूल में नैतिक चिन्तन होता है, इसी कारण उनके आर्थिक विचारों पर उनके नैतिक मूल्य हावी हैं। उनके अर्थशास्त्र के अध्ययन के समय इस बात को दृष्टिगत रखना आवश्यक है। गाँधी एकाधिक बार अपने मस्तिष्क की धार्मिक प्रवृत्ति के बारे में कहते भी हैं : *''सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने के समय से ही मेरे कहे प्रत्येक शब्द एवं मेरे किये प्रत्येक कार्य के पीछे धार्मिक चेतना और.......... गहरी धार्मिक प्रेरणा रही है।''*[५७] अत: आगे उनके अनुसार *''आज मानवीय क्रिया-कलाप का पूरा सप्तक मिलकर एक अविच्छेद समग्र की रचना करता है एवं सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं विशुद्ध धार्मिक कार्य को एक-दूसरे से बिल्कुल पृथक् नहीं रखा जा सकता।''*[५८] गाँधी जीवन को अलग-अलग भागों में बँटा हुआ नहीं, बल्कि एक अखण्ड मानते थे। अत: मानव जीवन के सभी पहलुओं पर एक ही तरह के नैतिक नियम लागू किये जाने की आवश्यकता है, तभी उन्हें एकत्व प्रदान किया जा सकता है।

मार्क्स का यह मानना कि मानव-जाति का सारा इतिहास विभिन्न *'आर्थिक वर्गों के बीच टकराव और संघर्ष'* का ही विवरण है, एक *एकांगी* मत है क्योंकि मुनष्य को प्रेरित करने वाली अनेक प्रेरणाएँ हैं और अर्थाकांक्षा कितनी ही मूलभूत प्रेरणा क्यों न हो, वह उनमें से एक ही हो सकती है। मनुष्य और समाज के सुख और विकास के लिये यदि आर्थिक सम्पन्नता आवश्यक है, तो स्वतन्त्रता भी उतनी ही जरूरी है और आध्यात्मिक तथा नैतिक मूल्य भी। अत: व्यक्ति और समाज के जीवन में आर्थिक प्रगति और उत्पादन की पद्धतियाँ ही निर्णायक तत्व हैं ऐसी मार्क्सवादी परिकल्पना आंशिक रूप से ही ठीक मानी जा सकती है। आर्थिक प्रवृत्ति मनुष्य को नैतिकता से मुक्त नहीं कर सकती।

मनुष्य की आर्थिक प्रवृत्ति का सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं के उत्पादन, उनके विनिमय, वितरण और उपयोग यानि खपत से है। ये ऐसी प्रवृत्तियाँ है, जो न केवल मनुष्य के अस्तित्व के लिये बल्कि उसके सुख और प्रगति के लिये भी आवश्यक है। मनुष्य समाज में रहते हुये इन प्रवृत्तियों द्वारा सम्बन्ध किसी एक अलग-थलग पड़े व्यक्ति तक ही सीमित न रहकर पूरे समाज से कायम करता है। इस तरह विचार करने पर सम्पूर्ण उपार्जित सम्पत्ति सारे समाज के सम्मिलित प्रयास का ही फल है। गाँधी भी ऐसा ही मानते थे कि समस्त समाज द्वारा पैदा की हुई सम्पत्ति का उन सभी में समान रूप से वितरण होना चाहिये,

जिनका उसके उपार्जन में किसी-न-किसी प्रकार से कोई योगदान रहा हो। गाँधी जी का कहना था, *"मेरे हिसाब से तो भारत की नहीं बल्कि सारे संसार की आर्थिक रचना ऐसी होनी चाहिए कि जिससे किसी को भी अन्न, वस्त्र का अभाव न हो। दूसरे शब्दों में कहें तो, हरएक को ऐसा कोई काम उपलब्ध होना ही चाहिए जिसके द्वारा वह अपना निर्वाह कर सके।"*[५९]

गाँधी ने जैसा कि उपर्युक्त मतों से स्पष्ट है अर्थशास्त्र को एक नैतिक और आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त किया। उनके आर्थिक विचारों की पृष्ठभूमि एक व्यापक आधारभूत सैद्धान्तिक स्तम्भों पर निर्मित होती है। गाँधी अपने आर्थिक विचारों में *जॉन रस्किन* से सर्वथा प्रभावित थे। उन्होनें उसकी कृति *'अन टु दिस लास्ट'* का *'सर्वोदय'* के नाम से अनुवाद किया और यही उनके आर्थिक सिद्धान्त की आधारशिला बनी। *रस्किन* की दृष्टि में 'मनुष्य ही सर्वोपरि विचारणीय तत्व' है- गाँधी इस मत का अनुगमन करते हैं। *टैगोर* की आलोचना का उत्तर देते हुए उन्होनें कहा था : *"मैं अर्थशास्त्र एवं नीतिशास्त्र में बहुत या कुछ भी अन्तर नहीं करता। किसी व्यक्ति या राष्ट्र के नैतिक कल्याण को क्षति पहुँचाने वाला अर्थशास्त्र अनैतिक है, अतएव पापपूर्ण है। इसी प्रकार जो अर्थशास्त्र एक देश को दूसरे देश की लूट करने की अनुमति देता है; वह अनैतिक है। अमेरिकन गेहूँ खाकर अपने पड़ोसी अनाज के व्यापारी को ग्राहक के अभाव में भूखों मरने देना पीड़ादायक है। वैसे ही रीजेंट स्ट्रीट की नवीनतम तड़क-भड़कदार पोशाक पहनना मेरे लिये पापपूर्ण है जबकि मैं जानता हूँ कि यदि मैनें अपने पड़ोसी जुलाहों की बुनी पोशाक पहनी होती तो न केवल मेरा तन ढ़ँकता बल्कि उनके तन भी ढँकते और पेट भी भरते।"*[६०]

आगे, पुन: और भी,

"किसी उद्योग धन्धे का मूल्य उसमें कार्यरत व्यक्तियों के शरीर मन एवं आत्मा पर पड़े उसके प्रभाव से अधिक आँकना चाहिये, उसके निष्क्रिय भागीदारों को दिये गये लाभांश से कम। जो वस्त्र ग्राहकों के तो कुछ आने बचा देता है किन्तु बम्बई की बस्तियों में रहने वाले पुरूषों, स्त्रियों एवं बच्चों के जीवन को सस्ता बना देता है, वह मंहगा है।"[६१]

अपनी पुस्तक *'सर्वोदय'* में गाँधी अर्थशास्त्रियों के समस्त परम्परागत विश्वासों का विरोध करते हुये इस विचार का खण्डन भी करते हैं कि *"सामाजिक मनोभाव के प्रभाव से निरपेक्ष रह कर सामाजिक कार्यकलाप की कोई उपयोगी संहिता बनायी जा सकती है।"*[६२]

रस्किन ने *'अन टु दिस लास्ट'* में इसकी विशद व्याख्या की है।उनका अभिमत है: *"अर्थशास्त्री के कथनानुसार सामाजिक मनोभाव मानव-प्रकृति के आकस्मिक एवं विक्षोभकारी तत्व हैं किन्तु धनलोलुपता एवं प्रगति कामना स्थिर तत्व हैं। अस्थिर तत्वों को छोड़कर एवं मनुष्यों को केवल धनलोलुप एवं यंत्र मानकर हम इसकी विवेचना करें कि श्रम, क्रय, विक्रय के किन नियमों द्वारा अधिकतम धन संचय का परिणाम सुलभ है। इन नियमों के निर्धारित हो जाने पर प्रत्येक व्यक्ति को यह छूट है कि वह स्वेच्छानुसार जितना चाहे उतना विक्षोभकारी मनोभावात्मक तत्व मिलाये एवं उन नयी परिकल्पित स्थितियों का परिणाम स्वयं निश्चित करे।"*[६३]

इसके फलस्वरूप अर्थशास्त्री मनुष्य को धन संचय का यंत्र मानने लगे एवं उनका एकमात्र उद्देश्य धन संचय के उपाय ढूँढना ही रह गया। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर उन्होनें *"पूर्ति एवं माँग का नियम"* चलाया। इस नियम के अनुसार मनुष्य

को सबसे अच्छे एवं सबसे सस्ते बाजार में ही खरीदना चाहिये।

रस्किन ने इस *"व्यापारिक अभिलेख"* की उग्र आलोचना की थी। उसका तर्क था, *"जहाँ तक मुझे ज्ञात है इतिहास में मानव-बुद्धि के लिये इतना लज्जा जनक और कोई अभिलेख नहीं है जितना वह आधुनिक विचार जिसका प्रतिनिधित्व यह 'व्यापारिक उद्धरण' करता है या किन्हीं परिस्थितियों में राष्ट्रीय अर्थनीति के एक उपलब्ध सिद्धान्त के रूप में कर सकता है कि, 'सबसे सस्ते बाज़ार में खरीदो और सबसे मँहगें में बेचो।' सबसे सस्ते बाज़ार में खरीदो? पर ठीक है, तुम्हारा बाज़ार सस्ता कैसे हुआ? अग्निकांड के बाद तुम्हारी छत की लकड़ियों का कोयला सस्ता हो सकता है एवं भूकम्प के बाद तुम्हारी सड़क की ईंट सस्ती हो सकती है, किन्तु इसी से अग्निकांड और भूकम्प राष्ट्रीय लाभ तो नहीं बन जाते। सबसे मँहगें में बेचो? हाँ, सच है, पर तुम्हारा बाज़ार मँहगा कैसे हुआ? तुमने अपनी रोटी आज अच्छे दामों पर बेची। क्या ऐसे मरणासन्न व्यक्ति को, जिसने इसे लेने के लिये अपना आखिरी सिक्का भी दे दिया और जिसे फिर कभी रोटी की जरूरत ही नहीं पड़ेगी?"*[६४] तथा *"मांग एवं पूर्ति के नियमों के अनुसार रहना मछलियों का या चूहों एवं भेड़ियों का विशेषाधिकार हो सकता है, किन्तु मानवता की विशिष्टता तो औचित्य के नियमों के अनुसार रहना है।"*[६५]

गाँधी जी का भी मानना है, *"माँग एवं पूर्ति के सिद्धान्त को हम किसी विज्ञान का आधार नहीं बना सकते।"*[६६] उनका मत है, *"आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा निर्मित सर्वाधिक अमानवीय सिद्धान्त वाक्यों में से यह एक है। न हम किसी ऐसे घृणित विचार से सर्वदा मानव सम्बन्धों को नियंत्रित ही करते हैं। एक अंग्रेज (मान लीजिये) सस्ते इतालवी मजदूरों की तुलना में अंग्रेज खनिकों का अधिक वेतन देता है तो उचित ही करता है। इंग्लैण्ड में सस्ते श्रम के अनुप्रवेश कराने की चेष्टा से क्रान्ति मच जायेगी। किसी नये सस्ते समान विश्वासी व्यक्ति के लिये अपने पुराने, अधिक वेतन पाने वाले विश्वासी नौकर को निकालना मेरे लिये पाप कर्म होगा। जो अर्थशास्त्र नैतिक एवं भावात्मक विचारों की उपेक्षा करते हैं, वे उन मोमी पुतलों के समान हैं जो जीवन्त प्रतीत होते हुए भी निर्जीव होते हैं। प्रत्येक निर्णायक क्षण में गढ़े हुए अर्थनीतिक नियम व्यवहार में टूट गये हैं और जो राष्ट्र या व्यक्ति उन्हें पथ प्रदर्शक सिद्धान्त वाक्यों के रूप में स्वीकार करते हैं वे नष्ट होकर ही रहेंगें।"*[६७]

गाँधी की दृष्टि में निश्चय ही व्यक्ति सर्वोपरि है। उनका मूल उद्देश्य है कि व्यक्तिवार की उन्नति हो, तो समाज आप ही आप उन्नत हो जायेगा। वह समझते हैं कि मनुष्य को विकास के उस स्तर की ओर ले जाये बिना जगत की समस्या हल ही नहीं हो सकती, जहाँ पहुँचकर मनुष्य दूसरे के सुख और अधिकार की पूर्ति में अपने लक्ष्य और कर्तव्य की पूर्ति देखें। गाँधी उस व्यक्तिवाद की कल्पना करते हैं, जो व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य अहं की परिधि को मिटाकर समष्टि में लय हो जाना निर्धारित करता है। गीता के *"सर्वभूतहितेषु रता:"* की सैद्धान्तिक्र पृष्ठभूमि से अभिपुष्टित गाँधी का *'सर्वोदय'* रस्किन की *'अन टु दिस लास्ट'* से आकार प्राप्त करता है। समाष्टि हित की मूल भावना से समेकित सर्वोदय एक सामाजिक आदर्श का संप्रत्यय है, जिसका अर्थ सबका उदय, सबका विकास। सर्वोदय का विचार था-

"सर्वेभवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामय:।
सर्वे-भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ।।"

वर्तमान काल में गाँधी रस्किन से प्रेरित हो उनकी पुस्तक की मुख्यत: निम्नांकित तीन बातो का प्रतिपादन करते हैं-

(१) व्यक्ति का श्रेय समष्टि के श्रेय में निहित है।

(२) वकील का काम हो चाहे माली का, दोनों का मूल्य समान है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यवसाय द्वारा अपनी अजीविका चलाने का समान अधिकार है।

(३) शारीरिक श्रम करने वाले का जीवन ही सच्चा और सर्वोत्कृष्ट होता है।

'सर्वोदय' के विचार में *'सर्व'* या *'सब'* व्यापक अर्थ में व्यवहार किया गया है। इस *'सर्व'* में केवल मानवों का ही नहीं, अखिल सजीव सृष्टि का अन्तर्भाव हुआ है और *'उदय'* में सर्वांगी उत्थान, पूर्ण विकास, समग्र तुष्टि तथा पुष्टि का भाव ग्रहीत है। अत: 'सर्व' शब्द ऐसा है, जिसका मानव ज्ञान विकास के साथ-साथ अर्थ भी विकसित होता जाता है। गाँधी के लिये सर्वोदय का अर्थ वह आदर्श समाज व्यवस्था है जिसमें सबसे प्रथम ध्यान दिया जायेगा अत्यन्त निम्नस्तर पर जीने वाले दीन, दु:खी मनुष्य की तरफ।

सर्वोदय सिद्धान्त को व्यावहारिक क्षेत्र में कार्यान्वित करने के लिए गाँधी का दूसरा सिद्धान्त है - *''वसुधैवकुटुम्बकम्''* - अर्थात् संसार का सारा जन समुदाय ही एक कुटुम्ब है। इस कुटुम्ब प्रथा का आचार प्रेम है और उस प्रेम को अधिक-से-अधिक समय तक बनाये रखने के लिये सहयोग का प्रयोग करना चाहिये, बल या जबरदस्ती का नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि कुटुम्ब के समस्त सदस्यों की कमाई की सम्पत्ति एकत्र रंहती है। इस प्रथा के साम्पत्तिक ऐक्य ही में गाँधी की अर्थ नैतिक दो प्रधान योजनाएँ अन्तर्निहित हैं : एक, निक्षिप्त अथवा धरोहर या थाती योजना और दूसरी, उदर-पाषी श्रम योजना।

प्रस्तुत मत का दार्शनिक आधार *ईशावास्योपनिषद्*[८८] के प्रारम्भिक श्लोकं में मिलता है, जिसमें जीवन की एकता, चेतनता, व्यापकता और गतिशील जीवन की क्षणिकता स्पष्ट हो जाती है। साथ ही इसका भावार्थ यह है कि इस जग में जो कुछ भी है वह सभी ईश्वरीय है। ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे वैयक्तिक कहा जा सके। इस प्रकार वैयक्तिक अधिकार का निरसन करके समष्टि को प्रधानता दी गई हैं। श्लोक के उत्तरार्द्ध में व्यक्ति के उपभोग एवं संग्रह के अधिकार को मर्यादित करते हुये कहा गया कि प्रकृति की जो भी उपलब्धियाँ हैं, उनमें दूसरों (अर्थात् समाज के दूसरे सदस्यों) का भी भाग है। अत: उनके भाग को छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है। इसी कारण गाँधी ने इस श्लोक के सन्दर्भ में कहा था कि भारतीय संस्कृति का सभी कुछ नष्ट हो जाय, किन्तु यह श्लोक बना रहे तो यह अकेला ही उसकी अभिव्यक्ति में समर्थ है।

गाँधी के आर्थिक विचार की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि में *'स्वदेशी'* की वह भावना भी महत्वपूर्ण है जो हम पर अपने आस-पास के क्षेत्र की वस्तुओं का उपयोग करने और वहाँ के लोगो की सेवा करने का अनुरोध करती है और अधिक दूर की वस्तुओं और लोगों की अपेक्षा उन्हें प्राथमिकता देने की बात करती है। इस स्वदेशी की तीन शाखाएँ है- धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक; यहाँ हमारा संबंध आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी का प्रयोग करने से है। आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी का अर्थ है कि *''हम केवल अपने समीप से समीप पड़ोसियों द्वारा तैयार की हुई चीजों का उपयोग करें और उन उद्योगों को कार्यक्रम बनाकर तथा जहाँ*

वह अपूर्ण हों वहाँ उन्हें पूर्ण बनाकर उन उद्योगों की सेवा करें।''[६९]

'स्वदेशी' वह भावना है जो इन्सान को, दूसरे सब लोगों को छोड़कर सिर्फ बिल्कुल पास के पड़ोसी की सेवा करने की प्रेरणा देती है। जिसकी शर्त यही है कि जिस पड़ोसी की इस तरह सेवा की जाये, वह बदले में अपने पड़ोसी की सेवा करे। इस मायने में स्वेदशी की भावना किसी को अपने दायरे से अलग नहीं रखती। वह इन्सान की सेवा करने की ताकत को वैज्ञानिक मर्यादा भर मानती है।[७०]

निःसन्देह मनुष्य का पहला कर्त्तव्य अपने पड़ोसियो के प्रति है इसका अर्थ यह नहीं कि विदेशी के प्रति द्वेष या स्वदेश बन्धु के प्रति पक्षपात का भाव रखा जाय। स्वेदशी संकुचित धर्म नहीं है। गाँधी स्वयं कहते हैं *''मैं केवल भारत की सेवा करता दीखता हूँ, फिर भी मैं किसी दूसरे देश को हानि नहीं पहुँचाता। मेरी देश-भक्ति वर्जनशील है और गुणशील भी है। वह वर्जनशील इस अर्थ में है कि मैं अत्यन्त नम्रता पूर्वक अपना ध्यान अपनी जन्मभूमि पर ही देता हूँ और गुणशील इस अर्थ में है कि मेरी सेवा में स्पर्धा या विरोध की भावना नहीं है। अपनी सम्पत्ति का उपयोग इस तरह करो कि उससे तुम्हारे पड़ोसी को कोई कष्ट न हो - यह मेरा कानून नहीं परन्तु एक महान जीवन-सिद्धान्त भी है। वह अहिंसा या प्रेम के समुचित पालन की कुँजी है।''*[७१]

गॉधी का स्वदेश प्रेम इतना संकुचित स्वदेश प्रेम नहीं था कि वह दूसरे लोगों के दुःख को महसूस न करते। वह भारत के सुख का निर्माण किसी दूसरे देश के सुख का बलिदान देकर नहीं करना चाहते थे। वह भारत को इसलिये फलता-फूलता और आगे बढ़ता देखना चाहते थे कि उससे सारी दुनियाँ लाभ उठा सके। *''अगर भारत समर्थ और शक्तिशाली हुआ, तो वह दुनियाँ को अपनी कला-कौशल की वस्तुएँ और स्वास्थ्यप्रद मसाले जरूर भेजेगा, किन्तु अफीम और नशीले पेय भेजने से इन्कार कर देगा- भले इस व्यापार से उसे प्रचुर भौतिक लाभ होता हो।''*[७२]

स्वेदशी निःस्वार्थ सेवा का भाव है, जिसकी जड़ शुद्धतम अहिंसा अर्थात् प्रेम में है। गाँधी के अनुसार स्वेदशी का सच्चा उपासक कभी विदेशियों के प्रति अपने दिल में दुर्भाव नहीं रखेगा। स्वेदशी धर्म घृणा का धर्म नहीं हैं, वह निःस्वार्थ सेवा का सिद्धान्त है। गाँधी ने स्वयं कभी विदेशी वस्तुओं के निषेध की हिमायत महज इसलिये नहीं की कि वे विदेशी हैं। उनका आर्थिक सिद्धान्त यह था कि उन सब विदेशी वस्तुओं का सम्पूर्ण बहिष्कार किया जाय जिनके आयात से तत्संबंधी स्वदेशी हितों को नुकसान पहुँचने की संभावना हो। इसका निहितार्थ यह है कि वह ऐसी किसी वस्तु का आयात कदापि नहीं करना चाहते थे, जो देश में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हो सकती थी।

सच्ची स्वदेशी की इस कल्पना को और अधिक स्पष्ट करते हुये गाँधी ने कहा था : *''मैं कहूँगा कि केवल वे ही प्रतिष्ठान स्वेदशी माने जा सकते है जिनका नियन्त्रण, निर्देशन और व्यवस्था भारतीय हाथों में हो। मैं विदेशी पूँजी का कोई विरोध नहीं करूगाँ और विदेशी हुनर के उपयोग का यानि विदेशी विशेषज्ञों के उपयोग का भी विरोध नहीं करूँगा यदि हमें उनकी आवश्यकता है और भारत में वे मिलते नहीं हैं। लेकिन, शर्त यह है कि यह पूँजी और यह कौशल निःशेष रूप से भारतीयों के नियन्त्रण, निर्देशन और व्यवस्थापन में होना चाहिए और उनका उपयोग भारत के हित में होना चाहिए। विदेशी पूँजी और*

कौशल का उपयोग एक चीज है, विदेशी औद्योगिक प्रतिष्ठानों को यहाँ बढ़ाने और फलने का मौका देना बिल्कुल दूसरी चीजें हैं।''[७३]

गाँधी का चौथा सिद्धान्त *'स्वराज्य'* या *'स्वालम्बन'* का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त में नैतिकता की दृष्टि से आत्म नियन्त्रण और व्यावहारिक जीवन की दृष्टि से अपने पैर पर खड़े होने की शक्ति का अर्थ निहित है। गाँधी के लिये स्वराज का असली मतलब आत्म संयम हैं। *''आत्म संयम वही रख सकता है, जो सदाचार के नियमों का पालन करता है; किसी को धोखा नहीं देता, सत्य का त्याग नहीं करता और अपने माता-पिता, पत्नी बच्चों, नौकरों और पड़ोसियों के प्रति अपना फर्ज अदा करता है। ऐसा आदमी भले कहीं भी रहे, स्वराज का सुख माँगता है। जो राज्य बड़ी संख्या में इस तरह के भले नागरिकों के होने का गर्व कर सकता है, वह स्वराज का उपयोग करता है।''*[७४]

'स्वराज' का अर्थ होता है वह व्यवस्था जो *'स्व'* अर्थात् खुद को नियन्त्रण में रखे अर्थात् जो अपने आप का अधिकारी हो या अपने आपको काबू में रखे। गाँधी जी के *'स्वराज'* शब्द के अन्तर्गत दो भाव निहित है- एक, *'व्यक्तिगत स्वराज'* और दूसरा, *'सामाजिक स्वराज्य।'* व्यक्तिगत स्वराज्य से यह तात्पर्य है कि हर व्यक्ति को अपने आचरणों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। सामाजिक स्वराज्य समाज की उस राजकीय व्यवस्था को कहते हैं जिसमें जनतंत्रात्मक राज्य पद्धति हो और वह इस प्रकार नियन्त्रित हो कि किसी बल का प्रयोग न करे, बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक लोगों पर हिंसात्मक उपायों के द्वारा भार-स्वरूप न बनें।

सच्चा स्वराज आत्माधिकार आत्म-नियन्त्रण में है। स्वराज का यह व्याापक अर्थ है कि मनुष्य के या समाज के प्रत्येक कर्तव्य-क्षेत्र में आत्म नियन्त्रण से काम करने पर ही स्वराज की यथार्थ झाँकी उतरेगीं। आत्म-नियन्त्रण के कुछ अनुमन्य नियमों में से गाँधी ने सत्य और अहिंसा पर अधिक जोर दिया है। इन दो में से किसी एक को ही पकड़ ले, तो वही सबका साधक बन जाता है। गाँधी ने कई बार कहा भी है कि मेरे लिये तो स्वराज के पहले अहिंसा का ही स्थान है। अत: उनका प्रयास भी राज्य को अहिंसात्मक मार्ग पर ले जाने का था, क्योंकि वे मानते थे कि *''राज्य की जड़ें चाहे वह अच्छे जनतन्त्रात्मक क्यों न हो, हिंसा में गड़ी रहती हैं।''* हिंसा में शोषण की क्रिया मौजूद रहती है और हर राज्य गरीबों का शोषण करता है।

गाँधी का आदर्श ऐसा राज्य है, जिसमें सत्य का प्रतिपालन हो और हिंसा का नामोनिशान न हो। जन-समाज में सत्य और अहिंसा का वास हो जायेगा तो राज्य नाम की कोई चीज न रह जायेगी। हर मनुष्य अपने आप नियन्त्रित रीति से बर्तने लगेगा। ऐसी स्थिति में गाँधी का कहना है *''प्रत्येक मनुष्य अपने आपका राजा बनता है। वह अपने आप पर इस ढंग से राज्य करता है कि वह अपने पड़ोसी के लिये कभी भी बाधक बनकर नहीं रहता।''* गाँधी के *'स्वराज'* शब्द का अर्थ व्यक्तिगत आत्म-नियन्त्रण के आधार पर उनकी समाज की स्थिति है। *''व्यक्ति ही अपने शासन का कलाकार है। अहिंसा के कानून का ही उस पर और उसके शासन पर आधिपत्य रहता है।''*[७५]

'सरल जीवन और उच्च विचार' गाँधी के आर्थिक चिन्तन की एक अन्य महत्वपूर्ण कड़ी है। उनकी दृष्टि में समस्त आर्थिक व्याधियों की जड़ है - आधुनिक सभ्यता की सदा बढ़ती जाने वाली *''और आगे.........और आगे की प्रवृत्ति।''* वे

थमने के लिये सचेत करते है और जैसा कि *लुई फ़िशर* ने कहा है, *"रूको और बचो"* - उनके अर्थ-दर्शन का प्रमुख लक्षण है, इसलिये उनका आदर्श है *"सरल जीवन और उच्च विचार"*, इसीलिये वे आवश्यकताओं की अनावश्यक वृद्धि के विरूद्ध हैं। *कृपलानी*[७६] उनके मत को उद्धृत करते हुये बताते हैं- एक बार उन्होनें कहा था कि *"मेरा प्रयत्न स्वेच्छापूर्ण सादगी, गरीबी और धीमी गति में सौंदर्य दर्शन का है.........। आवश्यकताएँ बढ़ाने का मुझे कोई मोह नहीं। वे तो हमारे आन्तरिक जीवन को तेजहीन करके विनष्ट ही कर देती हैं।"* आगे पुनः, *"शरीर की सुख-सुविधा एक हद तो आवश्यक और ठीक है, पर अमुक हद के बाद वह सहायक होने के बजाय बाधक ही बन जाती है। अतएव असीमित रूप में उन्हें बढ़ाते हुये उनकी पूर्ति करते रहने का आदर्श मुझे तो भ्रान्तिपूर्ण मोहपाश ही मालुम पड़ता है। मनुष्य की अपनी शारीरिक सुख-सुविधाएँ ही नहीं, बल्कि अपने मनमाने बौद्धिक शौक भी एक हद के बाद बढ़ाने बंद कर ही देने चाहिए, नहीं तो वे शारीरिक और बौद्धिक विलासिता के रूप में परिणत हुये बिना नहीं रहते।"* यही नहीं बल्कि आगे यह भी कहा, *"जिस हद तक भौतिक वस्तुओं के पीछे पड़ने के आधुनिक दीवानेपन को हमने अपना लक्ष्य बनाया है, उसी हद तक प्रगति-पथ पर हम आगे बढ़ने के बजाय पीछे ही हटे हैं। परमेश्वर और पैसे की सेवा एक साथ नहीं हो सकती, यह सर्वाधिक महत्व का आर्थिक सत्य है। दोनों मे से किसी एक का हमें चुनाव करना पड़ेगा।........ एक ही घड़ी में हम बुद्धिमान, संयमी और उन्मत्त नहीं हो सकते।"* गाँधी मानते है, *"जिस क्षण मनुष्य अपनी दैनिक आवश्यकताओं में वृद्धि करना चाहता है, उसी क्षण वह 'सरल जीवन एवं उच्च विचार' के आदर्श के पालन से च्युत हो जाता है। इतिहास में इसके प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं। मनुष्य का सुख वस्तुतः सन्तोष में निहित है। जो असन्तुष्ट रहता है वह अपनी कामनाओं का दास बन जाता है। सभी सन्तों ने उच्च स्वर मे घोषित किया है कि मनुष्य अपना निकृष्टतम शत्रु भी बन सकता और उत्कृष्टतम मित्र भी। स्वतन्त्र रहना या दास बन जाना उसकी अपनी मुट्ठी में हैं।"*[७७]

सामान्यतः पश्चिमी अर्थनीतिक संरचना का लक्ष्य आवश्यकताओं की वृद्धि करना है अर्थात् जितनी अधिक वस्तुओं एवं सेवाओं का उपयोग हम करते हैं, हमारे जीवन निर्वाह का स्तर उतना ही ऊँचा होता है और भौतिक दृष्टि से हम उतने ही सभ्य और सुखी होते हैं। पश्चिमी समाजवाद, साम्यवाद और पूँजीवादी अवधारणा का यही स्वरूप है। ये सब के सब परिग्रहणशील हैं। इस सन्दर्भ में गाँधी *'हिन्द स्वराज'* में लिखते हैं : *"आधुनिक सभ्यता की वास्तविक कसौटी इस तथ्य में निहित है कि इसके अन्तर्गत जीवन धारण करने वाले शारीरिक कल्याण को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं।"* ऐसे लोग गाँधी के परम मान्य ग्रन्थ गीता के अनुसार आसुरी प्रवृत्ति के होते हैं। उसके शब्दों में *"अतुष्टनीया कामनाओं के वशीभूत होकर एवं कामोपभोग को ही परम (पुरूषार्थ) मान कर वे........विषय भोगों की पूर्ति के लिये अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत से पदार्थों का संग्रह करने की चेष्टा करते हैं......... मैंने आज इसे उपलब्ध किया, इस मनोरथ की पूर्ण करूँगा, भविष्य में यह सम्पत्ति मेरी होगी........."* और *"अनेक प्रकार के ऐसे विचारों से भ्रान्तचित्त हो, मोह रूपी जाल में फँस कर विषय भोगों में अत्यन्त आसक्त हुए घोर अपवित्र नरक में जा गिरते हैं।"*[७८]

भारतीय आदर्श के प्रति निष्ठावान हो गाँधी पश्चिमी विचार-पद्धति का प्रतिवाद करते हुये देख पाते हैं कि *"मन चंचल*

पक्षी के समान है; जितना अधिक इसको मिलता है उतना ही अधिक यह चाहता है और फिर भी असंतुष्ट रहता है। जितना ही हम अपनी वासनाओं में डूबते हैं, उतनी ही वे अनियंत्रित हो जाती है।'' ''अतएव हमारे पूर्वजों ने विषयभागों की एक सीमा निर्धारित कर दी। उन्हें ज्ञात था कि सुख बहुलांशत: मानसिक स्थिति है। कोई व्यक्ति धनी होने के कारण अनिवार्यत: सुखी नहीं होता या गरीब होने के कारण ही दु:खी नहीं होता। प्राय: देखा जाता है कि धनी दु:खी है और गरीब सुखी। ....इस सबका निरीक्षण करके ही हमारे पूर्वजों ने हमें भोग-विलास से दूर रहने का परामर्श दिया था।'' गाँधी उपनिषद् की इस उक्ति में विश्वास करते थे कि हम त्याग द्वारा भोग करें उनका कहना था, *''मानव शरीर का एकमात्र उद्देश्य सेवा है, भोग कदापि नहीं। सुखी जीवन का रहस्य त्याग में हैं। त्याग ही जीवन है, भोग का अर्थ तो मृत्यु है।''*[७९]

गाँधी के उपर्युक्त मतों से यह निष्कर्ष निकालना सर्वथा अनुचित है कि वे लोगों को वैरागियों का जीवन-यापन करने को कहते हैं। वे गरीबी को न केवल भौतिक रूप में बल्कि नैतिक दृष्टि से हेय मानते थे। उनका अभिमत था कि समाज उन समस्त सुख-सुविधाओं का उपयोग करे जिनसे मानव-जीवन सुखद और उसकी जीवन-यात्रा सुगम हो। वे बिजली, जहाज निर्माण, लौह उद्योग, यंत्र निर्माण तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं को जीवन के लिये उपयोगी मानते थे।[८०] वे इन सबके विरूद्ध नहीं थे, किन्तु चाहते थे कि हम इन दो बातों पर विचार करें, प्रथमत: समस्त समाज का अधिकतम कल्याण- हमें सचेत रहना होगा कि कहीं हम दूसरों की कीमत पर तो अपनी आवश्यकताँए नहीं बढ़ा रहे; और द्वितीयत: हमारे जीवन का उद्देश्य- इसका अर्थ यह है कि अपनी भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि की उन्मादग्रस्त दौड़ में हम अपने जीवन का वास्तविक उद्देश्य ही न भूल जायें। इन दोनों शर्तों का निर्वाह करने पर हम वास्तविक एवं कृत्रिम आवश्यकताओं को अलगा सकते हैं, जैसा कि लुई फ़िशर ने कहा है, *''गाँधीवाद चाहता है कि लोग अच्छी तरह रहें....... उनकी यह माँग नहीं है कि लोग एकान्त में सन्तों की तरह रहें। उनकी माँग है कि वे कम स्वार्थी हों, कम लोभी हों, कम धनोन्मादी हों, कम स्वकेन्द्रिक हों।''*[८१]

गाँधी की अर्थनीति की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि की व्यापक विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके लिये जीवन का लक्ष्य सत्य की उपलब्धि या उनकी भाषा में *'सत्याग्रह'* है। अन्य धार्मिक जनों के सदृश सत्य की उपलब्धि के लिये वे न संसार का त्याग करते है, न ही भौतिक शरीर का। भौतिक शरीर की कुछ आवश्यकताएँ होती हैं, जिनकी पूर्ति होनी ही चाहिये; शोषण पर आधारित वर्तमान परिग्रही अर्थनीति सत्य की उपलब्धि में सर्वाधिक बड़ी बाधा है। आर्थिक दुश्चिन्ताओं से बहुत कुछ मुक्त होने पर ही मनुष्य सत्य की उपलब्धि कर सकता है। गाँधी ऐसी अर्थनीति चाहते हैं जिससे कार्य का समान अवसर प्रदत्त होने के कारण जनता में उत्पादन का न्यायोचित वितरण हो, जिसमें व्यक्ति एवं परिवार अपनी आर्थिक जीविका पर समुचित नियंत्रण रख सके, जो मानव व्यक्तित्व के विकास के अनुकूल स्थिति की सृष्टि करे। उनका यह आर्थिक चिन्तन *'ट्रस्टीशिप'* या *'संरक्षकता सिद्धान्त'* में प्रतिफलित होता है।

इस क्रम में गाँधी की ट्रस्टीशिप अवधारणा न तो निहित स्वार्थों की सुरक्षा हेतु एक उपकरण के रूप में प्रयोग करने का उद्देश्य रखती है और न ही उसमें कोई सुधारवादी तत्व है। जैसा गाँधी ने इसे अत्यन्त स्पष्ट किया कि *''मेरे ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त कोई कामचलाऊ उपाय नहीं है, छद्म विन्यास तो बिल्कुल ही नहीं।''*[८२] उनके समाज-दर्शन में समाजवादी तत्व

समाविष्ट होने के पूर्व ही वह ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त के हिमायती थे। यह उनके समग्र जीवन दर्शन, जो पाश्चात्य एवं प्राच्य सांस्कृतिक विरासत से सुसम्पन्न तथा प्रकृत्या आध्यात्मिक और धार्मिक है; का एक प्रकीर्णन है।

गाँधी का कहना है कि *"उसके पीछे दर्शन और धर्म की मान्यता है।"*[८३] भारतीय दर्शन, धर्म तथा नीतिशास्त्र ट्रस्टीशिप के विचार से भरे पड़े हैं। राजाओं या शासकों की प्राचीन भारतीय अवधारणा एक सच्चे ट्रस्टी की थी। श्रीराम एक गौरवशाली चरित्र हो सकते हैं किन्तु रामराज्य की मान्यता में स्थित दर्शन इस तथ्य का प्रमाण है कि तत्कालीन शासक राज्य की शौर्यता और शक्ति के स्रोतों और क्रियान्वयकों के रूप में ऐसी शक्ति का प्रयोग अपने लिये नहीं, बल्कि अपनी प्रजा के लिये करते थे। महाभारत में श्रीकृष्ण भी अर्जुन के सारथि बनकर उसको आश्वस्त करने के लिये ही एक ट्रस्टी के रूप में उपस्थित थे। वर्तमान में भी संयुक्त हिन्दू परिवारों के मुखिया सच्चे न्यासी का जीवन व्यतीत करते हैं। वे परिवार के सामान्य हित के लिये जीते और कार्य करते एवं शक्ति का प्रभावी उपयोग करते हैं।

इस सन्दर्भ में अपने पर गीता के प्रभाव पर बोलते हुये गाँधी ने कहा : *"अपरिग्रह जैसे शब्दों ने मुझे अभिभूत कर लिया।"*[८४] परन्तु, वे सचेत थे कि अपनी सम्पत्ति को त्यागना या अपरिग्रह को व्यवहार में उतारना अत्यन्त कठिन है। तद्नुसार उन्होने इस समस्या को ऐसे प्रस्तुत किया : *"कैसे व्यक्ति को अपनी पूरी सम्पदाओं का विनिवेश करना होगा? क्या शरीर स्वयं सम्पत्ति नहीं? क्या पत्नी और बच्चे सम्पत्ति नहीं? क्या मुझे अपनी किताबों की अलमारियो को नष्ट नही कर देना चाहिये?"*[८५] निश्चित रूप से गाँधी का यह दृढ़ विश्वास था कि इस लौकिक संसार में परिवार तथा सन्तानों के साथ जीते हुए अपनी सम्पत्ति तथा सम्पदाओं का परित्याग करना तथा स्वयं को पूरी तरह अप्राधिकृत कर देना केवल कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव भी है।

गाँधी का अंग्रेजी कानून का तथा विशेष रूप से साम्यता के नियम के सन्दर्भ में अंग्रेज अर्थशास्त्री *स्नैल* की मान्यता का अध्ययन उनकी दुविधा का शमन करता है। *स्नैल* की साम्यता एक ऐसे ट्रस्टीशिप या संरक्षकता की प्रणाली के निर्माण की प्रकल्पना करती है जिसके अधीन सम्पत्ति का कानूनी मालिक सम्पत्ति को अपने पास रखेगा, लेकिन उस सम्पत्ति के वास्तविक लाभकारी-अन्य व्यक्ति के लाभ के लिये। जैसा *स्नैल, प्रो० कीटन* के अभिकथन को सन्दर्भित करते है : *"एक ट्रस्ट..........सम्बन्ध है जो तब उठता है, जब कभी ट्रस्टी नामक एक व्यक्ति सही या निजी, और कानूनन या समतुल्य हक द्वारा- सम्पत्ति को साम्यता में कुछ व्यक्तियों के हित के लिये या कतिपय विधि सम्मत उद्देश्य की प्राप्ति के लिए इस तरह प्रयुक्त किया जाता है कि सम्पत्ति का वास्तविक लाभ ट्रस्टियों को नहीं, बल्कि लाभान्वितों या ट्रस्ट के अन्य उद्देश्यों को प्राप्त होता है।"* गाँधी ने महसूस किया कि गीता में वर्णित स्वधन सम्पत्ति के परित्याग और अपरिग्रह के सिद्धान्तों को ट्रस्टीशिप की व्यवस्था के द्वारा व्यवहार में मूर्त किया जा सकता है, जिसमें सम्पत्तिवान लोग अपनी सम्पत्ति को रखते हुये अपने अहंकार को संतुष्ट करते हुये कि वे विशाल सम्पदाओं के मालिक है; असली लाभान्वितों के लिये उस सम्पत्ति को ट्रस्ट के रूप में रखते हुये स्वयं को उससे फिर भी विनिवेशित कर सकते हैं। अत:, जैसा कि उन्होनें अपनी *'आत्मकथा'* में लिखा है : *"अंग्रेजी कानून का मेरा अध्ययन मेरे काम आया। साम्यता की उक्तियों की स्नैल की विवेचना मुझे याद आई। मैं गीता शिक्षा के प्रकाश*

में 'ट्रस्टी' शब्द के निहितार्थ को ज्यादा अच्छे से समझ पाया......... अपरिग्रह की गीता की शिक्षा को मैने इस अर्थ में समझा कि जिन्हें मोक्ष की कामना है, उन्हें उन ट्रस्टी के रूप में कार्य करना चाहिये जो विपुल सम्पदाओं पर नियन्त्रण रखते हुये भी उसके एक सूक्ष्मांश को भी अपना नहीं मानते।''[८६]

गाँधी की पारिवारिक पृष्ठभूमि ने भी उनके अपरिग्रह के विचार और ट्रस्टीशिप की मान्यता को गढ़ने में उन पर प्रभाव डाले होगें। उनके *दादा उत्तमचन्द गाँधी* जो पोरबन्दर के दीवान के रूप में कार्यरत थे, अपने को ट्रस्टी मानते हुये अपनी आय का लगभग आधा हिस्सा दान में दे डाला था। अपने दो पुत्रों के विवाह के अवसर पर पाये गये विशाल वैवाहिक उपहारों को यह कहते हुये पोरबन्दर के राणा को समर्पित कर दिया कि *''ये सब आपके हैं क्योंकि आपकी प्रजा से आये हैं।''*

(ब) ट्रस्टीशिप का आर्थिक दर्शन : सिद्धान्त-विश्लेषण

संरक्षकता या ट्रस्टीशिप क्या है? इस प्रश्न का यदि हम विश्लेषण करें तो कह सकते हैं कि किसी आदमी के पास जितना उसे चाहिये, उससे ज्यादा धन या सम्पत्ति है, तो उसे अपनी अतिरिक्त धन-सम्पत्ति का संरक्षक बन जाना चाहिए। उसने यह धन विरासत में पाया हो या व्यापार अथवा उद्योग के द्वारा (बेशक़, ईमानदारी से) कमाया हो, तो उसे यह समझ लेना चाहिए कि यह सारा धन उसका नहीं है : उसे केवल समयोचित जीविका का ही अधिकार है- ऐसी जीविका का जो दूसरे करोड़ों आदमियों को उपलब्ध है, उसे ज्यादा जीविका का नहीं।[८७] उसका बाकी धन समाज का है और उसका उपयोग समाज के कल्याण के लिये ही होना चाहिये।

ट्रस्ट की परिभाषा *इण्डियन ट्रस्ट ऐक्ट (सन् १८८२)* में इस प्रकार दी गई है-

''ट्रस्ट (निक्षिप्त) उस कर्तव्य भर का नाम है, जो सम्पत्ति के स्वामित्व के साथ जुड़ा रहता है, और जिसकी उत्पत्ति उस विश्वास पर निर्भर रहती है, जो (सम्पत्ति के) स्वामी को, दूसरे के लाभ के हेतु, अथवा दूसरे के और स्वामी के लाभ के हेतु स्थित किया जाता है, वे जिसे वह स्वामी स्वीकार कर लेता है, अथवा जिसे वह ऐलान करता और स्वीकार कर लेता है।''

यह *''ट्रस्ट''* की कानूनी परिभाषा है। इसमें वही सब बातें हैं जिनका समावेश गाँधी भी अपने *''ट्रस्ट''* शब्द के अन्तर्गत करते है, परन्तु गाँधी के ट्रस्ट शब्द में दो विशिष्टताएँ और हैं। एक तो यह है कि वे *''सम्पत्ति''* के अन्तर्गत भौतिक द्रव्य के अतिरिक्त बुद्धि कौशल अथवा आंतरिक शक्तियों का भी समावेश करते हैं, जैसा कि अधोलिखित वाक्यों से विदित होता है-

जब संचित द्रव्य, आंतरिक गुण और आवश्यकता पूर्ति के बाद जो बचे उस अतिरिक्त कमाई के संबंध में आदर्श धरोहर का भाव हो, तब गाँधीजी के *''त्याग''* शब्द का अर्थ प्रकट होता है।

दूसरी विशिष्टता यह है कि उक्त-कर्तव्य-भार केवल प्रेममय सेवा-भाव से प्रेरित हो, न कि किसी अन्य स्वार्थमय लौकिक या पारलौकिक कामना अथवा दबाव से।

मनुष्य की आंतरिक शक्तियों या गुणों को प्राचीन काल से ही आर्य धर्म-शास्त्रों में *''संपदा''* या *''सम्पत्ति''* संज्ञा दी

गई हैं। इसलिये, यदि हम गाँधी मत के ट्रस्ट की परिभाषा करना चाहें, तो संक्षेप में वह कुछ इस प्रकार हो सकती है। जब साम्पत्तिक अधिकार में अनाधिकार और प्रेममयी सेवा भाव या कर्तव्य भार हो तब, गाँधी के मतानुसार ट्रस्ट बनता है।

सन १९४४ में आगाखाँ महल से गाँधी जी की रिहाई के कुछ समय पश्चात *श्री किशोरीलाल मशरूवाला* और *श्री नरहरि पारिख* ने संरक्षकता के सिद्धान्तों की एक संक्षिप्त रूपरेखा तैयार की थी। गाँधी ने उसे देखा और सुधारा था, गाँधी के सुधारों के बाद उसका जो मसविदा था, वह इस प्रकार था :

(१) संरक्षकता (ट्रस्टीशिप) ऐसा साधन प्रदान करती है, जिससे समाज की मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था समतावादी व्यवस्थाओं में बदल जाती है। इसमें पूँजीवादी की तो गुँजाईश नहीं है, मगर यह वर्तमान पूँजीपति वर्ग को अपना सुधार करने का मौका देती है। इसका आधार यह श्रद्धा है कि मानव स्वभाव ऐसा नहीं है, जिसका कभी उद्धार हो सके।

(२) वह संपत्ति के व्यक्तिगत स्वामित्व का कोई अधिकार स्वीकार नहीं करती, उसमें समाज स्वयं अपनी भलाई के लिये किसी हद तक इसकी इजाजत दे सकता है।

(३) इस प्रकार राज्य द्वारा नियन्त्रित संरक्षकता में कोई व्यक्ति अपंनी स्वार्थसिद्धि के लिये या समाज के हित के विरूद्ध सम्पत्ति पर अधिकार रखने या उसका उपयोग करने के लिये स्वतन्त्र नहीं होता।

(४) इसमें धन के स्वामित्व और उपयोग के कानूनी नियमन की मनाही नहीं है।

(५) जिस तरह उचित न्यूनतम जीवन वेतन स्थिर करने की बात कही गई है, ठीक उसी प्रकार यह भी तय कर दिया जाना चाहिये कि वास्तव में किसी भी व्यक्ति की ज्यादा से ज्यादा कितनी आमदनी हो। प्रयास न्यूनतम और अधिकतम आमदनियों के बीच का फ़र्क मिटाने की तरफ हो।

(६) गाँधीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन का स्वरूप समाज की निश्चित जरूरत से होगा न कि व्यक्ति की सनक या लालच से।[८८]

संरक्षकता के सिद्धान्तों का यह वक्तव्य व्यावहारिक भी है और साथ ही लचीला भी। यह मौजूदा सम्पत्तिशाली वर्ग को कसौटी पर चढ़ाता है और उसे अपनी बुद्धि तथा कौशल का समाज के हित में उपयोग करने का मौका देता है।

संरक्षकता या ट्रस्टीशिप की यह कल्पना मौजूदा जीवन रचना की जगह जिसमें प्राय: प्रत्येक व्यक्ति अपने पड़ोसी की परवाह न करते हुए सिर्फ अपने ही लिये जीता है- नयी न्याययुक्त रचना का विकास करने की निश्चित फल देने वाली पद्धति पेश करती है। अगर समाज की शान्तिपूर्ण ढंग से सच्ची प्रगति करनी है, तो धनवालों को यह समझना ही चाहिए कि उनकी सम्पत्ति उन्हें गरीबों की तुलना में कोई ऊँचा दर्जा नहीं देती। गरीब और अमीर दोनों ही भगवान की संतान है और समान है। यदि वे स्वेच्छापूर्वक संरक्षक होना स्वीकार नहीं करते तो निश्चित है कि परिस्थितियाँ उन्हें वैसा करने के लिये लाचार कर देंगी। हाँ, वे आपत्ति को ही आमंत्रित करना चाहते हो तो बात दूसरी है। अहिंसक राज्य में लोकमत का प्रभाव बहुत जबरदस्त होता है। हिंसा जो काम नहीं कर सकती, अहिंसक राज्य में लोकमत उसे आसानी से कर सकता है। सत्य तो यह है कि मजदूर और किसान ही जो कुछ वे पैदा करते है, उसके मालिक हैं। अगर बुद्धिपूर्ण संगठन के फलस्वरूप मिलने वाली अपनी शक्ति को वे पहचान लें तो शोषक वर्ग के अत्याचार एकदम समाप्त हो सकते हैं। अगर लोग अत्याचारपूर्ण व्यवस्था की

बुराईयों से असहयोग करें, तो पोषण के अभाव में वह अपने आप मर जायेगी। यही एक तरीका है जिसके द्वारा वर्ग-संघर्ष भी टाला जा सकता है।

(i) ट्रस्ट सिद्धान्त के गाँधीवादी साधन

गाँधी ने अपनी विधि सब कार्यो के लिये अहिंसक बना ली थी इसलिये ट्रस्ट- पद्धति का समाज भर में प्रचार करने के लिये भी उन्होनें उसी अहिंसात्मक पद्धति को अपनाया। उन्होनें त्याग-वृत्ति पर जोर दिया और स्वतः त्याग मूर्ति बने, यहाँ तक कि दुनियादारी वालों ने उन्हें *'अर्द्धनग्न फकीर'* कहना शुरू कर दिया। उन्होनें अपने अनुयायी सत्याग्रहियों को आदेश दिया कि पद्धति-परिवर्तन विचार-परिवर्तन पर निर्भर रहता है, इसीलिये यह आवश्यक है कि लोगों को उचित शिक्षा दी जाय, उन्हें विनम्रतापूर्वक समझाया जाय, उनके सम्मुख अपने उज्जवल त्याग का दृष्टान्त उपस्थित किया जाय और आवश्यकतानुसार अहिंसात्मक असहयोग किया जाय, जिससे ट्रस्टीय विचारधारा का प्रवाह जनता में बढ़े और पूँजीपतियों में दान-वृत्ति, त्याग-वृत्ति तथा निक्षेप-वृत्ति का संचार हो।

गाँधी को जबरदस्ती करने की विधि पसंद नहीं, क्योंकि वह अन्याय है। न्यायोचित कार्य यदि करना है, तो उनका कहना है कि प्रचलित पद्धति का परिवर्तन करो और साथ-ही-साथ उन अपराधी कहे जाने वाले पूँजीपतियों के विचारों को भी बदलने की चेष्टाएँ करते जाओं। इधर विचार परिवर्तन की शिक्षा, उधर आत्माचरण का दृष्टान्त; यहाँ सिद्धान्त का प्रचार, वहाँ सिद्धान्त का आधार। जब ये दोनों कन्धे-से-कन्धा मिलाकर समाज क्षेत्र में विचरते दिखाई देंगे, तब पूँजी-पद्धति के स्थान में ट्रस्ट-पद्धति का आ जाना निश्चित है, यह गाँधी का निदान है। गाँधी का तात्पर्य यह नहीं कि केवल समझाने-बुझाने से, विनम्र प्रार्थनाओं से अथवा व्यक्तिगत इक्के-दुक्के आचारों से ही ट्रस्ट पद्धति का शीघ्र सर्वत्र प्रचार हो जायेगा। यह तो उनका मूल तरीका है ही, परन्तु इसके साथ ही उन्हें *'स्टेट' (राज्य)* की आवश्यक सहायता लेने में भी कोई गुरेज़ नहीं है। यह सहायता ऐसे राज्य-कानून की हो जिसमें हिंसा न हो, इसलिये इस अभिप्राय से कि समाज पूँजी-पद्धति के दुश्चक्रों में दीर्घकाल तक न उलझा रहे। गाँधी ने स्वीकार किया कि यदि *'स्टेट'* साम्पत्तिक पूँजी-पद्धति को समाप्त कर देने में योग देना चाहे, तो मृत्यु-कर, आयकर अथवा अन्य ऐसे भारी कर लगाये, जिससे भविष्य में साम्पत्तिक पूँजी को बढ़ाने का अवकाश न मिलने पाये। इसी तरह, 'स्टेट' यदि *'वारसी-पन' (Heirship)* और *'मुफ़्ती आय'* को मिटाने के लिये कोई नवीन कानून बनाये, तो भी कोई हानि नहीं, क्योंकि इस प्रकार के बुद्धि संगत कानून रोक के लिये होते हैं, इसलिये न उनमें अन्याय ही है और न हिंसा विनाशक ही, प्रतिबंधक होते हैं। फिर भी गाँधी जी राज्य के हस्तक्षेप का अच्छा नहीं समझते। उन्हें तो अहिंसात्मक साधनाँए ही मान्य है। किसी भी हालत मे वे उन कानूनों को सहन नहीं कर सकते, जिनके आधार पर किसी की न्याय-पूर्ण तरीके से प्राप्त की हुई जायदाद ज़ब्त की जा सके, क्योंकि वे अन्यायपूर्ण और हिंसात्मक होते है। यदि हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किया जाये, तो गाँधी का कहना है *''मनुष्य उन दिव्य शक्तियों को खो बैठेगा, जिसके द्वारा उसे साम्पत्तिक संग्रह का हुनर मालूम रहता है। अहिंसात्मक असहयोग ही एक ऐसा अचूक साधन है, जो ट्रस्ट-पद्धति को ला सकता है, क्योंकि समाज में धनवान बिना गरीब के सहयोग के धन संग्रह नहीं कर सकता।''*[८१]

ट्रस्ट के कायम हो जाने पर ट्रस्ट-सम्पत्ति और ट्रस्टी विषयक अनेक प्रश्न उठते हैं, जैसे- ट्रस्टी का उत्तराधिकारी कौन हो सकेगा, ट्रस्टी को ट्रस्ट का भार संभालने के बदले में क्या मिलेगा, ट्रस्ट सम्पत्ति को सुरक्षित रखे जाने के लिये क्या साधन होंगे, स्टेट का कितना और किस प्रकार ट्रस्ट-संबंधी कार्यों में हस्तक्षेप रहेगा इत्यादि। ये बातें भविष्य की है, फिर भी गाँधी के विचारों के आलोक में इन पर कुछ प्रकाश डाला जा सकता है। गाँधी का मानना है कि (१) ट्रस्टी के सिवाय जनता के और कोई उत्तराधिकारी नहीं *''और चूँकि राज्य को जन -प्रतिनिधि कहा गया है, इसलिये राज्य ही, जब तक उसकी स्थिति मिट न जाय, ट्रस्ट सम्पत्ति को सम्हालने वाला होगा।''*[१०] (२) ट्रस्टी को ट्रस्ट का कार्यभार सम्हालने के एवज में स्टेट से कमीशन मिला करेगा। (३) ट्रस्टी ट्रस्ट सम्पति की रक्षा अहिंसात्मक तरीके से करेगा। वह उसका समर्पण किसी भी आक्रमणकारी को नहीं करेगा, भले ही उसकी जान चली जाय। उसके दिल में बदला लेने का भाव कभी नहीं उठेगा। (४) यदि ट्रस्टी ट्रस्ट के कारोबार में गफ़लत करे, तो स्टेट को अधिकार होगा कि ट्रस्ट सम्पत्ति उसके अधिकार से ले लें।

इस दृष्टि से यदि जमींदार या पूँजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करता पाया जाता है और जनता की ओर से स्वतन्त्र प्रयत्न अपर्याप्त हों, तो स्टेट भिन्न-भिन्न प्रकार की जमींदारी प्रथाओं का खात्मा कर दे और मजदूरों के प्रतिनिधियों के साथ अनिवार्य केन्द्रित उत्पादन का स्वामित्व और प्रबन्ध ग्रहण करे।[११] सम्भव है, ऐसा करने में स्टेट को अपहरण (ज़ब्त) करने की क्रिया का आश्रय अत्यन्त सूक्ष्म हिंसा के साथ लेना पड़े। इस वाक्य का पढ़कर बहुतेरों को गाँधी के शुद्ध अहिंसात्मक भावाकाश में हिंसा की काली रेखा प्रतीत होने लगी किन्तु गाँधी के उक्त कथन को जिसमें ज़ब्त कर लेने की अनुमति दी गई है, का बारीक अध्ययन स्पष्ट कर देता है कि यह ज़ब्त क्रिया उस समय के लिये कही गई है, जबकि कोई जमींदार या पूँजीपति ट्रस्टीशिप के आदर्श की अवहेलना करे। अधोलिखित प्रश्नोत्तर इसे अधिक स्पष्ट करता है-

''प्रश्न : क्या आपकी राय में राज्य का न्यूनतम हिंसा के द्वारा किसी न्यासधारी की बहुमूल्य वस्तुओं को ले लेना न्यायसंगत होगा?

उत्तर : हाँ, राज्य वस्तुओं को ले लेगा और मेरा विश्वास है कि यदि इसके लिये न्यूनतम हिंसा प्रयुक्त की जाती है तो वह न्यायसंगत है। किन्तु, यह खतरा बराबर बना रहेगा कि अपने से असहमत होने वालों के प्रति राज्य अत्यधिक हिंसा का प्रयोग कर सकता है। मैं सचमुच बहुत प्रसन्न होऊँगा यदि सम्बद्ध व्यक्ति न्यासधारियों के अनुकूल व्यवहार करे, किन्तु यदि वे ऐसा न करे तो हमें न्यूनतम हिंसा के प्रयोग द्वारा राज्य के माध्यम से उन्हें उनकी सम्पत्ति से वंचित करना होगा। इसीलिये मैंने गोलमेज़ परिषद में कहा था कि प्रत्येक स्वार्थ की जाँच करानी होगी और जहाँ आवश्यक होगा वहाँ स्थिति के अनुसार मुआवज़ा देकर या बिना दिये ज़ब्ती का आदेश देना होगा।''

''व्यक्तिगत रूप से मैं राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण नहीं, न्यासधारिता के बोध का विस्तार पसन्द करता हूँ।''

अत: स्पष्ट है, और जैसा कि गाँधी अगाह करते हैं कि इस ज़ब्त- क्रिया का प्रयोग उस समय तक न हो सकेगा, जब तक ट्रस्टीशिप का कानून न बनाया गया हो। यों तो जहाँ तक गाँधी जी का खुद का संबंध है, वे हिंसात्मक उपायों से चोरों, कातिलों आदि को भी दण्ड नहीं देना चाहते, और स्टेट को भी सलाह देते हैं, परन्तु जनमत जब तक स्टेट को पूर्ण

अहिंसात्मक नहीं बना पाया है, तब तक यदि उसे प्रबन्ध के हेतु हिंसात्मक दण्ड किन्हीं कारणों से देना पड़े, तो वह गाँधीजी को स्टेट की दृष्टि से मान्य है, क्योंकि वहाँ कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य एवं अराजकता का प्रश्न उठ खड़ा होता है, और भविष्य में हिंसा की बढ़ती ज्वाला का भी भय रहता है। यह हिंसा सर्जन की चीर फाड़ के समान अहिंसा स्वरूप ही है। इसलिये गाँधी के कहने का तात्पर्य है कि यदि ट्रस्टीशिप व्यवहृत होने वाले स्टेट में से कोई मनुष्य इस प्रकार कानून की अवहेलना करे, जिसका अन्य कोई स्वतन्त्र उपचार नहीं, तो स्टेट, सर्जन के समान अंतिम आश्रय अत्यन्त सूक्ष्म हिंसा का ले सकता है; जो यथार्थत: अहिंसा ही है। जहाँ तक आदर्श की बात है, गाँधी जी ने बारम्बार कहा है कि शरीरधारी के लिये आदर्श तक पहुँचना संभव नहीं है। यह उन्होंने गीता के अध्याय १८:१७ श्लोक की टीका करते हुये स्पष्ट कर दिया है। वहाँ उन्होंने कहा है कि मनुष्य पूर्ण अहिंसात्मक होने का दावा नही कर सकता। इसलिये यदि स्टेट सचमुच ही अहिंसात्मक वृत्ति प्रधान हो, और दूसरा चारा न होते हुये, यदि वह आदर्श भंग करने वाले की केवल सम्पत्ति की जन-प्रतिनिधि होने के नाते, जनहित के हेतु जब्त कर ले, तो उसका यह कार्य हिंसा के अन्तर्गत नहीं आयेगा। हिंसा तो क्रोध, शत्रुत्व और पर-पीड़ा में पाली पोसी जाती है जबकि गाँधी का तो यहाँ तक कहना है कि *"मैं जमींदार पद्धति का प्रेमी नहीं हूँ–किन्तु मैं जमींदारों का कोई दुश्मन नहीं हूँ। मेरा कोई शत्रु नहीं। सुधार करने का सबसे अच्छा उपाय आत्म-पीड़ा के प्रशस्त पथ की ओर अग्रसर होना है। इस रास्ते से हट जाने का परिणाम केवल बुराई की उस शक्ल को बदल देना होगा, जिसको हिंसात्मक तरीके से खत्म करने की कोशिश की गई हो"*[१२]

ट्रस्टी के पूर्णादर्श के सन्दर्भ में गाँधी ने खुले शब्दों में कहा *"जिस प्रकार युक्लिड की बिन्दु की परिभाषा है और अप्राप्त होती है, उसी प्रकार पूर्ण ट्रस्टीशिप एक अमूर्त भाव है, लेकिन हम उसके लिये बंढ़ने के योग्य तो हो जायेंगे।"* गाँधी दृष्टि में आदर्श अप्राप्य होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम उसे पाने की कोशिश ही न करें। *"अपनी अनन्यता के कारण, आदर्श ज्यों-ज्यों हम दूसरी ओर बढ़ते हैं, त्यों-त्यों हमसे दूर हटता हुआ मालूम होता है, लेकिन हमें यह याद रखना चाहिए कि रात ठीक अरूणोदय के पूर्व सबसे ज्यादा अंधेरी होती है। यदि हम सही प्रयत्न करें, हम अपने आदर्श की दिशा में काफी दूर तक बढ़ सके तो यह प्रगति ही वास्तविक प्रगति होगी। इस प्रकार यदि ट्रस्टीशिप पद्धति चल पड़ी, तो समाज में सामाजिक सम्पत्ति का यथावत् वितरण होने लगेगा।"*

(ii) श्रम में ट्रस्ट भाव तथा श्रम प्रतिष्ठा

सम्पत्ति का सर्वसमाज में वितरण जिसे *'समवितरण' (equal distribution)* या *'साम्य वितरण'* कहते हैं, तभी हो सकता है जब पर्याप्त सम्पत्ति पास में हो। पर्याप्त सम्पत्ति तभी हो सकती है, जब उसका उत्पादन काफी किया जाय, अत्यधिक उत्पादन तभी हो सकता है, जब सामाजिक श्रम शक्ति उत्पादन करने में जुट जाय, सामाजिक श्रम शक्ति का यथोचित उपयोग तभी किया जा सकता है जब हर श्रमिक को काम करने को मिले, अर्थात् जब बेकारी मिट जाय। श्रमिक को काम मिला और उसमें यदि श्रम शक्ति की निर्बलता हुई तो भी काम न चल सकेगा इसलिये श्रम शक्ति को काम करने योग्य बनाये रखने के लिये आवश्यक हो जाता है कि श्रमिक को भर पेट भोजन मिले। हर श्रमिक को भर पेट भोजन मिले

और कोई भी बेकार न रहे, तब सामाजिक श्रम शक्ति पर्याप्त उत्पादन कर सकती है, परन्तु बेकारी मिट जाने और भरपेट भोजन मिलने पर यदि किसी ने आलस्य किया तथा उत्पादन शक्ति का सर्वत: अपने ही लाभार्थ उपयोग करता रहे, तो भी समाज में उत्पादन वितरण सम्बन्धी विषमताएँ रहेंगी, जिनका स्वरूप वर्तमान पूँजीवादी पद्धति में मौजूद है। इसलिये, गाँधी ने कहा- मानसिक शक्ति मानव समाज की अप्रत्यक्ष सम्पत्ति है, जो कर्मरूप होकर प्रत्यक्ष हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य को अपनी अप्रत्यक्ष सम्पत्ति का ट्रस्टी बनकर रहना चाहिये, उसी प्रकार उसे अपनी अप्रत्यक्ष सम्पत्ति रूप आंतरिक शक्तियों का भी ट्रस्टी होना चाहिए। यदि आन्तरिक शक्ति की उपयोगिता उसने ट्रस्टी समझकर नहीं किया, तो बाह्य सम्पत्ति का ट्रस्टी बनना संभव न होगा, क्योंकि बाह्य सामाजिक रूप उन्हीं आंतरिक शक्तियों के फलस्वरूप रहता है।

यथार्थत: शक्ति एक है, वही हर मनुष्य में विद्यमान रहती है.तथा भिन्न-भिन्न कर्मों या कर्म-फलों के रूप में प्रकट होकर भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगती हैं, इसलिये यदि समूची दृष्टि से इस शक्ति का वर्णन किया जाय, तो कह सकते हैं कि यह वह शक्ति है, जिसका स्वाभाविक गुण है-कर्म अथवा श्रम करने का। अत: हम श्रम शक्ति कहें, तो उचित होगा। यह श्रम शक्ति किसी मनुष्य में किसी एक क्षेत्र में अच्छे प्रकार से प्रकाशित हो उठती है, तो किसी दूसरे में कुछ दूसरे प्रकार से असंस्कृत रूप में। श्रम शक्ति के ज्वलन्त प्रकाश की बहुधा गुण या सद्‌गुण संज्ञा दी जाती है और इन सद्‌गुणों से सम्पन्न मनुष्य को गुणसम्पन्न कहते हैं, इसलिये गाँधी का यह निर्णय है कि मनुष्य अपनी श्रम शक्ति का उपयोग उसका ट्रस्टी बनकर किया करे, चाहे वह साधारण मजदूर की श्रम शक्ति हो, या चतुर प्रवीण इन्जीनियर की, चाहे वह भुखमरे या बेकार की हो अथवा पूँजीपति अथवा संलग्न कर्मचारी की। मनुष्य अपनी उत्पन्न की हुई वस्तुओं का केवल उतना ही भाग अपने उपभोग में लायेगा, जितना उसे आवश्यक है। शेष बची मात्रा को वह जनता में वितरणार्थ छोड़ देगा। गाँधी का कहना है कि : *''श्रम और पूँजी दोनों आपस में एक दूसरे के ट्रस्टी बनकर काम करें और दोनों उपयोगियों (consumers) के सभी ट्रस्टी बनें।''*[१३]

निश्चय ही पृथ्वी पर पूँजी ही सब कुछ है, परन्तु श्रम के पास वह पूँजी है, जो पूँजीपति के पास कभी नहीं हो सकती। *रस्किन* ने इस बात की शिक्षा दी कि श्रम के पास अद्वितीय अवसर होते हैं। *सर डेनियल हेमिल्टन* जो एक अर्थशास्त्री हैं और पूँजीपति भी, जिसने वास्तव में यह प्रयोग किया, परन्तु अपनी आर्थिक खोजों और प्रयोगों द्वारा वह उन्हीं परिणामों पर पहुँचा, जिन पर रस्किन अन्त:प्रेरणा से पहुँचा था और वह श्रम के लिये एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सन्देश लाया। वह कहता था कि यह ख्याल नितान्त गलत है कि धातु का टुकड़ा पूँजी है, उत्पादन की अमुक मात्रा पूँजी है; बल्कि यदि इसकी जड़ में पहुँचे तो श्रम ही पूँजी है वह जिन्दा पूँजी अखण्ड है।[१४]

इस सन्दर्भ में गाँधी का मत है- *''मैं पूँजी और श्रम आदि के बीच सही संबंधों की स्थापना के पक्ष में हूँ। मैं किसी एक का दूसरे पर प्रभुत्व नहीं चाहता। मैं नहीं मानता कि दोनों में कोई जन्मजात बैर है।''*[१५] पुन: अगर पूँजी ताकत है, तो श्रम भी ताकत है। दोनों ही ताकतों का विनाश या निर्माण के लिये उपयोग किया जा सकता है। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं। ज्यों ही मजदूर अपने बल का अनुभव कर लेता है, उसकी स्थिति पूँजीपति का गुलाम रहने के बजाय उसका साझेदार बन जाने की होती है। अगर उसका उद्देश्य अकेले ही उद्योग का मालिक बन जाने का हो, तो वह बहुत सोने का अंडा देने

वाली मुर्गी को मार डालने का काम करेगा।[९६]

(iii) उदर पोषक श्रम

उदर पोषक श्रम या *'ब्रेड लेबर'* शब्द का निर्माण सर्वप्रथम रूसी लेखक *बान्डरिफ़* ने किया था। इस भाव का प्रचार बाद में *टॉलस्टाय* और *रस्किन* ने किया। गाँधी इन दोनो के विचारो से प्रभावित हुये, इसमे सन्देह नहीं है क्योकि उन्होने स्वयं यह कहकर स्वीकार किया है कि *''मनुष्य को जीवित रहने के लिये श्रम अवश्य करना चाहिए, इस सिद्धान्त का उदय मुझमें उस समय हुआ जब मैने ''ब्रेड लेबर'' पर टॉलस्टाय का लेख पढ़ा। इसके पहले से ही मैंने रस्किन की पुस्तक 'अन-टु-दिस लास्ट' पढ़ने के बाद उसकी उपासना करना प्रारम्भ कर दिया था।''*[९७] चूँकि, *''मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्तर में बसी हुई थी, उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब मैंने रस्किन के इस ग्रन्थ रत्न 'अन टु दिस लास्ट', में देखा और इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमा लिया एवं अपने विचारों के अनुसार मुझसे आचरण करवाया।''*[९८] *मेरे अन्तर में बसी हुई चीज क्या है? वही ईश्वरी नियम है कि हर मनुष्य को अपने हाथ से परिश्रम करके अपनी रोटी पैदा करनी चाहिए। इसके महात्म्य पर आधुनिक काल में पहले पहल जोर रूसी लेखक टी० एम० बान्डरिफ़ ने दिया था, तथापि इसका उल्लेख प्राचीन कालीन गीता और बाइबिल में मिलता है। गीता कहती है 'वह मनुष्य, जो बिना यज्ञ (त्याग) के भोजन करता है, वह चोर है।' यज्ञ का अर्थ यहाँ पर सिवाय ब्रेड लेबर के और कुछ नहीं हो सकता। बाइबिल कहती है कि 'तू अपनी रोटी उस समय खा, जब तेरी भृकुटी पसीने से भरी हो।*[९९]*''*

इस प्रकार ब्रेड लेबर उस शारीरिक श्रम का द्योतक है, जिसके द्वारा रोजी-रोटी अथवा उदर पोषक की सामग्री मिल जाया करे, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि मे उसका अर्थ उस सब शारीरिक श्रम से होता है, जिसके द्वारा न केवल खाद्य पदार्थ ही प्राप्त हो सके, वरन् जीवन को अन्य मूल आवश्यकताओं की भी सामग्री पैदा की जाती हो। इसके आगे जब हम हिन्दू कौटुम्बिक जीवन की कसौटी को हाथ में लेकर गाँधी के ब्रेड लेबर की कसौटी पर उतारने लगते हैं, तब तो इसमें सन्देह ही नहीं रहता क्योंकि वह न केवल उदर पोषक और तनाच्छादक श्रम को, बल्कि समस्त मूल आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले श्रम को भी पार कर जाता है और उससे भी अधिक व्यापक रूप धारण कर लेता है, अर्थात् हिन्दू कुटुम्ब में कोई भी सदस्य अर्थ हेतु कैसा भी शारीरिक श्रम क्यों न करे, उस सबमें उसका अभिप्राय केवल पेट भर भोजन कर लेने और बाकी का वितरण कर देने का रहता है, जो ट्रस्टीशिप का द्योतक है। इसीलिये गाँधी ने कहा *''यदि सब अपनी रोटी के लिये काम करने लग जायें तो वर्गीकरण के भेद समाप्त हो जायेंगे; फिर भी वहाँ धनी रहेंगे अवश्य, परन्तु वे अपने आप को अपनी सम्पत्ति का ट्रस्टी (निक्षेपधारी) समझने लगेंगे और उसका प्रयोग प्रधानत: जनहित के लिये करेंगे।''*[१००]

गाँधी की उदर पोषण की अवधारणा का उनके ट्रस्टीशिप सिद्धान्त में अपना विशिष्ट योगदान है। उदर पोषण की गाँधीवादी अवधारणा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपने रोटी पर अपने दावे को अधिकारस्वरूप व्यक्त करने के लिये जरूरी श्रम करना चाहिए जैसा गाँधी ने कहा : *''यहाँ विचार यह है कि प्रत्येक स्वस्थ व्यक्ति को अपने भोजन के लिये जरूरी कार्य करना चाहिये।''*[१०१] इस अवधारणा में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह है कि श्रम व्यक्ति को अपनी रोटी पाने का अधिकार तो देता

है, किन्तु उसे काम के बदले उसकी रोटी से ज्यादा हक नहीं बनता। गॉधी ने महसूस किया कि यदि सभी अपनी रोटी कमाने के लिये आवश्यक रूप से श्रम करेंगे और अपनी अत्यन्त जरूरी तथा तात्कालिक आवश्यकता को पूरा करने के लिये केवल जरूरत भर वापसी में हासिल करेंगे तो इस असामान्य समाज की ज्यादातर समस्याएँ स्वत: हल हो जायेंगी। तद्नुसार गॉधी ने लिखा : *''यदि सभी अपने उदर पोषण के लिये श्रम करेंगे और उससे ज्यादा नहीं, तो कोई जनसंख्या भार का कोलाहल नहीं होगा, कोई रोग और कोई ऐसी विपन्नता नहीं होगी जैसा कि हम अपने चारों ओर देखते हैं।''*[१०२]

वास्तव में गॉधी जी यह चाहते थे कि ऐसे औसत से अधिक या असामान्य काबिलियत वाले व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करेंगे पर उसके बदले में वे उसके लिये केवल वही पायेंगे जो उनकी वैधानिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जरूरी है। अतएव गॉधी का मानना है : *''हम ऐसी निर्जीव (जड़) समानता पैदा करना नहीं चाहते हैं, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी काबिलियत को सर्वाधिक सम्भाव्य सीमा तक प्रयोग करने में अक्षम बन जाता है अथवा कर दिया जाता है। अन्तत: ऐसे एक समाज को खत्म हो जाना चाहिए।''*[१०३] पुन: वे कहते हैं : *''नि:सन्देह व्यक्ति या तो अपने शरीरों के माध्यम से या मस्तिष्क के माध्यम से बहुत दूसरी चीजें करेंगे किन्तु यह सब कुछ सामान्य भलाई के लिये किया गया प्रेमपूर्ण उपक्रम होगा।''*[१०४]

इस प्रकार गॉधी के उदर पोषण की अवधारणा *''प्रत्येक को अपनी क्षमतानुसार, प्रत्येक को अपनी आवश्यकता अनुसार''* उक्ति का निरूपण करती है। गाँधी के लिये वर्तमान आर्थिक वैषम्यावस्था का मूल श्रम के सिद्धान्त का उल्लंघन है। वे जीविकार्थ श्रम को सभी के लिये अनिवार्य मानते हैं; इसका कोई भी अपवाद उन्हें स्वीकार्य नहीं है। उनका कहना है कि *''जीवित रहने के लिये मनुष्य को कार्य अवश्य करना चाहिए।''*[१०५] वे श्रम को प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्रदान करते हैं; यहाँ तक कि विनिमय के माध्यम के रूप में भी उसकी कल्पना करते हैं। उनका कथन है- *''मेरी व्यवस्था के अन्तर्गत चालू सिक्का श्रम होगा, धातु नहीं। जो व्यक्ति अपने परिश्रम का सिक्के के समान उपयोग कर सकेगा, धनी होगा। वही अपने परिश्रम को वस्त्र के रूप मे, अनाज के रूप में बदल सकेगा। यदि उसे पैरोफिन तेल की आवश्यकता हो, जिसे वह स्वयं उत्पन्न नही कर सकता तो तेल पाने के लिये वह अपने अतिरिक्त अनाज का उपयोग कर सकता है। वह स्वतन्त्र न्याय एवं समान शर्तों पर श्रम का विनिमय है, अत: यह डकैती नहीं है। यह आदिम वस्तु विनिमय व्यवस्था का अप्रत्यावर्तन है- यह कह कर आप इसका तिरस्कार कर सकते हैं, किन्तु क्या समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार वस्तु विनिमय व्यवस्था पर ही आधारित नहीं है।''*[१०६]

(iv) शारीरिक श्रम और यज्ञ

शारीरिक श्रम को गाँधी भगवद्गीता में निर्दिष्ट *'यज्ञ'* मानते थे। गीता के तृतीय अध्याय की अपनी टिप्पणी में गाँधी कहते हैं- *''हम यज्ञ को जन्म के साथ ही लाये हैं। यहाँ तक कि हमें यह शरीर केवल परमार्थ के लिये मिला है और इसलिये यज्ञ किये बिना जो खाता है, वह चोरी का खाता है।''*[१०७] गाँधी का कहना है : *''यहाँ यज्ञ का अर्थ केवल जीविकार्थ श्रम ही हो सकता है।''*[१०८] गीता के तृतीय अध्याय में व्यवहृत *'यज्ञ'* शब्द का अर्थ *''जीविकार्थ श्रम''* है या

आध्यात्मिक कर्मकाण्ड है, यह विवादास्पद विषय है। परन्तु, यदि हम कर्म को भौतिक जगत से सम्बद्ध करना चाहते हैं तो यज्ञ का अर्थ *''जीविकार्थ श्रम''* करना अत्यन्त उपयुक्त एवं संगत है। ऐसी व्याख्याओं में श्रीमद्‌भगवद्‌गीता का जीवन्त एवं मूर्त अर्थ प्रतिपादित होता है। उस पर विश्वास रखने के लिये हमें अवश्यमेव कुछ न कुछ *'जीविकार्थ श्रम'* करना चाहिए क्योकि यज्ञ सृष्टि का सहवर्ती है।[१०९] गाँधी स्पष्ट करते हैं कि *''हमारे यज्ञ सहित जन्मने का मतलब है कि हम हर दम के ऋणी या देनदार हैं, इसलिये हम जग के सदा के गुलाम हैं और जैसे स्वामी गुलाम को सेवा के बदले में खाना, कपड़ा आदि देता है वैसे हमें जगत का स्वामी हमसे गुलामी लेने के लिये जो अन्न वस्त्रादि देता है, वह कृतज्ञतापूर्वक लेना चाहिए। कुछ न कुछ नि:स्वार्थ सेवा हम सब जाने अनजाने में करते ही रहते हैं। यही चीज विचारपूर्वक करने से हमारी पारमार्थिक सेवा की वृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ेगी। उक्त व्याख्या के अनुसार विचारने पर हम देख सकते हैं कि जिससे जीवों का अधिक-से-अधिक क्षेत्र में कल्याण हो और जो कर्म अधिक-से-अधिक मनुष्य अधिक-से-अधिक सरलता से कर सकें, और जिसमें अधिक-से-अधिक सेवा होती हो, वह महायज्ञ है या अच्छा यज्ञ है।''*[११०]

गाँधी कृत यज्ञ के इस अर्थ का उद्देश्य स्पष्ट है जिसके प्रति सजग होने की प्रेरणा उन्होंने सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को अपने जीवन द्वारा भी दी। प्रतिदिन कोई न कोई ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे जग का यह कर्ज़ चुक जाये या अपनी आवश्यकता भर के लिये अन्न, वस्त्र लेकर बाकी का त्याग कर देना महायज्ञ है – इस प्रकार के दैनिक महायज्ञों में सबसे पहला जो यज्ञ इस परिभाषा के अनुसार गाँधी जी ने अपने जीवन में उतारा वह था *'चर्खा यज्ञ'*। *'यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो'* के सही अर्थों में प्रतिदिन सूत कातना, जिसमें से आवश्यकताभर को खुद को लिये लेना, बाकी का त्याग करना गाँधी जी ने अपना नियम बना लिया था। चर्खा जो सदा से ही भारतीय संस्कृति एवं परम्परा का हिस्सा था, गाँधी जी के हाथों में नए सन्दर्भों, नए आयामों से जुड़ गया। उन्होंने चरखे में ग्रामीण निर्धनता का निराकरण ढूंढा।

गाँधी आर्थिक शक्तियो के अर्थ को समझते थे और उसे पर्याप्त प्रमुखता भी देते थे, किन्तु उनका विश्वास था कि भौतिक पदार्थों के उत्पादन एवं वितरण की पद्धतियों का नैतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है। अतएव उन्होंने चर्खे पर आधारित समाज-व्यवस्था की अवधारणा की जो कि विकेन्द्रीकृत आर्थिक संगठन का प्रतीत है। यह व्यवस्था पूँजीवादी शोषण की समाप्ति, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की संरक्षा एवं बेकारी का उन्मूलन करने में समर्थ है- ऐसा उनका विश्वास था। गाँधी का स्वप्न चर्खे के द्वारा अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था की स्थापना करना था।

इस प्रकार चर्खा विकेन्द्रीकृत अर्थनीति का प्रतीक है और विकेन्द्रीकरण का विचार स्वदेशी चेतना का तर्कसंगत निष्कर्ष है। यह एक तरह से गाँधी वादी आर्थिक समाज व्यवस्था का मेरूदण्ड ही है। विकेन्द्रीकरण में, जहाँ मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता है : भोजन, वस्त्र एवं निवासगृह। गाँधी की इच्छा इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जनता को अधिकतम मात्रा में आत्मनिर्भर करना था। यद्यपि स्वदेशी की चेतना का उद्‌भव विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार के परिणामस्वरूप हुआ और इसी के मूर्तरूप में चर्खे का देशव्यापी प्रचार किया गया, तथापि बाद में चर्खा गाँधी जी के समस्त कार्यक्रमों का केन्द्र एवं उनके समग्र दर्शन का प्रतीक बन गया। भारत के स्वाधीनता संघर्ष में तो चर्खा मानो गाँधी के हाथों

में भगवान श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र जैसा अमोघ अस्त्र बन गया। इस प्रकार उनके चर्खें का आर्थिक दर्शन तत्कालीन समाज में प्रतीक बन गया- विरोध, पहचान, एकता, आर्थिक स्वातन्त्र्य तथा स्वावलम्बन का।

यज्ञ के अर्थो (चर्खा यज्ञ, मौन यज्ञ) के विस्तार की यह परंपरा नि:सन्देह गाँधी की अपनी देन थी। उसी क्रम मे हमने बाद में भू-दान यज्ञ, ग्रामदान यज्ञ आदि सर्वोदयी आन्दोलनों के संदर्भ में इस शब्द का गौरव सहित उपयोग देखा क्योंकि सार्वजनिक हित के कार्यो में गीता द्वारा उपदिष्ट यज्ञ का स्वरूप देखने की यह धारणा गाँधी जी के सर्वोदयी विचारधारा के अनुरूप है। स्वराज आंदोलन के आरम्भिक दिनो से ही इस विचारधारा पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा है। एक स्थान पर उन्होने *'याज्ञिक'* को सेवक बतलाया है। वे लिखते हैं–

''यज्ञ करने वाले अनेक सेवक मानते हैं कि हम निष्काम भाव से करते हैं, अत: लोगों से आवश्यकता भर को और अनावश्यक भी लेने का हमें परवाना मिल गया है। जहाँ किसी सेवक के मन में यह विचार आया कि उसकी सेवकाई गई, सरदारी आई, सेवा में अपनी सुविधा के विचार की गुंजाइश ही नहीं होती है। सेवक की सुविधा स्वामी–ईश्वर–देखे, देनी होगी तो वह देगा। यह ख्याल रखते हुये सेवक को चाहिए कि जो कुछ आ जाय, सबको न अपना बैठे। आवश्यकता भर को ही लें, बाकी का त्याग करे। अपनी सुविधा की रक्षा न होने पर भी शांत रहे, रोष न करे, मन में भी खिन्नता न लाये। याज्ञिक का बदला, सेवक को मजदूरी, यज्ञ–सेवा ही है।''[१११]

यज्ञ की जो व्याख्या चतुर्थ अध्याय में[११२] की गई है, अपने आप में युगान्तकारी और क्रान्तिकारी थी। *''कर्मज्ञान् विद्धि तान् सर्वान्''* से यह स्पष्ट किया गया है कि समस्त यज्ञ कर्म पर आधारित है। समाज द्वारा अलग-अलग लोगों के लिये निर्धारित कर्म ही यज्ञ है। *''नियतं कुरू कर्म त्वम्।''* उस यज्ञ की पूँजी समाज की है – यज्ञ से जो बचता है वह याज्ञिक का हो सकता है – *''यज्ञशिष्टामृत–भुज:''* और *''यज्ञशिष्टाशिन: सन्त:''*- का यह प्रमुख सिद्धान्त गाँधी की अर्थनीति का प्रेरक तत्व भी रहा है।

गॉधी ने इसका अर्थ भी इस प्रकार किया है– *''सृष्टि का नियम ही यह है कि कि अन्न से जीवों का निर्वाह होता है। अन्न वर्षा से पैदा होता है और वर्षा यज्ञ से अर्थात् जीवमात्र की मेहनत से उत्पन्न होती है। जीवमात्र श्रमजीवी है, कोई पड़े-पड़े नहीं खा सकता।''* इसी क्रम में *''यहाँ कर्म का व्यापक अर्थ है, अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तद्नुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञों को जानना है।''*

उपर्युक्त का तात्पर्य है कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभुप्रीत्यार्थ लोक सेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता। केवल बुद्धि-शक्ति को ही काम से लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं होता है। कर्म सेवा और यज्ञ का यह समन्वय गाँधी द्वारा गीता के उपदेशों के मन्थन से निकाला हुआ एक विचार-रत्न है। उन्होंने यज्ञ के पारंपरिक अर्थ में थोड़ा रूपान्तर कर इसे युग की समाज-नीति और आवश्यकताओं के अनुरूप ढाला और स्वयं गीता की उक्तियों और भावनाओं से उसका तादात्म्य सिद्ध किया।

(v) मानसिक और शारीरिक श्रम की दृष्टि से उदर पोषी श्रम की व्याख्या

यह स्पष्ट करने के पश्चात कि ट्रस्ट भाव विशिष्ट ब्रेड लेबर अर्थात उदर पोषी श्रम गाँधी मत की एक नवीनता है, हमें यह जानना भी आवश्यक है कि इस श्रम से शारीरिक श्रम का बोध क्यों और कितना होता है, और मानसिक श्रम उससे क्यों और कितना अलग किया जाता है।

श्रम प्रकृति की उपाधि है, आत्मा की नही। आत्मा की उपाधि है, निष्काम द्रष्टा जो पूर्ण है। वही शून्य है, क्योंकि वह अंधकार रहित है। इस अंहकार ही में सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर का आरोप किया जाता है। इसलिये आध्यात्मिक दृष्टि से शारीरिक श्रम का कोई प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह शरीर शून्य अर्थात् प्रकृति सुषुप्त संज्ञा है, इसलिये अहंकार से लेकर स्थूलाकृति (शरीर पर्यन्त) सभी कार्य शरीरिक श्रम की संज्ञा में आ जाते हैं तथा उन सबका समावेश लौकिक क्षेत्र में किया जाता है। उसके परे जो होता है, वही पारलौकिक नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु, इस लौकिक क्षेत्र को भी दो विभागों में विभक्त कर दिया गया है जिसमें एक तो सूक्ष्मता प्रधान है, उसे मानसिक क्षेत्र कहते हैं और जो स्थूलता प्रधान है, केवल उसे ही हमें शारीरिक क्षेत्र कहने लगे हैं। सच पूछा जाय, तो मानसिक क्षेत्र से जो अहंकार, मन, बुद्धि आदि का व्यापार चलता है वह सब शारीरिक श्रम कहे जाने योग्य है क्योंकि श्रम कर्म अथवा कृति ही शरीर संज्ञा है, परन्तु जब तक वह मानसिक व्यापार लोक में स्थूल रूप में प्रकट नहीं हो जाता, तब तक उसकी गणना लौकिक श्रम में नहीं की जाती।

सामान्यत: एक आम धारणा है कि बौद्धिक और शारीरिक श्रम एक दूसरे के विरोधी हैं। लेकिन बौद्धिक विकास के अर्थ के बारे में यदि हमारी समझ साफ हो तो हमें देखना चाहिए कि दोनों में कोई विरोध नहीं है। बौद्धिक विकास तो प्राय: विश्व से संबंधित अमुक तथ्यों की जानकारी मान लिया जाता है। लेकिन ऐसी जानकारी को सही अर्थ में नहीं कहा जा सकता। बौद्धिक प्रगति का परिणाम विवेक शक्ति का विकास ही होना चाहिए। शरीर श्रम को हानि पहुँचाकर उसे बढ़ाया जाय, तो उसके खिलाफ विद्रोह करना फ़र्ज़ हो जाता है। बुद्धि-शक्ति को सच्चा वेग देने के लिये भी शरीर श्रम की यानि किसी भी उपयोगी शारीरिक धन्धे में शरीर लगाने की जरूरत है।[११३] एक दूसरे उदाहरण में भी यही बात कही गयी है कि शरीर श्रम बुद्धि उत्पन्न वस्तु का मूल्यांकन, गुणस्तर बढ़ाता है। *''दिमागी काम भी अपना महत्व रखता है और जीवन में उसकी खास जगह है। लेकिन मैं तो शरीर श्रम की जरूरत पर जोर देता हूँ। मेरा यह दावा है कि उस फर्ज से किसी भी इन्सान को छुटकारा नहीं मिलना चाहिए। इससे इन्सान के दिमागी काम की उन्नति ही होगी।''*[११४]

''बौद्धिक श्रम और शरीर श्रम दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में एक साथ रह सकते हैं। उनमें से कोई भी दूसरे का स्थान नहीं ले सकता। मैं बौद्धिक श्रम के मूल्य की अगणना नहीं करता। लेकिन बौद्धिक श्रम कितनी ही मात्रा में क्यों न किया जाय, उससे शरीर श्रम की थोड़ी भी पूर्ति नहीं होती, जो कि हममें से हरेक सबकी भलाई के लिये पैदा हुआ है। बौद्धिक श्रम शरीर श्रम से निश्चित रूप से श्रेष्ठ हो सकता है, अक्सर होता है लेकिन वह शरीर श्रम का स्थान कभी नहीं लेता और न कभी ले सकता है, जैसे बौद्धिक श्रम भोजन में हम जो अन्न खाते हैं उसकी अपेक्षा ज्यादा उत्तम है, परन्तु वह अन्न का स्थान कभी नहीं ले सकता। सचमुच, पृथ्वी की उपज के अभाव में बुद्धि की उपज होना असंभव है।''

बौद्धिक परिश्रम आत्मा के लिये है और वह अपना पुरस्कार स्वयं ही है। अत: आदर्श राज्य में डाक्टर, वकील और इसी तरह के दूसरे बौद्धिक उद्योग करने वालों से यह आशा की जाती है कि वे समाज - कल्याण के लिये ही काम करेंगे, स्वार्थ के लिये नहीं।

शारीरिक श्रम से बुद्धि के विकास पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता और न उनसे नीरस एकविधता ही उत्पन्न होती है। यह बताया जा चुका है कि शरीर श्रम बुद्धि से उत्पन्न वस्तुओं की गुण-वृद्धि करता है। जहाँ तक एकविधता का सवाल है, शरीर श्रम के पक्ष में कम-से-कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह मुश्किल से कटने वाले उन घण्टों से ज्यादा उबाने वाला नहीं होता जब हम बिल्कुल खाली बैठे होते हैं। कोई भी काम, वह कितना भी मामूली क्यों न हो, यदि उसे सृजन के आनन्द से विमुक्त न कर दिया जाय, तो नीरस हो ही नही सकता। जहॉ शारीरिक श्रम का महत्व कुछ पैसे कमाने के लिये किया जा रहा हो वहाँ जरूर यह संभव है कि वह नीरस नहीं होता। अगर काम करने वाले को अपने काम की वैज्ञानिक जानकारी हो। यह मालूम हो कि वह क्यों किया जाता है, और कैसे किया जाता है और इस तरह उसकी जिज्ञासा को पोषण मिलता है, तो अपना काम उसे अवश्य रूचिकर मालूम होता है। कोई भी प्रश्न क्यों न हो यदि वह बुद्धिपूर्वक, उत्साहपूर्वक और भगवद्बुद्धि से या किसी आदर्श के लिये किया जाय, तो उसमें आनन्द अवश्य मिलता है और करने वाला उसमें ताज़गी महसूस करता है।

दु:ख की बात यह है कि हाथ की मजदूरी करने वाले लोगों को हिन्दू समाज में नीचा दर्जा किया गया है और उच्चतर जातियाँ उन्हें अपना समकक्ष नहीं मानती। हमारे देश में आज भी यह स्थिति है कि पैसे वाले और तथाकथित उच्च वर्गों के लोग शरीर श्रम के गौरव पर जोर देना गैर-जरूरी मानते हैं। ईमानदारी के साथ अपनी रोजी कमाने की इच्छा रखने वाले के लिये कोई भी काम नीचा नहीं है। सवाल यही है कि आदमी खुद ईश्वर के दिये हाथ पैर हिलाने को तैयार है या नहीं?[११५]

शरीर श्रम के साथ अकारण ही जो लज्जा का भाव जुड़ गया है उसे यदि दूर किया जा सके, तो औसत बुद्धिवाले सारे युवा पुरुषों और स्त्रियों के लिये हमारे पास काफी ज्यादा काम है। गाँधी की अहिंसा इस बात को असत्य मानती थी कि किसी स्वस्थ आदमी को, जिसने अपनी रोटी के लिये ईमानदारी से श्रम न किया, मुफ्त खिलाया जाये।

आगे, शरीर श्रम में अपने आप में कोई खूबी नहीं है। काम को कष्ट मानकर लाचारी से अरूचिपूर्वक भी किया जा सकता है, यह तो गुलामी की ही हालत होगी। इसलिये रोटी के लिये किये जाने वाले इस शरीर श्रम की पहली शर्त यह है कि स्वेच्छापूर्वक किया जाना चाहिए। अधिकांश लोगों को काम में आनन्द नहीं आता और महज काम के लिये काम नहीं करते। अगर अपनी रोटी कमाने के लिये काम करने की इन्हें जरूरत न हो, तो उन्हें काम करने की प्रेरणा ही नहीं होती। गाँधी जी के अनुसार हमें परिस्थितियों की लाचारी के कारण नहीं, बल्कि स्वेच्छापूर्वक श्रमिक बनना चाहिए।

गाँधी कहते हैं कि लाचारी से मालिक की आज्ञा मानना गुलामी की स्थिति है, जबकि स्वेच्छापूर्वक अपने पिता की आज्ञा के पालन में पुत्रत्व की शोभा है। इसी तरह शरीर श्रम के नियम में लाचारीपूर्ण पालन से गरीबी, बेकारी और असंतोष पैदा होते हैं। यह गुलामी की स्थिति है किन्तु उसका पालन स्वेच्छापूर्वक किया जाय तो वह संतोष और स्वास्थ्य को जन्म

देता है।[११६]

रोटी के लिये श्रम की दूसरी विशेषता यह है कि वह बुद्धिपूर्वक किया हुआ होना चाहिए। बुद्धि और परिश्रम में कोई विच्छेद नहीं है। इस सिद्धान्त की अवज्ञा के कारण ही भारतीय गाँवों की भयंकर उपेक्षा हुई है।

"श्रम के साथ जो बुद्धिपूर्वक किया हुआ" विशेषण लगाया, वह यह बतलाने के लिये लगाया गया है कि समाज-सेवा में श्रम तभी खप सकता है, जब उसके पीछे सेवा का कोई निश्चित हेतु हो, नहीं तो यह कहा जा सकता है कि हर एक मजदूर समाज सेवा करता है। एक प्रकार से वह समाज की सेवा करता ही है, पर जिस सेवा की यहाँ बात हो रही है वह समाज की सेवा है और जितने से उसका पेट भर जाय उतनी मजदूरी पाने का उसे हक है। इसलिये, इस प्रकार का ब्रेड लेबर समाज सेवा से भिन्न नहीं है।[११७] यह तो स्पष्ट ही है कि समाज सेवा से शरीर श्रम का कोई विरोध नहीं है। सोच समझकर किया हुआ रोटी का परिश्रम किसी भी समय समाज सेवा का उच्चतम रूप[११८] हो तो उससे देश की सम्पत्ति बढ़ती है।

रोटीश्रम की तीसरी विशेषता यह है कि वह सबके कल्याण की भावना से किया जाता है। जो भी श्रम किया जाता है वह फलासक्ति के बिना सेवा और त्याग की भावना से किया जाता है। इस सिद्धान्त के पालन से समाज की रचना मे एक नि:शब्द क्रान्ति ही हो जाती है। मौजूदा जीवन में संघर्ष की जगह पारस्परिक सेवा ले लेती है, जंगल के कानून की जगह सेवा का कानून चलने लगता है। इसमें संदेह नहीं कि जो लोग त्याग की भावना से काम करते हैं वे अपने इस श्रम से ही अपनी रोटी कमाते हैं। लेकिन उनका मुख्य लक्ष्य अपनी जीविका कमाना नहीं होता, वह उनके श्रम का एक प्रासंगिक फलमात्र होता है। त्यागमय जीवन कला की पराकाष्ठा है और वह सच्चे आनन्द से परिपूर्ण होता है।[११९] सदाचरण की भाँति सेवा भी अपना पुरस्कार आप है।

यह है ट्रस्ट भावयुक्त उदर पोषक श्रम का रहस्य, जो गाँधी जी ने समाज की उत्पादन गति को निश्चित करने के लिये उपस्थित किया है। यह तो सर्वविदित है कि उत्पादन केवल शारीरिक श्रम से नहीं हो सकता। उसके दो अंग और होते हैं–प्रकृति और पूँजी। पूँजी का जो आजकल बड़ा विशेष रूप दिखाई देता है, जैसे मशीन आदि उसे गाँधी जी पसंद नहीं करते। इसका मूल कारण यह है कि इन्हें तो हर व्यक्ति को, जो गरीब से गरीब है, उत्पादन में जुटाना है, इसलिये हमें वह युक्ति चाहिए, जिसमें कम से कम पूँजी लगे। इसी दृष्टि से गाँधी ने यहाँ तक कहा है कि मनुष्य का बौद्धिक गुण ही उसकी पूँजी है।

(vi) मानव में गाँधी का आस्था-भाव और ट्रस्टीशिप

गाँधी की मनुष्यों की आधारभूत अच्छाई में गहरी आस्था थी। दिव्यता और परिशुद्ध सत्ता की चिंगारियों के रूप में व्यक्ति अपने आप में मूलत: भले होते हैं इसीलिये गाँधी ने कहा : *"व्यक्ति एक सर्वोच्च विचार है।"*[१२०] यदि कुछ व्यक्ति अभावग्रस्त या अकुशल पाये जाते हैं तो गाँधी ऐसी अभावग्रस्तता या अकुशलता को उनके दूषित पर्यावरण को आवंटित करते थे। अत: गाँधी का अभिमत था कि *"गलत काम करने वाला अक्सर एक व्यवस्था का पुर्जा या परिस्थितियों का शिकार होता है।"*[१२१] पर्यावरण से अकलंकित यदि उसे स्वयं तक छोड़ दिया जाय तो प्रत्येक व्यक्ति अपने चरित्र में दिव्यता

प्रदर्शित् करेगा। ऐसी अनन्य आस्था से उत्प्रेरित हो गाँधी ने लिखा : *"मैं मानव स्वभाव पर संशय करने से इंकार करता हूँ।"*[१२२]

मानव स्वभाव में उनकी आस्था ब्रिटिश साम्राज्यवाद तथा ब्रिटिश शोषणवादी व्यवस्था के प्रति घृणा के बावजूद उनके ब्रिटिश लोगों से प्रेम को दिखाती है, जैसा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद से असहयोग के परिप्रेक्ष्य में गाँधी ने कहा : *"असहयोगियों ने कभी लोगों से नहीं कहा कि ब्रिटिश अथवा जनरल डायर बुरे थे, बल्कि यह कि वे एक व्यवस्था के शिकार थे। इसलिये उस व्यवस्था को खत्म करना चाहिये न कि व्यक्ति को।"*[१२३] जैसा उन्होंने आगे कहा: *"मैंने यह पाया है कि मानव अपनी प्रतिपादित व्यवस्था से श्रेष्ठतर होता है और इसलिये मैं महसूस करता हूँ कि अंग्रेज व्यक्तियों के रूप में उस व्यवस्था से असीम रूप से बेहतर हैं जिसे उन्होंने एक निगम के रूप में विकसित किया है।"*[१२४] एक विदेशी आगन्तुक के एक प्रश्न कि अहिंसक हड़ताल, असहयोग और सत्याग्रह के परिणामस्वरूप क्या अंग्रेजों को भारत छोड़ना चाहिये, गाँधी का उत्तर एक दृढ़ *"हाँ"* में था। अपने विश्वास के आधार के परिपूरक के रूप में गाँधी का प्रत्युत्तर था कि : *"मैं अपनी आस्था को ईश्वर और उसके न्याय पर आधारित करता हूँ।"* परन्तु उनकी ईश्वर में आस्था सभी मानवों जो कि दैवीय ज्वाला की चिंगारी हैं, कि आधारभूत अच्छाई में उनके विश्वास को प्रज्जवलित करती थी और भारत पर शासन कर रहे ब्रिटिश लोग उसके अपवाद नहीं थे। अंग्रेजों द्वारा स्वेच्छा से भारत छोड़ने की बात पर सन्देह करने वाले आलोचकों को दिये अपने उत्तर में जैसा गाँधी ने कहा, *"आपकी समस्या आपके यह मानने के गैर झुकाव से पनपती है कि ब्रिटेन कभी स्वेच्छा से न्याय कर सकता है। अहिंसा की क्षमता में मेरा विश्वास मानव स्वभाव की स्थाई आलोच्यता के सिद्धान्त को अस्वीकृत करता है।"*[१२५] जयप्रकाश नारायण जिनकी उसके बारे में भारी शंकाएँ थी, के उत्तर में गाँधी ने लिखा : *"शायद श्री जयप्रकाश की स्वत: अपनी राजशाही समर्पित करने वाले राजकुमार में कोई आस्था नहीं, मेरी है ....क्योंकि वे अच्छे प्राणियों के रूप में हमारे जितने ही हैं।"*[१२६]

पूँजीपतियों, बुर्जुआ और विशेषाधिकृत वर्गों के नि:स्वार्थ और आत्मबलिदानी स्वभाव में भी गाँधी की अगाध आस्था थी। गाँधी का अभिमत था कि विशेषाधिकृत लोग या पूँजीपति और लाखों मेहनतकशों का शोषण इसलिये नहीं कर रहे थे कि वे मूलत: बुरे हैं बल्कि इसलिये कि वे एक पापी व्यवस्था जिसका नाम पूँजीवाद है, के शिकार बन गये थे। गाँधी के अनुसार प्रत्येक मानव ह्रदय में एक ज्यादा बारीक सूक्ष्मतर और ज्यादा प्राणमय तार है, जो सौम्य, आत्मबलिदानी और दूसरों के लिये करुणा से परिपूर्ण है। कभी-कभी इस तार पर लोभ, स्वार्थ और अहंकार की गर्त इकट्ठी हो जाती है, परन्तु सही रूप से सम्भालने पर मानव ह्रदय में यह सूक्ष्म तार दूसरों के हित के लिये बलिदान, आत्म कष्ट-वरण और परित्याग के सुरीले संगीत को प्रसारित करेगा। अतएव गाँधी ने कहा- *"प्रत्येक मानव ह्रदय में तन्तु होते हैं, यदि हमें सिर्फ यह पता हो कि सही तन्तु को कैसे छेड़ा जाय, तो हम संगीत निकाल सकते हैं।"*[१२७] आगे उन्होंने कहा : *"हमें मानवों के भीतर अच्छाई को अपील और अनुक्रिया की आशा करनी चाहिये।"*[१२८] तदनुसार गाँधी पूँजीपतियों का नहीं वरन् शोषण तथा स्वार्थमय होड़ की पूँजीवादी व्यवस्था के सफाये की बात करते हैं। वह पूँजीवाद के शत्रु थे, न कि पूँजीपतियों के। जैसा कि उन्होंने कहा: *"मैं पूँजी से लड़ने में नहीं हिचकिचाता, मैं पूँजीवाद से लड़ता हूँ।"*[१२९]

पूँजीपतियों और विशेषाधिकृत लोगों में ईश्वरीय भावावेग पर निर्भर होते हुये गाँधी ने लिखा : *"मैं पूँजी और श्रम के बीच सही सम्बन्धो की स्थापना का पक्षधर हूँ .... मैं नहीं सोचता कि उनके बीच कोई विरोधी द्वन्द्ववादिता है।"*[१३०] चूँकि वह पूँजीपतियों और श्रमिकों के मध्य कोई द्वन्द्ववादिता नहीं देखते थे तथा मानव और उसकी नि:स्वार्थता में गहरा विश्वास रखते थे, उनका मत था कि अपने साथियों के लिए दया-भाव से उत्प्रेरित समाज के धनाढ्य वर्ग समुदाय के वास्ते अपनी आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति के न्यासियों के रूप में कार्य कर सकते हैं। अतएव जैसा गाँधी ने कहा : *"मैंने हमेशा कहा है कि मेरा यह आदर्श है कि पूँजी तथा श्रम को एक दूसरे का अनुपूरक होकर मदद करनी चाहिए। उन्हें एकता तथा समन्वय में जी रहे एक महान परिवार होना चाहिए, (जिसके अन्तर्गत) पूँजी को श्रमिको के न सिर्फ भौतिक कल्याण को देखना चाहिये, अपितु उनके नैतिक कल्याण को भी ----- (क्योंकि) पूँजीवादी अपने अधीनस्थ श्रमिक वर्गों के कल्याण के लिये न्यासी हैं।"*[१३१]

मानव में अपनी आस्था के अतिरिक्त, कितने ही घटिया और पतित व्यक्ति के पुनरुत्थानवादी सुधार में उनकी आस्था था उनके ट्रस्टीशिप सिद्धान्त में योगदान करती है। चूँकि सभी व्यक्ति मूलत: अच्छे हैं और केवल प्रतिकूल परिस्थितियाँ और अशुभ व्यवस्था उनके आचरण एवं चरित्र को कलंकित करती है, अतएव मानव चरित्र में ये कलंक अत्यन्त सतही एवं क्षणिक हैं; जिन्हें सचेत मानव उपक्रम से मिटाया जा सकता है, तथा मानव चरित्र तद्पश्चात् पुन: एक बार देदीप्यमान होगा। इसलिये, गाँधी ने लिखा : *"कितने ही पतित व्यक्ति की मानवीय और दक्ष उपचार के अधीन सुधार की सम्भावना में व्यक्ति को विश्वास रखना चाहिये।"*[१३२] वर्ग-संघर्ष और पूँजीवाद पर नेहरू के नजरिये पर टिप्पणी करते हुये अप्रैल, १९३७ में गाँधी सेवा संघ, हुबली (बेलगाम) की वार्षिक सभा को सम्बोधित करते हुये गाँधी ने कहा : "इसमें कोई सन्देह नहीं कि पूँजी जीवन विहीन है, परन्तु पूँजीपति नहीं जो व्यक्तित्वान्तरण के प्रति प्रमाण्य हैं।"[१३३]

(vii) अहिंसक समाजवादी अवधारणा तथा ट्रस्टीशिप

गाँधी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा उनके अहिंसक समाजवाद के सिद्धान्त (अथवा अहिंसक प्रविधि के प्रयोग द्वारा समाजवाद) के एक सीधे उपाख्यान के रूप में भी चित्रित होती है। अहिंसा के पुजारी होने के नाते शोषण तथा हिंसा रहित एक साम्यवादी समाजवाद की उनकी इच्छा समानता, भ्रातृत्व और बन्धुत्व पर आधारित थी और इसीलिये अपनी प्रविधि के एक हिस्से के रूप में हिंसा को वह समाप्त कर देना चाहते थे। गाँधी के आर्थिक समानता के विचारों का समेकित सम्पुञ्ज --- 'अहिंसक समाजवाद' प्राकृतिक योजना से उद्धृत है। वे कहते हैं कि *"एक तरह से हम लोग चोर हैं यदि हम कुछ ऐसा लेते हैं जिसकी हमें तुरन्त जरूरत नहीं होती तब भी उसे रखते हैं, तो हम किसी दूसरे का हिस्सा मारते हैं। अगर हम प्राकृतिक योजना का अनुसरण करते हुए अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप ही चीजों को लें, और उससे ज्यादा नहीं, तो कोई भी गरीबी नहीं रहेगी और कोई भी भुखमरी से नहीं मरेगा। परन्तु, जब तक कि यह असमानता बनी हुई है, तब तक हम चोरी कर रहे हैं।"*[१३४] आगे वे कहते हैं : *"यदि सभी मनुष्य सेवा के दायित्व को महसूस करेंगे, वे धन की होड़ को एक पाप मानेंगे, तब धन की कोई असमानताएँ नहीं होगी और परिणामस्वरूप कोई भुखमरी या दारिद्रय नहीं होगा।"*[१३५] सम्पत्ति

अधिकृत्य में भविष्य के लिये प्रबन्धन सन्निहित है। एक सत्यान्वेषी या एक प्रेमानुगामी आने वाले कल के विपक्ष में कुछ भी पकड़ कर नहीं रखता। ईश्वर कभी कल के लिये इकट्ठा करके नहीं रखते, उन्होंने कभी भी तत्क्षण आवश्यकता से ज्यादा सृजित नहीं किया। अतएव, हमें उनकी कृपा में आस्था अधिष्ठापित करनी चाहिए। हमें यह सत्यनिष्ठ रूप से विश्वास होना चाहिये कि वे हमारी आवश्यकता की सभी चीजें प्रदान करेंगे।[१३६] परन्तु, इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उन्होंने कभी यह सुझाया है कि हमें कुचल देने वाली विपन्नता में जीना चाहिये, यह नैतिक अद्योगपति की ओर ले जायेगा। *"प्रत्येक प्राणी को जीने का एक अधिकार है और इसीलिये स्वयं को पोषित करने के लिये उपार्जन प्राप्त करने और जहाँ जरूरी हो अपने निवास और कपड़े का प्रबन्ध करने का अधिकार।"*[१३७] एक देश का आर्थिक संविधान ऐसा होना चाहिए कि *"कोई भी अन्न और कपड़े की जरूरत से पीड़ित न हो, और यदि जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जन समुदाय के नियंत्रण में रहते है तो इस आदर्श की सार्वभौमिक उपलब्धि हो सकती है। यह सभी को उसी तरह स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध होना चाहिये जैसे कि ईश्वर की हवा और पानी है या होनी चाहिए; उन्हें दूसरों के शोषण के संचालन का एक साधन नहीं बनना चाहिए। किसी देश, राष्ट्र या व्यक्तियों के एक समूह द्वारा उनका एकाधिकार अन्यायोचित होगा।"*[१३८] इसलिए, वह मानते थे कि, *"मेरा आदर्श समान वितरण है, पर जिस सीमा तक मैं देख सकता हूँ, इसे नहीं हासिल किया जा सकता। अत: मैं न्यायपूर्ण वितरण को अनुमोदित करता हूँ।"*[१३९] वह असमानता नहीं करते थे; क्योंकि आर्थिक समानता *'स्वराज'* की मुख्य कुंजी है। पूँजीवादियों को उनकी यह चेतावनी एक निवारक के रूप में अत्यन्त समीचीन है: *"एक दिन एक हिंसक और खूनी क्रांति का होना एक निश्चितता है, जब तक कि शक्ति और सम्पदा का एक स्वैच्छिक परित्याग नहीं होता, जो कि धनाढ्य सामान्य हित के लिये उनको बाँटे हुये अब देंगे।"*[१४०] लेकिन उन्होंने हमेशा यह माना कि *"निम्नतम और न्यूनतम तक हिंसा के द्वारा सामाजिक न्याय को उपलब्ध कराना असम्भव है।"*[१४१] गाँधी आर्थिक समानता तो चाहते थे, लेकिन हिंसा के द्वारा नहीं। अहिंसा पर उनकी निर्भरता ने उन्हें ट्रस्टीशिप का एक पक्षधर बना दिया, जिसके माध्यम से पूँजीवादी और कम्यूनिस्ट दोनों के समाजों की समस्याओं को हल किया जा सकता है।

अहिंसा की अवधारणा जो सभी समस्याओं के लिये गाँधी की रामबाण औषधि है, के अनुसार अपरिग्रह और दान किसी के सामाजिक आचरण में प्रेम या अहिंसा के परिमापन हेतु वास्तविक मानदण्ड हैं। समुदाय के लिये अपरिग्रह एवं दया की मात्रा में वृद्धि के समानुपाती अहिंसा या प्रेम के मापक पर व्यक्ति का उत्थान होता है इसलिये अहिंसा में सच्ची आस्था रखने वाले अपने साथी लोगों के लिये अपनी परम आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति का त्याग करेंगे। जैसा गाँधी ने कहा भी है : *"जितनी जल्दी एक व्यक्ति अपने को समाज के सेवक के रूप में देखना प्रारम्भ करता है, उसके लिये कमाता और उसके हित के लिये व्यय करता है, तब उसकी कमाई में शुचिता प्रवेश कर जाती है तो उसके कमाई के उपक्रम में अहिंसा होती है।"*[१४२]

परन्तु, चूँकि वे एक *'व्यावहारिक आदर्शवादी'* थे, वे यह निरूपित करने में कभी असफल नहीं रहे कि ऐसा समग्र अपरिग्रह एक प्रशंसनीय और उदात्त आदर्श तो जरूर है, लेकिन बहुतों के लिये समाज के हितों के साथ अपने हितों को

समेकित करते हुये अपने सम्पत्ति का पूर्ण परित्याग करना लगभग असम्भव है। जैसा कि उन्होंने कहा : *"वास्तविक जिन्दगी मे हम शायद ही पूर्ण प्रेम कर सके क्योकि सम्पत्ति के रूप में शरीर हमेशा हमारे साथ रहेगा। मनुष्य सर्वदा अपूर्ण ही रहेगा और पूर्णता के लिये प्रयास करना ही हमेशा उसका कर्त्तव्य होगा। इसलिये प्रेम या अपरिग्रह में ऐसी परिशुद्धता हमारे जीवित रहने तक एक अप्राप्य आदर्श बनी रहेगी।"*[१४३] अत: *अरस्तु* के समान महज बादलों में उड़ने के बजाय, गाँधी ने एक द्वितीय सर्वोत्तम व्यावहारिक हल सोचा था। यद्यपि सम्पत्तिवान वर्ग के बहुत सारे सदस्यों के लिये पूर्ण परित्याग एक व्यावहारिक मसौदा नहीं, फिर भी अहिंसा तथा प्रेम के दर्शन से उत्प्रेरित लोगों को आदर्श प्राप्ति के लिये सतत् प्रयास करना चाहिए। यद्यपि पूर्ण अपरिग्रह व्यावहारिक नहीं, तथापि अर्जनवादिता और लोलुपता का परित्याग कर सार्वभौमिक प्रेम एवं अहिंसा में विश्वासकर्ता धन और सम्पत्ति के प्रति निर्लिप्त-भाव का विकास कर तथा सुखों और वैभवों से रहित एक सादगी भरा जीवन-यापन कर उस दिशा में प्रारम्भिक कदम उठा सकता है। अत: गाँधीवादी अहिंसा तथा व्यावहारिक अपरिग्रह का सिद्धांत ट्रस्टीशिप के सिद्धांत को अपनाये जाने की ओर इंगित करता है।

गाँधी की अहिंसक समाजवाद की मान्यता उनके ट्रस्टीशिप के सिद्धांत को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी न्यायोचित ठहराती है। समाजवादी, विशेषकर मार्क्सवादी, राज्य-क्रिया या राज्य के हाथों में आर्थिक शक्ति के एकीकरण पर बहुत विश्वास करते हैं। राज्य सभी आर्थिक क्रियाओं का मुख्य उत्पादक तथा नियोक्ता और एकमात्र नियंत्रक हो जाता है; परन्तु ऐसे एक सम्पूर्ण राज्य प्राधिकारिता और नियंत्रण की व्यवस्था के अंतर्गत, व्यक्ति अत्यधिक हिंसा भुगतता है। गाँधी जिन्होंने यह अनुभव किया कि राज्य हिंसा का प्रत्यक्ष मानवीकरण था तथा सशंकित थे कि हिंसक बनने की उसकी क्षमता भड़ककर बढ़ सकती है, यदि आर्थिक शक्ति राज्य के हाथों में केन्द्रीकृत हो जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में वे ट्रस्टीशिप को प्रभावी समाजवादी परिवर्तन के लिए एक वैकल्पिक उपकरण के रूप में देखते थे। जैसा कि उन्होंने लिखा : *"वह (राज्य की माल्कियत) निजी माल्कियत से बेहतर है, किन्तु वह भी हिंसा के आधार पर आपत्तिजनक है। यह मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि राज्य हिंसा के द्वारा पूँजीवाद का दमन करता है तो वह स्वयं हिंसा के पापों में उलझ जायेगा और किसी भी समय अहिंसा विकसित करने में विफल रहेगा। राज्य एक संतृप्त और संगठित हिंसा का प्रतिनिधित्व करता है। व्यक्ति के पास एक आत्मा है किन्तु, चूँकि राज्य एक आत्मविहीन मशीन है, इसलिये उसे हिंसा जिसकी वो अपने अस्तित्व के लिये ही ऋणी है, से कभी अलग नहीं किया जा सकता है। अत: मैं ट्रस्टीशिप की अवधारणा को प्राथमिकता देता हूँ।"*[१४४]

(viii) अर्थक्रियावादी विवेचना तथा ट्रस्टीशिप

गाँधी धनिकों के ट्रस्टीशिप को अर्थक्रियावादी विवेचनाओं की दृष्टि से न्यायोचित ठहराते थे। एक व्यावहारिक आदर्शवादी के रूप में उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय अर्थव्यवस्था जो उनके समय में एक अविकसित अवस्था में थी, एक वैभव के समानतामूलक समाज का सूत्रपात करने में सफल नहीं होगी, यदि राज्य सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को या तो अधिग्रहण या मुआवजा देकर स्वहस्तगत कर लेता है। दूसरी ओर वास्तविक स्वराज का मतलब अर्थव्यवस्था के विभिन्न हिस्सों में पर्याप्त उत्पादन या अर्थव्यवस्था के विभिन्न हिस्सों को पूर्ण कार्यकुशलता और ऊर्जा के संग सक्रिय करना प्रकल्पित करता

है। इसके लिये अर्थव्यवस्था की बागडोर क्षमता, उद्यमता, अनुभव, औद्योगिक और व्यापारिक गुणवत्ता वाले व्यक्तियों के हाथों मे होनी चाहिए। व्यापारिक मनोवैज्ञानिकता से रहित एक आदर्शवादी और एक युगदृष्टा होते हुये भी गाँधी इस बात को समझने में विफल नही रहे कि आर्थिक सम्पन्नता के लिये आर्थिक संस्थाओं का संचालन ऐसे व्यक्तियों द्वारा अनिवार्य है, जिन्हें औद्योगिक और व्यापारिक इकाईयाँ स्थापित करने, देखरेख करने और चलाने का अनुभव है। आदर्शवादी होते हुये भी गाँधी यह महसूस करने के लिये इतने तो व्यावहारिक थे ही कि यद्यपि पूँजीवाद और पूँजीपतियों का स्वअर्जनवादी और शोषणवादी स्वभाव गैर-अनुकरणीय और भर्त्सना के लायक है, लेकिन उत्पादन के एक कारक के रूप में पूँजी अनिवार्य है और पूँजी का संचयीकरण जो कि राष्ट्र की सम्पन्नता के लिये आवश्यक है एक ऐसा विज्ञान तथा कला है, जिसे कोई भी और प्रत्येक सिद्धहस्त नहीं कर सकता है। दूसरी ओर वह मानते थे कि यदि पूँजीपतियों को ऐसी इकाइयों का अर्जन करने, उन्हें लाभदायक बनाने, सही और वैधानिक साधनों से वाजिफ मुनाफा कमाने और उस तरह उत्पादित अतिरिक्त धन - अपनी अनिवार्य और वैध आवश्यकताओं से ज्यादा धन - को उनके ट्रस्टियों के रूप में कार्य करते हुये समाज के हित में अनुमन्य कर दिया जाय तो समाज ज्यादा समृद्ध होगा। तद्नुसार गाँधी ने कहा : *''हमें व्यापारिक प्रतिभा और जानकारी को कम नहीं आँकना चाहिए जिसे सम्पत्तिवान वर्ग ने पीढ़ियों के अनुभव तथा विशेषीकरण के माध्यम से अर्जित किया है।''*[१४५]

अत: गाँधी पूँजीपतियों की क्षमताओं का लाभ उठाना चाहते थे। वह एक ऐसी विधि इज़ाद करना चाहते थे जिसके द्वारा पूँजीपति अपनी लोलुपता, अहंकार तथा स्वअर्जनवादिता को छोड़कर समाज के हित में अपनी सेवाएं उपलब्ध कराएँ। अण्डे देने वाली मुर्गी को मारने के बजाय वह उसे पालतू बनाकर एक समतामूलक समाज के उद्देश्य के लिये सेवार्पित करना चाहते थे। पूँजीवादी मुर्गी को पालतू बनाने की विधि ट्रस्टीशिप की प्रविधि है। इसलिये जैसा गाँधी ने कहा : *''वास्तव में कुछ लोग अपनी क्षमतानुसार ज्यादा और दूसरे कम कमायेंगे। प्रतिभाओं के साथ लोग ज्यादा कमायेंगे और अपनी प्रतिभाओं का इस उद्देश्य के लिये उपयोग करेंगे। यदि वे अपनी प्रतिभाओं का प्रयोग उदारता से करेंगे, तो वे राज्य के कार्य को सम्पादित करेंगे। ऐसे लोग ट्रस्टी के रूप में बिना किसी अन्य शर्तों के होंगे। मैं एक बुद्धिमान को ज्यादा कमाने की अनुमति देता हूँ, मैं उसकी प्रतिभा को कुण्ठित नहीं होने देना चाहता हूँ। परन्तु, उसकी कमाई का ज्यादातर हिस्सा उसी प्रकार राज्य की भलाई के लिये प्रयुक्त होना चाहिये जिस प्रकार पिता के सभी कमाऊ पुत्रों की आय सामान्य पारिवारिक निधि में जाती है। वे अपनी कमाईयों के केवल ट्रस्टी के रूप में रहेंगे।''*[१४६] लगभग डेढ़ दशक बाद लिखते हुये गाँधी ने उसी विचार को व्यक्त किया जब उन्होंने कहा : *''उन्हें (पूँजीपति) अपनी सम्पत्तियों की माल्कियत रखने और अपनी प्रतिभा को धनवृद्धि के लिये प्रयुक्त करने की अनुमति होगी, लेकिन अपने लिये नहीं बल्कि राष्ट्र के लिये और इसीलिये बिना शोषण के होगी।''*[१४७]

अत: ट्रस्टीशिप में ऐसे गाँधीवादी विचार का अभ्युदय होता है जिसके अधीन सम्पन्न और धनिकों को सामाजिक पुनर्संरचना की उनकी व्यवस्था में एक प्रतिष्ठित और वैध स्थान आवंटित किया जाता है, जिसका उद्देश्य विपुलता के एक समतामूलक समाज के मार्ग को प्रशस्त करना है। ऐसी व्यवस्था के अन्तर्गत पूँजीपति अपने सम्पत्ति को रखते हुये अपनी अर्जनवादिता का प्रयोग करेंगे और स्वयं को सामाजिक परिवर्तन का साधन बनायेंगे। यदि वे ऐसा व्यवहार करेंगे तो समाज

से हिंसा के बीज और शोषण की चुभन खत्म हो जायेगी तथा समाज क्रमशः एक समतामूलक समाज की प्रकृति और आकार को ग्रहण कर लेगा। तद्नुसार गाँधी ने लिखा : *"अतः मेरा यह सुझाव कि धनिक ईमानदारी से करोड़ों कमा सकते हैं किन्तु उसे सभी की सेवा में समर्पित कर देंगे, पूर्णतः सही है .... वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर जिसमें से प्रत्येक अपनी पड़ोसी की फिक्र किये बिना केवल अपने लिये जी रहा है, यह सार्वभौमिक हित की एक नई जीवन व्यवस्था को विकसित करने का सर्वाधिक निश्चित तरीका है।"*[१४८] जैसा कि डॉ० *गजेन्द्र गदकर* का अभिमत है : *"अहिंसा के महान प्रतिपादक जैसे वे थे, वे वर्ग-संघर्ष और हड़ताल तथा तालाबन्दी की अनिवार्यता के विचार को सहन नहीं करते थे। उन्होंने सोचा कि यदि नियोक्ता और उद्योगपति स्वयं को ट्रस्टी के रूप में मानें, तो औद्योगिक समन्वय को विकसित करने की समस्या तथा आर्थिक न्याय को यथार्थ बनाने की दृष्टि प्रेम के नियम के बल पर अहिंसक रूप से हल एवं फलीभूत की जा सकती है।"*[१४९]

खण्ड (ग) मूल्यांकन

मानव अर्थशास्त्र के सन्दर्भ में सामान्य तौर पर प्रयुक्त किया जाने वाला शब्द *'अनर्ह'* होता है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य की जैविक और मानसिक रूप में संतुष्टि की इच्छा सदा उद्देश्यहीन, अमर्यादित और असीम बनी रहेगी। गीता-दृष्टि में इन्हें *'असंतुष्ट्य आवश्यकताएँ' (दुश्पूर्णात्रियलेणा)* कहा गया है। जब तक मनुष्य स्वयं इन आवश्यकताओं के संतुष्टिकरण पर कतिपय नियंत्रण नहीं लगाता, तब तक उपभोगवादिता की एक अराजकता विद्यमान रहेगी। इसी प्रकार यदि मनुष्य प्रचुरता के समाज में मात्र उत्पादित करता चला जाय और वह उतना ही ले जितना उसे आवश्यक है तो मानवता दूसरे पाप यानि संसाधनों के विलासी अपव्यय को फलित करती उत्पादनात्मक अराजकता के पाप से पीड़ित रहेगी। दूसरी ओर यदि उसका अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रत्येक आवश्यकता को संतुष्ट करने के लिये प्रत्येक वस्तु मिलेगी, तो इसका अर्थ अनियंत्रित उपभोग या सभी आवश्यकताओं की अधिकतम परितुष्टि होगी।

गीता का अनासक्ति योग मानवता को उस गड्ढे से बचाता है जिसमें *'सबको अपनी आवश्यकता अनुसार'* की अस्पष्ट मान्यता गिरा सकती है। गीता का अनासक्ति योग एक *'आवश्यकता-उन्मुख'* सूत्र को *'वितरणात्मक न्याय'* के आधार के रूप में स्थापित करने से परहेज करता है। चूँकि, एक व्यक्ति की आवश्यकता उसकी क्षमताओं और समाज को उसके योगदान के विलोमानुपाती हो सकती है। अतः गीता का विधान यह है कि जब तक व्यक्ति समाज की उत्पादक प्रक्रिया में अपने ठीक भागेदारी का योगदान नहीं करता उसे समाज के कुल उत्पाद में से अपने हिस्से के फायदे से लाभान्वित होने नहीं दिया जायेगा। जो *'अनुपार्जित आयों'* पर जीते हैं, उनकी चोरों के रूप में भर्त्सना करते हुये गीता कहती है : यज्ञ द्वारा बढ़ाये हुए देवता लोग तुम्हारे लिये बिना माँगे ही प्रिय भोगों को देंगे, उनके द्वारा दिये हुये भोगों को जो पुरुष उनको बिना दिये ही भोगता है, वह निश्चय चोर है। दूसरे शब्दों में, जो समाज के लिये कार्य नहीं करते उन्हें उससे कुछ भी लेने का अधिकार नहीं है। यह नियम यह प्रकल्पित करेगा कि व्यक्ति समाज से इतने ही का दावा करेंगे, जितना उनके काम के समानुपाती होगा। यदि आवश्यकता अभिमुखीकृत सूत्र को अपनाया जाता है तो आवश्यकताओं के मापन की समस्या खड़ी हो जायेगी। कौन यह निर्णय करेगा कि एक व्यक्ति या एक वर्ण की क्या आवश्यकताएँ हैं? यह मापन भी व्यक्ति-व्यक्ति के लिये भिन्न होगा।

इसलिये, आवश्यकताओं की सनकों को संयमित करने के लिये गीता में अपरिग्रह का सूत्र प्रस्तुत किया गया है (४.२१,६.१०)। गाँधी भी मानते हैं कि असंदिग्ध रूप से कुछ भौतिक आवश्यकताओं की तृप्ति शरीर के लिये आवश्यकताओं को बढ़ाते जाना नहीं, बल्कि उनको कम करते जाना होना चाहिए। उनका उद्देश्य है न्यूनीकरण और अन्त में, उनका सर्वथा अभाव।

गीता निहित *'अपरिग्रह'* जिससे गाँधी भी अपने को समेकित करते हैं; की पूर्वमान्यता यह है कि केवल एक अप्रबुद्ध अहंकारी ही दूसरों के हिस्सों को हड़पेगा, किन्तु श्रेष्ठतर सामाजिक एकीकरणवादी (गाँधी मत में न्यासधारी) व्यक्ति लोक हित में धन का उपयोग करेंगे।[१५०] *'अपरिग्रह'* संचयन के प्रति निर्लिप्तता की इसी प्रकार की मनोवृत्ति का द्योतक है। भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार अपरिग्रह का उदय इस संचेतना से होता है कि सभी भौतिक सम्पदा छल और दुष्टता आदि के दोष से कलंकित होती है।[१५१] यह दृष्टिकोण यूरोपीय आजकतावादी विचारक, *प्रूधों* का भी था, जिसने प्रतिपादित किया कि *'सम्पत्ति चोरी है।'*[१५२] अत: आवश्यक है और जैसा हम देखते हैं कि जब वैधानिक रूप से दूसरों के हिस्से को हड़पने की इच्छा का शमन हो जाता है, तो मुनष्य समाज से उतना ही लेगा जितना कि उसको आवंटित सामाजिक कर्त्तव्यानुपालन के लिये आवश्यक है। गीता मानती है : *''वे सत्यनिष्ठ व्यक्ति जो यज्ञ का अवशेष खाते है, वे सभी पाप से मुक्त हैं।''*[१५३] तद्नुसार यह माना जाता है कि एक व्यक्ति को समाज के सकल उत्पादों से उतना ही लेना चाहिए, जितना समाज की उत्पादक प्रक्रिया में उसे पुन: निवेशित करने के बाद बचता है। जब आवश्कताएँ समाज की सेवा में ऐसे नियन्त्रित होती हैं और इच्छाएँ समाजीकृत, तो वितरणात्मक न्याय की समस्या नहीं खड़ी होगी। वितरणात्मक न्याय की समस्या तभी खड़ी होती है, जब मनुष्य प्रतिस्पर्धी वस्तुओं के बन्धन में जकड़ा होता है। गीता के लिये एक विभेदक प्रतिस्पर्धीय तथा स्वामित्ववादी व्यवस्था का निदान व्यक्ति के निष्काम कर्म के संवर्धन में निहित है। गीता एक ऐसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था की प्रकल्पना प्रस्तुत करती है, जिसमें सभी वर्गों के दायित्व, सामाजिक पद एवं आध्यात्मिक योग्यता में समान हैं तथा यह दृष्टिकोण जहाँ एक और वर्गों के सहयोग और शुभेच्छा पर आधारित समाज को निर्मित करने का प्रयास करता है[१५४], वहीं समाज के एक प्रतिस्पर्धात्मक दृष्टिकोण के खतरों का इलाज भी करता है।

ऊपरी तौर पर यह अर्वाचीन समानता का खण्डन है। पाश्चात्य उदारवादी लोकतन्त्र इस प्रकार की अराजनीतिक अधीनस्थ व्यवस्था की अनुमति नहीं देता, अपितु यह आस्था व्यक्त करता है कि एक नागरिक के रूप में प्रत्येक के पास वैयक्तिक भावाभिव्यक्ति करने का समान अधिकार है। लेकिन गीता के लिये समानता का विस्तृत अर्थ है, उसके अनुसार मनुष्य को जिस एकमात्र समानता के लिये प्रयासरत रहना चाहिए, वह है समष्टिवादी नैतिक और आध्यात्मिक समानता अर्थात् यह अनुभूत करने की समानता कि *'मैं एक मानव प्राणी हूँ।'* अन्य सभी समानताएँ इसके अधीनस्थ और इससे उपाख्यायित हैं। उन समाजों में स्वतन्त्रता नहीं हो सकती जहाँ कुछ व्यक्ति सारे उत्पादों को हड़प कर जाते हैं। इसलिये राष्ट्रीय सम्पत्ति में समान भागीदारी देने और यह सुनिश्चित करने के लिये कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्राथमिक आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, इस उद्देश्य से यह देखना अनिवार्य है कि आर्थिक संसाधन और उत्पादन के साधनों को निजी स्वामित्व में स्थित न किया

जाय। गीता न केवल सम्पत्ति को, बल्कि उसको अर्जित करने की पाशविक प्रवृत्ति की आलोचना भी करती है। गीता के प्रारम्भिक श्लोको में कौरवों, जिन्हे गीता में लोभ की शक्तियो *(लोभोपहा चेतस:)* के प्रतीक के रूप में रखा गया है, द्वारा *'मामक:'* शब्द का प्रयोग किया गया है। यह दर्शाता है कि *'मैं'* का भाव ही पाप या अशुभ का स्रोत है। गीता के प्रतिपादित दृष्टिकोण से यह प्रमाणित होता है कि गीताकार के लिये निजी स्वामित्व का विचार अरूचिकर और घृणित है। गीता के प्रबुद्ध तथा नैतिकानुशासित व्यक्ति अपनी निजी प्राधिकारिता के अधीन कभी भी आर्थिक वस्तुओं को रखना नहीं चाहेंगे। *राधाकृष्णन* ने इसे स्पष्ट करते हुये कहा कि ऐसे व्यक्ति *"न किसी चीज के लोलुप और न ही किसी से विद्वेष रखेंगे।"*[१५५] दानवी और दैवी व्यक्तियों की तुलना में गीता ने स्पष्ट भी किया था कि जिन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का दम्भ है *(धनमानमदान्विता:)* वे दानवी व्यक्ति है, जबकि लोलुपता से ही स्वतन्त्रता *(अलोलुपत्वम्)* दैवीय चरित्र का प्रतीक है।[१५६] यह सब दिखाता है कि गीता निजी प्राधिकारिता (स्वामित्व) और सम्पत्ति के भाव को नापसन्द करती है। वस्तुओं का इस भाव के साथ उपयोग तथा उपभोग करना चाहिये कि व्यक्ति उनका मालिक नहीं है। इस उद्देश्य के लिए गीता ने अपरिग्रह या प्रत्येक सम्पत्ति को अलग रखने का विचार प्रस्तुत किया है।[१५७] तदनुसार निजी सम्पत्ति के सन्दर्भ में हमारा उतना ही वैधानिक अधिकार बनता है जो हमारे अस्तित्वमूलक सत्व को संतुष्ट करने के लिये पर्याप्त हो। यदि कोई उससे ज्यादा की इच्छा करता है, तो वह दण्ड भोगने वाला एक चोर है।[१५८] अत: किसी का अतिरिक्त सम्पत्ति के ऊपर अधिकार नहीं, बल्कि उसका अधिकार उसकी सामाजिक आवश्यकताओं के परिमापानुसार सीमित है।

यह एक मानवीय गुण है कि व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं और इच्छाओं को सामाजिक परिप्रेक्ष्य के संग समायोजित कर सकता है। इस दृष्टिकोण में समाज की बलि देकर धन को भोगना गीता के अनुसार एक सामाजिक अपराध है। ऐसे उद्‌गारों के स्थान पर गाँधी ने अपने समाजवाद को भारतीय परम्पराओं में तलाशा और पाया है। वे लिखते हैं : *"पूँजीपति द्वारा पूँजी के दुरूपयोग की खोज के साथ समाजवाद नहीं जन्मा था। जैसा कि मेरा तर्क है समाजवाद यहाँ तक कि कम्यूनिज़्म भी इशोपनिषद् के प्रथम श्लोक में स्पष्ट रूपेण अभिव्यक्त हुआ है।*[१५९] गाँधी के व्याख्यानुसार इस श्लोक का यह अर्थ है कि हम इस महान ब्रह्माण्ड को ईश्वर द्वारा परिव्याप्त हुआ देखते हैं, उसको (उनके भाग को) छोड़कर ही उनका उपयोग करो, संग्रह या लालच मत करो क्योंकि सम्पत्ति किसी एक की नहीं है।[१६०] जो लिप्तता या कामुकता को ही अपना एकमात्र उद्देश्य बनाते हैं *(कामोपभोगपरमा)*, जो गैर-कानूनी तरीके से धन एकत्र करने की चेष्टा करते हैं *(अन्यायेनार्थसंचयान्)*, जिनकी कभी न तृप्त होने वाली धनार्जनात्मक मदान्धता है *(काममाश्रित्य दुष्पूरं)* तथा जिन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति का गाढ़ा नशा है *(धनमानमदान्विता:)*, के प्रति एक अत्यन्त भर्त्सनात्मक वाणी में गीता अपने रोष को व्यक्त करने के लिये ग्यारह श्लोकों का प्रयोग करती है।[१६१]

गीता के अनेक श्लोक इंगित करते हैं कि व्यक्तिगत और निजी उपयोग के लिये किसी को भी आर्थिक संसाधनों को एकाधिकृत करने की अनुमति नहीं दी जानी चाहिए। लोकहित के लिये उन्हें सभी के द्वारा समान उपयोग में लाया जाना चाहिए। गीता की निर्लिप्तता की अवधारणा इस तथ्य की एक प्रतिभू (गारन्टी) है कि व्यक्ति ऊर्जनात्मक मदान्धता का शिकार हुए

बिना सम्पत्ति की होड़ करेगा क्योंकि इसके द्वारा उसकी स्वामित्व की इच्छा ही समाप्त हो जायेगी।

अनासक्त भाव से युक्त होकर लोककल्याण के लिये कार्य करते रहना ही गीता के आर्थिक समाज-दर्शन का मूल मन्तव्य है। अनासक्त व्यक्ति ही सम्पत्ति और इच्छाओं से रहित अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाहन कर सकेगा।[१६२] धनेच्छा से ऐसी स्वतन्त्रता एक नैतिक अवस्था है। इसके पीछे भाव यह है कि सम्पत्ति की मुमुक्षा को नियंत्रित कर व्यक्ति को सम्पत्तियों की गुलामी से मुक्त हो जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में निजी सम्पत्ति की इच्छा और उत्पादन के साधनों की निजी माल्कियत की मंशा समाप्त हो जायेगी। अत: अनासक्ति और अपरिग्रह का आदर्श न सिर्फ निजी सम्पत्ति के उन्मूलन तक सीमित है, बल्कि उसके अन्त: - आवेग के निरोध एवं उन्मूलन को भी समाविष्ट करता है, जो व्यक्ति को शोषण हेतु उत्प्रेरित करने के लिये उत्तरदायी है। यहाँ यह आलोचना उचित नहीं कि अन्त: - प्रवृत्तियों का इलाज नहीं किया जा सकता। चूँकि अन्त: प्रवृत्तियाँ अकारण नहीं होती, उन्हें पूर्णत: समाप्त किया जा सकता है, क्योंकि कोई वस्तु जिसका एक कारण है समाप्त हो सकती है। इसी परिप्रेक्ष्य में यदि धन के वैयक्तिक स्वामित्व के पतनशील एवं अमानवीय परिणामों *(विषयदोषादर्शन:)* को उजागर कर दिया जाय तो वह अनासक्ति की ओर ही निर्दिष्ट करेगा।

गीता की आत्मा को प्रतिध्वनित करता गाँधी का आर्थिक दर्शन मूल्य अभिमुखीकृत है। *"अर्थशास्त्र का कोई भी मोल होने के लिये धर्म और अध्यात्म के अर्थों में परिभाषित होने की क्षमता होनी चाहिए।"*[१६३] आर्थिक समस्याओं के हल के लिये सत्य और अहिंसा को लागू करने वाले अपने प्रयोगों के क्रम में गाँधी ने ट्रस्टीशिप प्रविधि का अनुपालन किया। गाँधी यह समझाने में बेबाक हैं कि किस प्रकार अपरिग्रह का सनातन सार्वभौमिक सिद्धान्त अमीरों में चमत्कारिक हृदय-परिवर्तन कर उन्हें अपनी अतिरिक्त सम्पत्ति को सभी लोगों के साथ बॉटने का कार्य कर सर्वोदय की ओर निर्दिष्ट होगा।

आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने ट्रस्टीशिप का कार्यान्वयन दो महत्वपूर्ण रूपों – *अपरिग्रह* और *सामूहिक प्राधिकारिता (स्वामित्व)* - में प्रतिपादित किया। किसी भी चीज - शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक - को अतिशय मात्रा में रखने से इंकार अपरिग्रह है। यह ब्रह्माण्ड सर्वोच्च प्राधिकारी के रूप में मानव नहीं, बल्कि ईश्वर को स्वीकार करता है। इस तरह यह सिद्धान्त अर्जन की अधिकता से इंकार और अपनी आवश्यकता तथा साध्य से ज्यादा अपने शरीर के उपयोग की एक विधि है। साथ ही, बिना भेदभाव के समग्र मानव परिवार के सभी सदस्यों के मध्य सभी चीजों के समान वितरण को सुलभ मानने की मानसिक-क्रिया विधि है।

धन और शक्ति का स्रोत शारीरिक श्रम तथा भौतिक सम्पदाएँ हैं। भौतिक सम्पदाएँ समान वितरण ला सकती हैं। इनके अलावा व्यक्तियों में विशेष दक्षताएँ होती हैं, जो धन और शक्ति का उपार्जन करती हैं, जिन्हें समाजीकृत या सामूहीकृत नहीं किया जा सकता और जो धन और शक्ति में असमानता पैदा करने के अनिवार्य कारक हैं। जहाँ राज्य-स्वामित्व और वैयक्तिक-स्वामित्व समाज में समानता लाने में असफल रहते हैं, वहीं ट्रस्टीशिप न केवल प्रतिभाओं के उपयोग में, बल्कि धन में भी समानता लाने में सफल होती है। ट्रस्टीशिप एकमात्र विधि है जो ऐसे लोगों को उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप से ज्यादा धारण करने को अनुमन्य करेगी। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिभाएँ सभी के हित हेतु न्यास में धारित करनी चाहिए। निश्चय

ही गाँधी का ट्रस्टीशिप सिद्धान्त मुख्यत: समाज की आर्थिक स्थिति से सम्बद्ध है, फिर भी इसे मूलत: अपरिग्रह का ही रूप माना जा सकता है और यह भावना गीता में कई प्रकार से प्रकट हुई है। अपरिग्रह भी आवश्यकता से अधिक संचय तथा उपभोग का निषेध करता है।

आर्थिक समानता या वर्ग-सहयोग जिसका गीता के लिये विस्तृत अर्थ है, तथा जिसकी विवेचना पूर्व में की जा चुकी है, स्पष्ट करते हैं कि वर्ग-विभाजन का आधार भौतिक सम्पदा नहीं, अपितु कर्म है और यही कर्म ही व्यक्ति का विशेषाधिकार भी है। निर्लिप्त कर्म को देवतार्पित धार्मिक अर्घ्य मानते हुये यह प्रत्येक व्यक्ति के लिये काम का अधिकार तथा जीवन योग्य पारिश्रमिक का विधान सुनिश्चित करती है। वर्ग संघर्ष को टालने यह सुविचारित दर्शन गाँधी की वर्ग-सहयोग की अवधारणा को पारंपरिक आधार प्रदान करता है। गाँधी स्पष्टत: जानते हैं कि एक वर्ग को समाप्त कर या एक तानाशाह के शासन द्वारा वर्ग-संघर्ष को नहीं रोका जा सकता। वर्ग संघर्ष हमेशा रहा है; वर्ग के अर्थ को नया आयाम देते हुये वह इस समस्या को समाप्त कर देना चाहते हैं। गाँधी भी मानते हैं एक वर्ग का अस्तित्व उस समय तक है, जब तक कि वह कार्यरत है। चूँकि सभी कार्य बराबर हैं, इसलिये एक विशेष कार्य को करता हुआ एक वर्ग दूसरों की तुलना में श्रेष्ठतर नहीं है। *'वर्ग'* समान कार्य करते हुये लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। सभी लोगों को अलग-अलग कार्य करने के बावजूद उनकी आवश्यकताओं के अनुपात में (न कि लालच) समान वेतन भुगतान किया जाता है, इसलिये ज्यादा से ज्यादा धन एकत्रित करने का कोई प्रश्न नहीं उठता है और पूँजीवादी व्यवस्था भी निर्मित नहीं होती। गाँधी का वर्ग-सहयोग का मुख्य उद्देश्य पूँजी और उसके शोषणकारी स्वरूप को धराशायी करना है, इसलिये उन्होंने राहत के रूप में ट्रस्टीशिप व्यवस्था का प्रतिपादन किया।

गाँधी की ट्रस्टीशिप सेवा-भाव, त्याग आदि की भावना को प्रोत्साहित करती है, जिसे क्रमश: विकसित किया जाना चाहिए। उनका सर्वप्रमुख उद्देश्य सर्वोदय प्राप्ति है इसलिये उन्होंने पूँजीपतियों से अपने अतिरिक्त धन को सभी के साथ बाँटने के लिये कहा। गाँधी भली-भाँति जानते हैं कि शायद मात्र लोक-कल्याण की भावना समानता न ला पाये। चूँकि, ट्रस्टीशिप परोपकार को समाहित नहीं करता, गाँधी ने उसको धनिकों के हृदय-परिवर्तन के लिये चयनित किया। केन्द्रीकृत शक्ति के परिप्रेक्ष्य में इसे पाना शायद अत्यन्त दुष्कर है। आगे, ट्रस्टीशिप इस प्राक्कल्पना के साथ चलती है कि मजदूर और प्रबन्धक आपस में नहीं लड़ेंगे। कभी-कभी श्रमिक प्रबन्धित अर्थव्यवस्था में संघर्ष घटित हो सकते हैं इसलिये गाँधी जी ने ट्रस्टीशिप को केवल एक विकासवादी, प्रयोगात्मक अवधारणा के रूप में स्वीकार किया, जिसके विकास के समय समस्याएँ निश्चित रूप से खड़ी होगी। दिवा स्वप्नों के आधार पर न जीने में गाँधी की महानता है; वह खुले रूप से इस बात पर सहमत हैं कि सम्पूर्ण निरपेक्ष ट्रस्टीशिप एक अमूर्तिकरण है। वह एक बिन्दु के युक्लिड की परिभाषा के समान है, अत: वह अप्राप्य है। *"............ यह अत्यधिक सम्भाव्य है कि मेरी सलाह को स्वीकार नहीं किया जायेगा और मेरा सपना पूरा नहीं होगा .... जैसा मेरा विश्वास है ट्रस्टीशिप को अपना मूल्य अभी साबित करना है।"*

अन्तत: ट्रस्टीशिप सम्पूर्ण बलिदान, सेवा तथा प्रत्येक वस्तु को सभी की मानने के एक प्रकार के सार्वभौमिक दृष्टिकोण का द्योतक है। इस प्रकार का वृहद् उदार उपागम इस उच्चतम विवेक पर आधृत है कि प्रत्येक व्यक्ति में स्थित आत्मा समान

है, इसलिये सम्पत्ति और धन का आध्यात्मीकरण ट्रस्टीशिप का मूल पक्ष है। इस सिद्धान्त में न कोई हारता है न जीतता है। एकमेव सत्य यह है कि अतिरिक्त की हिस्सेदारी के द्वारा एक समस्थिति को अक्षुण्ण रखा जाता है। व्यक्ति या समाज की ऐसी एक अवस्था चिरन्तर शांति में योगदान करती है। गाँधी द्वारा गीता के आर्थिक विचारों का भाव-संग्रहण तथा यज्ञादि पदों का अर्थ विस्तार एक ऐसे अहिंसक सामाजिक आर्थिक व्यवस्था का प्रतिपादन करता है, जिसका आधार सहयोग एवं सहकारिता की भावना है। गीता में उपदिष्ट अनासक्त कर्मयोग से साधन पर बल देने का अवधारणात्मक आधार प्राप्त कर गाँधी समाज के लिये जिस अर्थव्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं, संक्षेप में वह है, *'अहिंसक समाज की अहिंसक अर्थव्यवस्था।'* निश्चय ही इसका शुचितापूर्ण साधन है– *'ट्रस्टीशिप'*, तथा मूल भावना है–*अपरिग्रह, लोकसंग्रह, निष्काम (अनासक्त) कर्म।*

पाद-टिप्पणी संदर्भ

१- नीलकांत दीक्षित 'अर्थ' के इस पहलू को इस प्रकार इंगित करते हैं: "धर्म अर्थ के द्वारा अर्जित किया जाता है और अर्थ धर्म के द्वारा। वे दोनों एक दूसरे के साधन और सहारा है"- सभारंजन शतक श्लोक, ७८ (के० बालासुब्रमण्यम अय्यर, दि फन्डामेन्टल एसपिरेशन ऑफ मैन एकार्डिंग टू इंडियन थॉट, मद्रास : कुप्पुस्वामी शास्त्री शोध संस्थान, १९५९, पृ० १३ मे उद्धृत)। युगों की विवेकशीलता संस्कृत में इस प्रकार कही गयी है कि व्यक्ति को एक गैरपराश्रित जीवन जीना चाहिए और शान्तिपूर्ण तरीके से मरना चाहिये; 'अनायासेना मरणां दैन्यां बिना'। पहला 'अर्थ' के बिना सम्भव नहीं हैं। महाराष्ट्र के संत ज्ञानदेव ने अपने एक प्रभावशाली वक्तव्य में 'अर्थ' के मूल्य के विषय में एक महान सत्य प्रस्तुत किया है। अर्द्धव्यंग्य और अर्द्धगंभीर मुद्रा में वे एक आध्यात्मिक आकांक्षी से पूछते है कि वह किस प्रकार मोक्ष प्राप्त करेगा यदि वह अपना और अपने परिवार का ध्यान रखने जैसा बहुत छोटा कार्य नहीं कर सकता। एक सामान्य औसत दक्षता के बिना आत्मसुरक्षा और सम्मानीय स्वतन्त्र जीवन यापन की प्राथमिक चुनौती को पूरा करना संभव नहीं है।

२- महाभारत, १६.१६१.११

३- "धन संसार में सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है, वह स्वास्थ्य, बल, सम्मान, उदारता और सुन्दरता तथा उसका अभाव रूग्णता, कृशकायता, अनादर, और निकृष्टता और बदसूरती का प्रतिनिधित्व करता है। उसके सद्गुणों में यह सद्गुण किसी भी रूप में कमतर नहीं है कि जहाँ वह निकृष्ट लोगों को विनष्ट कर देता है, वहीं उत्कृष्ट लोगों को शक्तिशाली और सम्मानित भी करता है।"- बर्नाड शॉ, राधाकृष्णन, रीलिजन एण्ड सोसायटी, पृ० ९४ में उद्धृत।

४- राइटर, आर्थर डब्लू० (अनु०) : पंचतन्त्र, पृ० २०७-८ (बी० जी० गोखले : इंडियन थॉट थ्रू दि ऐजेस, बम्बई; एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६१, पृ० ५३ में मत उद्धृत)

५- बी० जी० गोखले : इंडियन थॉट थ्रू दि ऐजेस, पृ० ५३-५४

६- वही

७- महाभारत, १२.१६१.१३

८- नीतिसार, १.१२

९- गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट करने वाले व्यक्ति के कर्त्तव्यों की विवेचना करते समय धर्मशास्त्र एक मत हैं कि उसके कर्त्तव्य सिर्फ अपने परिवार जनों के प्रति नहीं, बल्कि दूसरों, पितरों आदि के प्रति भी हैं।

१०- विकास मिश्रा : हिंदुंइज्म एण्ड इकोनॉमिक ग्रोथ, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, १९६२। इसमें हिंदूवाद को आर्थिक दृष्टिकोण से विश्लेषित किया गया है।

११- वही, पृ० १८

१२- उदाहरणार्थ, जे० एस० हाब्सन की "प्रॉपर्टी" और "इम्प्रॉपर्टी" की व्याख्या में भी सही साधन तथा भले सामाजिक उद्देश्यों एवं उसके विपरीत वृत्ति, जमाखोरी, और मुनाफ़ाखोरी को गलत मानने की बात कही गई है।

१३- नेहरू द्वारा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को हल करने के नैतिक आगम के रूप में इस परंपरावादी हिंदू दृष्टिकोण पर बल दिया गया है। देखे १७-१०-१९४९ को कोलम्बिया विश्वविद्यालय द्वारा डाक्टर ऑफ लॉज़ की उपाधि प्राप्त करते समय दिया गया उनका भाषण।

१४- गीता, अध्याय ७.१४.८

१५- वही, अध्याय २.६०

१६- वही, अध्याय ९.१२

१७- वही, अध्याय १६.८-९

१८- वही, अध्याय १६.११-१२

१९- श्री अरविन्द - दि ह्यूमन सायकिल, दि आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, वॉर एण्ड सेल्फ डेटरमिनेशन, श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी १९७७, पृ० ७२

२०- भगवदगीता, अध्याय १८.२८

२१- गाँधी, एम० के० : सर्वोदय, भारत्न कुमारप्पा (संपा.), नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९५८, पृ० ३३

२२- पञ्वनादिकर, के० सी० : डेटरमिनेन्ट्स ऑफ सोशल स्ट्रक्चर एण्ड सोशल चेन्ज इन इण्डिया, पॉपुलर प्रकाशन, बाम्बे, १९७०, पृ० ८६

२३- तिलक, बी० जी० : गीतारहस्य, पृ० ९१५

२४- सिस्टर निवेदिता : दि वेब ऑफ इण्डियन लाइफ, अद्वैत आश्रम, अल्मोड़ा, १९५०, पृ० २९४

२५- सिन्हा, एच० एस० : कम्यूनिज़्म एण्ड गीता, दि कन्सेप्ट पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९७९, पृ० १३१

२६- स्वामी चिद्भवानन्द : दि भगवद्गीता, पृ० २२३

२७- वही, पृ० २२४

२८- सिस्टर निवेदिता : सिविक एण्ड नेशनल आइडियल्स, उद्बोधन ऑफिस, कलकत्ता, १९६७, पृ० १०

२९- भावे, विनोबा : भूदान यज्ञ, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९५७, पृ० ६७

३०- राजगोपालाचारी,सी० : हिन्दूइज़्म, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, १९५९, पृ० ३२

३१- भगवद्गीता, अध्याय १६.१२

३२- वही, अध्याय १६.१६

३३- वही, अध्याय २.४७

३४- गाँधी, एम० के० : डिसकोंसेज़ ऑन दि गीता, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद, १९६०, पृ० ८

३५- भगवद्गीता, अध्याय १.१०

३६- श्री अरविन्द, : एसेज़ ऑन दि गीता, पृ०२५३

३७- भगवद्गीता, अध्याय २.१५

३८- वही, अध्याय २.४८

३९- दासगुप्ता, एस० एन० : ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी, Vol. II, पृ० ५११-१२

४०- श्री अरविन्द : ऐसेज़ ऑन दि गीता, पृ० ४७

४१- भावे, विनोबा : रिवल्यूशनरी सर्वोदय, भारतीय विद्या भवन, बाम्बे, १९६४, पृ० १

४२- श्री अरविन्द : ऐसेज़ ऑन दि गीता, पृ० २७८-७९

४३- भगवद्गीता, अध्याय ३.२१

४४- वही, अध्याय ३.२३-२४

४५- तिलक : गीता रहस्य, पृ० ४५७

४६- वही, पृ० ४६२

४७- गाँधी, एम० के० : दि टीचिंग ऑफ दि भगवद्गीता (संपादन - हिगोंरानी, आनन्द टि.), पृ० ३३

४८- भावे, विनोबा : भूदान यज्ञ, पृ० ४१

४९- भगवद्गीता, अध्याय २.४७

५०- लाल, आर० बी० : दि.गीता इन दि लाइट ऑफ मॉर्डन साइंस, सोमैया पब्लिकेशन प्रा० लि०, बाम्बे, १९७०, पृ० ८३

५१- भगवद्गीता, अध्याय ३.२२

५२- श्री अरविन्द : ऐसेज़ ऑन दि गीता, पृ० २७८-७९

५३- भावे, विनोबा : भूदान यज्ञ, पृ० ४२

५४- वही, पृ० ३९

५५- वही, पृ० ४०

५६- कृपलानी, जे० बी०: महात्मा गांधी - जीवन और चिन्तन, पृ० ३९२

५७- स्पीचेज एण्ड राइटिंग्स ऑफ एम०के० गॉधी, भाग - २, पृ० ४०

५८- यंग इण्डिया, तृतीय खण्ड, पृ० ३५०

५९- कृपलानी , जे० बी० : महात्मा गांधी - जीवन और चिन्तन में मत उद्धृत, पृ० ३९४

६०- यंग इण्डिया, १३ अक्टूबर, १९२१

६१- वही, ६ अप्रैल, १९२२

६२- सर्वोदय (हिन्दी), पृ० ९ ; तुलना करे रस्किन कृत 'अन टु दिस लास्ट', पृ० १

६३- रस्किन, 'अन टु दिस लास्ट', पृ० २

६४- वही

६५- वही, पृ० ८० (पाद-टिप्पणी)

६६- सर्वोदय - पृ० १५

६७- यंग इण्डिया - २७ अक्टूबर १९२१

६८- ईशावस्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥ १ ॥ इशोपनिषद्

६९- स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी, पृ० ३३

७०- हरिजन सेवक, २३-३-४७

७१- स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गांधी, पृ० ३३६

७२- यंग इण्डिया, १२ मार्च, १९४५

७३- यंग इण्डिया, २६ मार्च, १९३८

७४- गाँधी जी, ए पैराफ्रेज़ ऑफ रस्किन - 'अन टु दिस लास्ट' के कन्क्लुज़न नामक अध्याय से, पृ० ६५

७५- गाँधी जी, ए पैराफ्रेज़ ऑफ रस्किन - 'अन टु दिस लास्ट', पृ० २३८, तथा पृ० ३१८

७८- कृपलानी : महात्मा गांधी - जीवन और चिन्तन, पृ० ३९५

७७- हरिजन, १ फरवरी, १९४२

७८- भगवद्गीता, अध्याय १६.१२-१३

७९- हरिजन, १ फरवरी, १९४२

८०- वही, २७ जनवरी, १९४०

८१- फिशर, लुई : गाँधी एण्ड स्टालिन,टू साइन एट दि क्रास रोड, दिल्ली, १९४७

८२- हरिजन, १६ दिसम्बर १९३९, पृ० ३७६

८३- वही

८४- गाँधी : आत्मकथा, पृ० १९८

८५- वही

८६- वही

८७- हरिजन, ३ जून, १९३९

८८- हरिजन सेवक, २५ अक्टूबर, १९५२

८९- हरिजन, २५ अगस्त, १९४०, पृ० २६०

९०- धवन, जी० एन० : पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गाँधी, पृ० ९५

९१- हरिजन, २० अप्रैल, १९३०

९२- लुई फिशर : गाँधी और स्टालिन, पृ० २१०

९३- हरिजन, २५ जून, १९३८

९४- हैमिल्टन, डेनियल : इण्डियाज़ केस फॉर स्वराज, १९३२, पृ० ९३

९५- यंग इण्डिया, १९३५

९६- वही, २६ मार्च, १९३१

९७- यरवदा मंदिर, अध्याय ९

९८- आत्मकथा, भाग-२, पृ० १०३

९९- यरवदा मंदिर, अध्याय ९

१००- गाँधी, एम० के० : यरवदा मन्दिर से, पृ० ३६

१०१- गाँधी : आश्रम आब्जर्वेन्सेस इन एक्शन, पृ० ६०

१०२- हरिजन, २९ जून, १९३५, पृ० १५६

१०३- गाँधी : मेरा समाजवाद, पृ० २४

१०४- हरिजन, २९ जून, १९३५, पृ० १५५

१०५- गाँधी : यरवदा मन्दिर से, पृ० ३५

१०६- हरिजन, २ नवम्बर, १९३४

१०७- गाँधी, गीता बोध, पृ० १७

१०८- यरवदा मंदिर से, पृ० ५४

१०९- तुलनीय : भगवद्गीता, अध्याय ३.१२ और अध्याय ३.१०

११०- गाँधी : गीता बोध और मंगल प्रभात, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, (संस्करण-छठा) १९९९, पृ० २४

१११- वही, पृ० २७-२८

११२- भवगद्गीता, अध्याय ४.२३-२५, २८.३१-३२

११३- हरिजन सेवक, २८ नवम्बर, १९४८

११४- वही, २३ फरवरी, १९४७

११५- वही, १९ दिसम्बर, १९३६

११६- हरिजन, २९ जून, १९३५

११७- हरिजन सेवक, १४ जून, १९३५

११८- हरिजन, १ जून, १९३५

११९- यरवदा मंदिर से, पृ० ९

१२०- यंग इण्डिया, १३ नवम्बर, १९२४, पृ० ३७८

१२१- खेर, वी०बी० : इन्ट्रोडक्शन टू इक्नॉमिक एण्ड इन्डस्ट्रियल लाइफ एण्ड रिलेशन्स, खण्ड-I - ए कम्पाइलेशन ऑफ सम ऑफ गाँधीज़ स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स, पृ० XX

१२२- सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड - XVIII, पृ० ११८

१२३- यंग इण्डिया, २६ नवम्बर, १९३१

१२४- हरिजन, १३ फरवरी, १९३७

१२५- वही, ७ जून १९४२, पृ० १७७

१२६- वही, २० अप्रैल, १९४०

१२७- वही, २७ मई, १९३७, पृ० १३६

१२८- वही, २२ फरवरी, १९४२, पृ० ४९

१२९- गाँधी : माइ पिक्चर ऑफ फ्री इण्डिया, पृ० ४२

१३०- वही, पृ० ४०

१३१- वही,

१३२- हरिजन, वही

१३३- तेन्दुलकर, डी० जी० : महात्मा, खण्ड-IV, पृ० १५९

१३४- नटेसन, जी० ए० (संपा०) : स्पीचेज़ एण्ड राइटिंग्स ऑफ महात्मा गाँधी, (चतुर्थ संस्करण), पृ० ३८४

१३५- गाँधी : एथिकल रीलिजन, मद्रास, गणेशन, १९३०, पृ० ५८

१३६- गाँधी : यरवदा मन्दिर से, नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९३५, (द्वितीय संस्करण), पृ० ३४

१३७- नटेसन : वही, पृ० ३५०

१३८- यंग इण्डिया, १५ नवम्बर, १९२८

१३९- वही, १७ मार्च, १९२७

१४०- गाँधी : सृजनात्मक कार्यक्रम, पृ० १८

१४१- हरिजन, २० अप्रैल, १९४०

१४२- हरिजन, २५ अगस्त, १९४०, पृ० २६०

१४३- दि मॉर्डन रिव्यू, अक्टूबर १९३५, पृ० ४१२

१४४- वही

१४५- प्यारेलाल : टूवर्ड्स न्यू होरायज़न, पृ० ९१

१४६- गाँधी : मेरा समाजवाद, पृ० २५

१४७- गाँधी : ट्रस्टीशिप, पृ० ७

१४८- हरिजन, २२ फरवरी, १९४२, पृ० ४९

१४९- मर्चेन्ट, विजय : 'गाँधी जी ऑन ट्रस्टीशिप मैनेजमेन्ट' के आमुख में, पृ० VII-VIII

१५०- गीता मत में सच्चे संन्यासी (सम् पूर्वक न्यास) का यही लक्षण है कि वह समाज में रहकर लोककल्याण के लिये अनासक्त भाव से कर्म करता रहे। गीताकार कहता है 'काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदु:' (अध्याय १८.२)।

१५१- मैत्रा, एस० के० : दि एथिक्स ऑफ हिन्दूज़, पृ० १९८

१५२- प्रूधों, पी० जे० : वॉट इज़ प्रॉपर्टी? - एन इन्क्वायरी इन टू दि प्रिंसिपल्स ऑफ राइट एण्ड गवर्नमेन्ट, पृ० २५६-५७

१५३- गीता, अध्याय ३.१३ (अनासक्ति योग भाष्य) "यज्ञशिष्टाशिन: सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषै:।"

१५४- गीता, अध्याय १२.१३ - "अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च"।

१५५- राधाकृष्णन, एस० : भगवद्गीता, पृ० १२६

१५६- भगवद्गीता, अध्याय १६.१७

१५७- वही, अध्याय ४.२१ और अध्याय ६.१०

१५८- वही, अध्याय ७.१४.८

१५९- हरिजन, २० फरवरी, १९३७

१६०- वही, इन सर्च ऑफ दि सुप्रीम, खण्ड - तृतीय (III), पृ० १०५-१०६

१६१- भगवदगीता : अध्याय १६.९-१९ (अनासक्ति योग)

१६२- दि गीता एकार्डिंग टू गाँधी, VI - १०

१६३- यंग इण्डिया, १५ सितम्बर, १९२७

सप्तम अध्याय

सामाजिक परिवर्तन - उद्देश्य एवं उपकरण

समाज दर्शन की विषयवस्तु मानव व्यवहार है। मानव व्यवहार कमोबेश सचेत, उद्देश्यपूर्ण और सामाजिकता से अनुप्राणित होते हैं। इस त्रिगुणी अनुप्राणिता का मूल स्रोत संकल्प-स्वातन्त्र्य है, जो मानव व्यवहार में सन्निहित, उसी के माध्यम से अभिमुखीकृत होती है, जिसे अपने सापेक्ष विशुद्ध रूप में प्रयोजनमूलक तत्व माना जा सकता है। यह स्वतंत्र क्रिया किसी निश्चित *'सजीव'* सामाजिक संदर्भ में *'घटना'* होती है। मानव-समाज का इतिहास घटनाओं का इतिहास रहा है। किसी भी ऐतिहासिक घटना में कालक्रम से भेद उत्पन्न होता है, वही *'परिवर्तन'* कहलाता है।

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। यह शब्द स्वयं में तटस्थ रह कर अपने निहितार्थ को सदैव बदलता रहता है। हमारे सम्मुख विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों[१] के प्रमाण[२] हैं। इसलिए जब कोई यह कहता है कि *''मानव-स्वभाव नहीं बदला जा सकता''*, तो हम इसका सटीक उत्तर देते हैं कि *''बदलते रहना ही मानव-स्वभाव है।''* स्थूल स्तर पर परिवर्तन के दो पहलू हैं- व्यक्तिगत और सामाजिक। मानव-प्रकृति की परिवर्तनशीलता असंदिग्ध है। जैसे मानव जीवनपर्यन्त बदलता है, उसी प्रकार हमारा समाज भी हर क्षण बदलता रहता है। समाज व्यक्ति को प्रभावित करता है, किंतु व्यक्ति भी समाज को प्रभावित करके इतिहास-निर्माण करता है। वह केवल विश्व की व्याख्या ही नहीं करता, वरन् उसको बदलता भी है। यह कहना असत्य है कि हम लोग शून्य में चिंतन करते हैं या हमारा चिंतन पूर्णरूपेण स्वतंत्र रहता है। वास्तव में, हमारे चिंतन पर हमारी अभिवृत्तियों, पूर्वाग्रहों, दृष्टियों का प्रभाव रहता है। इसके साथ उस पर हमारे सामाजिक एवं सास्कृतिक पर्यावरणों का भी प्रभाव पड़ता है। मनुष्य कोई जड़ पदार्थ नहीं है कि उस पर केवल अग्नि, वायु और जल आदि का ही प्रभाव होगा। वह चेतन प्राणी है और उसकी चेतना, भावना तथा इच्छा हमेशा बदलती रहती है और फिर भी वह बदलता रहता है।

सामाजिक परिवर्तनों को संस्थागत और अन्य उपक्रमों में हुए परिवर्तनों के रूप में देखा जा सकता है, जो निर्वाहन तथा विकास के प्रकार्यों को एक समानता या बेहतर रूप में अनुसेवित करता है। दूसरी ओर, उन्हीं परिवर्तनों को स्वतन्त्रता की परिधि के विस्तार को सुगम कराने के कारक के रूप में देखा जा सकता है जिसके अंदर से परा-सामाजिक मूल्यों का वास्तविक अनुसरण प्रकट हो सके। आगे, जैसा बहुत से लोग मानते हैं कि स्वतंत्रता स्वयं एक समरूपी तत्व नहीं होती, एक ज्यादा पृथकांतरीय स्वर पर इस बात की पड़ताल की जा सकती है कि किन क्षेत्रों में स्वतन्त्रता घटी या बढ़ी है। यहाँ इस संदर्भ में प्रश्न यह उठता है कि यदि एक व्यवहार की सुबोधता के लिए हमारा उसकी संस्थागत पृष्ठभूमि या सामाजिक सम्बद्धीकरण से परिचय अनिवार्य है, यदि यह आमूल रूप से परिवर्तित या सुधर जाए तो क्या होगी? क्या एक त्वरित रूप से परिवर्तनीय समाज अथवा संस्था के परिप्रेक्ष्य में मानव व्यवहार अप्रबोधनीय हो जाते हैं? यदि माध्यमों और उद्देश्यों के मध्य स्थिरता या नियम्यता की आवश्यकता संतुष्ट नहीं होती तो हम क्या मानव व्यवहारों के अर्थ को समझने में अनिवार्यत: असफल होंगे? सत्यत:, वर्तमान मानदण्डों एवं रूपों से प्रस्थान अव्यवस्था और विंसगति के द्वारा जन्मता है, पर क्या *'अस्तित्ववादी'* आत्महत्या या *'अर्थहीन'* नरसंहार अनिवार्यरूपेण अप्रबोधनीय होंगे?

उपरोक्त प्रश्न हमें कतिपय वृहत्तर सामाजिक-वैचारिक मुद्दों के धरातल पर ला खड़ा करते हैं। इस धरातल पर *'सामाजिक परिवर्तन'* विश्लेषणात्मक प्रत्ययीकरण के अनुसार *'क्रांति'* के नाम से जाना जाता है। *मोनियर विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी शब्दकोष के अनुसार 'क्रांत', 'क्रांता' और 'क्रांति' आदि एक ही धातु 'क्रम्' से बने हैं, जिसका अर्थ है 'बैठना'।*[३] *पाणिनि* ने क्रांति शब्द की साधना में *'क्रम्'* धातु के लिये *''क्रम परस्मैपदेषु''*[४] सूत्र का प्रयोग किया है। *सिद्धान्त कौमुदी* की *बाल मनोरमा टीका* में *''क्रमु पाद विक्षेपे''* कह कर अर्थ सुस्पष्ट किया गया है। *'क्रांति'* के लिए अंग्रेजी पर्यायवाची शब्द - *Revolution* - को *वेब्सटर न्यू ट्वेन्टीयेथ सेंचुरी डिक्शनरी* में एक प्राचीन लैटिन, उत्तरवर्ती फ्रेंच शब्द से निष्पन्न बताया गया है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– *'उलटना'।* इस शब्दकोष में *'क्रांति'* शब्द के सात अर्थ दिए गए हैं। ज्यामितिशास्त्र में *'क्रांति'* शब्द बिंदु की गति *'नक्षत्र शास्त्र'* में *'एक आकस्मिक आमूलाग्र परिवर्तन'* के अर्थ में आया है। *शार्टर ऑक्सफोर्ड इंगलिश डिक्शनरी* प्राय: उपयुक्त व्युत्पत्ति का समर्थन करते हुए अन्य कई नए अर्थों का उल्लेख करती है। *डिक्शनरी ऑफ सोशियोलॉजी* में *'क्रांति'* को *'सद्य: आमूलाग्र परिवर्तन'* की संज्ञा दी गई है। *हेस्टिंग्स* - सम्पादित *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड इथीक्स* में *कैम्पवेल स्मिथ* ने *'क्रांति'* पर निबन्ध लिखते हुए उसके लिये उपरोक्त दो बातों का समर्थन करते हुए कहा है कि *''क्रांतियाँ उतनी ही प्राचीन हैं, जितनी राज्य-सत्ता या राजनैतिक समाज।''*[५] *अल्फ्रेड मेनशेल* ने *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज* में *'क्रांति'* को *'आकस्मिक आमूलाग्र परिवर्तन'*[६] माना है। स्वतंत्र रूप से क्रांति के तत्वज्ञान पर चर्चा न करके *इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका* ने अलग-अलग क्रांतियों की ऐतिहासिक चर्चा की है।[७]

दर्शन के इतिहास में स्थिति और गति–इन दो तत्वों के बीच सदैव से ही संघर्ष रहा है। इलिया के यूनानी दार्शनिक पारमेनाइडीज़ एवं जेनो यदि स्थिति तत्व के पोषक हुए, तो इफेसस के गौरव हेराक्लाइटस गति-तत्व के समर्थक रहे हैं। आधुनिक युग में भी यदि हीगल और ब्रैडले एक ओर हैं, तो बर्गसां बिल्कुल दूसरी ओर। भारत में भी शंकर अद्वैत के समानांतर ही प्रवाहवादी बौद्धों का विकास होता आया है। हेराक्लाइटस, बर्गसा, बुद्ध आदि प्रवाह और परिवर्तन को सत्य मानते हैं।

लेकिन प्रत्येक परिवर्तन क्रांति नहीं है। सामान्य परिवर्तन को *'क्रांति'* नहीं, *'सुधार'* कहते हैं। जैसे मालिक-मजदूर के सम्बंध को सुधारना सुधार है, लेकिन मालिक-मजदूर के सम्बंध को नष्ट कर देना क्रांति होगी। इतिहास में परिवर्तन दो प्रकार का होता है– (१) स्वत: या अज्ञात परिवर्तन और (२) विचार एवं प्रयत्नपूर्वक परिवर्तन। पहले में मूलत: कोई महान आंतरिक प्रेरणा और सामाजिक परिस्थित्यांतर ही रहता है। किन्तु दूसरे में बाह्य परिस्थितियों एवं रूपांतरित आदर्शों का पूर्ण प्रभाव पड़ता है। अत: आधारभूत परिवर्तन का अर्थ यह नहीं होता कि क्रांतियों का अतीत से बिल्कुल मतलब नहीं। वास्तव में पुराने शरीर में ही नए जामे पहना दिए जाते हैं। आरनाल्ड टॉयनबी ने बहुत सुंदरता से यह दर्शाया है कि किस प्रकार यहूदी विचारधारा मार्क्सवाद में रूप बदल कर आई।[८]

परंतु क्रांतिकारी परिवर्तनों को केवल आमूलाग्र ही नहीं, अपितु अलक्षित और शीघ्रता से होना चाहिए। सुधार शनै:-शनै: चलता है, क्रांति फौरन। क्रांति को गति और तीव्रता की अपेक्षा रहती है। क्रांतिकारी आंदोलन तेजी से आगे बढ़ता है और जल्द-से-जल्द परिवर्तन करना चाहता है। ''इस विचार को सूई का फावड़ा भले ही बना दिया जाय, लेकिन आंदोलन

के नेता को यह दरअसल महसूस होना चाहिए कि ऐसी बात सच्ची है।"[१]

इस उपरोक्त परिचयात्मक परिप्रेक्ष्य में, भारतीय जीवन-दर्शन के उस विहंगम आधारभूत काल चिंतन की पृष्ठभूमि का सर्वांगीण सैद्धांतिक विश्लेषण अनिवार्यत: प्रासंगिक हो जाता है, जिसकी स्फूर्तिमयी धारा-प्रवाह में भगवद्गीता और महात्मा गाँधी के सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा मूर्त हुई।

भारतीय विचारधारा में काल-बोध सत्य एवं धर्म - दो सार्वभौम सांकेतिक पदों पर मण्डित हो मुख्य चार पक्षों को प्रस्तावित करता है। प्रथम पक्ष है, इसका पहला सिद्धांत, जिसे पुरुषसूक्त में 'प्रथम धर्म' भी कहा गया है। इसके प्रथम सिद्धांत तीन हैं – सम्पूर्ण जीवन अखण्ड और एक है। दूसरा सिद्धांत है, जीवन निरंतर प्रवाहित हो रहा है, यह ऐसी गति से चल रहा है, जो तमाम स्थितियों को संभालते चलती है। तीसरा सिद्धांत है कि सारी की सारी स्थितियाँ, स्थायी भाव और तत्व जहाँ ठहरे सुप्तप्राय हैं, वहाँ से विस्थापित होकर जो कुछ होना चाहते हैं, जो कुछ होने की बेचैनी अनुभव करते हैं, वह होने की प्रक्रिया एक है, उसी एक के कारण सब एक-दूसरे से सम्बद्ध हो जाते हैं, एक-दूसरे से जुड़े हुए सबसे जुड़ने लगते हैं। भगवद्गीता में इसी को सात्विक ज्ञान कहा है–

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।[१]

इन्हीं प्रथम सिद्धांतों की कसौटी पर समस्त आचार-विचार परखे जाते हैं तथा इनकी परिणति विश्व के परिवार के रूप में देखने में होती है। दूसरा स्तर है अनुष्ठान। यों तो जीवन की प्रत्येक क्रिया अनुष्ठान है, परन्तु मनुष्य अत्यन्त सार्थक और सर्जनात्मक क्रियाओं के कुछ प्रारूप जिस मनोयोग से बनाता है, वह मनोयोग ही मनुष्य की ऊर्जा बनता है और जो सौष्ठव अनुष्ठान द्वारा पूरा होता है, वही मनुष्य का रागबोध बनता है। क्रियान्वयन का तीसरा स्तर है चिन्तन-पद्धति, जो भावात्मक ज्ञान को सक्रिय बनाये रखने में योगदान देती है। इसी से जुड़ा चौथा पक्ष है लौकिक व्यवस्था का, जिसका एक पक्ष आभ्यान्तर है, दूसरा बाह्य।

भारतीय काल चिंतन परिवर्तन (इतिहास) के एक विशेष क्रम को केवल अंशत: स्वीकार करता है। साथ ही वह चक्राकार आवर्तन को भी अंशत: स्वीकार करता है। सृष्टि में आवर्तन तो होता है पर हर आवर्तन में पदार्थ का या किसी भी प्राणी का स्थान वही नहीं रहता है, जो पहले वाले आवर्तन में था। वह पदार्थ और प्राणी भी वही नहीं रहता है। इसका कारण यह है कि केन्द्रबिन्दु एक नहीं रहता, केन्द्रबिन्दु खिसकता रहता है। आवर्तन ठीक गोलाकार चक्र में न होकर शंख के घेरे की भाँति होता है, जहाँ वृत्त बंद नहीं होता, खुला रहता है। जो संस्कृति एक केन्द्र मानकर चलती है वह यदि चक्राकार गति में आस्था नहीं रखती, तो निरन्तर किसी एक प्रस्थान बिन्दु से ध्यान हटा नहीं सकती और यदि चक्राकार गति में आस्था रखती है तो भी केन्द्र से दूरी बनाये रखना चाहती है। भारतीय संस्कृति केन्द्र को सापेक्ष मानकर चलती है। इसलिये उसका ध्यान गति पर है, और गति के निरन्तर ऊर्ध्वगामी होने के संकल्प पर है। उसमें पीछे लौटना और अधिक ऊर्जा से आगे बढ़ने के लिए, और ऊँचे उठने के लिए होता है। इस तरह का परिवर्तन देशकाल की दोनों प्रकार की स्थितियों (असीम और ससीम)

के मध्य बहता चलता है, दोनों को एक-दूसरे के अभिमुख करता चलता है और अपने को कुछ फैलाकर, कुछ उथला बनाकर दोनों के बीच आने-जाने का सुगम तीर्थ और सेतु बनाने का आह्वान देता है।

कालतत्त्व चिंतन की वैचारिक पीठिका के अंतर्गत वैदिक, पौराणिक, विभिन्न दर्शन, सम्प्रदायों और प्रयोग प्रधान शास्त्रों में विशद् चर्चाएँ हुई हैं। सर्वप्रथम वैदिक वाङ्मय में सृष्टि से सम्बद्ध सूत्रों में निरवधि काल का वर्णन रूपक की भाषा में तमस् के रूप में या फिर तमवाली रात्रि के रूप में मिलता है।[११] अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त ही कालतत्व की व्याख्या करता है, जिसमें कई महत्वपूर्ण स्थापनाएँ बीज रूप में मिलती हैं।[१२] इस सूक्त में काल की व्यापकता, गतिशीलता और सब व्यापारों की प्रेरकता का निदर्शन तो कराया ही गया है, काल का अतिक्रमण करने वाले रचनाकार से भी यह अपेक्षा की गई है कि वह पीछे न देखें, वह तेजी से गुजरते समय को अपने वश में रखकर अपनी दिशा की ओर ले जाना चाहता है, तो आगे देखें। जो पीछे था, वह काल में ही समाया हुआ है। महाभारत में ऐसी ही दृष्टि की अपेक्षा राज्य व्यवस्था चलाने वाले से की जाती है, जब यह कहा जाता है- *राजा कालस्य कारणम्।* इससे यह स्पष्ट दर्शित होता है कि भारतीय काल चिन्तन में परिवर्तन अतीत में भटकाने वाले चिंतन नहीं, अतीत का अतिक्रमण करने वाला चिंतन है। काल-परिवर्तन लोक को संचालित करता है और लोक का अतिक्रमण भी करता है। दूसरे शब्दों में, सावधिकाल में घटनाएँ घटती हैं और सभी घटनाएँ निरवधि काल में समा जाती हैं, कुछ नयी होने के लिये। सावधि काल कलनात्मक, गणनात्मक और क्रियात्मक है तो निरवधिकाल सर्वसंहृत करने वाला महाकाल है। भारतीय दर्शन में काल के संदर्भ में तीन प्रकार की अवधारणाएँ मिलती हैं–

(१) काल स्वतन्त्र द्रव्य है (न्याय-वैशेषिक, मीमांसा, कुछ संशोधित रूप में जैन दर्शन, ज्योतिष, आयुर्वेद तथा कुछ बौद्ध दर्शन के सम्प्रदाय)।

(२) काल एक निरपेक्ष सत्ता है (द्रव्यमात्र नहीं) वे जिसे वैष्णव मानते हैं। कुछ दर्शन (शाक्त और भागवत दर्शन) काल को सृजनात्मक शक्ति मानते हैं।

(३) काल भ्रम है, आभास है (अद्वैत वेदान्त और माध्यमिक बौद्ध)। पर ऐसा मानने वाले भी काल की व्यावहारिक प्रतीति स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार, हमारे साहित्य का स्रोत है आख्यान, जिसमें घटनाओं और पदार्थों का क्रम ऐसे स्थापित किया जाता है कि वे सब मिलकर एक समग्र दिखें। आख्यान के रूप में ही हमारे मिथक् बनते हैं, बढ़ते हैं और पूर्णतर होते चलते हैं और इसी साँचे में ही संगीत नृत्य और नाट्य की प्रस्तुतियाँ होती हैं।

इसका निष्कर्ष यह है कि भारतीय चिंतनधारा काल (परिवर्तन) के व्यावहारिक पक्ष को स्वीकार इसलिए करती है कि कर्म की अपरिहार्यता सभी जानते हैं। इसके साथ ही सभी इस प्रकार के काल या कालातीत काल या अकाल या महाकाव्य या महाकाली या महामाया या अनिर्वचनीय अवस्था की कल्पना भी करते हैं जहाँ सब क्रियाएँ विलीन हो जाती हैं, सब कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते हैं या भावाग्नि में द्रव बन जाते हैं। वेदों में उसे एक ठहरा हुआ सूर्य कहा गया, योगप्रज्ञा में वही समाधि की चरमावस्था कही गयी, बौद्ध योग में नासंज्ञानैवसंज्ञासमाधि कही गयी (जहाँ सत्-असत् किसी की स्थिति नहीं

रहती)। भक्तियोग में उसे महाभाव कहा गया, साहित्यशास्त्र, कलाशास्त्र और संगीत आदि में इसे योगी के संवेदन से विलक्षण विषयों में रहते हुए विषयों के विषयी बनाने की स्थिति या दूसरे शब्दों में पूर्ण चैतन्य की रसात्मक स्थिति माना गया है। सामान्य दैनिक जीवन में भी ऐसे क्षणों का अनुभव हम करते हैं कि हम हैं नहीं, खो गये हैं, हम कुछ दूसरा हो रहे हैं, हम लुट रहे है, खाली हो रहे हैं, भर रहे हैं। हमको पता नहीं हमें क्या हो रहा है, पर हम पूरे होश में हैं, शायद सही होश में हैं, जब और वस्तुओं देश, काल का होश नहीं रह जाता। इसलिए यद्यपि ऊपर से देखने पर विभिन्न काल परिवर्तन विरोधी दिखायी पड़ता है, पर वह विरोध है नहीं, वह अलग-अलग धरातलों से परिवर्तन (काल) को देखने की बात है।

हम अपने जीवन में इसी भरपूर काल को जीते हैं। हम परिवर्तन की तोड़ने वाली निर्ममता और उसकी प्रतिक्रया में नहीं जीते, हम परिवर्तन में काल के वृत में फँसी हुई विवशता में नहीं जीते, हम जीते हैं तोड़ने के व्यापार को चुनौती मानते हुए, परिवर्तन में काल की विवशताओं के गुंजलक से छूटने की कोशिश करते हुए, परिवर्तन काल की सन्धिनी शक्ति को आत्मसात् करते हुए संपूर्णता के अनवरत् प्रयत्न में। परिवर्तन के इस सघन क्षण की अनुभूति काल से इस प्रकार बाहर जाती है कि इतिहास तो रहता है, पर वह बोझ नहीं बनने पाता। उसके कंधों पर कोई दूसरा निरन्तर धावक भाव सवार हो जाता है। यही कारण है कि राजतरंगिणी जैसे मानक इतिहास ग्रंथ हमारे यहाँ लिखे गए, पर हमने इतिहास में परिवर्तन की प्रतिश्रुतियों से और उनके फलस्वरूप उपजी प्रतिहिंसाओं में अपने को बाँधा नहीं। हमने निरन्तर अपने वर्तमान को भरपूर जिया, वर्तमान में जिया, वर्तमान से ही अतीत को प्रमाणित किया और भविष्य को सुनिश्चित किया। हमारा इतिहास-बोध परिवर्तन की न तो उपेक्षा करता है, न उसकी ऐसी अपेक्षा करता है कि उसे जीवन का केन्द्रीय भाग मान लिया जाय।

उपरोक्त वर्णित भारतीय चिंतन में काल और परिवर्तन की अवधारणा की व्याख्या के द्वारा हम अब गीता और गाँधी के सामाजिक परिवर्तन के दृष्टिकोण का तुलनात्मक विश्लेषण एवं मूल्यांकन के कार्य का प्रवर्तन कर सकते हैं।

खण्ड (क) गीता

जैसा कि पिछले अध्यायों में उल्लेख किया जा चुका है गीता में वर्णित समाज ऐसी जातियों का समूह है, जो प्राकृतिक, प्रकार्यात्मक, स्वायत्त, समान और स्वतन्त्र इकाइयाँ है। *''गीता में सामाजिक व्यवस्था को 'पदार्थ के तत्वों' (गुण) और क्रिया के अनुसार सटीक रूप से समझाया गया है।''*[१३] जिस तरह *'वर्ण'* का सामाजिक कार्य मानव स्वभाव के गुणों के मनोवैज्ञानिक कार्य से अपृथक् है, उसी तरह वर्णों के कार्यों से उसका समाज। *डॉ० बिनॉय सिरकार* के अनुसार वर्णाश्रम *''मूलत: एक राजनैतिक प्रत्यय है। यह राज्य के सावयवी सिद्धांत में एक अनिवार्य वर्ग है। यह जनसंख्यात्मक (प्रजा) पहलू की दृष्टि से क्षेत्र का समरूप है।''*[१४] गीता की सर्वोच्च सत्ता ने उसे अबाध्य सामाजिक एकता, राजनैतिक स्थिरता, आर्थिक विकास एवं आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिए निर्दिष्ट किया है।

(अ) उद्देश्य

(i) जातीय दायित्वों की अव्यवस्था : प्राकृतिक अवस्था

इस समाज की मान्यता के सन्दर्भ में, सामाजिक दृष्टिकोण से जातियों की गड़बड़ी का निहितार्थ है *'अभ्रंशनीय*

जातीय दायित्वों का परित्याग'। यद्यपि गीता इस गड़बड़ी की अवस्था को विस्तार में व्याख्यायित नहीं करती, उसकी संक्षिप्त और खरी अभिव्यक्ति से यह कल्पना की जा सकती है कि जातियों की अकर्मण्यता अथवा प्रकार्यात्मक हस्तक्षेप की अव्यवस्था से भरी वह एक सामाजिक दुर्व्यवस्था की स्थिति होगी, जो कि सामाजिक दुर्घटना, राजनैतिक अस्थिरता और आर्थिक क्षति के अपशकुन को इंगित करती है। जब चातुर्वर्ण लुप्त हो जाता है, तब वर्णसंकर आता है, जो उन महान प्रकारों की बड़ी गड़बड़ी है जो एक राष्ट्र को स्फूर्तिमय और स्वस्थ रखते थे।[१५]

व्यक्तिगत दृष्टिकोण से, जातियों के दायित्वों में दुर्व्यवस्था का निहितार्थ है कि यह एक गैरअनुशासित तथा अव्यवस्थित व्यक्तियों की स्थिति होगी, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति-जन्य जातीय-दायित्व को त्याग देना और दूसरे के दायित्व से उसे बदल देना अपना पूरा अधिकार मानता है। वह अपने व्यवसाय में दक्षता हासिल करने की पूरी उपेक्षा करता है जो सामाजिक विकास लिए घातक होगी। व्यक्ति का इस प्रकार का व्यवहार अत्यन्त असामाजिक, अप्राकृतिक, गैर-जिम्मेदाराना और पापपूर्ण होगा। व्यक्ति जो अपने प्रकृति-प्रसूत गुणयुक्त दायित्व को पूरा नहीं करेगा वह अपने सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास को आहत करेगा। जैसा कि *लोकमान्य तिलक* का कहना है कि यह प्रभु की इच्छा है कि हर व्यक्ति अपने सामाजिक (जातीय) कर्तव्यों का निर्वाहन करे और *''यदि एक व्यक्ति उस कर्तव्य का पालन नहीं करता, तो वह स्वयं परमेश्वर की आज्ञाओं की अवहेलना करके पाप का भागीदार बनता है।''*[१६] स्वजातीय दायित्वों की अवज्ञा का अर्थ स्वभाव एवं उसके सहवर्ती स्वधर्म रूपी स्वयं अपने आस्तित्विक नियमों की अवमानना भी है। यह स्थिति व्यक्ति के जीवन में अपने अवस्थान और सत्यनिष्ठ कर्तव्य से पतनोन्मुख होकर मत्स्य-न्याय की दशा में प्रत्यावर्तित हो जाती है।[१७] *''स्वधर्म तथा वर्णाश्रम के नियमों की अवज्ञा 'प्राकृतिक अवस्था' को वापस लाती है और राज्य अपने-आप समाप्त हो जाता है।''*[१८]

अस्पष्ट धुंधले रूप में, जातिगत दुर्व्यवस्था की गीता की अभिव्यक्ति उस मत्स्य-न्याय की अवस्था सदृश दिखायी देती है जिसका वर्णन प्राचीन हिन्दू तथा बौद्ध सामाजिक विचारकों ने किया है तथा उस *'प्राकृतिक अवस्था'* के समान भी, जिसको आधुनिक यूरोप के सामाजिक संविदावादी चिंतकों ने वर्णित किया है। यद्यपि जातीय दुर्व्यवस्था की स्थिति सामान्यत: उनके द्वारा वर्णित प्राकृतिक अवस्था के ज्यादा सन्निकट होगी, गीता इस सामाजिक संविदा सिद्धांत के अभिमत का समर्थन नहीं करती है जो यह कहती है कि *'राज्य'* सामाजिक तथा सरकारी संविदा का एक उत्पादन और केवल कानून-व्यवस्था बनाए रखने के लिए एक बनावटी विन्यास है। गीता का यह अभिप्राय नहीं है कि जातीय कर्तव्यों की दुर्व्यवस्था एक प्राग-सामाजिक और प्राग-राजनैतिक जीवन स्थिति दर्शाती है अपितु, उसका सिर्फ यह आशय है कि समाज जातीय असंयोजन में फिसल कर गिर जाता है।

गीता की जातीय असंयोजन की अभिव्यक्ति यह इंगित करती है कि वह समाज में अराजकतापूर्ण परिस्थितियों के अस्तित्व के बारे में अत्यन्त सचेत है और उसके घटने पर पाबंदी लगाना चाहती है। जातीय कर्तव्यों के परित्याग की भर्त्सना करते हुए दैवीय हस्तक्षेप की बात करती है, जो समाज में अराजक असत्यनिष्ठता का विनाश कर जातीय कर्तव्य की सहज परिपूर्णता की सनातन प्रक्रिया को पुन: निर्दिष्ट करता है, जो मानव को एक सामाजिक प्राणी बनाती है।

(ii) सामाजिक परिवर्तन की विकासवादी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया

सामाजिक और राजनैतिक आलोचकों का यह आरोप है कि गीता का सक्रियात्मक समाज, जो जातियों के अपरिवर्तनीय प्रकार्यात्मक कार्यों पर आधारित है, हमेशा एक स्थैतिक अवस्था मे रहता है। परिवर्तन के संदर्भ मे भारतीय प्रवृत्ति पर विचार करते हुए, *पन्निकर मानते हैं कि "भारत में और वास्तव में सामान्यत: एशियाई देशों मे समाज का मान्य दृष्टिकोण अपरिवर्तनीय संस्थाओं तथा नित्य नियमों पर आधृत एक स्थिर दशा की बात करता था। सनातन धर्म या अपरिवर्तनीय नियम वो नाम था, जिससे हिन्दू अपने धार्मिक समाज की व्याख्या करते थे। इसलिए, परिवर्तन की अवधारणा को नैतिक मानदण्डों से एक पतन के रूप में देखा जाता था, जिसका हर कीमत पर प्रतिरोध किया जाता था।"*[१९] किन्तु, गीता का सामाजिक निरूपण, जो जातियों के कर्मों के मनोवैज्ञानिक गुणों पर आधारित है, एक स्थैतिक प्रकृति का न तो है और न ही हो सकता है। जिस प्रकार गीता प्रत्येक वस्तु को प्रकृति के गुणों के संघटकों - सत्व, रजस् एवं तमस् - के द्वारा वर्गीकृत करती है, उसका समाज भी, क्रिया के इस मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण का अपवाद नहीं है। *"गीता यह दर्शाती है कि किस प्रकार ये त्रिगुण तीन प्रकार के सामाजिक परिवर्तन अथवा सांस्कृतिक विकास को अग्रसारित करते हैं। निश्चित रूप से, गीता को यह ज्ञान है कि तमोगुण बिल्कुल प्रगतिशील नहीं है और इसीलिए वह कोई सांस्कृतिक या सामाजिक विकास का कारक नहीं बन सकता है। सत्वगुण दैवी सम्पत या आध्यात्मिक संस्कृति का निर्माण करता है, जो समाज को सत्यनिष्ठता एवं दैवीय जीवन की ओर उन्मुख करती है। आसुरी सम्पत्, दूसरी ओर, भौतिकता, आक्रामकता और स्वार्थ-सम्वृद्धि को प्रोत्साहित करती है।"*[२०] ये तीनों गुण हमेशा सामाजिक विकास में सम्मिश्रण की परिवर्त्य मात्राओं में एक साथ एकत्र पाये जाते हैं।

समाज या तो तामसिक या राजसिक या सात्विक अवस्था में हो सकता है। सामाजिक विकास प्राकृतिक मनोवैज्ञानिक गुणों के आंतरिक विकास *(involution)* पर निर्भर करता है। मानवों का निहित सर्वप्रधान गुण गीता के सामाजिक आकारों को परिभाषित करता है। सामाजिक विकास जनचेतना के विकास से भिन्न नहीं है। सामाजिक विकास की प्रक्रिया प्रकृतिजन्य शामिल गुणों के परिवर्तन का प्रकटीकरण है। किसी भी प्रकार का समाज, सात्विक, राजसिक या तामसिक, सर्वकाल के लिए स्थिर नहीं रह पाता है। सामाजिक विकास के रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित होने में समाज को सदियों का समय लगता है। लोगों के सर्वप्रधान गुण की अनदेखी कर, उसके विकसित स्वरूप को विनष्ट करने या बदलने और बाह्य शक्ति का प्रयोग कर नए रूप का सूत्रपात करने की कोई भी असंगत चेष्टा, उसके आगे के सामाजिक और राजनैतिक विकास की गति को बाधित करेगी।

सामाजिक सचलता और विकास लोगों के गुणों के ऊर्ध्वगामी मनोवैज्ञानिक विकास के द्वारा फलित होता है। उदाहरण के लिए, यदि अधिकांश लोग स्वभावत: तामसिक हैं, उनका समाज अपने तामसिक रूप में निष्क्रिय, अज्ञानी, गुलाम और पृथक् पड़ा होगा। स्वामी विवेकानन्द, जिन्होंने अपने समकालीन भारतीय समाज को तामसिक बताते हुए, भर्त्सना की कि समूचा देश मृत मांसपिंड जैसा दिखता है, क्योंकि उसमें सक्रियता के कोई संकेत नहीं है। भारत में अपने आध्यात्मिक भ्रमण के दौरान उन्होंने पाया कि उनके अधिकांश देशवासी तामसिक गुण से लिप्त होकर देश के प्रति उसने दायित्वबोध से अज्ञात

है और इस कारण यह समाज निष्क्रिय तथा पिछड़ा पड़ा हुआ है। लोगों के निष्क्रियता की अपनी तामसिक गुणवृत्ति को, राजसिक क्रिया को उत्पादित कर और फिर सत्वगुण के इच्छारहित कर्म द्वारा रजस् कार्यवृत्ति को विजित करना होगा। अत: गीता का सामाजिक विकास का स्वरूप लोगों द्वारा उच्चतर गुणों के संवर्धन पर निर्भर है।

आगे, गीता सामाजिक परिवर्तन को तत्वपूर्ण त्रिगुणों के आंतरिक विकास के रूप में व्याख्यायित करती है, जो मानव चिंतन तथा कर्म के विकास की प्रक्रिया के दौरान एक दूसरे को नकारते हैं। द्वन्द्वात्मक गुणों की प्रकृति का वर्णन करते हुए *मैक्स मूलर* ने लिखा कि सर्वाधिक सामान्य अर्थ में *''वे भौतिक एवं नैतिक प्रकृति के प्रत्येक हिस्से के माध्यम से पक्ष, विपक्ष और इन दोनों के बीच की स्थिति से ज्यादा का प्रतिनिधित्व नहीं करते हैं जैसे ठंडा - गर्म, और न ठंडा न गर्म; अच्छा - बुरा, और न अच्छा न बुरा; प्रकाश-अंधकार और न अंधकार न प्रकाश इत्यादि। इन गुणों के बीच तनाव, सक्रियता तथा आंदोलन पैदा करता है और तत्पश्चात का संतुलन अस्थायी या चरम स्थिति को फलीभूत करता है।''*[२१] पक्ष और विपक्ष के मध्य विरोधाभास प्रगति का मुख्य स्रोत निर्मित करता है। *''यहाँ तक कि ईश्वर के पास भी निषेधात्मकता का तत्व, माया है, जिसके द्वारा वह नियंत्रित करता है।''*[२२] प्रगति गुणों अथवा पदार्थ के बंधन से संचेतना की क्रमिक मुक्ति है। *रामानुज* के अनुसार, गुणों का ज्ञान सर्वाधिक महत्वपूर्ण ज्ञान है। *''इस ज्ञान को प्राप्त करके मानव ईश्वर के समतुल्य हो जाता है और उत्पत्ति तथा विनाश से बंधा हुआ नहीं रह जाता।''*[२३]

ऊर्जा के गत्यात्मक रीतियों के रूप में द्वंद्वात्मक त्रिगुण पदार्थों के परिवर्तन तथा विकास की दिशा व दशा निर्धारित करते हैं। ये गुण *आद्य (primordial)* तत्व से जन्म लिये, *''प्रकृति में प्रत्येक निर्जीव, सजीव और मानसिक वस्तु को अपने भीतर समेटे हुए है।''*[२४] परन्तु *'गुण'* शब्द, गीता के आख्यान में, *''एक पदार्थ का गुण नहीं, बल्कि उस 'प्रवृति' की ओर संकेत करता है जिसके माध्यम से मन कार्य करता है।''*[२५] अत: जहाँ मार्क्स के लिए सामाजिक परिवर्तन के क्रम में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की प्रक्रिया निरपेक्ष है, वहीं गीता द्वन्द्वात्मक गुणों को सापेक्ष मानती है। जैसा *डॉ० राधाकृष्णन* ने इंगित किया है : *''यहाँ पर प्रगति की कोई अनिवार्यता नहीं है। न तो ईश्वर न ही मार्क्सवादी द्वन्द्ववाद हमें भविष्य के प्रति आश्वस्त कर पाता है। मानव अपने प्रयासों से ही अपना आत्म-परिष्करण कर सकता है, जो अनुकूलित तो होते हैं पर पूर्वनिर्धारित नहीं।''*[२६] मार्क्सवादी भौतिकवाद गीता के द्वन्द्वात्मक गुणों से तुलना करने पर तात्त्विक अर्थास्पष्टता से मुक्त नहीं है। *''मार्क्स तात्त्विक भौतिकवाद के कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता।''*[२७] इसके विपरीत, गुणों की सांख्य दर्शन की मान्यता, जिसे गीता ने परिष्कृत किया, प्रकृतिमय गुणों के अंतर्द्वन्द्व के खाँचे में *ब्रह्माण्डीय 'उत्थान एवं पतन'* के चक्रीय विकास का सटीक वर्णन कर पाने में सफल है। सर्वप्रधान मनोगुण, व्यक्ति के मनोप्रवृति के झुकाव के अनुसार, सामाजिक विकास के गढ़ने में प्रभावोत्कर्ष प्राप्त कर लेता है।

जब प्रकृति की समस्थिति की दशा भंग होती है, तब विकास का क्रम सूक्ष्म से स्थूल आकार की ओर रहा है। सर्वप्रधान मनोगुण जनमानस की चेतना में प्रस्फुटित होता है। मन पदार्थ है और इसलिए वह स्वयं *''तीनों गुणों के क्रिया का परिणाम''* है।[२८] मनोगुण समाज में भौतिक तथा सामाजिक परिवर्तन-सूत्रों के संचालक है। यह तर्क देते हुए कि चेतना मृत्यु के समय

विलुप्त हो सकने वाली आकस्मिक वृत्ति नहीं है, डॉ० सम्पूर्णानन्द ने लिखा कि : *"हम यह नहीं कहते कि विकास एक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया नही है, न ही आर्थिक शक्तियों की महत्ता को हम अस्वीकृत करते हैं। हम केवल यह कहते हैं कि विकासक्रम में सबसे शक्तिशाली कारक चेतना के सागर रूपी अहं की अंतर्निहित प्रकृति है, जो प्रत्येक वस्तु का साँचा है और प्रत्येक चीज को आवृत कर उसके भीतर परिव्याप्त है। स्वैच्छिक या अनैच्छिक रूप से, व्यक्तिगत अहं अपनी प्रकृति के द्वारा निर्देशित हो एक निश्चित दिशा में अग्रसर होने की प्रवृत्ति रखता है।"*[२९]

व्यक्ति के दृष्टिकोण से, गीता गुणों के बारे में बहुत कुछ कहती है, जो उसके विचार और क्रिया को विकसित करता है। गुणों को *"विकास के लिए उत्तरदायी (गीता, १४:१०-१८); व्यक्ति के आचरण को निर्धारित करने वाला (३:२७-२९; ४:१०-१३); भ्रम के तत्त्वों के रूप में (७:१३); जिसके द्वारा सभी आत्माएँ बँधी हुई है (१४:५-८, १८:१०); जिसमें से एक दूसरे पर प्रभुत्व को, व्यक्ति के अनुगामी जन्म को प्रभावित करने वाला (४:१४, १५), कुछ लोगों में विवेक, अन्यों में लोभ, अतर्कणा और त्रुटि पैदा करने के लिए उत्तरदायी (४:१७); एक भक्त की आस्था के प्रकार या गुण को निर्धारित करने वाला (१७:१६); अन्नों के वर्गीकरण (१७:२६); उपासना (१७:११-१३); तपसाध्यता की कठोरता (१७:१४-१९); उपहारों (१७:२०-२२); निवृति के प्रकारों (१८:७-९); ज्ञान (१८:१९-२२); कर्म (१८:२३-२५); व्यक्तियों (१८:१९-२२); बौद्धिकताओं (१८:३०-३२); दृढ़ता (१८:३३-३५) तथा यहाँ तककि सुखानंद (१८:३६-३९) को निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी माना गया है।"*[३०] गुण जो सांख्य दर्शन के मूलाधार हैं *"लगभग कहीं अन्य स्थान की तुलना में गीता के अन्तर्गत ज्यादा स्पष्ट, ज्यादा विशद और ज्यादा दैदीप्यमान रूप से वर्णित हुए हैं।"*[३१]

इस प्रकार, जहाँ मार्क्स की उत्पादक शक्तियाँ सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया के कैसे (why) की व्याख्या करती है, वहीं सर्वप्रधान अंतर्सम्मिलित गुण, सामाजिक परिवर्तन के क्यों (how) की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का वर्णन करता है। चूँकि मनुष्य सनातन एवं प्रज्ञावान प्राणतत्व है, डॉ० सम्पूर्णानन्द के शब्दों में, *"समाज को इस प्रकार से नियोजित करना मूर्खता होगी कि वह उसकी (मनुष्य) आत्मा के मुक्त विकास तथा उसकी सहजात प्रवृत्तियों के मुक्त बहाव को अवरुद्ध करे। जब तक सामाजिक व्यवस्था (शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हुए) मानव-प्रकृति से लयबद्ध नहीं की जाती, उसकी निर्विघ्न कर्मिता के पग-पग पर समस्याएँ होती रहेंगी।"*[३२] अत: गीतानुसार युगांतरीय सामाजिक परिवर्तन को उत्पादन प्रणालीय परिवर्तन से नहीं, जनमानस में अंतर्विकसित सर्वप्रधान गुण की सक्रिय भूमिका की प्रामाणिक संकल्पना द्वारा व्याख्यायित किया गया है।

(iii) आदर्श समाज - व्यवस्था

महाभारत के प्रमुख सूत्रों के साथ गीता के विभिन्न श्लोकों को संश्लिष्ट कर उनका विहंगम विश्लेषण करने पर हमें गीता के सावयववादी सामाजिक सिद्धांत का संज्ञान होता है। यह ब्रह्मावधारणा पर अभिकेन्द्रित है, जो आध्यात्मिक साधकों द्वारा प्रदत्त अभिमुखीकरण के कारण एक नितर्क, निर्गुण एवं निरपेक्ष पारलौकिक सत्ता में ही केवल निरूपित है तथा कोई भी व्यावहारिक सिद्धि नहीं कर पाता था। गीताकृत व्यावहारिकानुशासन को एक ऐसा आदर्श चाहिए जो मानवतावादी

व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाये। अत: गीता के अनासक्ति योग के दर्शन में कतिपय व्यावहारिक सूत्रों की गवेषणा होनी चाहिए।

इस विषय में संशयी होने का कोई कारण नहीं है क्योंकि व्यावहारिक विचार भारतीय चिंतन का प्रबल पक्ष रहा है। जीवन में भौतिक तथा नैतिक अशुभ की उपस्थिति से एक व्यावहारिक दबाव के अधीन भारत में दर्शन की उत्पत्ति हुई है। लेकिन उपनिषदों की रहस्यवादी व्याख्या के कारण ही कुछ पवित्र हाथों ने एक गहन रहस्यमयी मिथकपूर्ण दीवारें खड़ी कर ली और समूचे दार्शनिक प्रणाली को अव्यावहारिक कर दिया। पश्चिम में हेगल की दार्शनिक रहस्यवादिता को अनावृत्त करने का जो कार्य फ़्यूयरबाख ने किया, वही कार्य महाभारत ने उपनिषदीय चिंतन में परमरहस्य को उद्घाटित करने का किया है। इस क्रम में, *महाभारत* उद्घोषणा करता है - मनुष्य से उच्चतर (श्रेष्ठतर) कुछ भी नहीं है *(ना मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित)।* ऐसी ब्रह्मावधारणा समग्र रहस्यों और अनिश्चितताओं से मुक्त है। गीता महाभारत का अभिन्न अंग है तथा हमारे पास यह मानने का कोई तर्क नहीं कि महाभारत के रचयिता ने तादात्मयी तार्किक नियम को तोड़कर और *'ब्रह्म'* शब्द को किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त कर द्वयार्थक दोष ग्रस्त कर दिया है। महाभारत द्वारा रहस्यानावृत्त स्पष्टीकरण हमें *'ब्रह्म'* के स्थान पर *'मानव'* शब्द का प्रयोग करने में समर्थ बनाता है।

'मानव' शब्द को उसके सामूहिक या विजातीय अर्थ में मानव व्यक्तिनिष्ठता अथवा जातिवर्गता के संदर्भ में प्रयोग किया जा सकता है। सामान्य भाषा में भी इस शब्द का ऐसा प्रयोग अत्यन्त प्रचलित है। जब हम कहते हैं कि मानव *'सृष्टि का मुकुट'* है, तो हम इस शब्द को *'मानवता'* वर्ग के लिये प्रयुक्त करते हैं। इस अर्थ में समझने पर यह मानव ही है, जो आत्मज्ञान की प्रक्रिया में स्वयं को यानि वास्तविक मानवता की प्रबोधना करता है। *'ब्रह्म'* शब्द-प्रयोग में अनुरूपता तथा गीता चिंतन की निरंतरता मांग करती है कि गीताकृत ब्रह्मनिर्वाण का उद्देश्य मानव को मानवता के शुद्धरूप से एक करना है। जैसा कि पूर्व विवेचित हो चुका है - वृहदारण्यक एवं छांदोग्य उपनिषदों के अनेक छंद स्पष्टत: दर्शाते हैं कि अपने सारत्व में स्वयं मानव ब्रह्म है। ब्रह्म आत्मा से मात्र इस अर्थ में भिन्न है कि जहाँ आत्मा सम्पूर्ण आंतरिक सत्यता का सारत्व है, वहीं ब्रह्म मानवता की पारलौकिक एकता के लिए प्रतिष्ठित है।

महाभारत की केन्द्रीय अवधारणा के आलोक में गीताकृत समाज के सावयवी सिद्धांत को सुस्पष्टत: जाना जा सकता है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में, दैवीय शक्ति स्वयं अर्जुन के सम्मुख स्वयं को एक मानवाकार में प्रकट करती है। *''फिर पांडव ने 'ईश्वरों के उस ईश्वर' की काया में सकल ब्रह्माण्ड को उसकी बहुआयामता में देखा।''*[३३] इस श्लोक पर टिप्पणी करते हुए *डॉ० राधाकृष्णन* का मत है कि *''समाज की एक अणुवादी अवधारणा के विपक्ष में गीता एक सावयववादी सिद्धांत के पक्ष में खड़ी है।''*[३४] महाभारत इस दावे को सम्पुष्ट करता है कि मर्त्यलोक एवं अंतर्निर्भर सावयव है *(संगठवम् मर्त्यलोक: परस्परम् अपाश्रित:)।*[३५] *मांडूक्योपनिषद्* भी स्वत्व के चातुर्वस्थाओं का विवेचन करते समय अभिप्रमाणित करता है कि *''जागृतावस्था में प्रकटीकृत जगत विराट् या ब्रह्माण्डीय व्यक्ति है।''*[३६] उपनिषदीय आख्यानों में सैकड़ों ऐसे छंद पड़े हैं जो समाज की सावयवता (पुरुष) की ओर संकेत करते हैं। चूँकि गीता उपनिषदों की सार-प्रतिनिधि है, हमें यह मानने में कोई

आपत्ति नहीं है कि गीता का अनासक्तियोग इस नियम - यथार्थ एक सामाजिक प्रणाली है - पर अवस्थित है। *सोरोकिन* के अनुसार *"एक सामाजिक व्यवस्था एक ऐसा सुयोजित समूह है जो अधिकारों, कर्तव्यों, सामाजिक पद तथा एक दूसरे एवं विश्व-विराट् के प्रति उसके सदस्यों के कार्यों की विशद परिभाषा देते हुए एक बाध्यकारी, अनिवार्य नियमों को अधिग्रहण करता है।"*[३७] समूह का यही सुव्यवस्थित गुण गीता में *'सावयवता'* की मान्यता में रूपांकित होता है।

एक सामान्य दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति तथ्यपरक बहुलता और भोथरी वैयक्तिकता को देखता है, किंतु सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक संघटक तत्वों को प्रत्यक्षत: अनुभव नहीं किया जा सकता है। सामाजिक एकता तार्किक प्रबोधन की विषयवस्तु है। इसलिये अर्जुन से साफ-साफ कहा जाता है कि *"तुम अपनी इन आँखों से मुझे नहीं देख सकते, मैं तुम्हें दैवीय चक्षु प्रदान करता हूँ।"*[३८] तार्किक अन्तर्दृष्टि को दैवी इसलिए कहा जाता है क्योंकि यांत्रिक और आनुभविक ज्ञान साधन इस सामाजिक एकत्व का प्रत्ययीकरण करने में अक्षम हैं तथा इस अंतर्निहित एकता का संज्ञान करने के लिए मनुष्य को अपने यांत्रिक दृष्टि के अवयवों से परे जाना होता है।

हार्टशोर्न भी इस दृष्टि की वकालत करते हैं कि सामाजिक एकता को आनुभविक ज्ञान से नहीं प्राप्त किया जा सकता। वे कहते हैं : "जो कुछ अनुभवविहीन है, वह सामाजिक नहीं हो सकता। भावना अनुभव का न्यूनतमांश है। अत: प्राणी तभी सामाजिक होते हैं, जब वे भावनात्मक हों।"[३९] इसी प्रकार की दृष्टि अर्जुन को सावयविक एकता देखने के लिए प्रदान की गई थी। *व्हाइटहेड* की भाषा में एक *'विस्तीर्ण एकता'* कहा जा सकता है, *"जो आण्विक वैयक्तिकता के पृष्ठ में कार्यरत एक विस्तृत एकीकरण प्रक्रिया है।"*[४०] वास्तव में, इस प्रकार की विस्तीर्णता आनुभविक प्रक्रिया है। यह अन्तर्बन्धित क्रिया-पदों की बहुलता के अन्तर्स्थित एकल महती क्रिया का आनुभवीकरण है। यह व्हाइटहेडवादी अवधारणा इस तथ्य को सुलझाती है कि मानवता की सावयविक एकता के अनुभव द्वारा मानव स्वयं का अनुभव करता है। गीता द्वारा नैतिक अभिकर्ताओं को दैवीय-दृष्टि प्रदान करना इस विचार का द्योतक है कि समाज की विस्तीर्ण एकता अनुभवीकरण की एक विषयवस्तु है।

उपरोक्त विवेचना के ज्ञान प्रकाश में गीताकृत समाज को एक सावयववादी एकत्विक व्यवस्था मान लेना चाहिए, जिसके अंश एक दूसरे के लिए परस्पर उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार एक सावयव के अंश। यह मानव सावयव, जिसके माध्यम से दैवी प्रकाश्य होता है, समाज के सदस्यों की अन्तर्निर्भरता को इंगित करती है। काम्टे इत्यादि अनेक समाजविदों ने दर्शाया है कि सामाजिक एकता और उसमें व्यक्ति की भागेदारी को सावयववाद के सन्दर्भ-पदों में सोचा जा सकता है।[४१] गीता यह विचार प्रेषित करती है कि नैतिक जीवन एक समाज के सदस्य के रूप में संभव है। स्वधर्म का पूर्ण चिंतन भी इसी उक्ति की अभिव्यक्ति है कि अपने संकीर्ण व्यक्तिवाद, अपने विलग अणुवत अस्तित्व को निर्मल करके ही मनुष्य आत्मबोधन कर सकता है। गीता मानव स्वरूप में स्वयं दैवी प्रकाश्य की सादृश्यता का उपयोग करते हुए समाज की सावयवी अवधारणा को अभिव्यक्त करती है। साथ ही, इस बात पर बल देती है कि सभी सदस्यों में प्रकार्यात्मक अन्तर्निर्भरता है और मानव की सामाजिक प्रवृत्ति सावयविक एकता में उसकी भागेदारी से उद्धृत होती है। इसी नैतिक प्राधिकार में देवत्व अवस्थित होता है, जिसका प्रकटीकरण कुछ और नहीं अपितु मानवीकृत सामाजिक प्रणाली है। इसका नैतिक आशय यह है कि व्यक्ति

अपनी पूर्णता को व्यवस्था में एक सक्रिय हिस्सेदारी के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करे। गीता के अंतिम उपदेश में अर्जुन को समग्र सामाजिकता के साथ अपने व्यक्तित्व को समाहित करने के लिए तैयार किया जाता है। *''मेरे ऊपर अपने मन को केन्द्रित करो, मुझ तक अपनी शक्ति लाओ'' (मन्मना भाव मद्भक्तो मदयाज्ञी मां नमस्कुरू)।*[४२] इस श्लोक के पीछे यह विचार प्रतीत होता है कि मनुष्य को सच्चा आदर तब प्राप्त होता है, जब वह आत्मकेन्द्रित विचार को तजकर समाज के लिए भक्तिभाव से कुछ अर्पण करता है। इस उद्देश्य के लिए गीता ने समाज के चातुर्वर्णीय स्तरीयकरण का प्रस्ताव रखा है। इसलिए गीता कहती है कि *''चातुर्वर्णीय व्यवस्था मेरे द्वारा प्रत्येक के विभिन्न गुणों और कर्म के अनुसार सृजित है।''*[४३] यह एक स्वतन्त्रेच्छा का लोकतांत्रिक सिद्धांत है, जो प्रत्येक व्यक्ति को *'अपनी क्षमताओं के अनुकूल' (स्वभावजन्य)* अपना सहयोग देने का अनुज्ञापन देता है।

अत: गीताकृत आदर्श समाज की परिकल्पना का सावयववादी सिद्धांत दो उद्देश्यों की पूर्ति करती है– (१) सावयवी प्रणाली के रूप में एक वृहत् सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करते हुए नैतिक दायित्व का एक स्रोत प्रस्तुत करता है; और (२) जिस सीमा तक एक व्यक्ति स्वयं को समाज का एक अन्तर्निर्भर अंश पाता है, वह उस हद तक व्यक्ति के आचरण समुचित समय पर नियमित भी करता है। यह दुराचारिता पर विध्यात्मक अंकुश है। सामान्यत: हिन्दू नीतिशास्त्र का अभिमत है कि व्यक्ति के पास स्वेच्छानुसार कार्य करने तथा परिसीमाओं के भीतर भविष्य को निर्धारित करने की क्षमता है; जो दूसरों को अपनी शक्ति को अभिव्यक्त करने में सहायक भी होता है।

(ब) उपकरण

गीता की समानता की अवधारणा या एकत्व की भावना, जो विलोमों की द्वन्द्वताओं के परे ले जाती है, व्यक्ति के मन की समचित्तता की एक अवस्था को दर्शाती है। एक सत्यनिष्ठ समाज की स्थापना के उद्देश्य को लेकर ऐसे समचित्त व्यक्ति के सामाजिक परिवर्तन के प्राविधिक उपकरणों की विवेचना निम्नांकित अध्ययन बिंदुओं के आधार पर करना समीचीन है:-

(१) सामाजिकता के संदर्भ में 'विवेकशील तर्कणा'

(२) सामाजिक-राजनैतिक भ्रष्टाचार के अर्थ में 'अशुभ'

(३) एक भ्रष्ट सामाजिक-राजनैतिक व्यवस्था को बदलने के कार्य के परिप्रेक्ष्य में 'सर्वशुद्धनिष्ठता'

(४) आध्यात्मिक प्रतिरोध के संदर्भ में 'योगी-भावमय युद्ध'।

(५)'साधन एवं साध्य की अन्तर्सावयवता'।

(i) सामाजिक परिवर्तन के उपकरण-सम्बंधी सिद्धांत

उपरोक्त विषय-बिंदुओं पर आने के पूर्व गीता में उठी विभिन्न सामाजिक परिवर्तन की उपकरण-सम्बंधी अवधारणाएँ अपनी वादी-प्रतिवादी आख्यात्मक शैलीगत प्रस्तुति के कारण विचारणीय हो जाती हैं।

ये प्रतिस्पर्धी मान्यताएँ उसके पात्रों के कुरूक्षेत्र के युद्ध सम्बन्धी उनके दृष्टिकोणों में अभिव्यक्त हुई हैं। इनके अन्तर्गत

धृतराष्ट्र की राजनैतिक तटस्थता, दुर्योधन की सैन्य समवृद्धि की नीति और अर्जुन की नैतिक सामाजिक निष्क्रियता अथवा तुष्टीकरण की नीति प्रमुख हैं।

१) धृतराष्ट्र : राजनैतिक तटस्थतावाद

अंधे राजा धृतराष्ट्र की सामाजिक-राजनैतिक तटस्थता उनके पारिवारिक पृष्ठभूमि का परिणाम है। न तो अपने पुत्रों के विजय पक्ष में और न ही अपने भतीजों की सत्यनिष्ठता का समर्थन करते हुए वे चतुर राजनयिक के रूप में युद्ध क्षेत्र को सही ठहराते हैं, लेकिन स्वयं युद्ध को लेकर तटस्थ हैं। न तो वह उसका समर्थन करते हैं, न ही विरोध। लेकिन उनकी इस प्रतिष्ठित तटस्थता को समचित्तता के समतुल्य नहीं माना जा सकता है। वह युद्ध के परिणाम को लेकर उदासीन नहीं है तथा दोनों घटकों की शूरवीरता के बारे में जानने की उत्कंठा दिखाते हैं। उनका बड़बोला और युद्धोन्मादी पुत्र उनकी इस तटस्थता की विवेकशीलता को पराजित कर देता है।

२) दुर्योधन : सैन्य समृद्धिवाद

स्वभावतः घमंडी और एकाधिकार की मनोवृत्ति से जुड़ी महत्वाकांक्षा, आक्रांत और लोलुप, राजकुमार दुर्योधन राजनैतिक सत्ता का लालसातुर है। नाम के अनुरूप, दुर्योधन न केवल शारीरिक बल, अपितु अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने में अपराजेय है। कुरूक्षेत्र के मैदान पर युद्ध के द्वारा वह अपने दीर्घकालीन हितों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य में सैन्य शक्ति की सफलता पर आधारित राजनैतिक सम्प्रभुता का द्योतक है। शुष्क यथार्थवादी नीति के एक समर्थक के रूप में, दुर्योधन यह मानता है कि उद्देश्य माध्यमों को न्यायोचित करते हैं, कि युद्ध स्वयं में अच्छा होता है, कि वह अपरिहार्य है। चूँकि दुर्योधन का युद्ध आक्रमणकारी है, वह प्रकृत्या अतार्किक है। उसकी राजनैतिक सक्रियता भी अपने स्वरूप में अबौद्धिक है। युद्ध के अपने निर्णय पर अपने बुजुर्गों की सलाह के साथ पुनर्विचार किए बिना वह लोगों को अपने स्वार्थमय युद्धोन्माद में झोंक देता है।

३) अर्जुन : नैतिक-राजनैतिक निष्क्रियवाद या तुष्टीवाद

दुर्योधन के सैन्य अभ्युदय को दृढ़ संकल्प के साथ मोर्चा देने और अपने वैध राजनैतिक अधिकारों के लिए लड़ने की अपेक्षा अर्जुन का युद्ध से इंकार वस्तुनिष्ठ नैतिक और भौतिक परिस्थितियों के वशीभूत है। अर्जुन विनम्रता, सभ्यता एवं अन्तर्चेतना से युक्त अपने अशमनीय हितों तथा व्यक्तिवादी आत्मा द्वारा उत्प्रेरित युद्ध को एक भयावह अपराध और पाप के रूप में भर्त्सना करते हुए नैतिक निष्क्रियता की वकालत करता है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता हैं कि ज्ञात मानव इतिहास में ऐसा एक भी प्रकरण नहीं है जो युद्धभूमि में अर्जुन की उस अत्यन्त तनावपूर्ण स्थिति के तुल्य हो, जिसमें एक ओर व्यक्ति की नैतिकता का वस्तुगत दृष्टिकोण तथा दूसरी ओर उसका सामाजिक दायित्वबोध दाँव पर लगा हो। नैतिक दृष्टि से, अर्जुन युद्धभूमि में अपने कुटुम्बजनों का वध कर पापभागी नहीं बनना चाहता। पाप की नैतिक वर्जना के अतिरिक्त, नर्क का धार्मिक भय और अपशकुन की आशंका भी उस पर युद्धविरत होने का दबाव बनाती हैं। भौतिक दृष्टि से, वह अपने दायित्वों को पूरा करने को सामाजिक और राजनैतिक उपयुक्तता के आधार बता, परित्याग करने की बात करता

है। ये सभी बाधाएँ उसे कर्मविरत होने लिए उकसाते हुए मानव जीवन की पवित्रता तथा सामाजिक-नैतिक मूल्यों का एक मुखर प्रवक्ता बना देती है। अखण्डित पारिवारिक संबन्धसूत्र, पारिवारिक, जातीय और प्रजातीय परम्पराओं की निरंतरता तथा सामाजिक संरचना की यथास्थिति को कायम रखने की आवश्यकता को संरक्षित करना ही अर्जुन के जीवन का मर्म एवं उद्देश्य प्रतीत होता है। वह अनुभव करता है कि कर्म का उसका स्वैच्छिक त्याग व्यक्ति तथा समाज के जीवन में एक सांगोपांग सुधार का सूत्रपात करेगा।

इस क्रम में, अर्जुन स्वयं को सामाजिक रूप से सुधारते हुए अपने निष्क्रियता के उपकरण को दूसरों के लिए एक अनुकरणीय प्रारूपादर्श के रूप में प्रस्तुत करता है। चूँकि उसके प्रकृति में कोई आंतरिक परिवर्तन नहीं होता, वह पलक झपकते स्वयं को एक योद्धा से एक धर्मप्रचारक भिक्षु में बदलने की आशा नहीं कर सकता। वास्तव में, उसे स्वयं अपने नैतिक-सामाजिक सुधार, अर्थात् स्वजातीय जन्मजात अनिवार्य कर्म का पालन करने तथा अपने आंतरिक प्रकृति को पुष्ट करने की आवश्यकता है। चूँकि वह अपने स्वाभाविक कर्म का त्याग कर भिक्षु बनना चाहता है, वह समाज-सुधार की आशा नहीं कर सकता है। उसी प्रकार, सामाजिक-राजनैतिक निष्क्रियता के प्रति उसका नकारात्मक दृष्टिकोण समाज-सुधार में असहायक है। उनके द्वारा प्रस्तावित समाज-सुधार वर्णसंकर को रोकने, परिवार, जाति तथा प्रजाति की परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने जैसे बाहरी कारकों से वास्ता रखता है। चूँकि वह सामाजिक-राजनैतिक यथास्थिति को बनाए रखना चाहता है, वह सुधारक नहीं हो सकता।

अर्जुन द्वारा प्रस्तावित नैतिक निष्क्रियता का सामाजिक सुधार, जो स्वभावत: आत्मघाती है, न व्यक्ति और न समाज को राजनैतिक पाप की दमनकारी व्यवस्था से बचा सकता है। युद्ध को एक पाप मानते हुए, कर्म-परित्याग का निश्चय कर राजनैतिक पाप के चिरस्थायीकरण के प्रति उदासीन है। वह मानसिक तौर पर दुविधाग्रस्त है जिसके लिए अपनी राजनैतिक निष्क्रियता को संगत ठहराने के लिए अशुभ का नैतिक आवरण जरूरी हो जाता है। अपनी निष्क्रियता में नैतिक शौर्याभा को तलाशने का उसका उपक्रम और अधर्मियों के सम्मुख अहिंसात्मक अप्रतिरोध का उसका संकल्प समाज में राजनैतिक विधर्मता को प्रोत्साहित करने की अनैतिकता को ही सम्बल देगा। जैसा *स्वामी प्रभवानन्द* ने संकेत किया है, गीता अप्रतिरोध को सर्वोच्च गुण मानती है, *''लेकिन वह यह नहीं कहती कि यह सभी परिस्थितियों में सभी लोगों द्वारा अनुपालित होना चाहिए। इसके विपरीत, वह यह इंगित करती है कि कुछ व्यक्तियों के लिए पाप का विरोध उसके माध्यम से एक ऐसी अवस्था में विकसित होने के लिए जिसमें पाप के झेलने का नैतिक बल प्राप्त हो, आवश्यक हो जाता है।''*[४४] गीता जो अुर्जन के युद्ध-विमुखता को अधर्म एवं नैतिक भीरूता बताते हुए उसकी भर्त्सना कर, मात्र राजनैतिक अधर्म से लड़ने, उसके पुरुषार्थ को जागृत करने के लिए ताना मारते हुए 'खलिभ्याम्'[४५] शब्द प्रयुक्त करती है। अत: अर्जुन की नैतिक तुष्टीवादी प्रतिरोधिता इस कारण असंगत है क्योंकि न तो यह नीति उसके अपने नैतिक मानदंडों तथा न ही मान्यता-प्राप्त सामाजिक - नैतिक अभिसमयों के पूर्णत: अनुरूप है, तथा नैतिकता व्यक्ति के लिए नियत कर्म के परित्याग को नहीं, अपितु उसके निर्लिप्त कार्यान्वयन को अनुमोदित करती है।

(ii) सामाजिक परिवर्तन के सक्रिय वैधानिक उपकरण एवं प्रविधियाँ

योद्धा अर्जुन की सामाजिक परिवर्तनकामिता के उपकरण पर उसकी अंतर्दृष्टि स्थिर नहीं है, क्योंकि वह उसके अनिश्चित पसंदों तथा नापसंदों से अनुशासित होती है, जिसे युद्धभूमि में ही उसे त्वरिततः बदलते हुए दिखाया गया है। चूँकि वह तर्क-स्थिरता से परिपूर्ण नहीं, समाजकर्मिता पर उसका दृष्टिकोण एक योद्धा के प्रतिरोध से घुम्मकड़ भिक्षु की अहिंसक अप्रतिरोधिता में और फिर यह स्थितप्रज्ञ के आध्यात्मिक प्रतिरोध में रूपांतरित हुआ है। इस सन्दर्भ में उसके गुरू, श्री कृष्ण कर्म की अनिवार्यता तथा प्रकृति पर जो ज्ञानप्रदीप्त उपदेश देकर उसे निशंकित करते हैं, उसी के अंतर्गत हमें गीता के सामाजिक परिवर्तन के सक्रिय वैधानिक उपकरणों का विवरण प्राप्त होता है। इस उपखण्ड के प्रारम्भ में उल्लिखित उन पाँच उपकरणों की व्याख्या निम्नांकित है :-

१) सामाजिकता के सन्दर्भ में 'विवेकी तर्कणा'

अर्जुन, जिसकी यह मान्यता थी कि उसकी राजनैतिक निष्क्रियता युद्धभूमि में उसके परिजनों की मृत्यु से रक्षा करेगी, को स्वयं 'मृत्यु' तथा 'अशुभ' के भय से विमुक्त होना है। गीता के सर्वसम्प्रभु *'अशुभ'* के उसके संशय का समाधान *'विवेकी तर्कणा'* (२:४१) तथा *'इच्छारहित कर्म'* के नियम की शिक्षा के द्वारा करते हैं। वह कहते हैं : *''वह जिसका मन कर्तभाव से विलग है और जिसकी तर्कबुद्धि सांसारिक वस्तुओं तथा व्यापारों से प्रभावित नहीं होती है, इन सभी लोगों का (मारने के बावजूद भी), न तो वह हत्यारा है, न ही पापबंध है।''*[४६] सम्यक् विवेकी तर्कणा की प्रकृति का वर्णन करते हुये लोकमान्य तिलक ने लिखा कि वह *''क्या करने योग्य है और क्या नहीं में भेद करती है.....।''*[४७] *'इच्छारहित कर्म'* या *'अकर्म'*,[४८] उनके अनुसार निवृत्ति सम्प्रदाय द्वारा अनुमोदित कर्म-त्याग नहीं है। उपयोगितावादी सिद्धांत तथा साधन-साध्यों के परिप्रेक्ष्य में *'अकर्म'* या *'इच्छारहित कर्म'* और 'विवेकी तर्कणा', जो ''कर्मयोग के दर्शन का आधार''[४९] बनती है, गीता में परस्पर विरोधी और दो वस्तुएँ नहीं मानी गई है। उनमें से एक न केवल दूसरे को परिपूरित करती है, बल्कि दूसरे में अभिव्यक्त भी होती है। वे एक-दूसरे से व्यक्ति के लौकिक तथा पारलौकिक आकांक्षापूर्ति के प्रयास में अपृथक्कीय हैं। आध्यात्मिकता और भौतिकता का यही समन्वित एकीकरण गीता के कर्म के उद्देश्य एवं उपकरण को इच्छा-उत्प्रेरित वैदिक अनुष्ठानिक कर्मों तथा लौकिक कर्मों के निवृत्ति से अलग करता है। गीता के योगमय मध्यम मार्गी कर्म एक ओर अपने भीतर आध्यात्म को, तथा दूसरी ओर, सतत् स्वार्थहीन सामाजिक कर्म को विकसित कर *''समाज की अंतर्चेतना के स्वरूप''*[५०] को प्रभावित करते हैं।

'विवेकी तर्कणा', जो समाज के सामूहिक हितों को प्रोत्साहित करती है, आदर्श और व्यवहारवादी यथार्थ का अनुपम संगम है। वह आदर्श इस अर्थ में है कि वह सामाजिक जीवन में सत्यनिष्ठा एवं सत्य के आदर्शों को मूर्त करने के लिए प्रयास करती है, और व्यावहारिक यों है कि वह पतनोन्मुख सामाजिक व्यवस्था तथा मानव-प्रकृति का संज्ञान रखती है। *''क्रित्-युग के परिशुद्धावस्था में सत्य और असत्य के स्वरूप पर विचार करते हुए, तथा काल-देश के भेद के संदर्भ को ध्यान में रखते हुए स्वार्थी लोगों के इस संसार में उन नियमों में कौन-कौन से परिवर्तन आवश्यक हैं, इन सब बातों का निर्णय करके*

विवेकी तर्कणा इस जगत में जीती है।''[५१] सामाजिक कुरीतियों को नष्ट करने में वह अपने में एक सृजनात्मक सुधारक और क्रान्तिकारी के कृतित्व को समन्वित करती है। लाक्षणिक शैली में कहा जा सकता है कि गीता की 'विवेकी तर्कणा' न तो धृतराष्ट्र का राजनयिक टालमटोल, न तो दुर्योधन की अतार्किकता, या न तो अर्जुन की महज सूक्ति-सूत्रबद्धता है। वह व्यक्ति को कर्म तथा निकर्म के अहंकारी सम्पृक्तता से मुक्त करती है। व्यक्ति अपने प्रतिनिधित्विक प्रकृति प्रदत्त गुण-कार्य के सुमेल में अपनी प्रकृति-जनित कर्मधारा तय कर निष्काम तथा पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर कार्य करता है। चूँकि प्रकृति व्यक्ति के माध्यम से ही कार्यरत है, व्यक्ति को भी तद्नुसार कार्य करना है। गीता के अनुसार, अच्छाई तथा बुराई तब तक रहती है जब तक मानव अपने को कर्ता मानता है। अज्ञानी, जो यह सोचता है कि यह कर्ता का उसका भाव प्रकृति-तत्वों के पूर्व क्रमित हो जाता है, स्वयं को अपनी इच्छा-स्वातंत्र्य और कर्म-कर्ता के रूप प्रक्षेपित करता है।[५२] कर्ता की यही भ्रामक धारणा दुर्योधन को युद्ध में अपनी सुनिश्चित विजय के बारे में, अर्जुन को अपने कर्म पाप के रूप में लेने में, तथा धृतराष्ट्र को युद्ध-घटनाक्रम को जानने की जिज्ञासा के रूप में उकसाती है। उनके अहंपुष्ट कर्ताभाव, जो कि प्रकृति-कर्म का अनदेखा करते हैं, उनको अशांत तथा बेकाबू बनाते हैं। गीता कहती है : *''जब मनुष्य त्याग-भावना से प्रेरित कर्म के अतिरिक्त कुछ करता है तो वह कर्म के बंधन में जकड़ जाता है। अत:, अर्जुन! लिप्तता से मुक्त, केवल त्याग के लिए ही कुशलता से कर्तव्य निर्वाहन करो।''*[५३]

२) सामाजिक भ्रष्टाचार के अर्थ में 'अधर्म' या 'पाप'

प्रज्ञावान तर्कबुद्धि रहित योद्धा अर्जुन का अहंकारी कर्ताभाव अपने कर्म को पाप मानने तथा उससे बचने के लिए उत्प्रेरित करता है। यद्यपि अर्जुन तथा श्रीकृष्ण दोनों ही सामाजिक मूल्यों के ह्रास के रूप में *'अशुभ'* शब्द का प्रयोग करते हैं, उसका अर्थ दोनों के लिए अलग है। जहाँ अर्जुन का मत है कि वर्तमान सामाजिक ढाँचे को तोड़ना एक सामाजिक पाप है, गीता अर्जुन को यह शिक्षा देती है कि एक भ्रष्ट व्यवस्था के प्रति उदासीन रहना अपने में पाप है, जिसको समाप्त किया जाना चाहिए। अर्जुन के अनुसार, वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को अस्थिर कर सामाजिक अराजकता फैलना एक सामाजिक अपराध है। उसने सामाजिक क्षरण तथा सामाजिक सद्गुणों एवं संस्थाओं के भ्रष्टाचार के रूप में *'अशुभ'* शब्द को वर्णित किया है। उसका दु:ख यह है कि युद्ध निजी परिवार की संस्था को नष्ट कर देगा, स्त्रियों को भ्रष्ट बना देगा, जातियों में वर्णसंकरता उत्पन्न करा देगा, तथा प्रजाति की शुद्धता को विनष्ट कर देगा। चूँकि वह सद्गुणयुक्त सामाजिक जीवन को प्रदूषित, और पारंपरिक सामाजिक-धार्मिक मूल्यों को भ्रष्ट करना एक सामाजिक पाप तथा अपराध मानता है। विषाद-योग में उसके उद्गार सत्य हैं और *''एक सीमित दृष्टिकोण से वे सांसारिक विवेक के, अप्रदीप्त मानस के विवेक के शब्द हैं।''*[५४]

इसके विपरीत, गीता का उपदेशात्मक दृष्टिकोण *'पाप'* को स्वयं के सत्यनिष्ठ दायित्व से विरतता तथा स्वयं के जातिगत कर्तव्यों की दुर्व्यवस्था के संदर्भ में रखता है, जैसा कि योद्धा अर्जुन स्वप्रकृति के विपरीत जाकर कर्तव्यों को करने की बात करता है। गीता सत्यनिष्ठ युद्ध को एक अपराध मानते हुए युद्ध न करने की उसकी अस्वीकृति की भर्त्सना करती है और साथ ही एक रमता जोगी बनने के उसके प्रस्ताव का उपहास बनाती है। उसकी कर्मच्युतता न सिर्फ कुमार दुर्योधन

की स्वार्थतता को प्रोत्साहित, बल्कि सुदृढ़ भी करेगी। दुर्योधन जो सामाजिक दृष्टि से अधिनायकवादी है, जिसकी राजनैतिक शक्ति के लिए अति लोलुपता उसके चचेरे भाइयों, पांडवों के वैधानिक अधिकारों का हनन करने के लिए उकसाती है। गीता शिक्षा देती है कि अर्जुन को दुर्योधन की राजनैतिक विकृतता का प्रतिरोध करते हुए एक सत्यनिष्ठ प्राधिकरण निर्माण को प्रशस्त करना चाहिए।

३) सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में 'सर्वनिष्ठशुद्धता'

गीता जो व्यक्ति के सत्यनिष्ठ कर्म-त्याग को पाप मानती है, एक सत्यनिष्ठ समाज-व्यवस्था के निर्वाहन पर बल देती है। व्यावहारिक रूप से सर्वनिष्ठशुद्धता का अर्थ *''सामाजिक और राजनैतिक न्याय, या सरल रूप में, सामाजिक नियमों का पालन है।''*[५५] अर्जुन और श्रीकृष्ण के सामाजिक सर्वनिष्ठशुद्धता का यथार्थ या समाजिक नियमों का अनुपालन, उनके पाप की अवधारणा के समान ही एक दूसरे से अलग है। जहाँ अर्जुन *''वर्ण संकरता''* की रोकथाम के द्वारा, सामाजिक सर्वनिष्ठशुद्धता को बनाए रखना चाहता है, वही श्रीकृष्ण *''जातिगत-दायित्वों की अव्यवस्था''* से बचाव के लिये ऐसा करना चाहते हैं। श्रीकृष्ण के अनुसार, ये *''वर्णसंकरता''* नहीं अपितु *''जातीय-दायित्वों की अव्यवस्था''* है जो सामाजिक अराजकता तथा अशुद्धनिष्ठता पैदा करती है।

अर्जुन सर्वनिष्ठशुद्धता का निर्वाहन पारम्परिक पहलू से देखता है। सद्गुणमय सामाजिक जीवन का वर्णन और युद्धक्षेत्र में उससे लगाव की अभिव्यक्ति यह दर्शाती है कि सामाजिक सर्वनिष्ठशुद्धता का उसका दृष्टिकोण प्रचलित अनुवांशिकीय जाति-प्रथा की यथास्थिति का पोषक है। उसके अनुसार, एक सत्यनिष्ठ समाज वो है जो वर्णसंकरता के सामाजिक अपराध से मुक्त होता है। वह वर्तमान सामाजिक ढाँचे के साथ अहस्तक्षेप का पक्षधर है। दूसरे शब्दों में, उसके सत्यनिष्ठ समाज का ढाँचा पारंपरिक, रूढ़िवादी तथा विकासहीन है।

इसके विपरीत गीता का सामाजिक सत्यनिष्ठता या सामाजिक नियम से अभिप्राय एक विकासोन्मुख प्रकार्यात्मक जातीय व्यवस्था के अनुपालन से है। गीता *''धर्म की श्रेष्ठता को मानती है, तब भी सभ्य समाज की रक्षा में तथा नियमानुपालनबद्धता पैदा करने में ज्यादा प्रभावी है जब राजनैतिक प्राधिकारिता कार्य नहीं कर रही होती है। इसका बल सामाजिक ताने-बाने की रक्षा पर है।''*[५६] तद्नुसार, सामाजिक सत्यनिष्ठता अथवा *'धर्म'* चातुर्वर्णों के प्रकृति-जनित दायित्वों के निर्वाहन में सन्निहित है। समान रूपेण वह जातीय-दायित्वों के अनिर्वाहन को और प्रकार्यात्मक कुमिश्रण को अतार्किक, अनैतिक एवं विध्वंसक मानते हुए अस्वीकृत करती है। वह एक जाति के सामाजिक सत्यनिष्ठता में पतन को उसके द्वारा दूसरी जातियों के कर्तव्यों से छेड़छाड़ से सम्पृक्त करके देखती है। गीता की सर्वोच्च सत्ता, जो जातीय दायित्वों की अव्यवस्था पर अपनी चिंता ज़ाहिर करती है, *''समाज के पुनरूत्थान का उपदेश''*[५७] देती है। वह *''एक प्रसंविदीय घोषणा करती है कि जब कभी निषेधात्मक तथा उदासीन प्रवृत्ति सामाजिक-नैतिक मूल्यों पर हावी होगी, तब दैवी शक्तियाँ सद्गुणों के ऐसे पतन से उत्पन्न संकट निवारण हेतु स्वयं को तुरंत प्रकाशावतरित करेंगी।''*[५८]

सभी संस्थाओं के अवश्यंभावी क्षरण तथा विभिन्न समयों पर, जीवन की समन्वयता के जीर्णोद्धार के लिए क्रांतिकारी

परिवर्तनों की आवश्यकता की गीता पूर्वअंतर्दृष्टि रखती है। *''यद्यपि गीता स्थायी सामाजिक मूल्यों का अस्तित्व स्वीकार करती है, तथापि वह इस सिद्धांत को अस्वीकृत करती है जिसके अनुसार जो भी कुछ है अच्छा है तथा जो बदलता है उसका विरोध होना चाहिए। वह इसके काफी आगे जाती है।''*[५९] वह यह चित्रण करती है कि दैवीय सत्ता मानव-साधन के माध्यम से समाज में सर्वनिष्ठशुद्धता की प्रकृति को निर्णयित कर उसको समाप्त करके धर्म की स्थापना को प्रयास रत् रहती है। ऐसा मानव साधन एक ज्ञान-योगी सदृश मन:स्थिति पैदा कर, एक कर्म-योगी सदृश क्रोध और घृणारहित होकर सामाजिक परिवर्तन का कार्य करता है।

४) आध्यात्मिक प्रतिरोध के संदर्भ में 'योगी-भाव'

गीता की आध्यात्मिक प्रतिरोध की अवधारणा ज्ञान योग एवं कर्मयोग के संगम पर अवस्थित है। वह अर्जुन को एक ज्ञानी, विज्ञ बनने की शिक्षा देती है जो सत् और असत्, आत्मा और शरीर में भेद कर सके। उसे *''उसका प्रतिरोध करना है, जो नहीं है। अस्वत्व चाहे वह जो कुछ हो, का प्रतिरोध स्वत्व के द्वारा किसी भी साधन से करो!''*[६०] वह उसे स्वयं को कर्मयोग में अधिष्ठापित कर अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने का उपदेश भी देती है।[६१] अन्ततः उसे गीता यह सलाह देती है कि मानसिक शंकाओं को विनष्ट करने के लिये ज्ञान-योग तथा कर्म के बन्धनकारी प्रभाव को समाप्त करने के लिये कर्म-योग, दोनों का प्रयोग करना चाहिये।[६२]

आध्यात्मिक प्रतिरोध की अवधारणा जो अज्ञानता एवं अशुभ के बन्धक प्रभाव को विनष्ट करती है, प्रकृततः *''सृजनात्मक प्रतिरोध''* है।[६३] यह प्रतिरोध की परम्परावादी विध्वंसकारी मान्यता से भिन्न है। गीता के आध्यात्मिक प्रतिरोध की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए इस ग्रन्थ में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न प्रतिरोधधर्मिता का विश्लेषण करना जहाँ उपयुक्त होगा। अर्जुन और दुर्योधन एक या दूसरे रूप में प्रतिरोध की परम्पराओं के पुष्टिकर्ता हैं। राजनैतिक पाप के प्रति अहिंसक अप्रतिरोध प्रस्तुतकर्ता अर्जुन नैतिक एवं आध्यात्मिक परम्परावादिता की अभिपुष्टि करता है। जबकि दुर्योधन सैन्य बल की प्रचुरता के द्वारा कमजोर शत्रु दमन की अतार्किक परम्परा में विश्वास करते हुये उसका अनुगमन करता है। समतुल्य व्यक्ति की विवेकी तर्कणा एक अपुष्टिकारक दृष्टि रखती है, जिसमें दोनों ही प्रकार के प्रतिरोध–नैतिक एवं अतार्किक, अशुद्ध और अदूरदृष्टिवादी हैं क्योंकि वे दोनों ही संलग्नता और इच्छा से भावोद्वेलित हैं। वह इन दोनों प्रकार के प्रतिरोधों को संयत करती है। वह ऋषियों के आध्यात्मिक ज्ञान, जो सत् और असत्, न्याय और अन्याय में भेद करता है, तथा सत्यनिष्ठ व्यक्ति के लौकिक कर्त्तव्य को *'योद्ध-ऋषि'* के आध्यात्मिक प्रतिरोध के मध्यम मार्ग में सामाजिक असत्यनिष्ठत्व का प्रतिरोध करने के लिये सन्निहित करती है। मनुष्य का चुनाव *''युद्ध करने या न करने के बीच नहीं है। वह एक 'ऋषि-योद्धा' की तरह युद्ध करने और एक पशु की तरह युद्ध करने के बीच है।''*[६४] गीता के आध्यात्मिक प्रतिरोध की मान्यता अपने में ऋषि की सुदृढ़ बौद्धिकता एवं समस्थित व्यक्ति का असम्पृक्त प्रतिरोध सम्मिश्रित करती है।

आध्यात्मिक प्रतिरोध का गीतावादी मध्यम मार्ग एक निष्क्रिय नैतिक जीवन से अर्जुन के लगाव और आक्रमणकारी राजनैतिक महत्वाकांक्षा के लिये दुर्योधन की प्रवृत्ति को अस्वीकार करती है। दूसरे शब्दों में, वह अर्जुन की नैतिक निष्क्रियता

की दृष्टि को निर्लिप्त राजनैतिक सक्रियता तथा दुर्योधन की आक्रमणकारी राजनैतिक उद्वेग प्रवृत्ति को एक जीवन के अनाक्रमणकारी आध्यात्मिक मार्ग जो काम, क्रोध, लोभ और घृणाविहीन है, में परिणत करती है।

आध्यात्मिक प्रतिरोध की यह गीतावादी मान्यता सामाजिक शक्ति प्रतिस्पर्धा के सन्दर्भ में मत्स्य-न्याय को अवैधानिक घोषित करती है। जहाँ दुर्योधन अपनी असीम सेना के आकार के कारण युद्ध में अपने विजय के बारे में निश्चित दिखता है, वहाँ गीता असत्य के ऊपर सत्यनिष्ठ शक्तियों की जीत का निरूपण करती है। इसका निहितार्थ यह है कि उसके अनुसार, राजनैतिक विजय उसको प्राप्त नहीं होगी जो सैन्य संख्या और बल में श्रेष्ठतर और पराजय उसे जो उससे निम्नतर है। वास्तव में, कृष्ण ''कौरवों को आहत या पॉडवों को सहायता देना नहीं चाहते हैं; उनका एकमात्र ध्येय सत्य की प्रतिष्ठापना है।''[६५] युद्धभूमि से विमुख होकर चूँकि अर्जुन स्वयं को नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से सुधारना चाहता है, वह पापकर्ताओं को दण्डित करने का इच्छुक नहीं है। परंतु गीता उसे उनको दण्डित करते हुए विनष्ट करने की आज्ञा देती है। वह उसे उनकी अपनी प्रकृति तथा इच्छा के खिलाफ दुष्ट को सुधारने के विचारहीन प्रयास के प्रति सचेत करती है। इसका अर्थ यह है कि गीता के लिए एक राजनैतिक रूप से सत्यनिष्ठ प्राधिकार की स्थापना दुष्टों को ठीक करने के सुधारवादी या अनुनयवादी माध्यमों से नहीं, बल्कि केवल उनके विरुद्ध एक सुदृढ़ एवं निर्लिप्त संघर्ष चलाकर ही की जा सकती है।

५) सामाजिक-कर्मिता के परिप्रेक्ष्य में 'साधन-साध्य की अन्तर्सावयवता'

चूँकि गीता की संयतता व्यक्ति के आन्तरिक और व्यावहारिक जीवन में, व्यक्ति तथा समाज में, व्यक्ति एवं व्यक्ति के मध्य संतुलन कायम रखने पर बल देती है, अत: निर्लिप्त तर्क और नि:स्वार्थ कर्म द्वारा आत्म-संतुलन को बनाए रखना सम्यक् माना जाएगा। जब गीता यह कहती है कि *'कर्म में कुशलता योग'* है, तो वह योग को निर्लिप्त तर्क तथा कर्म का एक परिशुद्ध सम्मिश्रण मानती है। जैसा कि पतंजलि-योग का अभिमत है–केवल एक निर्लिप्त मन:स्थिति व्यक्ति के आध्यात्मिक परमोपलब्धि की द्योतक नहीं; निर्लिप्त दृष्टिकोण नि:स्वार्थ कर्म के द्वारा संतुलित होने पर ही योग तुल्य बनता है। इसे *श्री अरविन्द* अपने ग्रंथ– *'दि आइडियल ऑफ दि कर्मयोगी' (श्री अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी, १९५०)* में इंगित करते हुए लिखते हैं– *''प्राणायाम एवं आसन, ध्यान, उपासना, कर्मकाण्ड, धार्मिक अनुष्ठान अपने आप में योग नहीं, अपितु योगोन्मुख संसाधन हैं'' (पृ० १४)।* इस क्रम में, निर्लिप्त मन और कर्म का सहआस्तित्विक योग-प्रविधि– *'कर्मेषुकौशलम्'* का संविधान निर्मित करता है। निर्लिप्त कर्म तथा नि:स्वार्थ मन:स्थिति दोनों एक-दूसरे के अपृथक्कीय और समरूपी परिणाम होते हैं। गीतोपदेश अर्जुन को स्वजनी विपक्षियों से युद्ध करने के लिए सम:स्थिति के द्वारा सचेत करता है।

गीता की सामाजिककर्मिता का योगमय उपकरण साधन-साध्य संयोजन पर आधृत माना जाएगा। क्रियाशीलता के साधन उसके साध्य के सदृश ही महत्वपूर्ण है, तथा निर्लिप्त साधन ही वैयक्तिक निष्काम तर्क को विशुद्ध करता है। गीता साधन-साध्य की अन्योन्याश्रितता को उपयोगितावादी मापदण्ड से मूल्यांकित नहीं करती। इसके विपरीत उसकी अवधारणा है कि सुख और दु:ख की अन्तर्द्वन्द्वता स्वभावत: क्षणिक होती है, जो मनुष्य को प्राकृतिक गुणों से आबद्ध करती है। इन्हीं प्राकृतिक गुणों से स्वतन्त्रता (जिसे सांख्य दर्शन में समझाया गया है) व्यक्ति के कर्म को विमुक्त और निष्काम करता है। गीता

कर्म को सुख-दु:ख के दृष्टिकोण से नहीं अपितु वैयक्तिक स्वतंत्रता के सर्वोच्च विचारो से अनुप्राणित होकर करती है। गीताकृत यही निर्लिप्त तर्कणा तथा कर्म *'निरूपाधिक-परमस्वतंत्रता'* के चरमशिखर पर पहुँचती है।

इस प्रकार गीता सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि के संदर्भ में, साध्य-साधन की वस्तुनिष्ठ प्रकृति के प्रति एक उदासीन निर्लिप्त दृष्टिकोण रखती है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि प्रत्येक दार्शनिक मत कतिपय प्रत्ययों अथवा प्रविधियों को या तो साधन या साध्य मानते हैं और अपने ज्ञानमीमांसीय प्रयोजनों को फलित करने हेतु एक को दूसरे के अधीनस्थ रखते हैं। परंतु गीता सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि को साध्य या साधन के अर्थपदों में निष्पादित नहीं मानती। साथ ही वह एक को दूसरे के अधीनस्थ भी नहीं रखती है। तदनुसार, साध्य-साधन अपने स्वभाव और कर्म द्वारा न तो स्वत: निरपेक्षत: अच्छे और ना बुरे होते हैं। परिवर्तनकर्मिता के अनुकूलित साध्यों तथा साधनों से परे की यह क्रियात्मक प्रविधि है। गीता कर्म-कुशलता की योग साधना पर बल देती है।

दुर्योधन की राजनैतिक कर्म की प्रविधि *'युद्ध कौशल'* को बनाए रखने तक सीमित थी, तो अर्जुन की वस्तुनिष्ठ नैतिक निष्क्रियता *'पाप से बचने'* के निमित्त थी। जहाँ दुर्योधन स्वसाध्यों का गुलाम है, वहीं अर्जुन स्वसाधनों का। राजनैतिककर्मिता की उनकी प्रविधियाँ, या तो साध्य या साधन के रूप में, स्वभावत: पापपूर्ण और इच्छावेशित थीं। परंतु, गीता जो *'कर्म में कुशलता'* का गुणगान करती है, साध्य एवं साधन दोनों से ही बन्ध-विमुक्तता का निरूपण करती है तथा अनुमोदित करती है कि निर्लिप्त सक्रियधर्मिता की प्रविधि पाप से स्वंतत्र है। चूँकि सामाजिकधर्मिता की उसकी प्रविधि साध्य-साधनों को वस्तुनिष्ठ नैतिकता के अर्थों में विवेचित नहीं करती, आलोचक उसे स्वभावत: *नैतिकेत्तर (amoral)* मान सकते हैं।

खण्ड (ख) गाँधी

'जीवन' बुनियादी दृष्टि से सीखने की एक प्रकिया है। गाँधी के लिए साहस और आत्मसम्मान के साथ, एक मिशन तथा एक व्यवसाय के साथ अर्थपूर्ण तरीके से जीवनयापन करना विद्रोह की कला एवं सामाजिक परिवर्तन के विज्ञान को जानना है। यह मात्र इसलिए अनिवार्य नहीं है कि जिस संसार का, शक्ति, धन और ज्ञान-वितरण के उसके तरीके अन्यायपूर्ण हैं, बल्कि, इसलिए भी उसके अंदर मानव का सर्वोच्च मिशन सन्निहित है।

इस संदर्भ में, गाँधी स्वयं से संवाद कर, स्वयं का पुर्नान्वेषण कर स्वयं को पुनर्नवा करते हैं। सामाजिक परिवर्तन की इस सृजनात्मक कला में वह न केवल *'बाह्य शत्रु'* के साथ युद्धरत हैं, अपितु वह अपनी गतिहीनता, उद्वेगों, पाशविकता को भी देखते हैं और स्वयं को पुनर्परिभाषित करने का प्रयास करते हैं। इस अर्थ में गाँधीवादी सामाजिक परिवर्तन एक मानव उत्कण्ठा, एक संवाद, एक वादा है। चूँकि सामाजिक परिवर्तन के लिए सचेष्ट होना स्वयं को तथा समस्त संसार को यह स्मरण कराना है कि एक प्रगतिशील है, तो दूसरा दायित्वबोध से परिपूर्ण तथा ये जानते हुए कि यह एक सहभागी भविष्य है, गाँधी के लिए सामाजिक परिवर्तन, दूसरे शब्दों में, एक प्रार्थना, एक सेवा, तथा प्रेम, एक करुणा, एक सर्वोच्च कर्म है।

गाँधीवादी सामाजिक परिवर्तन की कला एक अभिनव शिक्षण-शास्त्र की मांग करती है, जिसके द्वारा चैतन्यता के तत्वों

को आमूलत: बदला जा सके; चूंकि आनुभविक मानव की औसत चैतन्यता प्रचलित ढाँचे के अपने मन का पहले से जमाए लाभ तथा हानि का आंकलन करने में मग्न-एक भ्रम है। मानव एक प्रकार्यकर्ता ही बना रह जाता है; वह उसके परे नहीं देख सकता। परे देखना इस अवधारणा को मानना है कि इतिहास विकस रहा, प्रगति कर रहा है। यह एक मूलभूत आस्था—आस्था स्वयं को परिवर्तित करने की अपनी क्षमता में, एक जोखिम उठाने में और तत्काल हानियों का सामना करने के लिए—की भी मांग करता है। दूसरे शब्दों में, सामाजिक परिवर्तन के लिए अदम्यता की आवश्यकता होती है।

गाँधीवादी सामाजिक परिवर्तन की मान्यता में हम एक पवित्र त्रिगुणात्मक विलयन – सामाजिक परिवर्तन: एक संवाद के रूप में, सामाजिक परिवर्तन: एक उपासना के रूप में और सामाजिक परिवर्तन: एक नये शिक्षण-विज्ञान के रूप में – देखते हैं। प्रथम दो गुण सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि तथा तृतीय उसके साध्योद्देश्य की द्योतक है। यह एक स्वीकृत तथ्य है कि गाँधी शायद पहले गैर-यूरोपीय प्रणेता थे जिन्होंने पाश्चात्य औद्योगिक समाज, चाहे वह पूँजीवादी हो या साम्यवादी, का वैकल्पिक मॉडल प्रस्तुत किया जिसकी व्याख्या उन्होंने बीसवीं सदी के पहले ही दशक में अपने ग्रंथ *''हिन्दू स्वराज''* में की। इस प्रसंग में दूसरी उल्लेखनीय बात : गाँधी कोई गगन विहारी तत्वज्ञानी, सिद्धांतकार, परम्परागत प्रकार के समाजशास्त्री या दार्शनिक नहीं थे, वे एक सामाजिक अभियंत्रणा के कुशल प्रयोगकर्ता थे। वे निरंतर प्रयोग के उपरांत; जो व्यवस्था या तथ्य खरे उतरते थे, उन्हीं को प्रस्तुत करते थे। इस मायने में गाँधी की पद्धति पूर्णत: वैज्ञानिक थी, आदर्शवादी काल्पनिक यूटोपियन तो वे थे ही नहीं। इस प्रकार की आदर्श कल्पना या नीतिगत चर्चा वे यह मानकर किया करते हैं कि इन्हें व्यवहार में उतारा या लागू किया जा सकता है; जैसे सत्य और अहिंसा की व्यवस्था। गाँधी ने जब इन दो अवधारणाओं को प्रयोग द्वारा व्यावहारिक एवं मानवोपयोगी पाया, तभी उन्होंने इसे अपनी समाज रचना का आधारभूत मूल्य स्वीकार किया।

स्पष्टत: ये मूल्य उनकी पूर्वमान्यताएँ नहीं, बल्कि आनुभविक तथ्य थे, जो अनुभव एवं प्रयोग से छनकर उभरे थे। यह भी यहाँ स्मरण रहे, गाँधी ने अपने पूर्ण कार्यकाल ऐसा कुछ भी नहीं कहा है जिसका उन्होंने पहले प्रयोग न किया हो, चाहे उनके प्रस्ताव सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक हों। टिप्पणी के तौर पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि जहाँ-तहाँ गाँधी की ऐसी यूटोपियन धारणाएँ अभिव्यक्त होती है जिन्हें आम व्यक्ति के जीवन में उतारना संभव नहीं हो सकता है। लेकिन इतना आदर्श गाँधी जैसे महान् व्यक्तित्व के लिए स्वाभाविक था। इस माने में मार्क्स भी कम स्वप्नदृष्टा नहीं थे, जिनकी कल्पना के आदर्श समाज का *'सम्पूर्ण मानव' (Total man)* ऐसा व्यक्ति होगा, जो सुबह तालाब-नदी में जाकर मछली के शिकार का आनंद, दिन में आजीविका के लिए कुछ घंटे काम करेगा (कुछ घंटे ही क्योंकि उस समाज में उत्पादन की बहुतायत होगी, उत्पादकता भी बहुत होगी) और रात को प्लेटो तथा शेक्सपीयर की रचनाएँ पढ़ेगा (यानि दर्शन-साहित्य की जो यूरोपीय परम्परा थी)। हमारा यह दुर्भाग्य है कि हमने गाँधी को केवल महात्मा या संत स्वरूप समझा, उनके प्रति यत्किंचित आदर एवं श्रद्धा का भाव भी व्यक्त किया, लेकिन उनके युगान्तरकारी सामाजिक व्यक्तित्व को कम पहचाना।

(अ) उद्देश्य

गाँधी के लिए सत्य और अहिंसा, केवल देवस्थानों के सद्गुण नहीं, अपितु जनसामान्य के लिए उपयोगी जीवन-

तत्व हैं।[६६] यही नहीं उन्होंने इनको केवल व्यक्तिगत व्यवहार का ही विषय नही बनाया, बल्कि उसे समाज-व्यवहार का संविधान माना।[६७] असल में बापू के लिए आध्यात्मिक अभियंत्रणा एवं सामाजिक अभियंत्रणा के बीच अनुस्यूत संबंध था। यही कारण था कि नैतिकता के परम्परागत सिद्धांतों का समाजीकरण कर गाँधी ने उनमें एक युग दृष्टि स्थापित की। दूसरे शब्दों में आदर्श जब व्यवहारमय और व्यवहार जब आदर्शोन्मुख हो जाता है, उसे हम गाँधी की समाज-साधना कहते हैं। जिस प्रकार आदर्श एवं व्यवहार, अध्यात्म और लोक-व्यवहार में उन्होंने कोई द्वैत नहीं पाया उसी प्रकार व्यक्ति और समष्टि के हितों में भी उन्हें अन्तर्विरोध नहीं मिला।[६८] *''समष्टि के कल्याण में ही व्यष्टि का कल्याण है''* – इस सत्य को समझना ही गाँधी की समाज-साधना का नवनीत है। यह अब तक श्रुति या नीति-वाक्य था, जिसे गाँधी ने अपने समाजिक-परिवर्तन के विज्ञान का सत्य बना दिया।[६९] गाँधी के इसी नवोन्मेषित सामाजिक-परिवर्तन के विज्ञान के मूलभूत उद्देश्यों को निम्नलिखित विषय-बिंदुओं के विश्लेषण द्वारा समझा जा सकता है–

i- इतिहास की पूर्वापर व्याख्या

ii- आधुनिकता तथा परम्परा की अन्योन्याश्रितता

iii- आदर्श समाज व्यवस्था-सर्वोदय-की प्रकल्पित-दृष्टि

iv- व्यक्तित्वान्तरण: हृदय-परिवर्तन, चिंतन परिवर्तन एवं स्थिति परिवर्तन का त्रिगुणी सिद्धांत

v- अहिंसक सृजनात्मक द्वन्द्व तथा द्वन्द्व-विमुक्तीकरण का सिद्धांत

(i) मानव इतिहास की पूर्वापर व्याख्या

गाँधी का इतिहास-बोध उनके अखिल ब्रह्माण्डीय विकास के दृष्टिकोण पर आधारित है। इसके साथ उनका मानव आत्म-शक्ति में विश्वास इतिहास-धारा की मानव अभियंत्रणा द्वारा साकारात्मक प्रभाविकता को भी सुदृढ़ करता है। गाँधी के लिए इतिहास आशावादी और सार्वभौमिक गत्यात्मकता है। ऐतिहासिक घटनाक्रमों के पीछे वे एक परम पारलौकिक शक्ति की संयोजना देखते हैं, जो घटनाओं के सृजनहारी मानव मस्तिष्कों को भी अधिशासित करती है। अपने इस अतीन्द्रियवादी इतिहास-प्रबोधन के बावजूद गाँधी सकल सामाजिक विकास को अशुभ की परिसंघीय अभिव्यक्ति नहीं मानते थे। इसके विपरीत, वह एक ईश्वरवादी प्रयोजनकर्मी थे। लेकिन इस अर्थ में नहीं कि मानव सभी प्राणियों के उद्देश्यों को जान सके या सभी मनुष्यों के लिए प्रागनुभविक रूप से साध्य आवंटित कर सके। वास्तव में उनका अभिमत यह था कि *''ईश्वर के लिए ब्रह्माण्डीय इकाई के रूप में उद्देश्य है, उसी प्रकार जीवन के प्रत्येक कण का भी .... एक मानव के साथ-साथ चींटी का भी।''*[७०]

गाँधी चाहते थे कि इतिहास के बिखरते साम्राज्यों तथा निरर्थक युद्धों से विनम्रता का सबक सीखा जाना चाहिए। जब मनुष्य स्वयं को ब्रह्माण्ड के दैवीय उद्देश्य एवं जीवन-धारा के विपक्ष में स्थित कर लेता है तो वह अस्तित्वहीन बन जाता है। *''नेपोलियन ने इतनी योजनाएँ बनाई और खुद को बन्दी के रूप में सेंट हेलेना (द्वीप) में पाया। प्रभावशाली क़ैसर ने यूरोप का सिरमौर का सपना देखा तथा वह एक व्यष्टिक सज्जन के पद तक घटते हुए आ गया .... हम इन उदाहरणों पर मनन*

करें तथा विनम्र बनें।''[७१] फिर भी गाँधी के इतिहास-बोध में एक व्यक्ति का रोल (किरदार) मायने रखता है। यदि माना जाय कि आज हिटलर मर जाएगा, तो वह वर्तमान इतिहास की पूरी धारा को परिवर्तित कर देगा,[७२] यह उन्होंने १९४२ में पूना के अपने बन्दीकाल के दौरान घोषित किया।

वस्तुत: गाँधी प्राचीन हिन्दुओं और यूनानियों में बहुप्रचलित ऐतिहासिक विकास के चक्रीय सिद्धांत तथा ऑगस्टियनवादी इतिहास की मान्यता—जो ऐसा नाटक है, जिसके मुख्य कथानक का निरूपण मानवों द्वारा उसके फलीभूत होने से पूर्व ही कर लिया गया है—के मध्य डोलते हैं। उनका यह दृष्टिकोण *हर्डर* के दृष्टिकोण से सामीप्य रखता है, जिसके अनुसार, *''इतिहास हमें ईश्वरीय सनातन नियमानुसार कार्यरत रहने की शिक्षा प्रदान करता है; कि यह पृथ्वी राहियों के लिए एक सराय है, और यह भी कि प्रकृति में कुछ स्थिर नहीं; प्रत्येक वस्तु स्वयं श्रमशील रहकर अग्रसरित हो रही है।''*[७३] और मनुष्य इसलिए अद्वितीय है कि वह न सिर्फ तात्विक रूप से न सिर्फ प्राणियों में सर्वोत्तम, बल्कि सबसे परिपूर्ण होने लायक भी है। यहाँ गाँधी *पास्तेरनॉक* के हद तक नहीं जाते, जिन्होंने कहा– *''यहाँ कोई राष्ट्र नहीं बल्कि केवल व्यक्ति है।''*[७४] किंतु हेगल की भांति उन्हें यह मानने से गुरेज़ था कि मानव समाजों और राष्ट्रों की वैसी आत्मा या चरित्र होता है जैसा कि एक व्यक्ति का। इतिहास एक विनाशक घटनाक्रम नहीं और न ही उसकी आंतरिक गत्यात्मकता एक स्वनित्य द्वंद्व है। न ही गाँधी यह तर्क करते कि वह अनिवार्यत: स्वअर्जनात्मक विकासवाद है तथा कोई भी घटना निरर्थक नहीं होती, क्योंकि वह परिपूर्णता की उपलब्धि में कमोबेश अपना योग देती है। उनका मत था कि ऐतिहासिक घटनाएँ न केवल वर्तमान विन्यास का निर्माण करती है, अपितु वे मानवान्वेषण योग्य कारणमूलक नियमों को पुष्ट भी करती हैं। नि:संदेह, *''मानव समाज एक निरंतर विकास है जिसका पल्लवीकरण आध्यात्मिकता के अर्थों में होता है।''*[७५] परंतु यह मनोमानस के परिक्षेत्र में होता है, न कि ज्ञानक्षेत्र या नैतिकायाम या सामाजिकायाम में। वास्तव में, मानव-सुदृढ़ता का तथ्य यह दर्शाता है कि *''संघटक शक्ति विघटक शक्ति से अधिक, अभिकेंद्रीय बल अपकेंद्रीय बल से ज्यादा है।''*[७६]

हमारी आशा का वास्तविक स्रोत मानव की उस प्रगतिशील संचेतना में सन्निहित है, जिसके द्वारा वह क्रुद्ध बल को स्वनिर्दिष्ट अहिंसा से, बलात् को सहमति से, परनिर्भरता को स्वनिर्भरता से बदल सकता है। *''इतिहास वास्तव में आत्मा या प्रेम की शक्ति के उचित कार्यों की प्रत्येक व्याख्या का एक दस्तावेज़ है। .... इतिहास फिर प्रकृति के क्रम में व्याख्या का अभिलेख है। आत्मशक्ति प्राकृतिक होने के कारण इतिहास में दर्ज नहीं होती।''*[७७]

मानसिक चेतना में परिमार्जन की लौकिक प्रवृत्ति केवल कलियुग (अंधायुग जो पाँच हजार वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ और जिसको एक वृहत्तर चक्रीय खंड में प्रतिस्थापित करते हुए अवलोकित करना चाहिए) पर लागू होती है। गाँधी के लिए इतिहास न ही विकासोन्मुख एक रेखीय प्रवृत्ति है और न ही सनातन पुनर्गठन की एक स्थैतिक छवि, अपितु वह एक उर्ध्ववलयी अनुगमन है, जिसका निर्धारण नैतिक कारणता के क्षतिपूर्तिमूलक कर्म-सिद्धांत द्वारा विनिर्दिष्ट चर्याक्रम की परिधि के भीतर पदार्थ के ऊपर आत्मशक्ति-मंडन के माध्यम से सम्पन्न होता है। यहाँ एक दैवीय प्रतिभू (गारन्टी) है अन्तत: सत्य असत्य पर विजित होगा, लेकिन उन्होंने स्पष्टत: मानव विकास के व्यष्टिक, एक समष्टिक एक-रेखीय दृष्टिकोण को नकार दिया है।

यद्यपि गाँधी कान्ट के समान विश्वास करते थे कि मानव जीवन का परमोद्देश्य स्वनिर्धारित कानून के अन्तर्गत स्वतंत्रता एवं नैतिक स्वायत्तता प्राप्त करना है, तथापि वह काण्ट के इतिहास के मूल एक-रेखीय प्रत्ययवाद को नहीं मानते जिसके अधीन मानवता शनैः-शनैः अग्रसर तो होती है, किंतु एक कटु, निर्मम असीम साध्य की ओर।

गाँधी मानव-परिशुद्धता में स्वनिष्ठा को न बुद्धि और न ही ज्ञान-विकास पर अवलम्बित करते हैं। *हेलवेरियस* के समान वे नहीं मान सकते कि *"अज्ञानता सर्वदा अन्तःप्रकाश के अगोचर विकासमय परमशक्ति सम्मुख नतमस्तक होती है।"*[७८] टरगॉट की भाँति उन्होंने यांत्रिक विकासवादिता के प्रस्ताव को खारिज़ किया जिसके अनुसार विकास हेतु अशुभ और सत्य अनिवार्य है, और सकल मानवता आन्दोलन तथा शान्ति, अच्छाई और बुराई के एकान्तरणों द्वारा शनैः-शनैः अपितु निरन्तर अधिक परिशुद्धिकरण की ओर अग्रसर होती है।[७९] १९२२ में गाँधी ने लिखा– *"इतिहास उस तथाकथित व्यवस्थित विकास की अपेक्षा अद्‌भुत क्रान्तियों का एक दस्तावेज़ अधिक है।"*[८०] किंतु वह टारगॉट की हद तक यह नहीं मान सकते थे कि खतरनाक भावावेग ही क्रिया तथा विकास को प्रेरित करता है, न ही वह कान्डरसेट और अन्यों सदृश किसी स्वचालित विकासवादी नियम में विश्वास रख सकते थे, जो अनिवार्यतः यह सुनिश्चित करेगा कि भूतकाल की तुलना में मानवता का भविष्य अपरिमित रूप से उज्जवल होगा। वस्तुतः वह उस सीमा तक एक प्रयोजनवादी थे जिसके अनुसार ब्रह्माण्डीय और ऐतिहासिक विकास, घटनाओं की एक प्रगतिशील श्रृंखला है, जिसमें से गुजरते हुए मानव परिपूर्णता की सत्य-प्रकृति की प्राप्ति सुनिश्चित है। इसका अर्जन प्रकृति में पदार्थ के ऊपर आत्मा की विजय द्वारा सुनिश्चित है; न कि सामाजिक विकास के स्वतंत्र ऐतिहासिक नियम द्वारा। वास्तव में यदि अधिकांश मानवात्मा अथवा चिद्‌गुण जीवन दर जीवन अवनति से ज्यादा उन्नति करें और साथ में यह मान लिया जाय कि नए चिद्‌गुण सर्वदा जगत में नहीं आते तो समाज को विकासवान होना चाहिए। लेकिन इस तथ्य कि सामाजिक विकास का कोई नियम नहीं है, अर्थात् स्वयं के भीतर से एक उच्चतर सामाजिक व्यवस्था प्रसूत करने की पुरातन समाज में कोई प्रवृत्ति नहीं है तथा समाज इस कारण सुधरता है क्योंकि उसमें सन्निहित कुछ आत्माएँ लगातार विकास करती हैं-इसके बावजूद भी गाँधी किसी गलतफहमी में नहीं रहे कि समूचा इतिहास एवं विकासक्रम हमारे समयों में अपने अंतिम मुकाम पर आ पहुँचा है और कॉम्टे तथा मार्क्स के सदृश तो एकदम नहीं मानते थे कि वर्तमान काल बीते हुए युगों के अनुक्रमण में, एक अनोखे वर्गीकरण में स्थानांकित होता है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि यदि गाँधी एक ब्रह्माण्डीय एवं ऐतिहासिक विकास को मानते हैं, जो मानव प्रकृति के प्रशुद्धि के लिए उत्तरदायी है, तो इसके द्वारा उनकी सामाजिक विकास के नियम के प्रति आस्था रेखांकित होती है। तार्किक रूप से प्रशुद्धिकरण का एक सिद्धांत सम्भव है जो सामाजिक विकास के नियम से असम्बद्ध होते हुए यह उद्‌घोषित करता है कि यह न केवल सुधारने योग्य है, अपितु सुधरता भी है। लेकिन साफ तौर पर ये माना जा सकता है समष्टि में व्यक्ति वृद्ध होने के साथ-साथ बेहतर होते जाते हैं, या ज्यादा स्पष्टतः कि वे कई जीवन जीते हैं। यद्यपि प्रथम विकल्प तार्किक दृष्टि से सम्भव है, परंतु अस्वीकार्य है क्योंकि हमारे पास अनेक प्रमाण हैं कि यह सत्य नहीं है, जबकि द्वितीय विकल्प अधिक स्वीकार्य है क्योंकि वह अप्रमाणीकृत है, जो कोई भी उसे मानेगा, उसे तथ्यों के एकमात्र अपील के माध्यम से गलत साबित

नहीं किया जा सकता। यह सही है कि गाँधी केवल यही नहीं मानते थे कि मनुष्य में सुधार की क्षमता या सिर्फ यही कि उसे सुधारा जा सकता है, बल्कि यह भी कि उसके भीतर सुधरने की अंतरप्रवृत्ति है, जो खुद को ऐतिहासिक प्रक्रिया में उद्घाटित करती है। इस संदर्भ में हम कह सकते हैं कि यहाँ सामाजिक परिवर्तन का एक अंतर्निहित नियम विद्यमान है। यद्यपि यह अवधारणा तार्किक रूप से असंगत है, क्योंकि समाजों के सामूहिक विकास के बारे में व्यक्तिगत विकास के समतुल्य नैतिक महत्ता की बात करना अनुचित है, तथापि यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सेंट साइमन और मार्क्स ने भी सामाजिक प्रगति का नियम ठीक-ठीक सूत्रबद्ध नहीं किया। उन्होंने कभी भी एक स्पष्ट सुसंगत कथन का निर्माण नहीं किया जो सत्य को तथ्यों की अपील से प्रमाणित कर सके।

(ii) आधुनिकता और परम्परावाद की अन्योन्याश्रितता

सामाजिक अभियंता के रूप में, गाँधी द्वारा १९०९ में रचित मूल विचार ग्रंथ– *"हिन्द स्वराज"* में आधुनिकता पर लगाए गए महाभियोग उनके नैतिक-सामाजिक चिन्तन के वैचारिक प्रस्थान-बिंदु का निर्माण करते हैं। इस शास्त्रार्थात्मक विवेचनीय पुस्तिका में कोई परमार्थ-दर्शन नहीं, बल्कि संकटग्रस्त औद्योगिक भौतिक पाश्चात्य सभ्यता के विरोध में वैकल्पिक-घोषणा पत्र प्रस्तुत किया गया है। इस युग में इमिल डुरखाइम (१८५८-१९१७), मैक्स वेबर (१८६४-१९२०), विलफ्रेड पेरेटो (१८४८-१९२३) और कार्ल मार्क्स आदि ने समाज के संकट को पहचान कर अभिनव समाज के लिए अपने-अपने मॉडल प्रस्तुत किये हैं, किन्तु गाँधी के चिन्तन में तो मूलत: से क्रांति है। जिसकी उच्चतर प्रासंगिकता आज औद्योगिक प्रदूषण, आण्विक अस्त्रवाद एवं सामाजिक सत्रांस के संदर्भ में प्रकट हो रही है। शायद यही कारण है कि *जेराल्ड हर्ड* ने *"हिन्द स्वराज"* को *रूसो* के *"सोशल कांट्रेक्ट"* तथा मार्क्स के *"दास कैपिटल"* से भी उच्च स्तरीय सामाजिक प्रबन्ध घोषित किया था।[८१]

हिन्द स्वराज की विषयवस्तु न केवल आधुनिक सभ्यता की नैतिक अपूर्णता और व्यर्थ मिथ्या दावे, बल्कि उसकी उत्पीड़क छद्म, सम्मोहनीय तथा आत्म-घाती प्रवृत्ति भी है। महज संशय-विधि अपनाकर गाँधी सभ्यता की प्रत्येक उपलब्धि, उसकी गुणवत्ता और नित्यता पर ही प्रश्नचिन्ह नहीं लगाते, अपितु वह आगे जाकर मानते थे कि आधुनिक सभ्यता जनित भ्रमों के वश में एक व्यक्ति उसी प्रकार श्रमरत है जिस प्रकार एक स्वप्नदृष्टा अपने स्वप्न की प्रातिभासिक सत्यता में स्वप्रकाश्य होता है। व्यक्ति आज स्कूलों, विधायिकाओं, सेनाओं, गिरजाघरों, कारावासों तथा चिकित्सालयों द्वारा अनुप्राणित विस्तृत छल-प्रपंच के द्वारा पुंस्त्वहीनता का शिकार बन गया है।[८२]

गाँधी की आधुनिक सभ्यता की समालोचना धर्म-शास्त्रीय नैराश्य या निराश सांसारिक कष्टसाध्यता की वर्ग-सुलभ अभिव्यक्ति नहीं थी। उसकी निर्दयी कठोरता उसके चयनित विचारबिंदु से आबद्ध है, जो *लेव टालस्टॉय* की अवधारणा से निकटस्थ समानता रखती है। तद्नुसार सामान्य जन की चेतना एक *"जीवन-संक्षारक प्रतिस्पर्धात्मक"* व्यवस्था के द्वारा विफल की जाती थी, जो स्वतंत्रता की अपेक्षा बंधन में फलित होती थी। मानव-जीवन का मूल निर्देशन केवल आंतरिक, न कि अन्य जन की इच्छाशक्ति से सिंचित कोई बाह्य विवेक हो सकता है। सभी धर्मों की शिक्षाओं की ओर स्पष्ट इंगित करते हुए गाँधी

मानते हैं कि हमें सांसारिक अनुसरणों के प्रति उदासीन और दैवीय अनुसरणों के प्रति सक्रिय होना चाहिए और हमें अपनी सांसारिक महत्वाकांक्षाओं को परिसीमित करना चाहिए। वे यहाँ तक कहते हैं, कि सांसारिक मामलों में छल-प्रपंच धार्मिक छल-प्रपंचों से कहीं ज्यादा बुरे होते हैं, कि मतावलम्बी धर्म के नाम पर की गई क्रूर यातनाओं की सभ्यता की अग्नि में तिरोहित असंख्य शिकारों से कोई तुलना नहीं हो सकती है, कि धार्मिक अंधविश्वास, यद्यपि घृणास्पद, अपितु आधुनिक सभ्यता की रूढ़ियों की तुलना में निरीह होते हैं। उपरोक्त सभी मंतव्य विवादास्पद, लेकिन *'हिंद स्वराज'* में गाँधीवादी समालोचना की बोध्यता हेतु निर्णायक हैं।

गाँधी की पाश्चात्य जीवन प्रणाली की संज्ञानता; पूर्ण यथार्थता के तर्कविश्लेषण पर आधृत नहीं थी, किंतु चूँकि उनकी आलोचनाओं की तीक्ष्णता तथ्यपरक विस्तृत ज्ञान की अपेक्षा उनके नैतिक मूल्यांकनों से उद्धृत होती है, तथापि यदि वो आज लिखते होते तो उनके उदाहरण तथा गुणात्मक शब्द शायद बदले हुए होते, पर वे अपने आरोपों को घटाने का कोई कारण नहीं देख पाते। अट्ठारहवीं सदी से चुनौती के अभाव में चली आ रही वे उस मान्यता को मानते हैं जिसके अनुसार सामाजिक संस्थाओं और राजनैतिक-आर्थिक कार्य, वैयक्तिक आचरण सदृश, नैतिक रूप से मूल्यांकनीय हैं। यह मत इस प्राक्कल्पना पर अवस्थित है कि सामाजिक संस्थाएँ व्यक्तियों के मानस को गढ़ती नैतिक मूल्य के पैमाने की प्रत्यक्ष अभिव्यक्तियाँ है, तथा उन मूल्यों को प्रभावित किए बगैर संस्थाओं को परिवर्तित करना असम्भव है।

यही सही है कि *'हिन्द स्वराज'* जहाँ तक नैतिक भर्त्सना का एक घोषणा-पत्र है, वह एक सटीक तर्कपूर्ण कथन की अपेक्षा दबाव डालती कल्पना-शक्ति का प्रदर्शन करता है। एक शंकालू को वह काफी उद्विग्न कर देगी पर आधुनिक सभ्यता की रहस्याभा में विमुग्ध व्यक्ति को परिवर्तित नहीं कर सकती। गाँधी एक जटिल सामाजिक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं करते जिससे उनके निष्कर्षों को सतर्कत: उद्धृत किया जा सके। *'हिन्द स्वराज'* में ऐसा करने का वह प्रयत्न भी नहीं करते। उनका ज्यादा ध्यान अपनी स्थिति को दक्षिण अफ्रीका और भारत में उन लोगों के लिए परिभाषित तथा घोषित करने में था, जो उनको सुनने के इच्छुक थे। एक अर्थ में *'हिन्द स्वराज'* का प्रभाव *'कम्यूनिस्ट मैनिफेस्टों'* से अलग नहीं, इसके बावजूद कि मार्क्स का यह घोषणा-पत्र ज्यादा वैज्ञानिक तर्कणा की अभिव्यक्ति करता है। दोनों ही परिपक्व युवा व्यक्तियों द्वारा लिखे गए जिनका चिंतन एक समग्र मूल्य निर्णयीकरण द्वारा नियमित था, अपितु ऐसा मार्क्स के तुलना में गाँधी के साथ अधिक था। दोनों घोषणा-पत्र एक ऐसे संसार की निराशाजनक छवि प्रस्तुत करते हैं, जिसे वे अपनी मूल मान्यताओं और संस्थाओं में विरोधाभासी मानते थे,जिसका विध्वंस पूर्वनिश्चित था। मार्क्स के लिए, पूंजीवादी प्रणाली खलनायक, इतिहास न्यायाधीश और सर्वहारा उसके जल्लाद हैं;गाँधी के लिए, पाखण्डी भौतिकवादी मत खलनायक, न्यायाधीश वह व्यक्ति है जिसने स्वयं को समष्टिक विभ्रम से स्वतंत्र कर लिया हो, तथा जल्लाद वह नैतिक सिद्धांत जो मानवीय एवं ब्रह्माण्डीय घटनाक्रमों में संतुलन को कटुन्यायवादी तरीके से पुनर्स्थापित करता है।

अपनी नैतिक नियोजन शैली में आधुनिक सभ्यता के रोग-प्रलक्षित करने में गाँधी टॉलस्टॉयवादी थे, तथा मार्क्स की तरह उन्होंने भी विनाश की भविष्यवाणी की थी। फिर भी उनका इतिहास और मानवता के प्रति नज़रिया अप्रमाणित किंतु

व्यक्तिगत रूप से परीक्षित आस्था की निश्चयता के कारणवश मूलत: आशावादी था। वह मेज़ेनी के समान संसार के सामाजिक ढाँचे को, मानवता को बौद्धिक एवं नैतिकता का महज एक बाह्य प्रकटीकरण मानने को राज़ी नहीं थे। गाँधी के लिए आधुनिक सभ्यता मात्र व्यक्ति के नैतिक कुपोषणता का एक आवर्धनीय दर्पण के बजाय उसके नैतिकोत्थान हेतु एक विध्यात्मक खतरा था। *'हिंद स्वराज'* यह स्वीकार करती है कि- *''सभ्यता एक असाध्य रोग नहीं है, कि लोग दिल से बुरे नहीं है, और उनकी चिंतन शैली आंतरिक रूप से अनैतिक नहीं होती है।''*[८३] सभ्यता स्व-अभिशप्त है, किंतु बहादुर और करुणामय आदमियो के लिए स्पिनोज़ा के विवेकी शांत दार्शनिकों सदृश प्रतिभासित समर्पण के एक स्टोइकवादी दर्शन में स्वयं को तिलांजलित करने की अपेक्षा कर्म के एक महान् कार्यक्रम को अपनाना संभव है। समाज को न ही हिंसात्मक तरीके से उलटने और न ही उसे एक आद्य कोरी पट्टिका में कमतर करने के असफल प्रयास की ज़रूरत है।

रूसो की भांति गाँधी मानते थे कि महत्वाकांक्षा और प्रतिस्पर्धा को अपने प्रलोभन द्वारा *'आधुनिक समाज'* व्यक्ति को एक मुखौटा पहनने के लिये लुभाता है, जो उसके प्रामाणिक स्वत्व का गला घोंट देता है। हमारी सभ्यता जिसका गला नहीं घोंटती उसको ठिगना कर देती है तथा मानव की ईश्वर तुल्य क्षमताओं का एक फूहड़ व्यंग्यचित्र अपने पीछे छोड़ देती है। सभ्य मनुष्य एक दास के रूप में जन्मता और मरता है जीवनपर्यन्त वह अपनी संस्थाओं द्वारा बन्दी बना रहता है, जिसे *वेबलेन ''निर्धारित आदतों की पक्षपूर्णता''* कहते हैं। राजनैतिक जीवन वास्तविकता और संभावना के बीच वही अन्तर, मानव और उसके पर्यावरण के बीच वही बिगाड़ दर्शाता है। तर्क को छलना के सेवार्थ अधिनियोजित किया जाता है, और अन्तर्चेतना या तो सामूहिक अपराधों के प्रति जानबूझकर आँखे मूँद लेती है या फिर बाह्य दबावों के द्वारा बुझ जाती है। अस्तित्व के प्रति सभ्य मनुष्य की असीम झूठी जटिलताएँ हैं, किन्तु वह अपने द्वारा अधिग्रहीत वृत्तियों का उपयोग कर अपनी दशा को रूग्ण करता है। तर्क को धूर्तता में परिवर्तित कर और पाखण्ड तथा छद्म के हथकण्डों को अपनाकर सुख और वैभव की वेदी पर अर्घ्य अर्पित करते हुये वह आवश्यकता और इच्छा के मध्य, लालसा और संतुष्टि के बीच नाजुक संतुलन को पूर्णत: उलट देता है। संक्षेप में *'आधुनिक मानव'* समाज द्वारा प्रदूषित, संक्षरित और यहाँ तक कि अनैतिक बना दिया गया है। हमारे अनन्यतम आस्थाओं और उन अवधारणाओं जिनके ऊपर हमारी संस्थाओं का गठन, संवाहन और न्यायोचित्तता स्थिर है, के मध्य एक सतत विरोधाभास है।

आधुनिक सभ्यता की संस्थाओं और मूल्यों के अपने प्रारम्भिक अस्वीकृति से गाँधी कभी नहीं डिगे, तथा उनके संतप्त दृष्टिकोण को प्रथम महायुद्ध के द्वारा अन्तत: सम्पुष्टि मिली। दिसम्बर १९१६ में म्योर कालेज, इलाहाबाद में अपने व्याख्यान में उन्होंने पहली बार इस तर्क का प्रतिपादन किया कि नैतिक विकास के सापेक्ष में भौतिक विकास व्युत्क्रमानुपाती होता है। उन्होंने इस दृष्टिकोण की विस्तृत प्रतिरक्षा की कि सभ्यताओं के उत्थान और पतन में एक सुचिह्नित प्रवृत्ति है, जो नैतिक दुष्टता और भौतिक विपुलता को समेकित करते एक क्षतिपूर्तिमय नियम को अभिपुष्ट करती है। उन्होंने कम से कम यह माना कि इस विपरीत और लोकप्रिय विश्वास का कोई आधार नहीं है कि भौतिक प्रगति नैतिक उत्थान को उत्प्रेरित करती है।

यदि गाँधी औद्योगीकरण की पूँजीवादी और साम्यवादी व्यवस्थाओं की आत्मविहीन छद्म सभ्यता की भर्त्सना करते

थे, तो सम्यक् सभ्यता की उनकी अवधारणा क्या थी? उनकी परिभाषा में सभ्यता कर्म की वह प्रविधि है जो दायित्व पथ की ओर इंगित करती है *''दायित्व निर्वाहन एवं नैतिकता अनुपालन अन्तर्रूपान्तरणीय है नैतिकता का पालन करना अपने भावावेगों और मन और प्रभुत्व प्राप्त करना है, ऐसा करते हुये हम अपना संज्ञान करते हैं। सभ्यता के लिये गुजराती (भाषा) के समानार्थी शब्द है–'सद्‌आचरण'।''*[८४]

जब गाँधी ने *'हिन्द स्वराज'* लिखा न पश्चिम न ही भारत में आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की खरी आलोचना का प्रचलन था। किसी भी स्थिति में गाँधी को एक साहित्यिक *'लुडाइट'* जो सभी मशीनरी, धन और शक्ति का एक कट्टर विरोधी है–के रूप में रखते हुये खारिज़ नहीं किया जा सकता। वह इन सब के खिलाफ उतने नहीं थे जितना कि क्रूर मशीनीकरण, मिडास कॉम्पलैक्स तथा मदान्धता के प्रति। यह सहज रूप से माना जा सकता है कि *जॉन रस्किन* की कृति *'फार्स क्लाविगेरा'* की भाँति ऐसे गद्यांशों से परिपूर्ण है, जो अपनी सनसनीपूर्ण गंभीरता एवं सत्यनिष्ठता में कटु अतिशयोक्तियाँ हैं। सामान्यत: सत्यनिष्ठता के अनुकरणीय मसीहा–ईशाया, जीज़स, पॉल, दान्ते, मिल्टन–अपने शब्दों को बनाकर या बिगाड़कर नहीं बोलते। उन्होंने अनुभव किया कि प्रबल अशुभ के लिये ठोस नामों की आवश्यकता है और ज्वलन्त उदाहरणों के द्वारा अपने श्रोताओं के हृदय-मस्तिष्क में इन्हें निध्यासित करने का उपक्रम किया। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि *'हिन्द स्वराज'* सत्यनिष्ठता के एक मसीहा की अपेक्षा एक ऐसे सत्यनिष्ठ क्रान्तिकारी द्वारा रचा गया है, जिसका प्रबल असन्तोष उसे सामाजिक जीवन के शुद्धीकरण के एक निर्भीक आशावादी दृष्टिकोण की ओर ले गया, जिसके अन्तर्गत समग्र मानव सम्बन्धों में किस प्रकार परम मानदण्डों को बनाये रखा जाय तथा किस प्रकार वैष्टिक संचेतना को सामाजिक नायकत्व के साथ समन्वित किया जाय, पर एक अद्यतन विवेचना की गई है।

आधुनिक सभ्यता की गाँधी की आलोचना, भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के संदर्भ में, उपनिवेशवाद के प्रबल, मुखर विरोध के रूप में भी दिखती थी। उनकी दृष्टि में उपनिवेशवाद के अधीन लोगों का आत्म-सम्मान क्षीण हो जाता था। उपनिवेशवादी न केवल अधीनस्थ-वरिष्ठ अंतर्सम्बंध स्थापित करते थे, बल्कि वे खुद के रोल को इन आधारों पर न्यायोचित ठहराते थे कि वे देशवासियों से नैतिक रूप से श्रेष्ठतर थे। उनकी प्राविधिक दक्षता, सैन्य-बल, तथा औद्योगिकीकरण ने स्वदेशी संस्कृति को अविश्वस्त बना दिया था।[८५] गाँधी को भय था कि उपनिवेशवाद भारतीयों को न सिर्फ उनकी राजनैतिक स्वतंत्रता और बुनियादी इंसानी आवश्यकताओं को पूरा करने की उनकी क्षमता से वंचित करता था, अपितु उनके उद्देश्य-भाव को भी नष्ट कर देता था। आगे वह यह भी मानते थे कि कोई भी आरोपित प्रणाली भय, असहायता, विद्वेष और घृणा के बीज बोती है।[८६]

उपनिवेशवाद के साथ, पुरानी सामाजिक बुनावटें उधड़ी तथा पारंपरिक मूल्य प्रश्नांकित हो चुके थे, परंतु भारतीयों के लिए उनका विश्वसनीय प्रतिस्थापन आने वाला नहीं था।[८७] वो डरते थे कि अनेक भारतीय अधीर, पर गलत रूप से भारतीय संस्कृति को खारिज़ कर ब्रितानी सभ्यता में बिना सोचे-समझे संविलयित होते समय व्यष्टिक अर्थ तलाश रहे थे।[८८] किंतु देशवासियों का आधे रास्ते में रूग्ण होना पूर्वनिश्चित था। उसे अपने अतीत की भर्त्सना करना तो सिखाया गया, पर वह ब्रितानी प्रणाली में पूर्ण सदस्यता ग्रहण करने तक आगे नहीं बढ़ सका।

अधिकांश भारतीय निरूत्साहित थे, जो अपनी जिंदगी से संतुष्टि का अनुभव नहीं कर पा रहे थे। गाँधी उस अस्थिरतावादी प्रभाव को लेकर चिंतित थे जिसे *सुल्लिवैन 'अनैतिकीकरण'* कहते थे।[८९] उपनिवेशवादी व्यवस्था के बहुआयामी द्वंद्व चूंकि पारंपरिक रूप से अमान्य होते हैं, किसी स्पष्ट निर्णय से उनका निराकरण नहीं हो पाता है तथा जनमानस स्वयं को जीवनभर आकस्मिकताओं के प्रभाव में धारांदोलित होता रहता है।[९०] गाँधी इस अभिवृत्ति की रोकथाम कर, भारतीय जनता की उद्देश्य और सहभागिता को पुनर्स्थापित करने की आशा करते थे।

एक नवीन वैचारिक सहमति निर्मित करना एक कठिन कार्य है। क्रांतिकारी पुरातन को विनष्ट कर देता है, तथा एक अनुदारवादी एक दुष्कर यथार्थ का सामना करते हुए भी पुरातन को त्यजने से इंकार करता है। लेकिन, गाँधी का संदर्भ इतना विस्तृत *(eclectic)* था कि निरन्तरता के लाभों की अनदेखी किए बगैर वह परिवर्तन की जरूरत को पहचानते थे। उन्होंने सामाजिक व्यवस्था की पुरानी और जीर्ण-शीर्ण संरचना को बीसवीं शताब्दी की आवश्यकताओं के अनुरूप पुनर्नियोजित करने का प्रयास किया। भारत हिन्दू कट्टरता एवं पाश्चात्य उदारवाद की दो धाराओं में फँसा था। भारतीय समाज को ग्रसित किए रोगों का गाँधीवादी दृष्टिकोण अत्यन्त परिष्कृत था।

वस्तुत: देखा जाय तो सामाजिक परिवर्तन का गाँधी-दर्शन न तो पूर्णत: पारंपरिकता और न ही आधुनिकता के खाँचे में जड़ा जा सकता है। गाँधी लाल-बाल-पाल द्वारा प्रतिनिधित्वित उग्र एवं परंपरावादी मत तथा गोखले के नरमपंथी सम्प्रदाय के मध्य एक सेतु थे। गाँधी ने परंपरा और आधुनिकता के अंतर्द्वन्द्व को परंपरा के भार तथा आधुनिकीकरण के खींचाव के मध्य एक संतुलन के द्वारा हल करने का उपक्रम किया। उनका अगोचर अभियान परंपरा का इस प्रकार पुनर्संधान करना चाहता था, जिससे न केवल पाश्चात्य आदर्शों और संस्थाओं पर हमला किया जा सके, अपितु हिन्दू परंपराओं एवं संस्थाओं की एक पुनर्व्याख्या भी की जा सके।

गाँधी के अनुसार, राष्ट्रीय पुनर्जागरण अतीत के किसी स्वर्ण युग को पुनर्स्थापित कर नहीं लाया जा सकता। उन्हें संदेह था कि ऐसा कोई युग कभी रहा होगा, और वे जोर देकर कहते थे कि यदि वैसा युग रहा भी हो, तो वह वर्तमान में पूर्णत: अप्रासंगिक है। प्रत्येक युग या इतिहास-काल की अपनी विशिष्ट आवश्यकताएँ होती हैं और भारतीय सभ्यता की केंद्रीय अन्तर्दृष्टि को नये रूप में विवेचित किया जाना चाहिए। यहाँ उनकी अर्वाचीन दृष्टि सन्निहित है। सामान्य हिंदुओं की भाँति गाँधी अतीत को आत्म-विश्वास तथा उत्प्रेरणा का एक स्रोत तो मानते थे, किंतु वर्तमान के लिए एक मॉडल या रूपरेखा कदापि नहीं। उनका अभिमत था कि यद्यपि भारत आधुनिक सभ्यता तो नहीं अपना सकता, तथापि वह उससे *'काफी कुछ' 'लाभप्रद समांगीकरण'* कर सकता था। चूँकि उनकी स्थिति को बहुधा गलत समझा जाता था, वह कहा करते थे : *''पाश्चात्य सभ्यता के संदर्भ में मेरा प्रतिरोध वास्तव में इस प्राक्कल्पना पर आधारित अविवेक तथा चिंतनविहीन नकल का एक प्रतिरोध है कि एशियाई केवल पश्चिम से आने वाली प्रत्येक वस्तु की नकल करने लायक ही है।''*[९१] पूर्ववर्ती पीढ़ी के राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा ऐसे नकल के व्यापक समर्थन के प्रति गाँधी काफी भययुक्त थे। जब तक भारतीय यह नहीं जानेंगे कि क्या नकल किया जा रहा है तथा क्यों, ऐसी नकल का 'अविवेकी' होना पूर्वनिश्चित होते हुए भ्रष्टाचार को बढ़ावा देगी। साथ ही, भारतीय तब

तक यह नहीं जान पाएगा कि क्या नकल करनी चाहिए, जब तक उन्हें स्वयं के बारे में एक पूर्ण तथा पक्षपातरहित ज्ञान नहीं होगा।[११]

मूलत: सामाजिक परिवर्तन की गाँधीवादी मान्यता उनके इस दृढ़ विश्वास से पनपती है कि समाज में सुधार लाने का प्रयास करने से पूर्व उसे व्यक्ति के चरित्र में लाया जाना चाहिए। गाँधी इस बात को नहीं मानने थे कि भौतिक *'विपुलता'* एक गैर-अधिनायकवादी समाज का सूत्रपात कर व्यक्ति के *'विलगाव'* को निष्कासित कर सकती है। गाँधी के पास कार्य, धन और सुख का एक ऐसा दर्शन था जो पूर्व तथा पश्चिम दोनों के धार्मिक एवं नैतिक दर्शनों के साथ मतैक्य में स्थित था।[१३] ऐसे क्रांतिकारी प्रभावकारिता युक्त एक समाज-दर्शन के प्रणेता के रूप में गाँधी के मन और चिंतन का आधुनिक पुट देखा जा सकता है। वस्तुत:, उनका समाज-दर्शन एक प्रकार से लोकतंत्र और आज़ादी को सही अर्थ देने का प्रयास कर रहा था जिसकी एक परतंत्र देश को जरूरत थी। वह एक ऐसे विकास के मार्ग की ओर भी संकेत कर रहे थे जो स्थिर पूर्वी संस्कृतियों के साथ सुसंगत और ऐसा दृष्टिकोण प्रस्तुत करता था जो पश्चिम में मानव की संकटपूर्ण अवस्था – उसके *'विलगाव'*, शक्तिहीनता, असुरक्षा और चिन्ता; उसकी जड़हीनता तथा व्यक्तित्वहीनता एवं महत्वहीनता के लिए अत्यन्त प्रासंगिक था, जो सब पाश्चात्य सभ्यता के लिये एक भयंकर खतरे की ओर इंगित करता था। वास्तव में, गाँधी का अभिमत था कि भारत भी इस खतरे से अलग नहीं क्योंकि हमारी औद्योगिक सभ्यता का ज्वार जो कोई सांस्कृतिक बाधाओं को नहीं मानता, परम्परावादी अधिनायकवादी भारतीय समाज के दीवारों पर जोर-जोर से दस्तक दे रहा था।

यह उल्लेखनीय है कि राजा राममोहन राय से गाँधी तक सामाजिक व्यवस्था को परिवर्तित करने के लगातार प्रयत्न होते रहे। सामाजिक परिवर्तन के दर्शन तथा कार्यविधियों के आधार पर, दो अलग अपसरणीय वैचारिक मत थे, जिनमें से एक मानता था कि व्यवस्था को बदलना होगा और दूसरा यह कि स्वयं व्यक्तियों को रूपांतरित होना होगा। गाँधी ने इन विरोधी मतों को समन्वित कर एक ऐसे परिवर्तन का चित्रण किया जो न सिर्फ महान् व्यक्ति पैदा करे, अपितु सामान्यत: समाज को भी परिमार्जित कर सके। वे व्यक्ति और समाज के मार्क्सवादी तथा उदारवादी उपागमों का विरोध कर दोनों में साथ-साथ परिवर्तन के लिए खड़े थे। वस्तुत: सामाजिक क्रांतिकारी परिवर्तन की गाँधीवादी मान्यता के आधुनिक चिंतन को तब प्रमाणित करती है जब पुरातन व्यवस्था का विखण्डन तथा नयी व्यवस्था के सृजन का एक साथ होना प्रकल्पित किया जाता है। गाँधीवाद में क्रांति एवं विकास के बीच का अंतर अदृश्य हो गया है। उनके लिए सामाजिक परिवर्तन में जो बात सबसे ज्यादा मायने रखती थी वह थी अभिनव विप्लवकारिता को आत्मसात् करने की क्षमता। गाँधी तर्क से उतना अनुशासित नहीं हुआ करते थे जितना कि व्यवहारिक सहज ज्ञान से, जो जनमानस को अपील कर सके। एक बार उन्होंने लिखा : *''मैं इस मूल निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यदि तुम वास्तव में कुछ महत्वपूर्ण करना चाहते हो, तो तुम्हें सिर्फ तर्क को ही संतुष्ट नहीं करना चाहिए, बल्कि हृदय को भी।''*[१४]

यद्यपि गाँधी के विचार विभिन्न पाश्चात्य बुद्धिवादी और मानववादी दार्शनिक सिद्धांतों का एक सम्मिश्रण थे, उन्होंने इस दक्षता के साथ उनको एक ऐसे स्वदेशीय मुहावरों में अपनाया कि उनके एकदम नए अर्थ बन पड़े। अपने चिंतन के विकास

में, उन्होंने परंपरा को एक ऐसे गत्यात्मक तरीके से पुनर्रचित किया कि उसकी अभिव्यक्तियाँ परंपरा के साथ सम्पृक्तता तथा आधुनिकता से प्रेम – दोनों ही प्रदर्शित करती हैं।

(iii) आदर्श समाज–सर्वोदय की प्रकल्पित-दृष्टि

सर्वोदय की प्रकल्पित दृष्टि गाँधीवाद की स्वाभाविक परिणति है, जो स्वस्थ, संतुलित व सन्तुष्ट मानव का *स्वप्न (utopia)* देखती है। किसी भी दर्शन में जीवन की वास्तविकताओं को स्पष्ट करने वाले तत्वज्ञान के साथ ही मानवीय सम्भावनाओं की प्राक्कल्पना अपेक्षित रहती है। सर्वोदय चिंतन में एक ऐसी ही उदार, व्यापक, समन्वयी, सर्वसमावेशक दृष्टि दिखाई देती है, जिसके अनुसार सहयोगी, शांत और प्रेमस्वरूप मनुष्यों का समाज स्थापन हो। इस उद्देश्य से गाँधी, विनोबा, जयप्रकाश तथा अल्प प्रमुख सर्वोदयी अध्वर्युओं द्वारा चलायी गयी क्रांति-प्रक्रिया में से और साथ विचार-प्रसार में से इस यूटोपिया का पर्यावसान होता है।

'सर्वोदय' शब्द सर्वप्रथम जैन वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ। लेकिन इसका आशय वेदकालीन प्राचीन ऋषियों के वाङ्मय में विविध रूपों में प्रकट हुआ है। *'सर्वत्र सुखिन: सन्तु'* का उनका जयघोष था। *'सर्व'* तथा *'उदय'*–इन दो संस्कृत शब्दों के समास में से जन्मा इसका अर्थ है *'सबका समग्र यानि सम्पूर्ण, हित अथवा भला'*। इन *'सर्व'* में केवल मानवों का ही नहीं, अखिल भारतीय सजीव सृष्टि का अन्तर्भाव है, और *'उदय'* में सर्वांगी उत्थान, पूर्ण विकास, समग्र तुष्टि तथा पुष्टि का भाव ग्रहीत है। मानव की आकलन-शक्ति को जिसमें जीवन के व्यक्त-अव्यक्त सभी आयामों का लेखा-जोखा संभव हो सकता है, तो भी मनुष्य की प्रत्यक्ष जीने की, कर्म करने की शक्ति मर्यादित होती है, इसलिये यह स्वाभाविक है कि सर्वोदय की कार्य-योजना में, *'मानव तथा उनका समाज'*–इन्हीं के सर्वांगीण विकास को प्राथमिकता देनी पड़ती है। सर्वोदय के आदर्श समाज में शोषण, दारिद्रय, अत्याचार, हिंसकयुद्ध नहीं होंगे। मानव-इतिहास में जाति, वर्ग, वंश, लिंग, राष्ट्र, धर्म, भाषा, व संस्कृति इनकी भिन्नताओं में से संघर्ष, विद्वेष और युद्धों की परम्पराएँ निर्मित हुई हैं। अभाव भी युद्धों का एक कारण रहा है। उच्चता-नीचता और गुलामी के संस्कारों के कारण व्यक्ति व समाज दु:खी, परावलम्बी एवं कुंठित रहते हैं। सर्वोदय दृष्टि सुस्पष्ट रूप से देखती है कि सुसंस्कारों का वातावरण निर्माण करने वाले व्यापक शिक्षण आंदोलन, आरोहण, रचनात्मक कार्यक्रम और सहयोगी स्वावलम्बी जीवन-पद्धति – जो अहिंसक यानि प्रेमाधारित तथा शोषणरहित होगी – इनके माध्यम से दिया जा सकता है और इस शैक्षणिक क्रांति प्रक्रिया में से स्वस्थ, सन्तुलित, सन्तुष्ट मानवों का एक आदर्श समाज निर्मित हो सकता है, जिसमें प्राकृतिक विषमता की तीव्रता सौम्य हो जाएगी तथा मानव-निर्मित विषमताओं को समाप्त करना सम्भव होगा। ऐसे उदार और व्यापक भूमिका पर आधृत समाज में एक के लिये सभी और सबके लिये प्रत्येक; सेवा तत्पर, सहयोग निष्ठ होंगे और इसी में आनन्दित रहेंगे। यह पारस्परिक समरसता जीवन को एक उदात्त आयाम प्रदान करेगी।

यह निश्चित है कि इस आदर्श समाज में सबसे पहले ध्यान दिया जायेगा अत्यन्त निम्न स्तर पर जीने वाले दीन, दुखी मनुष्य की तरफ। *रस्किन* की *'Unto This Last' (अन्त्योदय)* पुस्तक का क्रांतिकारी परिणाम गाँधी के जीवन पर हुआ। किंतु, *"गाँधी ने सर्वोदय में बदलकर रस्किन की आशा को अधिक व्यापक बना दिया। तब वह संज्ञा प्रवृत्तिसूचक मात्र न रहकर*

अधिक भाववाचक एवं सांकेतिक हो गई।'[९५] साथ ही, टॉल्सटॉय का स्वीकारा हुआ ऐच्छिक दारिद्रय तथा कष्टप्रद सादा जीवन भी गाँधी को उनके *'सर्वोदय'* संकल्पना को अभिपुष्टि देनेवाला प्रेरणास्रोत बना था। सभी विश्वधर्मों ने तो उन्हें सर्वोदय का उपादान ही सादर किया। परंतु इन सबके रसायन में से गाँधी ने आधुनिक मानव के लिये एक समन्वित, एकात्म व्यक्ति और समाज का आकृति-बंध सर्वोदय की समग्र संकल्पना के माध्यम से प्रस्तुत किया।

इसने स्वाश्रयी, आनन्दपूर्ण मानव-जीवन के आदर्श में मानवतावाद के सदृश केवल ऐहिक कल्याण का ही विचार प्रमुख रूप से किया है और पारलौकिक चिन्ता को अवश्य किनारे किया है, तो भी इसमें अनुमोदित समग्र जीवन को एक आध्यात्मिक चेतन सत्य का सर्वोपरि आधार अभिप्रेत है। जीवन की आनुभविक अनेकता केवल ऊपरी है तथा वास्तव में सबको आन्तर्बाह्य व्याप्त करने वाली एक चिन्मय सत्ता ही जीवनाशय है। इस सत्ता को *'ईश्वर'* कहना है या *'सत्य', 'ब्रह्म'* माने या *'शून्य'* समझे। *विनोबा* का एक *'साम्यसूत्र'* प्रसिद्ध है : *'एकं ब्रह्म च शून्यं च यः पश्यति सः पश्यति।'*[९६] अर्थात् जो दृष्टा सर्वव्याप्त ब्रह्म तथा शून्य का, एक स्वरूपत्व का प्रत्यक्ष प्रत्यय पाता है वही वास्तव में द्रष्टा है, वही आत्म साक्षात्कारी है। विश्व के साथ एकरूप होकर जीवन जीना, सत्य स्वरूप में पिघलकर कर्म करना, यही तो मानव जीवन में सीखने की कला है। गाँधी को लगता था कि समूचा वाङ्मय नष्ट हो जाय तो भी *'ईशोपनिषद्'* का प्रथम श्लोक मानव-जीवन का सुयोग्य मार्ग-दर्शन करके सत्य की तरफ ले जा सकता है। *'ईशावास्यं इदं सर्वं यत्किं-च जगत्यां जगत्'* – इस अर्ध श्लोक में जीवन की एकता, चेतनता, व्यापकता, और गतिशील जीवन की क्षणिकता स्पष्ट हो जाती है। अखिल ब्रह्माण्ड शब्दशः सर्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर का निवास स्थान है। अपनी इस अतिभौतिक मान्यता के आधारस्वरूप सर्वोदय विचारक जीवन की एकता की अपनी आन्तरप्रतीति, वेद-उपनिषदों के साथ ही सभी विश्वधर्मों के पवित्र ग्रन्थों के वचन और विश्व इतिहास में प्रसिद्ध हुए महापुरुषों के उदाहरण पेश करते हैं। भौतिकवाद, अज्ञेयवाद व नास्तिकता–इनका निषेध करते हुए भी उन्हें अपनी आस्तिकता में ब्रैडले जैसे नास्तिक की सत्यनिष्ठा एवं मार्क्स जैसे भौतिकवादी की लोककल्याण की, दुःख-निवारण की तड़पन समा लेना सहज मालूम पड़ता है। गाँधी ने कहा था *''जो तत्त्व मनुष्य से सही वर्तन करा लेता है वह है ईश्वर-तत्त्व......... उसके सारे कोर्ट केसेज़ में जिस शक्ति ने ब्रैडले को टिकाये रखा वही है ईश्वर, वह है नास्तिक नकार।''*[९७] सत्यनिष्ठ, मानवनिष्ठ तथा जीवननिष्ठ नास्तिकों को पसन्द आयेगा, पट जायेगा। ऐसा *'सत्य'* शब्द ही गाँधी ने ईश्वर शब्द के स्थान पर मान्य किया। उनका *'सत्य'* तो पूरे जीवन-वैविध्य का एकीकृत एकात्म स्वरूप-बोध है।

सत्य एक है तो फिर जीवन की अनेकता का स्पष्टीकरण कैसे कर सकेंगे? आद्य शंकराचार्य की मायावाद की परिभाषा थोड़ी बदलकर और महाराष्ट्र-संत ज्ञानेश्वर के अनुयायी होकर विनोबा विश्व की अनेकता को *'स्फूर्ति'* मानते हैं। इस संदर्भ में उनका एक श्लोक प्रसिद्ध है:

वेद वेदान्त गीतानां विनुना सारमुद्धृतम्।
ब्रह्म सत्यं जगत् स्फूर्तिः जीवनं सत्य शोधनम्।[९८]

अपरिपक्व साधक के लिये यह प्रत्यक्ष विश्व शंकर की दृष्टि में *'माया'* अथवा *'रज्जु-सर्प'* की भाँति *'मिथ्या'* होगा

तो भी उन्हें भी परिपक्व सिद्ध व्यक्ति की अनुभूति में विश्व सुवर्ण कंकड़ सदृश निमित्त एवं उपादान कारण रूप में ब्रह्म ही आविर्भूत हुआ है, ऐसा कहना आवश्यक लगा था। ज्ञानेश्वर तो दुनिया को चिद्विलास ही मानते थे। *विनोबा* की *'स्फूर्ति'* में इस मिथ्यात्व और विलास का एक नूतन ही रसायन हुआ दिखता है।

लेकिन यह *'घट-पटों'* की तार्किक वाद-विवाद तथा चर्चा करते रहने की वृत्ति सर्वोदय विश्व में अनुपस्थित ही होती है। गाँधी अपने को व्यावहारिक आदर्शवादी कहलाते थे। बुद्ध की तरह उन्हें ही भव-रोग का निदान करने का उपाय खोजना ही महत्त्व का लगता था। *दादा धर्माधिकारी* कहते हैं : *''दूसरे के दुख से दुखी होना और सुख से सुखी होना यह मनुष्य का सहज स्वभाव है। मित्रत्व के लिये कारण की आवश्यकता नहीं है। शत्रुत्व ही बिना कारण खड़ा नहीं हो सकता और जो उत्स्फूर्त, अकारण है वही स्वाभाविक होता है।''*[९९] भगवद्गीता भी कहती है : *'स्वभावोऽध्यात्म उच्यते'* - यह अध्यात्म दैनंदिनी व्यवहार में ही आन्तरिक एकता का प्रत्यय ला देता है और इसी की नींव पर जीवन-साधना विकास कर सकती है, जिसका लक्ष्य *'ईश्वर-प्राप्ति'* माने या *'सत्य-साक्षात्कार'* कहें, अथवा *'जीवन-मुक्ति'* समझे, इसका स्वरूप व्यक्ति व समाज की जिंदगी में से विषमता को निकाल डालने के प्रयास में से व्यक्त होता रहेगा। *विनोबा* की सूक्ति है : *'अभिधेयं परम साम्यम्'*।[१००] यह सर्वव्याप्त परम साम्य, अथवा ब्रह्म या सत्य मानवीय व्यवहार से विषमता, दारिद्रय, अन्याय–इनके निराकरण की वैयक्तिक और सामूहिक साधना द्वारा उपासित होना चाहिए, जिसका विधायक भावरूप व्यक्ति के अंतरंग में तथा सामाजिक-सांस्कृतिक सम्बन्धों में समानता, एकता एवं बन्धुत्व स्थापित करने के लिये विविध शैक्षणिक प्रक्रियाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होगा, जो मुख्यत: सत्याग्रह का रूप लेंगी।

स्वाभाविक है कि सर्वोदय के नीतितत्त्व समग्र मानवीय क्रियाकलापों पर निरपेक्ष रूप से लागू होते हैं, जिनका आधारभूत *'सत्य'* सर्वोदय की दृष्टि में अनेकों में एक नीति-मूल्य ही केवल नहीं है, केवल व्यावहारिक आदर्श ही नहीं है, यह बात स्पष्ट है। सर्वव्याप्त जीवन-सत्य का, ईश्वर का अथवा परम साम्य का *'सत्य'* व्यावहारिक प्रकटीकरण है। *विनोबा* कहते हैं : *''साक्षात्कार के लिए सत्य आत्मा बनता है, प्रार्थना के लिए सत्य ही ईश्वर हो जाता है और आचरण के लिए वह धर्म का रूप लेता है।''* गाँधी के लिए जीवन का यह सर्वव्याप्त स्वरूप ही प्रेम अथवा अहिंसा का द्वार खोलता है। सत्य के आध्यात्मिक आकलन में व्यावहारिक नैतिक अभिव्यक्ति है प्रेम।

नीतिशास्त्र का पहला, सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न है– *''मैं नैतिक क्यों होऊँ?''* यह सवाल तब तक अनुत्तरित ही रहता है, जब तक आध्यात्मिक एकता का आधार व्यावहारिक अनेकता को नहीं मिलता है। जब तक *'मैं'* और *'मेरा'*, *'तू'* और *'तेरा'* के साथ एक ही स्तर पर नहीं मिलते हैं तथा स्वयं को इन दूसरों में सर्वस्व झोंककर मिला नहीं देते हैं, तब तक *सच्ची नैतिकता (प्रेम)* सम्भव ही नहीं होती। मैं अपने पड़ोसी पर-फिर वह शत्रु हो या मित्र-प्रेम करूँगा, क्योंकि मूलत: हम दोनों एक ही हैं। नैतिकता मानवीय स्तर पर अत्यन्त स्वाभाविक है क्योंकि इसी स्तर पर जीवन की मूलभूत एकता प्रत्ययीकरण में प्रतिबिम्बित होती है।

इस एकात्म भूमिका के कारण व्यक्ति व समाज हित परस्पर विरोध में खड़े होते हैं – पाश्चात्य समाज दर्शन की

यह मान्यता सर्वोदय जगत् में अस्वीकृत होती है। समाजवाद तथा व्यक्तिवाद की एकान्तिक मान्यताएँ अस्वीकार करने पर भी सर्वोदय चिन्तक *कान्ट* के समान ही ऐसा मानते हैं कि *'मानव स्वयं ही अपना साध्य होता है'*। जीवन का जीवन्त जागृत प्रत्यय वैयक्तिक अंतर्चेतना में प्रकट होता है, इसीलिए सामाजिक जीवन का केन्द्र व्यक्ति ही रहेगा। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति के विकास को महत्व देते समय समाज-हित का विस्मरण हो। वास्तविकता देखें तो व्यक्ति व समाज के विकास में, हित में अथवा संघर्ष में, स्वार्थ में या परस्पर विरोध की कल्पना करने से ही उनमें संघर्ष का आभास उत्पन्न हो जाता है। सबकी भलाई की अविरोधी पारस्परिकता तथा प्रेम विकसित करने में ही समाज-व्यवस्था का यश समाया है। ऐसी समाज-व्यवस्था में *'अधिक से अधिक संख्या का अधिक से अधिक सुख'*–यह उपयोगितावाद का भ्रामक प्रमेय टिक नहीं सकता है। जो ध्येय-दर्शन मानव और मानव के मध्य दीवार खड़ी करके मानव विश्व को दो विरोधी समूहों में निर्मित कर देते है वे शान्ति, सौहार्द्र और समझ को नित्य नकार देने का गुनाह करते हैं।

किन्तु सर्वोदय का आदर्श इष्ट व योग्य है, सबके हित का है इसका निकष कैसे निश्चित होगा? गाँधी कहते थे कि सत्य व अहिंसा–ये मूल्य ही सभी मानवीय मूल्यों की आखिरी सीढ़ी है। जो व्यवहार सत्य अहिंसा की दृष्टि से अनुकूल है वह इष्ट है। लेकिन *'सत्य'* का निर्णय कौन करेगा? गाँधी ने कहा : *''आन्तरिक आवाज़''*। जो सत्यनिष्ठ होगा, नि:स्वार्थ होगा, नम्र रहेगा, उसी को विवेक का या ईश्वर का इशारा अन्दर की आवाज के रूप में प्राप्त होगा। फिर दूसरी एक पद्धति से भी यही निकष लगा सकते हैं। एकात्म सत्य का आविष्कार होने से जीवन भी अपने आप में सत्य के समान ही आध्यात्मिक मूल्य हो जाता है। तब जीवन को सम्पन्न बनाने वाले, हृदय-बुद्धि के गुण विकास के लिए मददगार साबित होने वाला आचरण, इष्ट और इसके विपरीत जीवन की सम्पन्नता, एकात्मकता नष्ट करने को उद्यत जो आचरण होगा, वह अनिष्ट-यह सब स्पष्ट हो जाता है। स्वाभाविक रूप से जो तत्व सर्वात्रिक हो सकता है और जो सभी को एकत्व का साक्षात्कार कराने में सहायक होता है उसे मूल्य के रूप में सर्वोपरि स्वीकारना इष्ट है। इसका अर्थ यह है कि जो मूल्य फायदा, ठगी, इन्द्रिय-सुख–इन कसौटियों पर स्वीकारे जाते हैं वे आर्थिक-राजनैतिक हो सकते हैं, लेकिन वे कभी भी *'निरपेक्ष नैतिक'* अथवा आध्यात्मिक नहीं हो सकते, यानि वे सच्चे मूल्य ही नहीं होते हैं।

अंत में हम कह सकते हैं कि *'सर्वोदय'* एक महान क्रांतिकारी शब्द है। महान शब्दों में जो शब्द भरा रहता है, वह किसी संगठन में नहीं होता। शब्द तारक भी होते हैं और मारक भी। शब्दों से उत्थान भी होता है और पतन भी। ऐसे ही एक महान शब्द का प्रयोग *'सर्वोदय'* है, जो यह कहता है कि *''हमें चन्द लोगों का उदय नहीं करना, अधिक से अधिक लोगों का उदय नहीं करना, वरन् सब का उदय करना है।''*[१०१] इस प्रकार सर्वोदय का आदर्श है अद्वैत एवं उसकी नीति है समन्वय।

(iv) त्रिगुणी व्यक्तित्वान्तरण सिद्धान्त

गाँधीवादी समाज-परिवर्तन का एक उद्देश्य त्रिविध रूपांतरण है – व्यक्ति का हृदय तथा विचार-परिवर्तन एवं समाज में स्थिति-परिवर्तन। जब व्यक्ति और समाज दोनों बदलते हैं, तभी क्रांति पूर्ण होती है। इसलिए अब हम परिवर्तन के त्रिगुणी स्वरूप पर विमर्श करेंगे।

हृदय परिवर्तन एक अत्यन्त आकस्मिक, किन्तु गम्भीर रूप से प्रभावकारी भावनात्मक सांवेगिक घटना को कहते हैं, जिससे समग्र व्यक्तित्व में मूलभूत परिवर्तन होता है और यह कुछ ही क्षणों में सम्पन्न होने वाली अभिघातज आघात सदृश एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है।[१०२] लेकिन, किसी के हृदय का संस्पर्श करने के लिये हमें उसके हृदय में प्रवेश करना होगा। विरोधियों में यह हृदय-प्रवेश स्वत्याग और कष्ट-सहन तथा विरोधी के लिये हृदय में पर्याप्त सहानुभूति और शुभेच्छाओं के बल पर ही होगा।[१०३] इस दृष्टि से हृदय-परिवर्तन कोई दैविक रहस्य नहीं, अपितु यह तो एक प्रायोगिक एवं अनुभूत घटना है। यह सत्य है कि हृदय-परिवर्तन के शास्त्र का अधिक विकास नहीं हो पाया है, किन्तु यह मनोविज्ञान के कई तत्वो एवं नियमों, मानसिक द्वन्द्व, संसूचन, अनुकरण, संवेग, किशोर-व्यवहार आदि पर निर्भर है।[१०४]

सर्वोदय-दर्शन के परिप्रेक्ष्य में हृदय-परिवर्तन को लेकर काफी विवाद चला है। इस विषय में वामपन्थियों की एक खुली चिट्ठी के उत्तर में *विनोबा* ने कहा था : *''जो मनुष्य ऐसी वृत्ति रखेगा कि मेरा हृदय-परिवर्तन हो सकता है, वही गौरव का पात्र है। जो अपने हृदय को अपरिवर्तनशील मानता है, वही जड़ है; क्योंकि वह जड़त्व की निशानी है, चेतन की नहीं।''*[१०५] फिर यह मानना कि *''मेरा तो हृदय-परिवर्तन सम्भव है, किन्तु दूसरे का नहीं''*, शायद जड़ता की हद है। अत: मानव को अपरिवर्तनशील मानने में ही जड़ता सिद्ध होती है। आखिर इतने सारे कम्यूनिस्ट भाई जिन्होंने पीड़ित और पददलित मानवता के लिये यातनाएँ और कष्ट भोगे हैं, वे स्वत: हृदय-परिवर्तन के अकाट्य प्रमाण हैं। सचमुच उनके हृदय में करुणा की रसधारा बहती है। इसलिये जब गोपालन साहब पूँजीपतियों के शोषण एवं अत्याचार से ऊबकर यह कह देते हैं कि *''अमीरों को हृदय होता ही नहीं, तो परिवर्तन किसका होगा?''*[१०६] तो इसका हम केवल इतना अर्थ लगाते हैं कि उन कठोर हृदयी अमीरों का हृदय-परिवर्तन अत्यधिक कठोर त्याग-तपस्या तथा कष्ट-सहन पर निर्भर है। कम्यूनिस्ट सरकार के प्रतिनिधि के रूप में केरल सरकार के प्रतिनिधि ने तो हृदय-परिवर्तन की यहाँ तक हिमायत कर दी थी कि उन्होंने स्वीकार किया कि *''लोग स्वेच्छा से अपनी जमीन की मालकियत छोड़ने को तैयार हो जायेंगे, तभी वास्तव में भूमि-समस्या हल होगी। इस आंदोलन के माध्यम से यह कार्य सुलझाना होगा, इसमें मुझे संदेह नहीं।''*[१०७] नम्बूद्रीपाद तो हृदय-परिवर्तन के आधार पर संचालित भूदान-ग्रामदान आन्दोलन के बड़े ही कायल थे। उनके बारे में *विनोबा* ने कहा था- *''सचमुच उनका हृदय-परिवर्तन हो रहा है और सचमुच यह कोई खास बात नहीं। चाहे लोग अपने को नास्तिक या कम्यूनिस्ट कहें, लेकिन उनके हृदय में कोमल तन्तुओं का जब तक अस्तित्व है, उनके भी हृदय-परिवर्तन होंगे।''*[१०८]

जेम्स के अनुसार संपरिवर्तन की प्रक्रिया *'दुखी आत्मा'* के अन्त:स्थल की प्रक्रिया है। विनोबा ने इसीलिए कहा कि हृदय-परिवर्तन मोह-ग्रस्त लोगों का होता है।[११०] यह उनके लिये एक प्रकार का *आघात-उपचार (Shock Treatment)* है। जब व्यक्ति अपने को अपराधी, पापी, अक्षम और अशक्त आदि अनुभव करता हुआ अनेक प्रकार की दुश्चिन्ताओं में निमग्न रहता है, तो फिर हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया शुरू होती है। व्यक्तिगत रूप में अशोक, अंगुलिमाल, बाल्मीकि और सामूहिक रूप से कुछ दशकों पूर्व चम्बल के डाकुओं का आत्म-समर्पण इसकी प्रामाणिकता साबित करता है।

जहाँ हृदय-परिवर्तन मोहग्रस्तों का करना होता है, वहीं ***विचार-परिवर्तन*** सज्जनों का। दोनों मिलकर क्रांति की भूमिका

तैयार करते हैं। एक तरफ से हम नए विचार देते हैं, दूसरी तरफ हमारे तप से हृदय-परिवर्तन होता है।[१११] हृदय-परिवर्तन के सब कायल हैं। विचार ही विश्व का संयमन और नियमन करता है। इसलिए आज खूनी क्रांति का पक्ष छोड़ कर इतिहास विचार-क्रांति का पथ प्रशस्त कर रहा है। विचार की शक्ति अजेय है और विचार ही क्रांति का वाहन है। विचार में बन्दूकों और बमों से भी ज्यादा शक्ति है। जिसके पक्ष में सबल विचार एवं शक्तिशाली आदर्श एवं सिद्धांत रहते हैं, आज विजय उसी की होती है। जितनी भी सांस्कृतिक क्रांतियाँ हुई हैं, उनके मूल में कोई-न-कोई विचार क्रांति ही रही है। सामान्यत: जिसे हम *'अभिवृत्ति या विचार'*[११२] कहते हैं, वह वस्तुत: वातावरण के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है,[११३] जो संसूचन, स्थापित सामाजिक मान्यताओं या किसी आकस्मिक आघात से प्रसूत होती है। चूँकि हम में पशुता तथा विवेक दोनों का समन्वय है, इसलिए हमारे विचार एवं अभिवृति में भी विवेक और अविवेक का समन्वय है।[११४] यह हमें मानना ही होगा कि आजीवन हमारे विचारों और मूल्यों में बदलाव होते रहते हैं। इसी को सर्वोदय विचार-परिवर्तन कहता है, जो हृदय-परिवर्तन से भिन्न प्रक्रिया है।[११५]

क्रांति के लिए हमें हृदय को ही संस्पर्श नहीं करना है, बल्कि बुद्धि को भी आश्वस्त करना है। विचार-परिवर्तन में सर्वाधिक प्रभावी एवं स्थाई प्रक्रिया शिक्षण ही है।[११६] आज के विचार-युद्ध में विचार प्रचार (शिक्षण) के क्रम में प्रतिबोध का सहारा लेते हैं। जो स्वभावत: सज्जन हैं, और समाज में न्याय-स्थापना होनी चाहिए, ऐसी जिनकी सतत् वृत्ति है, उनका मत-परिवर्तन सत्याग्रही लोकसेवकों के सतत् विचार-प्रसार और सक्रिय नैतिक सहकार से तुरंत हो सकता है। हाँ, जिनकी न्याय-बुद्धि सद्व्यवहार के प्रति मन्दोमलिन हो गई है, उनको मत-परिवर्तन से पूर्व हृदय-परिवर्तन तथा सामाजिक मूल्यों का नवदर्शन करवाना पड़ता है।[११७] सिर्फ युक्तिवाद और विचार-प्रचार के द्वारा ही नहीं, अपितु आत्म-क्लेश, असहकार एवं सत्याग्रह द्वारा समाज में सभी का हृदय और मत-परिवर्तन किया जा सकता है।[११८] जिस प्रकार क्रांति के लिए विचार आवश्यक है, उसी प्रकार अंत:करण की आर्तता भी चाहिए।[११९] गाँधी स्वयं काफी बड़े बुद्धिवादी थे और वे बराबर कहा करते थे कि जिन्हें उनकी बातें एवं विचार हृदय से मान्य न लगे, वे कभी उनका साथ न दें।[१२०] वे कभी एकांगी नहीं रहे। जहाँ रहस्यवादियों ने केवल हृदय-परिवर्तन पर बल दिया और आधुनिकतावादियों ने विचार-परिवर्तन का आग्रह रखा, वहीं गाँधी ने दोनों की सीमाओं तथा महत्ता को पहचान कर सुन्दर समन्वय किया।

प्रेम और आत्मपीड़न के आधार पर अनुनय-विनय के माध्यम से व्यक्ति विशेष या समूह में भी परिवर्तन लाया जा सकता है। किन्तु, यह कहना ठीक नहीं होगा कि समाज के प्रत्येक व्यक्ति का पूर्ण एवं समग्र हृदय-परिवर्तन हो सकता है। उसी प्रकार, शिक्षण एवं विचार-प्रचार के माध्यम से व्यक्ति एवं समाज के चिन्तन पर भी बहुत प्रभाव डाला जा सकता है, लेकिन फिर यहाँ भी यह सोचना गलत होगा कि केवल इसी से स्थायी और प्रभावकारी सामाजिक परिवर्तन हो जायेगा। व्यक्ति समाज में निवास करता है और हृदय-परिवर्तन तथा विचार-परिवर्तन की प्रक्रियाएँ भी सामाजिक तथ्यों को विस्मृत कर सोची या समझी नहीं जा सकती हैं। सच तो यह है कि हमारे विचार को सामाजिक परिप्रेक्ष्य से पृथक् नहीं रखा जा सकता है।[१२१] हम अपने अन्त:करण की आवाज की चाहे भले ही उपेक्षा कर दें अथवा बुद्धि के संकेत को नहीं समझे, लेकिन परिस्थिति

की विवशता को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अतः हृदय-परिवर्तन और विचार-परिवर्तन के साथ-साथ एवं उन्हीं के परिणामस्वरूप एक बात और भी आ जाती है, ***परिस्थिति-परिवर्तन***। इस तरह क्रांति का उद्देश्यात्मक त्रिकोण निर्मित हो जाता है।[१११] कतिपय बुद्धिमान होते हैं जो परिस्थिति-संकेत समझ लेते हैं,[१२३] क्योंकि वह युग की महान चुनौती है।[१२४] उदाहरणार्थ, गांधी के पूर्व *'अस्पृश्यता'* भारतवर्ष में व्याप्त थी, किन्तु आज वह न केवल कानूनी, बल्कि सामाजिक अपराध भी हो रही है। पुनः, भूदान आन्दोलन इस परिस्थिति-परिवर्तन का एक उदाहरण है, जिसके पीछे सैकड़ों कार्यकर्त्ताओं का तप तथा विचार-प्रचार का आंदोलन है। ये सब सत्याग्रह के ही सभ्य रूप हैं।

(v) अहिंसक सृजनात्मक तनाव एवं द्वन्द्व विमुक्तिकरण का सिद्धांत

सामाजिक परिवर्तन के दृष्टिकोण से, *''द्वन्द्वपूर्ण स्थिति''* से बुनियादी अन्य कोई समस्या नहीं है। जैसा कि *जोन बांड्यूरैन्ट* गाँधी की अहिंसक प्रविधि के अपने बहुमूल्य अध्ययन के प्राक्कथन में सही ही कहती है, *''सम्भवतः मानव द्वन्द्व सर्वकालिक सर्वाधिक मौलिक समस्या है।''*[१२५] गाँधी की प्रविधि एवं चिंतन के लिए भी द्वन्द्व का प्रश्न उनके समाज-परिवर्तन के अभियान हेतु सर्वाधिक महत्व रखता है। गाँधी द्वन्द्व के प्रति अकसर सुग्राही थे। उन्होंने हमेशा द्वन्द्व को नहीं, बल्कि उसके हल हेतु केवल हिंसा को माध्यम के रूप में नकारा। गाँधीवादी अहिंसा को प्रकृत्या द्वन्द्व का अप्रवृत्त मानना पूरी तरह असंगत होगा। वास्तव में, गाँधी के मत में अहिंसा तथा द्वन्द्व अपृथक्कीय हैं। *आर्नी नेइस* गाँधी के गुण का उपयुक्त वर्णन करते हुए लिखते हैं : *''गाँधी हमेशा एक द्वन्द्व के केन्द्र की ओर गुरुत्वाकर्षित होते थे - एक कर्मयोगी कभी भी स्वयं को एक संघर्ष से अलग नहीं करता; तथा अपने साथियों के द्वन्द्वों में एक व्यक्ति के रूप में वह उसके अभिकेन्द्र में डूबकर रहता है। संघर्ष के केन्द्र से वह हिंसा से स्वयं बचने की अपेक्षा उसमें एक सामान्य कमी लाता है।''*[१२६]

अहिंसक माध्यम से द्वन्द्व-निवारण के विशिष्ट उद्देश्य हेतु गाँधी द्वारा सत्याग्रह की प्रविधि आविष्कृत की गई। गाँधी का यह अभिमत था कि हिंसा द्वन्द्व को अनियंत्रित रूप से भड़का देगी। अतः, सभी द्वन्द्व-निवारणों में अनुकूलित अहिंसा हिंसा का विकल्प थी। गाँधी अकसर कहा करते थे कि अहिंसा की कभी भी निष्क्रियता या हिंसक क्रिया से बराबरी नहीं की जानी चाहिए। दूसरी ओर, गाँधीवादी प्रविधि अत्यन्त गत्यात्मक रूप में उभरती है। इस क्रिया का सबसे स्मरणीय तत्व उसका अहिंसक प्रत्यक्ष कर्म है। मूलतः वह अहिंसक क्रिया या वैधानिक क्रिया से भिन्न है। चूंकि अहिंसा को स्वयं को द्वन्द्वात्मक स्थिति के संदर्भ में प्रत्यक्ष क्रिया की एक प्रविधि के रूप में प्रक्षेपित करना होता है, अतः उसे अनिवार्यतः निष्क्रियता से बचते हुए प्रत्यक्ष क्रिया के अपने साध्य से द्वन्द्व-समाहरण सिद्ध करना चाहिए। इन कारकों के संचयी प्रभाव से उस रूपांतरित परिस्थिति का अभ्युदय होता है, जिसे *मार्टिन लूथर किंग ''सृजनात्मक तनाव''* कहते हैं। इस सन्दर्भ में उनका मत है कि–

''अहिंसक प्रत्यक्ष क्रिया एक ऐसा तनाव पैदा कर प्रोत्साहित करने का प्रयास करती है, जिससे कि एक समुदाय जिसने सुलह करने से लगातार मना किया, मसले को उठाने के लिए बाध्य हो जाता है.......... एक अहिंसक प्रतिरोधक के कार्य के हिस्से के रूप में मेरे तनाव-सृजन के दृष्टांत को देना शायद अचम्भित कर सकता है......... मैं ''तनाव'' शब्द से भयभीत नहीं हूँ। मैंने दृढ़-संकल्प के साथ हिंसक तनाव का विरोध किया है, परंतु एक प्रकार का सृजनात्मक अहिंसक

तनाव विकास के लिए आवश्यक है।''[१२७]

गाँधी के अहिंसक प्रविधि में सृजनात्मक तनाव का उद्देश्य अंतर्निहित है। ऐतिहासिक सिंहावलोकन में, १९३०-३१ में नमक सत्याग्रह के दौरान गाँधी ने इस उद्देश्यपूर्ण प्रविधि का सुस्पष्ट प्रयोग किया था। इस आंदोलन में सविनय अवज्ञा की धुरी - *'नमक-कर'* को गाँधी ने बुनियादी मुद्दा चुना। उनकी डांडी यात्रा तथा नमक-कर कानूनों को तोड़ने के कार्य ने एक अहिंसक तनाव को एक नाटकीय अंदाज में सपरिणाम प्रेरित किया।[१२८] नमक सत्याग्रह की अनुवर्ती घटनाओं द्वारा वह विलक्षण रूप से कायम रहा, जिन्होंने भारत में राष्ट्रीय चेतना की एक अभूतपूर्व मात्रा संचरित की। सृजनात्मक तनाव अहिंसक प्रविधि का सबसे उल्लेखनीय आयाम है।

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा सम्भवत: तब और बेहतर समझी जा सकती है। यदि द्वन्द्व तथा तनाव में एक विभेद किया जाय। दोनों सामूहिक-द्वन्द्व के स्रोत हैं, परंतु उनकी कार्य-पद्धति तात्विक रूप से अलग है। एक तनाव, यद्यपि एक द्वन्द्व की उत्पत्ति को समाहित करता है, फिर भी अपने प्रारम्भिक चरण में होता है। यदि सामूहिक-द्वन्द्व के अप्रकट कारकों को पूरी तरह नहीं सुलझाया जाता है तो तनाव एक सम्भाव्य द्वन्द्व बन जाता है। *अरनेस्ट बार्कर* की भाषा में, एक *'तनाव'* स्वास्थ्यकर है चूंकि वह सामान्य है, तथा वह व्यक्ति के व्यक्तित्व या सामाजिक समूहों के विकास के लिए अपरिहार्य है।[१२९] *बार्कर* तो *'तनाव'* को एक *'खिंचाव'* भी पुकारते हैं, जो न तो जटिल और न ही असामान्य है, बल्कि जो सहज जीवन प्रक्रिया की एक पूर्ण वस्तु है।

गाँधीवादी सामाजिक परिवर्तन की मान्यता *'द्वन्द्व'* को *'तनाव'* के स्तर तक घटाने का प्रयास करती है, जहाँ वो एक अहिंसक हल के प्रति ज्यादा सुग्राही होता है। एक तनाव के ढाँचे में द्वन्द्वात्मक स्थिति बनाए रखते हुए, सत्याग्रह द्वन्द्व को एक *'सृजनात्मक तनाव'* में परिणत कर देता है जो अहिंसक प्रविधि का एक अनिवार्य अंग है।[१३०] सामाजिक परिवर्तन का गाँधीवादी सिद्धांत सामूहिक द्वन्द्वों के निराकरण हेतु अहिंसा के संवाद-संचार की एक प्रविधि निर्मित करने के लिए विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(ब) उपकरण

(i) सत्याग्रह : प्रस्तावना

गाँधी की सत्य और अहिंसा की अवधारणा उनके समूचे सामाजिक दर्शन के अन्त:स्थल पर अवस्थित है। वर्तमान सामाजिक-व्यवस्था के क्रांतिकारी परिवर्तन का गाँधी का अपना दृष्टिकोण समाज एवं राजनीति की प्रचलित परिस्थितियों की सीमाओं में परिवर्तनकामी उपागम को विकसित करने से ज्यादा सरोकार रखता था। अन्याय तथा अत्याचार के तात्कालिक प्रतिरोध के साथ-साथ सामाजिक पुनर्गठन की दीर्घकालीन योजना को सत्य एवं अहिंसा रूपी दो परम सत्यों के सन्दर्भ में वैधानिकता प्राप्त करनी होती है। साधन के रूप में अहिंसा के साथ सत्य की अवधारणा सत्याग्रह अथवा सत्ता के विरुद्ध सक्रिय प्रतिरोध के सिद्धांत को निर्धारित करती है, जबकि समान साध्य के रूप में सत्य के साथ अहिंसा की मान्यता उन्हें अपने अहिंसक समाजवाद या सर्वोदय के सिद्धांत को प्रतिपादित करने में सहायता करती है।

सत्याग्रह का सिद्धांत दर्शाता है कि किस प्रकार अंतर्चैतन्य व्यक्ति प्रत्येक सामाजिक दुरुपयोग तथा खंडित हित के खिलाफ न्याय को अपनी अपील में, सभी तानाशाही के विरुद्ध, सत्य एवं स्वतंत्रता को प्रमाणित करने के लिए साहसिक कर्म में रत हो सकता है। प्राकृतिक नियम या धर्म और स्व-पीड़ा सहन अथवा तपस की अपनी मान्यताओं को अपील करते प्राधिकार, कानून, तथा दायित्व के परम्परावादी अवधारणाओं को गाँधी ने चुनौती दी। केवल सत्य तथा अहिंसा ही सामाजिक सहमति राजनैतिक निष्ठा हेतु एक स्थायी आधार सुरक्षित कर सकता है। ऐसा कोई बाह्य प्राधिकार नहीं जो न तो धार्मिक और न ही सामाजिक क्षेत्र में सत्य से ज्यादा उच्च पद का दावा कर सके। ऐसा कोई राजनैतिक या सामाजिक (प्रोत्साहनात्मक या दंडात्मक) अनुमन्य स्वीकृति नहीं जो अहिंसा से श्रेष्ठतर वैधानिकता युक्त हो।

१) ऐतिहासिक–प्रत्ययात्मक पृष्ठभूमि एवं परिभाषा

क्रांति की अहिंसक प्रविधि – सत्याग्रह – एक विशिष्ट नाम है, जिसका अर्थ है विद्यमान सत्य पर डटे रहना। गाँधी ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग १९०६ में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों का संगठन अफ्रीकी सरकार द्वारा ऊपर से लादे गए अन्यायमूलक कानूनों के विरुद्ध अहिंसक आंदोलन करने के लिए किया था। उस समय इस आंदोलन के पूरे अर्थ को व्यक्त कर पाने वाले शब्दों में ढूँढ़ निकालने की आवश्यकता का अनुभव हुआ था। पहले इसके लिए निष्क्रिय प्रतिरोध सुझाया गया था किन्तु यह सर्वथा अहिंसक न था। *मगनलाल गाँधी* ने शब्द सुझाया *'सदाग्रह'* जिसका अर्थ है, *'सत् पर डटे रहना'*। गाँधी ने इसे संशोधित कर *'सत्याग्रह'* बना दिया, जिसका अर्थ है *''सत्य पर डटे रहना।''*[१३१] इसे आत्मशक्ति, या आध्यात्मिक शक्ति, या प्रेमशक्ति भी कहा जा सकता है। गाँधी ने स्वयं कहा है, *''इसका (सत्याग्रह का) अंग्रेज़ी में पर्याय ट्रुथ फोर्स (सत्य शक्ति) है। मैं समझता हूँ टॉल्सटॉय ने इसे आत्मशक्ति या प्रेम शक्ति भी कहा है और यह ऐसी ही है।''*[१३२]

सत्याग्रह की आधारभूत शर्त अहिंसा है। सत्याग्रह तो उसका क्रियाशील गत्यात्मक रूप ही है और अपनी गतिशीलता में अहिंसा का अर्थ है स्वेच्छा से कष्ट का वरण। गाँधी ने सत्याग्रह के रूप में कष्ट वरण का प्राचीन सिद्धांत भारत के सम्मुख भी रखा। वे स्वयं कहते हैं कि सत्याग्रह एवं उसकी प्रशाखाएँ असहयोग एवं सविनय अवज्ञा कष्ट-वरण के सिद्धांत के नये नाम हैं। इसे दुहराना आवश्यक है कि अहिंसा के बिना सत्याग्रह बदला जा सकता है, दुराग्रह में जिसका अर्थ है अशुभ या असत्य पर आग्रह, जो अन्तिम विश्लेषण में अस्तित्वहीन सिद्ध होता है, उस पर डटे रहना। अतएव सत्याग्रह को अहिंसक होना चाहिए।

उद्देश्य के सम्बन्ध में तो चिरकाल से बड़ी हद तक मतैक्य रहा है, *''किन्तु उस उद्देश्य तक पहुँचाने वाले मार्गों के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता। इस क्षेत्र में एकमतता एवं निश्चितता नितान्त किंकर्त्तव्यविमूढ़ता में परिवर्तित हो जाती हैं परस्पर विरोधी धारणाएँ हठाग्रहपूर्वक व्यक्त की जाती हैं एवं मतान्ध हिंसा द्वारा कार्यान्वित की जाती है। ऐसे क्रांतिकारी भी हैं जिनके अनुसार उद्देश्य द्वारा साधन दोषमुक्त हो जाते हैं।''*[१३३] इसका अर्थ है कि अच्छे उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम अच्छे या बुरे कैसे साधनों का प्रयोग करते हैं, यह नगण्य बात है। किन्तु गाँधी की दृष्टि में *''उद्देश्य एवं साधन विनिमेय शब्द हैं।''*[१३४] इसीलिये अहिंसात्मक समाज-व्यवस्था की स्थापना के लिए अर्थात् दूसरे शब्दों में शोषण एवं उत्पीड़न से मुक्त

वर्गविहीन राज्य-रहित समाज की स्थापना के लिये उन्होंने केवल अहिंसक साधनों का ही निर्देश किया और उनके समर्थन के लिए अनेकानेक तर्क दिये। अपने अच्छे उद्देश्य की पूर्ति के लिए हम किसी भी प्रकार के साधन का, यहाँ तक कि हिंसा का भी, प्रयोग क्यों न करें, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए गाँधी कहते हैं : *''तुम्हारा यह विश्वास कि साधन एवं उद्देश्य में कोई सम्बन्ध नहीं है, एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है। तुम्हारा तर्क इस कथन के समान है कि हम लोग अनिष्टकर कुतृण लगाकर उससे गुलाब पा सकते हैं।........ साधन की तुलना बीज से एवं उद्देश्य की वृक्ष से की जा सकती है और जो सम्बंध बीज एवं वृक्ष का है वही अपरिहार्य सम्बन्ध साधन एवं साध्य का है।''*[१३५] और फिर मनुष्य का नियंत्रण केवल साधनों पर ही है। यह कथन स्वयंसिद्ध ही है कि जब तक उद्देश्य सिद्ध नहीं हो जाता तब तक वह साधन की पहुँच के परे ही है। अतएव कोई अधिक से अधिक यही कर सकता है कि वह साधनों पर नियंत्रण रखे। गाँधी के शब्दों में, *''साधनों पर तो हमारा सदा नियंत्रण रहता है किन्तु उद्देश्य पर कभी नहीं।''*[१३६] अत: सदुद्देश्य की सिद्धि के लिये हमें सर्वदा शुभ साधनों पर ही बल देना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि उद्देश्य से अधिक साधन पर बल देने का अवधारणात्मक आधार गाँधी को गीता में उपदिष्ट अनासक्त कर्मयोग से प्राप्त हुआ था।

गाँधी का अभिमत है कि अहिंसा रहित सत्याग्रह तो निष्क्रिय प्रतिरोध मात्र है। यद्यपि दक्षिण अफ्रीका में स्वयं उन्होंने उपरोक्त शब्द का प्रयोग सत्याग्रह के अर्थ में किया था, लेकिन बाद में दोनों स्पष्ट भेद करने लगे।[१३७] उनके कथनानुसार :

''जिस प्रकार उत्तरी ध्रुव दक्षिणी ध्रुव से भिन्न है, उसी प्रकार सत्याग्रह निष्क्रिय प्रतिरोध से भिन्न है। परवर्ती की परिकल्पना दुर्बल के हथियार के रूप में की गयी है जबकि पूर्ववर्ती की परिकल्पना सबलतम के हथियार के रूप में की गई है, जिसमें किसी भी रूप या प्रकार की हिंसा निषिद्ध है। इसका धातुगत अर्थ है सत्य पर डटे रहना अत: यह सत्यशक्ति है। मैंने इसे आत्मशक्ति या प्रेमशक्ति भी कहा है। सत्याग्रह का प्रयोग करते समय बिल्कुल आरम्भ में ही मुझे यह ज्ञात हो गया था कि सत्य के अनुधावन में अपने विरोधी के प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा का प्रयोग नहीं चल सकता, उसे तो धैर्य और सहानुभूति के द्वारा ही भ्रम से मुक्त करना होगा। क्योंकि एक को जो सत्य प्रतीत होता है वह दूसरे को भ्रम प्रतीत हो सकता है और धैर्य का अर्थ ही है स्वत: कष्ट वरण। अत: इस सिद्धान्त का अर्थ विरोधियों को नष्ट कर देना नहीं स्वयं कष्ट वरण कर सत्य को विजयी बनाना।''[१३८] और भी *''पूर्णत: सत्य पर आधारित इस आन्दोलन की कामना हिंसक पद्धतियों को बदल देना है।''*[१३९]

गाँधी के लिये समग्र मानवता एक वृहत् परिवार के सदृश है। अतएव सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में सत्याग्रह का प्रयोग एक घरेलू नियम का बृहत्तर क्षेत्र में विस्तार मात्र है।[१४०]

२) प्रयोगात्मक क्रियाविधि

गाँधी का विश्वास था कि सत्याग्रह-प्रविधि का प्रयोग एक अकेले व्यक्ति द्वारा भी किया जा सकता है। *पं. जगतनारायण* के सामने गवाही देते हुए उन्होंने कहा था, *''अत: मैं एक न्याय-संगत पक्ष के लिये संस्था को महत्व नहीं देता। ऐसे पक्ष के सम्बन्ध में कोई भी व्यक्ति चाहे वह बड़ा हो या छोटा, समुचित प्रतिविधान कर सकता है। सत्याग्रह*

केवल सत्य पर और सत्याग्रही के लिए कष्टवहन करने की क्षमता पर निर्भर करता है।''[१४१]

जिस एकमात्र सहायता पर सत्याग्रह निर्भर है वह ईश्वरीय सहायता है या उनकी व्यवस्था के अनुसार अपने पर अनन्त गुना विश्वास या जीवन में आचरित आदर्श पर विश्वास है। सच तो यह है कि *''धर्म युद्ध केवल ईश्वर के नाम पर ही छेड़ा जा सकता है और जब सत्याग्रही अपने को बिल्कुल असहाय अनुभव करता है, जब उसका आखिरी सहारा भी छूटने लगता है और वह अपने चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा पाता है तब ईश्वर उसकी रक्षा करता है। ईश्वर तभी सहायता करता है जब व्यक्ति अपने को पाँवों तले की धूल से भी तुच्छ समझता है। केवल दुर्बल और असहाय को ही गाढ़े में ईश्वरीय सहायता प्राप्त होती है।''*[१४२] *''सत्याग्रह अन्तःस्थित चैतन्य का धर्म है, यह हम सब में अन्तर्निहित है।''*[१४३] और इसलिए *''अपनी चरम सीमा तक ले जाने पर यह शक्ति आर्थिक या किसी अन्य भौतिक सहायता से निरपेक्ष हो जाती है। व्यक्ति इसका प्रयोग गार्हस्थिक क्षेत्र के समान ही राजनीतिक क्षेत्र में भी कर सकता है। इसकी सार्वभौम प्रयोग क्षमता इसके स्थायित्व एवं अजेयत्व का प्रमाण है। केवल वे ही प्रभावी सत्याग्रही हो सकते हैं जो इसका अनुभव करते हैं कि मनुष्य में कुछ ऐसा है जो उसकी पशुप्रवृति से श्रेष्ठ है एवं जिसके समक्ष उस प्रवृति को झुक जाना पड़ता है। राजनीति में इसका प्रयोग इस अखंडनीय सूत्र पर आधारित है कि जनता पर शासन तभी संभव है जब तक वे जाने अनजाने शासित होना स्वीकार करते हैं।''*[१४४]

और, इसकी उपयोगिता के सम्बन्ध में गाँधी का मत है : *''इसकी उपयोगिता निर्विवाद है। यह एक ऐसी शक्ति है जो यदि सार्वभौम हो गई तो सामाजिक आदर्शों में क्रांति ला देगी और तानाशाही तथा सतत् वर्द्धमान सैनिकीकरण को नष्ट कर देगी जिनके जुए के नीचे पश्चिमी राष्ट्र कराह रहे हैं और बेतरह पिसे जा रहे हैं और जो अब पूर्वी राष्ट्रों को भी रौंद डालने के लिए कृतसंकल्प हैं।''*[१४५]

उनका यह भी विश्वास है कि सत्य के साथ अहिंसा को युक्त कर सारी दुनिया को झुका दिया जा सकता है। तत्त्वतः राजनीतिक अर्थात् राष्ट्रीय जीवन में सत्य एवं महत्ता के प्रवेश कराने के अतिरिक्त सत्याग्रह और कुछ नहीं है।[१४६]

गाँधी के समान व्यावहारिक क्रांतिकारी से सत्याग्रह की क्रिया-विधि का शास्त्रीय व्यवस्था की अपेक्षा करना ज़्यादती होगी। वह एक प्रभूत लेखन एवं मौखिक साक्ष्यों में बिखरे हुए रूपों से उपलब्ध हैं। उनका विश्वास है कि अहिंसा का प्रभाव संक्रामक है। उनका कथन है : *''तुम अपने भीतर इसका (अहिंसा का) जितना विकास करते हो यह उतनी ही संक्रामक होती जाती है और क्रमशः तुम्हारे परिवेश को अभिभूत कर समग्र जगत को जीत ले सकती है।''*[१४७] तथा *''शारीरिक बल सम्पन्न व्यक्ति अपने औद्धत्य के कारण प्रायः बल प्रयोग कर बैठते हैं। किन्तु जब वह बल प्रयोग अपने अनुरूप नहीं, अपने बिल्कुल प्रतिकूल तत्व के सम्मुखीन होता है तब उसके विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता। एक ठोस शरीर दूसरे ठोस शरीर से ही जूझ सकता है। कोई हवा में तो किला नहीं बना सकता। प्रतिरोध के अभाव में अन्यायी अन्याय करने से ऊब जाता है। जब उत्पीड़ित कोई प्रतिरोध नहीं करता है तब उत्पीड़न का सारा मजा ही जाता रहता है।''*[१४८]

पुनः,

''अत्याचारी की तलवार के विरुद्ध किसी और अधिक धारवाले हथियार का प्रयोग न कर केवल उसकी इस अपेक्षा

को झुठला कर कि मैं उसका शारीरिक विरोध करूँगा, मैं उसकी तलवार की धार को बिल्कुल भोथरा बना देना चाहता हूँ। इसके स्थान पर मैं उसका जो आत्मिक प्रतिरोध करूँगा, वह उसके वार को तो बचा ही जायेगा इसकी स्वीकृति उसे अपमानित करने के स्थान पर उसे उन्नति करेगी।''

तथा,

''हिंसा में अदृश्य कुछ भी नहीं है। दूसरी ओर अहिंसा केवल तीन-चौथाई ही दृश्य है। अत: इसका प्रभाव इसकी अजेयता के प्रतिलोम अनुपात में होता है। जब अहिंसा सक्रिय हो जाती है तब असाधारण वेग से आगे बढ़ती और चमत्कार उत्पन्न कर देती है।''[१५०]

(ii) सत्याग्रह : प्रशाखाएँ

सत्याग्रह की विभिन्न शाखाओं-प्रशाखाओं का वर्गीकरण *डॉ. के. एल. श्रीधरनी* ने अत्यन्त योग्यतापूर्वक किया है। उनमें प्रमुख हैं, समझौता वार्ता और पंचायत आंदोलन, प्रदर्शन एवं अन्तिमेत्थम्, आत्मशुद्धिकरण, हड़ताल और सार्वजनिक हड़ताल, पिकेटिंग, धरना, आर्थिक बहिष्कार, लगानबन्दी, हिज़रत, असहयोग, सामाजिक बहिष्कार, सविनय अवज्ञा, दृढ़निश्चयी सत्याग्रह, समानान्तर सरकार तथा इसी प्रतिमान के संभावित विस्तार।[१५१] गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस द्वारा विभिन्न अवसरों पर विभिन्न संदर्भो में इनका अवलम्बन किया गया था। इनमें से अधिकांश विशिष्ट परिस्थितियों में काम में लाये गए थे। अत: स्थानीय या सामयिक महत्व के ही माने जा सकते हैं। इन सब पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं। इनमें से जो सार्वभौम महत्व के हैं, उनकी चर्चा कुछ विस्तारपूर्वक की जानी चाहिए।

१) सविनय अवज्ञा

इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम *हेनरी डेविड थोरो* ने १८४९ में अपने व्याख्यानों में किया था। उनके सिद्धांत का सारांश है - शुभ कार्य करने पर व्यक्तियों एवं संस्थाओं के साथ अधिकतम सहयोग एवं अशुभ कार्य करने पर असहयोग। दासता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अमरीकी सरकार के न केवल निष्क्रिय बल्कि सक्रिय (हिंसक) विरोध को भी थोरो ने उचित ठहराया उसका विश्वास था कि मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति शुभोन्मुख है। सभी परिस्थितियों में विवेक को प्रधानता देने का वह पक्षधर था तथा शासनविहीन भावी समाज के आदर्श का प्रचारक था।[१५२] गाँधी की सविनय अवज्ञा थोरो से अनुप्रेरित है किन्तु इसे अहिंसक आंदोलन का रूप देती है, जिसकी प्रभेदक विशेषता यह है कि थोरो को हिंसा के प्रयोग पर आपत्ति नहीं थी जबकि गाँधी इसमें हिंसा के पुट के सर्वथा विरोधी थे।

किसी अन्यायी कानून के विरोध स्वरूप सविनय अवज्ञा आंदोलन आरम्भ किया जाता है। इसके पूर्व इस कानून के सम्बन्ध में जनता समझौता वार्ता, आन्दोलन, प्रदर्शन कर चुकी होती है तथा अन्ततोगत्वा कानून भंग करने का अन्तिमेत्थम् दे चुकी होती है। गाँधी का कथन है :

''जब कानून बनाने वाले की गलती सुधारने की चेष्टाएँ अर्ज़ी आदि देने के बाद विफल हो जाती हैं तब यदि आप उस गलती के सामने सिर झुकाने के लिए तैयार नहीं हैं तो आपके लिए दो ही मार्ग बचते हैं, या तो आप भौतिक शक्ति

से उसे अपनी बात मानने के लिए विवश कर दें या उस कानून को तोड़ने का दण्ड झेल कर व्यक्तिगत रूप से कष्ट वरण करें। इसीलिये, जनता को सत्याग्रह बहुधा सविनय अवज्ञा या सविनय प्रतिरोध प्रतीत होता है।''[१५३]

''जनता का इस प्रकार का संघर्ष प्राय: अन्यायी कानूनों के रूप में व्यक्त गलतियों का विरोध करने में मूर्त होता है।''[१५४] *''इस अवज्ञा को ''सविनय'' इसी अर्थ में कहते हैं कि वह सापराध नहीं होती।''*[१५५]

गाँधी जी ने इसका वर्गीकरण आक्रामक सविनय अवज्ञा और रक्षणात्मक सविनय अवज्ञा के रूप में किया है। उनके अनुसार आक्रामक सविनय अवज्ञा वह है जिसमें राज्य के कानूनों की अहिंसक स्वेच्छाकृत अवज्ञा उनकी नैतिक भ्रष्टता के कारण नहीं, राज्य के प्रति विद्रोह के प्रतीक के रूप में की जाती है।[१५६] रक्षणात्मक सविनय अवज्ञा वह है जिसमें ऐसे अनैतिक कानूनों की अनिच्छापूर्वक या विवशतापूर्वक अहिंसक अवज्ञा की जाती है जिनका पालन करना आत्मसम्मान या मानवीय गरिमा के प्रतिकूल है।[१५७]

२) असहयोग

गाँधी के विश्वास के अनुसार शोषण के लिये केवल शोषक या उत्पीड़क को ही पूर्णत: दोषी नहीं ठहराया जा सकता। शोषित भी शोषण के लिये समान रूप से जिम्मेदार है। शोषण का मूल कारण यह है कि शोषित निर्भीकता से अपने शोषण का प्रतिरोध नहीं करते - संभवत: अपनी देहासक्ति के कारण। गाँधी बुराई से असहयोग करने के लिये शोषितों को प्रेरित हैं। *''असहयोग तत्वत: शोधन प्रक्रिया है। यह लक्षणों से कहीं अधिक कारणों का उपचार करता है।''*[१५८] यह हमारे सामाजिक सम्बन्धों को विशुद्ध आधार पर अधिष्ठित करने का आन्दोलन है ताकि उनकी मीमांसा हमारे आत्मसम्मान एवं गौरव के अनुकूल की जा सके।[१५९] यह अपने को अन्तर्मुखी बनाना है। यह अपने अंतिम विश्लेषण में कुछ सुविधा दे सकने वाली बुराई से सम्बन्ध-विच्छेद करने के कारण उत्पन्न कष्टों का स्वेच्छया वरण है।[१६०] गाँधी मत में *''असहयोग शेखी, डींग या झांसापट्टी का आन्दोलन नहीं है। यह हमारी सच्चाई की परीक्षा है। इसके लिये ठोस एवं मूक आत्मोत्सर्ग की आवश्यकता है। यह हमारी ईमानदारी और राष्ट्रीय एवं सामाजिक कार्य की हमारी क्षमता के लिये चुनौती है।''*[१६१] *''असहयोग अहिंसा का गतिशील रूप ही है।''*[१६२]

गाँधी लिखते हैं :

''अहिंसा के गतिशील रूप का अर्थ है सचेत कष्ट वरण।''[१६३] *''अहिंसक असहयोग वह पद्धति है जिसके द्वारा हम मुक्ततम जनमत का संवर्धन करते हैं और मत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता की स्थिति में बहुमत को कार्यान्वित करवाते हैं।*[१६४] इस प्रकार असहयोग एक अन्यायमूलक सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध जनमत की अभिव्यक्ति है।

३) स्वत्व साधक सत्याग्रह (सीधी कार्यवाही)

स्वत्व साधक सत्याग्रह अहिंसक क्रान्तिकारी के शस्त्रागार का सर्वाधिक सामर्थ्ययुक्त शस्त्र है। हमारी विनम्र सम्मति में यह जनता की इच्छा को प्रभावशाली बनाने का ही नहीं बल्कि क्रियान्वित करने का भी सबसे शक्तिशाली उपाय है। अहिंसक क्रान्तिकारी द्वारा उसके प्रयोग के औचित्य के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है और कुछ को इसमें हिंसा

की गन्ध मिल सकती है। किन्तु, यदि समाज को पुराने रोगों से मुक्त करना है तो निश्चय ही ऐसे कदमों की संस्तुति करनी होगी। हमारा विश्वास है कि तरुण क्रान्तिकारियों के उत्साह को यह अपनी ओर भली-भाँति आकृष्ट कर सकता है। कुछ सरल एवं सुसंस्कृत जन इसको इसलिये नापसन्द कर सकते हैं कि इससे प्रतिपक्षी को परेशानी हो सकती है। किन्तु, सत्याग्रही को इससे विचलित नहीं होना चाहिये। स्वयं गाँधी ने लिखा है : *"सरकार को परेशान करने के उद्देश्य से सत्याग्रह आन्दोलन नहीं शुरू किया गया है, जबकि साधारण राजनीतिक आन्दोलन बहुधा इसी उद्देश्य से किये जाते हैं। तथापि यदि सत्याग्रही को लगे कि उसकी कार्यवाही से सरकार को परेशानी हो रही है, तो वह उसकी भी परवाह नहीं करेगा।"*[१६५]

इस सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि गाँधी द्वारा निर्दिष्ट सीधी कार्यवाही में किसी भी प्रकार की तोड़फोड़ या गुप्त कार्यवाही की अनुमति नहीं है। यह खुला विद्रोह है। भारतीय स्वतन्त्रता के लिये छेड़े गये सन् बयालीस के महान आन्दोलन से अहिंसक सीधी कार्यवाई की प्रकृति के सम्बन्ध में कई प्रश्न उठे। अपने देशवासियों को *'करो या मरो'* का समाह्वान देने के साथ-साथ उक्त आन्दोलन के सर्वोच्च नेता गाँधी गिरफ्तार कर लिये गये औरअपने सारे लेफ्टिनेण्टों क्या बल्कि समस्त सैनिकों के साथ किसी अज्ञात स्थान में कैद कर दिये गये। जनता अपने ढंग से जो कुछ कर सकती थी करने के लिये छोड़ दी गयी। भारत सरकार की कठोर कार्यवाही को उचित ठहराते हुये तत्कालीन भारत सचिव *श्री एमरी* के इस कथन से जनता और भी अनिश्चय में पड़ गयी कि *"करो या मरो"* के कांग्रेस-कार्यक्रम में टेलीग्राफ के तारों को काटना, पुलों को तोड़ना और सरकारी कागज़ात को जलाना भी शामिल था। जनता ने और फरार कांग्रेस जनों ने इसे ही गाँधी द्वारा अभिकल्पित कार्यक्रम मान लिया। इसका सीधा सा कारण यह था कि यह कार्यक्रम उग्र खूनी क्रान्ति से स्पष्टत: भिन्न था।

भारत सरकार के अधिकृत प्रकाशन (अगस्त आन्दोलन के लिये कांग्रेस की जिम्मेदारी) में अपने विरुद्ध लगाये गये अभियोगों के उत्तर में गाँधी ने अपने विचारों का स्पष्टीकरण किया।[१६६] ऐसा करते हुये उन्होंने यद्यपि जनता के कार्यों की (जो कि उनके अनुसार सरकार द्वारा उकसाये गये थे) निन्दा नहीं की, तथापि इस सम्बन्ध में उनकी दृष्टि *'हरिजन'* में प्रकाशित *श्री प्यारेलाल* से हुई उनकी भेंटवार्ता के विवरण से साफ हो जाती है, जो इस प्रकार है :

गाँधी जी के कुछ दिनों पूर्व एक मित्र ने पूछा– *"टेलीग्राफ के तारों को काटना अहिंसा के सिद्धान्त के प्रतिकूल क्योंकर है?"* आगा खाँ का महल छोड़ने के बाद उनसे मुलाकात करने वाले एक मित्र ने इस विषम समस्या को उनके सामने इस प्रकार रखा : हमारे नौजवानों में आजकल दो विचारधाराएं चल रही हैं। एक पक्ष की धारणा जिसे वह खुल्लमखुल्ला व्यक्त करता है यह है कि संघर्ष की पद्धति के रूप में अहिंसा की उपयोगिता समाप्त हो गयी है। यह जनता को जगाने का अपना काम कर चुकी है और स्वतन्त्रता के लिये अंतिम संघर्ष की भूमिका बना चुकी है। इस संघर्ष में शस्त्रबल के बिना काम नहीं चल सकता। दूसरा पक्ष अहिंसा पर विश्वास रखते हुए भी मानता है कि इसकी कार्यप्रणाली में संशोधन एवं परिवर्तन की गुंजाइश है। उसका निश्चित मत है कि हमारे संघर्ष के अगले दौर की विशेषता बड़े पैमाने पर सुसंगठित तोड़फोड़ होगी। किन्तु, गाँधी ने इस पर आपत्ति की कि तोड़फोड़ अहिंसक कार्यक्रम का अंग बन सकती या उनकी अहिंसा की मान्यता से इस निष्कर्ष तक पहुँचा जा सकता है।

गाँधी के अनुसार पुलों, सड़कों, जैसी निर्जीव वस्तुओं में बुराई नहीं होती, वह तो मनुष्य में होती है। आवश्यकता तो उसे सुधारने की है। विस्फोटकों के द्वारा पुलों आदि का विध्वंस तो इस बुराई को छू भी नहीं पाता उल्टे जिस बुराई को यह दूर करना चाहता है, उससे भी बड़ी बुराई को उकसा देता है।[१६७] रणकौशल की दृष्टि से आन्दोलन की सफलता के लिये और मनोबल को भंग होने से बचाने के लिये इसकी आवश्यकता के सम्बन्ध में गाँधी ने कहा था :

"यह पुराना तर्क है। पुराने दिनों में आतंकवाद के समर्थन में यह प्रायः सुनायी देता था। तोड़फोड़ हिंसा का एक रूप है। प्रायः लोगों ने शारीरिक हिंसा की व्यर्थता तो समझ ली है किन्तु कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि इसको परिमार्जित कर तोड़फोड़ के रूप में इसका सफल प्रयोग किया जा सकता है। मेरा विश्वास है कि यह समूची जनता साहस एवं निर्भयता की जिस ऊँचाई तक उठ पाई है पूर्ण अहिंसा की कार्य-पद्धति के बिना उस ऊँचाई तक नहीं उठ पाती। इसकी क्रिया-विधि को अब भी हम पूरी तरह नहीं समझ पाये हैं। किन्तु यह तथ्य तो स्पष्ट है ही कि अपनी प्रतीयमान असफलताओं एवं गत्यावरोधों के बावजूद अहिंसा के कारण हम अधिक शक्तिशाली हुये हैं। दूसरी ओर आतंकवाद के परिणामस्वरूप मनोबल भंग ही हुआ है।"[१६८]

इसी परिप्रेक्ष्य में गाँधी ने गुप्त कार्यवाही के सम्बन्ध में भी स्पष्टीकरण किया। साधारणतः यह समझा जाता है कि यदि सम्बद्ध व्यक्ति अपने किये का फल बहादुरी से भोगने के लिये तैयार हो तो यह गुप्त कार्यवाही नहीं है। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये छिपे तौर पर काम कर सकता है। अपने मुकदमें के समय की परवर्ती पूछताछ में कोई भी हिस्सा लेने से वह इन्कार कर सकता है। उसे झूठे बयान देने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु, गाँधी का विचार कुछ और ही है। उनके अनुसार *"कोई भी गुप्त संगठन चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, कुछ भी नहीं कर सकता। उनका तर्क है कि छिपकर काम करने का उद्देश्य है अपने चारों ओर सुरक्षा की दीवार खड़ा करना। अहिंसा ऐसी समस्त सुरक्षाओं का तिरस्कार करती है। भयंकरतम कल्पनीय प्रतिकूलता में भी यह प्रकट रूप से ही कार्य करती है।"*[१६९]

४) दृढ़निश्चय

सत्याग्रह में एक ओर तो सविनय अवज्ञा, असहयोग तथा दूसरी ओर नवीन समाज-व्यवस्था की संरचना सम्मिलित है। इस सन्दर्भ में भी एक गलत फ़हमी दूर कर देनी चाहिये। जनता इसे *"सत्ता-अभिग्रहण"* के समतुल्य भी मान सकती है। सच तो यह है कि मिदनापुर जिले में १९४२-४३ में महिषादल सब डिवीजन के दक्षिणी अंश में रहने वाले महिष बिरादरी ने इसका यही अर्थ लिया था और सूताधार नन्दीग्राम, महिषादल एवं तमलुक थानों में *"जातीय सरकार"* (राष्ट्रीय सरकार) के नाम से एक समानान्तर सरकार की स्थापना की थी जिसे उन्होंने कारामुक्ति के बाद गाँधी के गुप्त कार्यवाही एवं प्रच्छन्न कार्य सम्बन्धी वक्तव्य के प्रकाशन के परिणाम-स्वरूप ८ अगस्त, १९४४ को औपचारिक रूप से विघटित कर दिया।

गाँधी ने इसका *"अहिंसक संग्राम की प्रविधि"* के रूप में समर्थन नहीं किया। उन्होंने कहा, *"अहिंसक क्रान्ति 'सत्ता अभिग्रहण' का कार्यक्रम नहीं है। यह तो सम्बन्धों को रूपान्तरित करने का कार्यक्रम है जिसकी परिणति है शान्तिपूर्ण*

सत्तापरिवर्तन ....।'' अपनी दृष्टि को और स्पष्ट करते हुये उन्होंने कहा : *''अहिंसक संग्राम की प्रविधि बुराई के उपकरणों को अलगाने और निष्फल बना देने की है। अहिंसा पर आधारित ''जातीय सरकार'' सरकारी कर्मचारियों का अवरोध नहीं करेगी, उन्हें प्रभावशाली ढंग से अलगा देगी।''*[१७०]

अंतिम विश्लेषण में इसका अर्थ यह निकलता है कि इसके पूर्व गाँधी के रचनात्मक कार्यक्रम की पूर्ति द्वारा नवीन समाज-व्यवस्था के प्रवर्तन के अनुकूल सामाजिक स्थिति बन चुकी होनी चाहिये। उनके अनुसार, *''दीर्घकालीन रचनात्मक प्रयास के बिना अहिंसक अवज्ञा हो ही नहीं सकती, जिसमें कार्यकर्ताओं को प्राय: प्रतिदिन जनता के सम्पर्क में आना पड़ता हो। बिना किसी ऐसे रचनात्मक कार्यक्रम के जीवन्त सतत जनसम्पर्क असम्भव है।''*[१७१] इसका मतलब यही है कि सत्याग्रह का उद्देश्य *''सत्ता निर्माण है, सत्ता अभिग्रहण नहीं।''*

५) उपवास

सत्याग्रही का अंतिम किन्तु महत्वपूर्ण शस्त्र है उपवास। एक प्रकार से यह एक शुद्ध एवं प्रेमपूर्ण हृदय की प्रार्थना की उच्चतम अभिव्यक्ति है। गाँधी ने अनेक अवसरों पर इसका प्रयोग किया था। उन्होंने इसे अंतिम अवलम्बन माना है और इसके प्रयोग के उपयुक्त पात्रों एवं स्थितियों का निर्देश किया है।[१७२] आत्मशुद्धि की पद्धति के रूप में इसकी उपयोगिता को तो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। कुछ शिकायतों के सम्बन्ध में इससे लोकमत को जागरुक भी किया जा सकता है। किन्तु हमारी विनम्र सम्मति में यह एक खतरनाक शस्त्र है और यह प्राय: जोर-ज़बरदस्ती का साधन भी बन सकता है क्योंकि यह जनचैतन्य का परिणाम तो होता नहीं और कोई स्वाभिमानी व्यक्ति प्राण त्याग की धमकी देकर इसके द्वारा जनता पर अपनी इच्छा लाद सकता है। गाँधी का कथन है : *''यह दावा करने का दु:साहस मुझ में है कि सत्याग्रही के शस्त्रागार मे उपवास एक अव्यर्थ शस्त्र है।''*[१७३] यद्यपि उन्होंने इसके प्रयोग के लिये सुनिश्चित नियम तो नहीं बनाये थे तथापि *''एक ''सामान्य सिद्धान्त'' का प्रतिपादन अवश्य किया था।''*[१७४] *''न्याय प्राप्त करने के सभी उपायों को परख लेने और उनके विफल हो जाने के बाद ही सत्याग्रही को अंतिम उपाय के रूप में उपवास का अवलम्बन करना चाहिये।''*[१७५] *''उपवास के लिये महान आन्तरिक शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसमें आन्तरिक शक्ति नहीं है, उसे इसका नाम भी नहीं लेना चाहिये और सफलता के प्रति आसक्ति रखकर तो इसे कभी करना ही नहीं चाहिये।''*[१७६]

(iii) सत्याग्रह : व्यावहारिक रूप – संगठन, चयन एवं शक्ति-निर्माण

एक स्पष्ट सिद्धांत निरूपण के बाद सत्याग्रहियों का संगठन प्रासंगिक हो जाता है। निश्चय ही इस बात पर कतिपय आपत्तियाँ हो सकती हैं। अहिंसक क्रांति के प्रणेता गाँधी का ही उद्धरण देकर कोई नि:सन्देह कह सकता है, *''पूर्ण अहिंसा को.........संगठित शक्ति की आवश्यकता नहीं। अहिंसामय हो जाने वाले पुरुष या स्त्री जिस बात की इच्छा करेंगे, वह होकर रहेगी।''*[१७७] किंतु गाँधी के इस कथन का आशय आत्मशक्ति की अद्वितीयता पर बल देना ही था। उन्होंने जनशक्ति की कभी उपेक्षा नहीं की। उनके अनुसार, *''किसी असाधारण शक्तिशाली व्यक्ति के प्रयास से किसी उद्देश्य की पूर्ति नि:सन्देह अच्छी बात है, किन्तु इसके द्वारा समाज अपनी सामूहिक शक्ति के प्रति सचेत नहीं हो सकता।''*[१७८] गाँधी का कहना तो यही

है; किन्तु एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने पर *"असाधारण शक्तिशाली व्यक्ति"* चूँकि जनता की सामूहिक शक्ति द्वारा समर्थित होता है इसलिए असाधारण शक्तिशाली हो पाता है। वस्तुत: अहिंसक क्रांति हिंसक क्रांति से कहीं अधिक जनसंगठन पर आधारित है। सत्याग्रही किसी विशिष्ट स्थिति में कोई कदम उठाते समय जनता की सामूहिक इच्छा को ही व्यक्त करता है।

दूसरी आपत्ति यह की जाती है कि अहिंसा के द्वारा जनसंगठन की कल्पना करना नितान्त अव्यावहारिकता है। *ग्रेग* ने अपनी पुस्तक *'ए डिसिप्लिन फॉर नान-वॉयलेन्स' (अहिंसा का अनुशासन)* में ऐसे आलोचकों के सन्देहों को दूर करने का प्रयास किया। उसने बताया है कि अहिंसक एवं सैनिक प्रशिक्षण के लिये शारीरिक कवायद एवं अनुशासन का प्रयोजन है। ऐसा प्रशिक्षण निम्नलिखित अनुबन्धों से युक्त शारीरिक श्रम द्वारा प्राप्त किया जा सकता है :

(१) इससे समाज के लिये विशेषत: गरीबों एवं बेकारों के लिए कुछ लाभदायक उत्पादन होना चाहिए।

(२) यह ऐसा कार्य होना चाहिए जिसे गरीब एवं बेकार आत्मसम्मानपूर्वक स्वयं कर सकें।[१७९]

इससे पूर्व *ग्रेग* ने लिखा है कि एक अहिंसक क्रांतिकारी अनुशासन के लिए शारीरिक श्रम करता है भले ही वह आर्थिक दृष्टि से अलाभकर हो। उसका तर्क है :

"जिस प्रकार एक सेनापति व्यक्तिगत रूप से मोटर पर चढ़ना पसंद करते हुए और यह जानते हुए भी कि इसके द्वारा गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुँचा जा सकता है लम्बे पैदल सैनिक प्रयाण के प्रशिक्षण पर विश्वास करता है, उसी प्रकार अहिंसा का विश्वासी यह स्वीकार करते हुए भी कि उससे उत्पादन का परिणाम कम हो सकता है, अनुशासन के लिए शारीरिक श्रम को स्वीकार करता है।"[१८०]

शारीरिक श्रम से उत्पन्न समस्त अहिंसक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को पूर्णत: समझने के लिए हम *ग्रेग* की पुस्तक का अनुशीलन कर सकते हैं। वह वस्तुत: विश्वसनीय है। किन्तु शारीरिक श्रम अन्य दृष्टियों से भी महत्वपूर्ण है। हिंसक क्रांति में बमों और पिस्तौलों के सम्पर्क के कारण क्रांतिकारी अपने उद्देश्य के प्रति बराबर सचेत रहते हैं। अहिंसक क्रांतिकारी के पास ऐसी कोई वस्तु नहीं होती और उसे केवल अमूर्त आध्यात्मिक शस्त्रों का ही प्रयोग करना पड़ता है। अतएव उसे किसी मूर्त उत्पादन वस्तु की आवश्यकता होती है जिसमें उसकी सक्रिय अभिरूचि हो। उत्पादन एवं सक्रिय इन दो बातो पर दिये गए जोर को ध्यान में रखना चाहिए। ऐसे मूर्त प्रतीक मिल सकते हैं जो उत्पादक न हो जिसके फलस्वरूप उनमें लोगों की सक्रिय अभिरूचि नहीं भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त शारीरिक कार्य से दूसरों के साथ एकता का बोध होता है क्योंकि यही ऐसा कार्य है जिसे सब कर सकते हैं। यह उल्लेखनीय है कि गाँधी का चर्खा इन समस्त शर्तों को पूर्ण करता है। यह बात अलग है कि उसे जनता द्वारा जितना अपनाया जाना चाहिए था, उतना नहीं अपनाया गया।

इस दावे में कोई सन्देह नहीं है कि सिद्धान्तत: समस्त जनता को सत्याग्रह के लिए अनुशासित किया जा सकता है। वस्तुत: आदर्श यही होना चाहिए तथा समाज को इसी दिशा की ओर अग्रसर होना चाहिए तथापि आरम्भ में ही इस स्थिति की अपेक्षा नहीं की जा सकती। सभी व्यक्तियों में पहल करने की एक-सी क्षमता नहीं होती। अतएव प्रत्येक नवीन सामाजिक कार्य के लिये कुछ संगठित कुशल साहसी व्यक्तियों को आगे जाना होता है। बाद में साधारण व्यक्ति उनसे प्रेरणा ग्रहण करते

हैं और अनुकरण द्वारा उन नवीन सिद्धान्तों को आत्मसात् कर लेते हैं। गाँधी ने ऐसे व्यक्तियों से अपेक्षित निम्नांकित विशेष योग्यताओं का निर्देश किया है :

(१) उन्हें ईश्वर में सजीव विश्वास होना चाहिए।

(२) उन्हें सत्य एवं अहिंसा पर अपने धर्म सिद्धान्त के रूप में विश्वास होना चाहिए,जिसे वे अपने कष्ट-वरण के रूप मे अभिव्यक्त सत्य एवं अहिंसा द्वारा जागृत करने की प्रत्याशा करते हैं।

(३) उनका जीवन विशुद्ध होना चाहिए और उन्हें अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपना जीवन और अपना सब कुछ उत्सर्ग कर देने के लिए तत्पर रहना चाहिए।

(४) उन्हें शराब और दूसरे नशों से बिल्कुल मुक्त होना चाहिए।

(५) उन्हें आदतन खादीधारी और चर्खा चलाने वाला होना चाहिए।

(६) समय-समय पर अनुशासन के जो नियम प्रवर्तित किए जायें, उन्हें उनका हृदय से पालन करना चाहिए।

(७) यदि उनके आत्मसम्मान को चोट पहुँचाने के लिए ही वे विशेष रूप से न बनाए गए हो तो उन्हें कारागार के नियमों का पालन करना चाहिए।

यद्यपि गाँधी ने अपनी सामान्य शब्दावली में अपने विशिष्ट ढंग से इन सबकी व्याख्याएँ की हैं तथापि प्रायः आध्यात्मवादी की भाषा में अभिव्यक्त होने के कारण वे बहुत प्रभावी नहीं बन पायी हैं। अतः उनकी आधुनिक शैली में व्याख्या वांछनीय है।

सबसे पहले ही जो बात सर्वाधिक अटपटी लगती है वह है उनकी पहली शर्त - ईश्वर में सजीव विश्वास। यह उन हिंसक क्रांतिकारियों के लिए दुःस्वप्न के समान है जो सामान्यतः अपने को अनीश्वरवादी घोषित करते हैं। किंतु गाँधी के ईश्वर से किसी को असुविधा नहीं होनी चाहिए। *''यह अनन्त गुना विश्वास है'', ''यह जीवन में सजीव विश्वास है।''* प्रस्तुत सन्दर्भ में इसकी अभिधारणा वांछित समाज-व्यवस्था में और उसे कायम करने की पद्धति में विश्वास के रूप में की जा सकती है। प्रगतिशील अहिंसावाद में अपने विश्वास को सजीव बनाया जा सकता है और तथाकथित अनीश्वरवादी, अहिंसक क्रांतिकारियों द्वारा उसी को ईश्वर माना जा सकता है।

इस बात पर जोर देने की आवश्यकता नहीं कि बिना ऐसे जीवन्त विश्वास के क्रांति केवल स्वप्न मात्र रह सकती है। किन्तु क्या यह भाग्यवाद जैसी चीज़ नहीं है? क्या हमारी ईश्वर निर्भरता हमें निष्क्रिय नहीं बना देती? महान् रूसी मार्क्सवादी दार्शनिक *जी. वी. प्लेखानोव* ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पर जीवन्त विश्वास रखने की आवश्यकता को प्रमाणित करने के लिए इन प्रश्नों के बहुत तर्क-संगत उत्तर दिये हैं किन्तु उनसे जो वे प्रमाणित करना चाहते थे उससे कुछ भिन्न ध्वनि भी निकलती है। उनका कथन है :

''हम जानते हैं कि ऐसा व्यक्ति जो अपने को मुहम्मद के समान ईश्वर का दूत समझता हो, जो अपने को नेपोलियन के समान अनिवार्य नियति के द्वारा चुना गया मानता हो, या जो उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ लोकनायकों के सदृश अपने को

ऐतिहासिक विकास की अप्रतिरोध्य शक्ति की अभिव्यक्ति मानता हो, लगभग मौलिक इच्छा शक्ति प्रदर्शित करता है और अपने पथ से तुच्छ बस्तियों को झोपड़ी और झुग्गियों के प्रतिरोधों को ताश के घर की तरह ढहा कर दूर कर देता है।''[१८१]

किन्तु क्या ईश्वर पर, ईश्वरेच्छा की अनिवार्यता पर यह विश्वास हमें निष्क्रिय नहीं बना देगा? बहु-विज्ञापित, वैज्ञानिक द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सन्दर्भ में ऐसे प्रश्न पूछे जा सकते हैं और पूछे गये थे। उनका उत्तर वही है जो *प्लेखानोव* ने दिया था, जिसका एक उद्धरण हम ऊपर दे चुके हैं। *''जब हम यह कहते हैं कि कोई व्यक्ति अनिवार्य घटनाओं की श्रृंखला में अपनी कार्यवाही को अनिवार्य कड़ी मानता है, तो इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है, अन्य बातों के साथ-साथ हमारा मतलब यह होता है कि उस व्यक्ति के लिए स्वतन्त्र इच्छा का अभाव निष्क्रियता की अक्षमता के तुल्य है और यह भी कि स्वतन्त्र इच्छा का यह अभाव, जिस प्रकार का आचरण वह कर रहा है, उससे भिन्न प्रकार के आचरण की असंभाव्यता के रूप में उसके मस्तिष्क में प्रतिफलित होता है।''*[१८२] यह ठीक वही मनोवृति है जो *लूथर* के सुप्रसिद्ध वाक्य में अभिव्यक्त हुई थी *''मेरी निष्ठा इसी के प्रति है, इससे भिन्न मैं कुछ नहीं कर सकता'' (हीयर्स ष्टे इश इश निष्ठ एंडर्स)* ऐसी ही चेतना जगाने के लिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा था,'मुझमें चित्त लगाने पर मेरी कृपा से तू सब बाधाओं को पार कर जाएगा।'

दूसरी योग्यता की व्याख्या के लिए कुछ कहना शेष नहीं रहा।

तीसरी योग्यता के सम्बंध में पुन: मतभेद हो सकता है। ऐसे चिन्तक भी हुए हैं जिन्होंने नैतिकता की दो संहिताएँ बनायी हैं, एक निजी, दूसरी सार्वजनिक। उनका कहना है कि निजी कार्यों का सार्वजनिक कार्यों से कुछ लेना-देना नहीं है। किंतु गाँधी के लिए जीवन एक दूसरे से स्वतन्त्र छोटे-छोटे खानों में नहीं बँटा है, वह परस्पर सम्बद्ध समष्टि है। अतएव तब तनिक भी आश्चर्य नहीं होता, जब वे कहते हैं कि, *''राष्ट्र निर्माण के रूप में सत्याग्रह का आधार असंदिग्ध रूप से आत्मशुद्धि, आत्मोत्सर्ग, नि:स्वार्थता है। अत: प्रत्येक को इसका विचार करना चाहिए कि राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में मैं अपने को कैसे शुद्ध कर सकता हूँ।''* उन्होंने और भी कहा है, *''व्यक्तिगत चरित्र की साधुता ही निश्चित रूप से निर्माण का आरम्भ है। यदि मेरा व्यक्तिगत चरित्र दूषित है तो मैं ढपोरशंख के समान हूँ। मुझे तत्काल आत्मशुद्धि करनी चाहिए और समर्पण का उपयुक्त पात्र बनना चाहिए।''*[१८३]

चौथी योग्यता की आवश्यकता का विवेचन हम संगठन एवं अनुशासन के सिलसिले में कर चुके हैं।

अब हमें पाँचवी, छठी एवं सातवीं का विचार करना है। छठी के सम्बन्ध में दो मत हो ही नहीं सकते। अहिंसक क्रांति में अनुशासन के रूप में बाहर से कुछ नहीं थोपा जा सकता। नेता के द्वारा जो कुछ निर्दिष्ट हुआ है, सत्याग्रही को हृदय से उसका पालन करना चाहिए। सातवीं के सम्बन्ध में हमें याद रखना चाहिए कि सत्याग्रह *''सचेत कष्टवरण''* के प्राचीन सिद्धांत का नया नाम ही है। फिर एक सचेत कष्टवरणकर्ता कारागार के उन नियमों से बचने की चेष्टा क्यों करेगा जिनकी अधीनता उसने विचारपूर्वक स्वेच्छया स्वीकार की है। इसी प्रकार वह पाँचवी योग्यता को भी सम्पादित करेगा क्योंकि वह जीवन की निरर्थक एवं नैतिक पतनकारिणी विलासिता की अवज्ञा करने के समकक्ष है।

अब तक यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि सत्याग्रह कोई निषेधात्मक कार्य नहीं है। यह शक्तिशाली विध्यात्मक कार्य

है। इसका अंत जड़ निष्क्रियता में नहीं सक्रिय स्वाग्रह में होता है। दुर्भाग्य से गाँधी को बिल्कुल गलत समझा गया है, विशेषत: रचनात्मक कार्यक्रम के क्षेत्र में। यहाँ तक कि बहुत पक्के गाँधी भक्त भी सोचते थे और अब भी सोचते है कि वे उनके प्रति अपनी निष्ठा कुछ गज़ सूत कातकर, कुछ रचनात्मक केन्द्रों का संगठन एवं कुछ करोड़ रुपयों की खादी बेचकर ही प्रमाणित कर सकते हैं। हम यह कहने के लिए बाध्य हैं कि उनके लिए चर्खा भी उसी प्रकार की मूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गया, जिस प्रकार की नाना प्रकार की मूर्तियों की पूजा प्राय: हिन्दू उनका प्रयोजन समझे बिना ही करते हैं। हम यह नहीं कहना चाहते कि मूर्तिपूजा बुरी है। जो बहुत प्रबुद्ध नहीं है, उनके लिए सत्य की उपलब्धि की दिशा में अग्रसर होने का यह निश्चय ही एक उपयोगी साधन है। यह शिशु द्वारा अंकित रेखाओं एवं वृत्तों के समान है जो उनकी सहायता से समय पाकर सार्थक अक्षर लिखना सीखता है। स्पष्टत: यह अपने आप में साध्य नहीं हो सकता है। अपने लम्बे कारावास काल में गाँधी चर्खे के क्रांतिकारी स्वरूप के बारे में बराबर विचार करते रहे।[१८४] आगा खां महल से छूटने के बाद उन्होंने कहा था :

"मैंने इस बार उपलब्ध मार्क्सवादी साहित्य एवं तदनुकूल चलने वाले महान् रूसी प्रयोगों के बारे में पढ़ा।"[१८५] वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि, *"हम कातते तो हैं किन्तु यंत्र की तरह बिना समझे।"*[१८६] उसी क्रम में उन्होंने यह भी कहा, *"उसमें (चर्खे में) राजनीति भी अन्तर्निहित है, किन्तु वह धोखे की नहीं है। चर्खे में जितनी अमिश्रित एवं शुद्ध राजनीति भरी है, उतनी किसी और वस्तु में नहीं।"*[१८७] गाँधी के लिए चर्खा अहिंसा की प्रत्यक्ष अनुभूति था।[१८८] अत: यह मान लेना चाहिए कि उनके स्वप्न के अनुरूप समाज व्यवस्था का निर्माण चर्खे के द्वारा ही सम्भव है। दूसरे शब्दों में, चर्खा स्वत्व साधक सत्याग्रह का एक साधन था।

जिस प्रकार विकेन्द्रीकृत अर्थनीति के रूप में चर्खा-अर्थनीति पूँजीवाद की वृद्धि रोकती है, उसकी प्रकार वर्ग-विभेद को भी। महात्मा ने एक बार कहा था, *"अहिंसक क्रांति सत्ता अधिग्रहण का कार्यक्रम नहीं है।"*[१८९] इसका लक्ष्य सत्ता निर्माण है। वस्तुत: अहिंसक क्रांति प्रचलित अर्थ में सत्ता अधिग्रहण नहीं करती अपितु अवश्य ही यह अपना प्रभाव डालती है। कैद से छूटने के पश्चात् चर्खा संघ के नव संगठन के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए गाँधी ने माँग की थी कि सात लाख कार्यकर्ता गाँवों में जाकर उन्हें आत्मनिर्भर बनाए। यह निर्देश भी दिया गया था कि इन कार्यकर्ताओं को गाँवों का संगठन पूर्णत: अहिंसक समाजवादी रीति पर करना चाहिए। हम मानते हैं कि यदि यह योजना कार्यान्वित हो पाती तो भारत को विदेशी शासन के साथ-साथ सामाजिक दासता से भी मुक्त करने में सफल होती। किन्तु विलक्षण घटना प्रवाह के कारण गाँधी अन्य कार्यों में उलझे रहे। तभी राष्ट्र के जीवन में भयंकरतम दुर्घटना घटी और वे हमसे छिन गये।

तथापि, अत्यन्त दु:साहसी होकर गाँधी सम्भवत: सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने के लिए जनता का आह्वान करते। उनके शब्दों में यह *"सशस्त्र विद्रोह का पूर्ण, प्रभावशाली एवं शांतिपूर्ण विकल्प है।"*[१९०] यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि यदि जनता अहिंसक पद्धति पर अनुशासित होती, यदि उसने आत्मनिर्भरता के सिद्धांत का आधार ले विकेन्द्रित कर लिया होता तो सविनय अवज्ञा के आखिरी कदम ने केन्द्रीकृत सत्ता को पंगु बना दिया होता और प्रत्येक ग्राम में अपनी सरकार स्थापित करने के लिए जनता को प्रेरित किया होता। इस सरकार का कार्यभार अनिवार्यत: सरल साधारणत: प्रशासनिक ही

होता और वस्तुतः उसकी परिणति राज्य के एवं उस पर निर्भर वर्गों के वास्तविक विलोप में होती।

गाँधी इस जगत के सर्वाधिक मुक्त चिन्तक रहे हैं। सत्य के इस भक्त को हठाग्रही मानना उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय होगा। अतएव उनके सिद्धांत को अपरिवर्तनीय रूप से ग्रहण नहीं करना चाहिए। उनके शब्द अन्तिम न माने जायें, ऐसी चेतावनी उन्होंने स्वयं दी थी। एक बार उन्होंने साफ-साफ कहा था :

''सत्याग्रह के सम्बंध में मेरा ज्ञान प्रतिदिन बढ़ रहा है। इसकी कोई पाठ्य-पुस्तक नहीं है, जिससे आवश्यकता के समय में मार्ग-दर्शन पा सकूं, यहाँ तक कि गीता भी नहीं, जिसे मैं अपना कोष कहता हूँ। मेरे द्वारा अवधारित सत्याग्रह एक ऐसा विज्ञान है जो अभी रचा जा रहा है। यह सम्भव है कि जिसे मैं विज्ञान मानता हूँ वह विज्ञान बिलकुल न निकले, बल्कि यदि पागल का नहीं तो एक मूर्ख का चिन्तन एवं कार्य सिद्ध हो। यह भी हो सकता है कि सत्याग्रह में जो सत्यांश है वह पर्वत के समान पुराकालिक हो किन्तु संसार की युद्ध की समस्या के समाधान के रूप में उसका कोई मूल्य न स्वीकारा जाय। यह भी संभव है जिसे सत्याग्रह अर्थात् अहिंसा विजय माना जाता है वस्तुतः वह सत्य और अहिंसा की विजय न होकर हिंसा के भय की विजय हो।

ये सम्भावनाएँ मेरे सामने सदा बनी रही हैं। मैं निरूपाय हूँ। मैं राष्ट्र के समक्ष स्वीकृति के लिए जो प्रस्तुत कर रहा हूँ, वह प्रार्थना का प्रत्युत्तर ही है, अर्थात् वह सतत ईश्वर निर्भरता ही है।''[११]

खण्ड (ग) समीक्षा

तुलनात्मक दृष्टि से, भगवद्गीता का चिंतन और गाँधी का जीवन-कर्म परिपूर्णता तथा आत्मोपलब्धि की दिशा में मानव चेतना की प्राचीन समय से निरन्तर गतिशील तीर्थयात्रा है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक *कार्ल गुस्टाव युंग* की *'सामूहिक चैतन्यता'* की पारिभाषिक शब्दावली में कहें तो, समग्र मानव उपक्रम, एक या दूसरे रूप में, तथा विभिन्न माप-गुणों में एक उच्चतर अस्तित्व एवं एक गहनतर अर्थ के लिए सचेष्ट हैं। कभी-कभी, एक व्यक्तित्व इतिहास के एक मोड़ पर स्वयं में समूचे जनमानस की ऊर्जा एवं अन्तर्चैतन्यता को सन्तृप्त कर अपने विशिष्ट कर्माचरण द्वारा न केवल घटनाक्रमों को परिवर्तित करता है, अपितु परिवर्तन के सन्दर्भ में एक उच्चतर स्तर पर हस्तक्षेप की गुणवत्ता को भी उठाता है। *''सामूहिक चैतन्यता''* में निध्यासित होते हुए भी, चूँकि युग पुरुष और युग-कृति की विशिष्ट कर्म-वृत्ति तथा विशिष्ट कर्म-प्रत्ययीकरण में उस काल की सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक बिम्ब अभिमुखीकृत होते हैं जिसमें ऐतिहासिक बहुआयामता साकार होती है; इसीलिए किन्हीं दो संज्ञावाचक विचार-बिन्दुओं में अन्तर और समानता सापेक्ष मात्रा में होगी, न की प्रकार में। सामाजिक परिवर्तन के परिप्रेक्ष्य में भगवद्गीता और गाँधी की इस समीक्षात्मक विवेचना में भी यही तथ्य लागू होता है।

परिवर्तन की आम अवधारणा में एक द्वन्द्वात्मक वैमनस्यता सन्निहित होती है, जो संवाद को असम्भव बना देती है। इसकी परिवर्तनकामिता हिंसा, विद्वेष, घृणा और विलगाव से युक्त होती है जिसमें प्रेम, विवेक, बन्धुत्व तथा एकता का नितांत अभाव होता है। ऐसा परिवर्तन भावोत्प्रेरित प्रतिशोध के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इस क्रम में, गीता परिवर्तन के एक सम्यक् सामाजिक दर्शन की प्रतिष्ठा करती है। तद्नुसार, परिवर्तन ऐतिहासिक अनिवार्यता की गुप्त सम्भावना है, जो उस जीवन-चर्या

या समाज-प्रणाली के विरुद्ध है जो भावशून्य प्रतिशोधी संघर्ष प्रसूत करें। गीता के परिवर्तन-कला के समान ही, गाँधी भी परिवर्तन के अंतर्गत प्रतिशोध को वर्जित करते हैं। उनके लिए परिवर्तन नव समाज व्यवस्था की सम्भाव्यता के दृढ़ विश्वास पर आधृत सोद्देश्य एक मिशन है। हाँ, यह जरूर है कि गीता की तुलना में, गाँधी अहिंसा की आवश्यकता के विधेयात्मक स्वप्रमाणितावाद तथा व्यक्तित्वान्तरण की अकूत सम्भावनाओं के प्रति ज्यादा आस्थावान हैं। लेकिन, यह मात्रात्मक विभेद व्याख्याकार के दृष्टिकोण-सापेक्ष होने से पूर्णत: विरोधी नहीं माना जाना चाहिए। मूलत: दोनों के परिवर्तन की अवधारणा आत्मबल संवादिता की रहस्यवादी आध्यात्मिक भाषाभिव्यक्ति पर बल देती है जो न केवल सामाजिक संरचना को रूपांतरित करने हेतु है, बल्कि प्राणमय वास्तविक व्यक्तियों के आंतरिक संशोधंन हेतु भी है।

गीता की विश्वदृष्टि सामाजिक परिवर्तन की विवेचना के अंतर्गत कर्म के निर्धारण, निरूपण और उससे जुड़े न्याय-अन्याय, यथास्थितिवाद, सामाजिक उन्नयन और स्तर-विन्यास की समस्या को उठाती है। यह सही है कि गीता में नियत कर्म के सम्पादन पर पूरा जोर है लेकिन साथ ही गीता का मुख्य सन्देश है कि मनुष्य अन्याय का विरोध करे। यदि सामाजिक स्तर विन्यास ही अन्याय पर आधारित हो तो उसका विरोध भी इसमें शामिल है। कृष्ण के सारे गीतोपदेश का मूल तत्व यह है कि अर्जुन अन्याय का विरोध करे। यह विरोध हिंसक हो या अहिंसक यह अलग प्रश्न है। अन्याय के विरोध की प्रक्रिया में सामाजिक परिवर्तन का पक्ष निहित ही है। गाँधीवादी परिवर्तन का पथ भी एक युगीन चरित्रयुक्त है, जिसका प्राथमिक आरम्भकर्ता तथा नायक इस परिवर्तन में रत मानव का स्वत्व है।

दो, गीता में जो सत्य की उद्घोषणा है, वह एक हद तक श्रुति और अपौरुषेय होते हुए भी देशकाल की सीमा से बँधा हुआ है। यानी उसमें सिर्फ श्रुति के सत्य का ही अंश नहीं बल्कि स्मृति का भी सत्य है। इस प्रकार वह सत्य का एकल तथा अपौरुषेय अन्तिम उद्घाटन नहीं, अपितु इसमें युगानुकूल नवीन व्याख्या की सम्भावना बनी रहती है। दूसरे शब्दों में, इसमें शाश्वत एवं सर्वकालिक, सर्वव्यापी तथा क्षेत्रीय दोनों पक्ष हैं। परम्परा-निर्वाह और परिवर्तन-प्रवाह दोनों की गुंजाइश है। तात्त्विक रूप से गाँधीवादी परिवर्तन भी आध्यात्मिक अन्त:प्रज्ञा पर आधारित है जो निश्चित नैतिक नियमों तथा संवेदनाओं के अनुसार संचालित होता है। अतएव परिवर्तन सत्यनिष्ठा एवं धर्म के सुनिश्चित प्रयोगात्मक प्रवाहता से सन्तृप्त अत्यन्त अनुशासित और सुव्यवस्थित होता है।

तीन, गीता मनुष्य को बुद्धिपरक कर्म स्वातन्त्र्य का अधिकार देती है। साथ ही कर्म-सिद्धि के पाँच कारणों में कर्ता, साधन और विभिन्न क्रियाओं को समुचित स्थान देती है। दैव पाँच कारणों में से सिर्फ एक कारण है। गीता का मानना है कि मनुष्य कर्म-स्वातन्त्र्य है और यह कर्म-स्वातन्त्र्य तो परिवर्तन की आधारशिला है। गाँधी के अनुसार सामाजिक परिवर्तन वृहद् है, जो जनमानस में आस्था रखकर उनके *'सक्रिय भागीदारी' (अनुशासन-शिष्यत्)* का आह्वान करता है। सांस्कृतिक-नैतिक विशिष्टता के जागरण तथा स्व-पुष्टीकरण के कारण परिवर्तन संस्थात्मक और कार्योजनात्मक होने के बजाय आन्दोलनकारी है, जिसकी परिवर्तनकामिता इसलिए अंतरकायान्तरणीय है क्योंकि यह प्रतीत होती दुर्बलता को शक्ति में परिमार्जित कर अपूर्व मानव ऊर्जा को क्रियाशील करने वाली क्षमता है।

चार, यह भी सही है कि गीता मनुष्य के जीवन में त्रिगुणों की भूमिका को स्वीकार करती है, जिनसे मनुष्य के स्वभाव और नियत कर्म का फैसला होता है। वास्तव में गीता का चौदहवाँ अध्याय इन्हीं त्रिगुणों की महत्ता तथा महिमा का विशद् विवेचन करता है। यही नहीं गीता संचित एवं प्रारब्ध कर्म की भूमिका को भी नहीं नकारती। साथ ही गीता ईश्वर की अनुकम्पा की महत्ता और महिमा को भी स्वीकार करती है। लेकिन ईश्वर की अनुकम्पा का मतलब यह नहीं है कि मनुष्य का हाथ पूरी तरह से बंधा हुआ है और उसको प्रयास द्वारा कुछ करने का मौका नहीं है। मनुष्य यह कहकर अपनी नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता कि सारा कर्म-त्रिगुणों से प्रेरित है। यानी वह जो भी करता है वह स्वभाव और संस्कार के वशीभूत होकर। उसी तरह मनुष्य ईश्वर की अनुकम्पा का सहारा लेकर उच्छृंखल व्यवहार की नैतिक जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता। यह भी उल्लेखनीय है कि ईसाई धर्मावलम्बियों के *'अपराध स्वीकरण'* द्वारा पापमुक्ति के सिद्धान्त को भी गीता मान्यता प्रदान नहीं करती। गीता में ईश्वर के शरणागत होने की जो बात है वह अपराध स्वीकरण से आगे की बात है। त्रिगुण महिमा और ईश्वर अनुकम्पा का इतना ही मतलब है कि स्वभाव तथा संस्कार की बात को समझकर हम एक दूसरे के प्रति संवेदनशील, दयावान, और उदारमना बने रहें और कर्ताभाव एवं फलासक्ति को ईश्वर को अर्पित कर अपना कर्तव्यपालन करते चलें। अर्थात् स्वभाव, संस्कार, संचित कर्म और ईश्वर-अनुकम्पा की सीमाओं के बावजूद हर आदमी अपने जीवन के बारे में अपनी नैतिक जिम्मेदारी से न कतराये। और यही नैतिक बंधन उसकी स्वतन्त्रता की सीमा और क्षेत्र तय करेगा। यही गीता के परिवर्तन-दर्शन का सार है। दूसरी ओर गाँधीवादी परिवर्तन भी जनता और उनके पीड़ाओं के प्रति करुणा तथा असीम प्रेम से अनुप्राणित एवं अभिप्रेरित है, जो नैतिक-आध्यात्मिक नियमों एवं प्राकृतिक नियमों के मध्य समन्वय और एकत्व के लिए सतत् खोज में लीन रहता है। परिवर्तन ऐतिहासिकता, सांस्कृतिक-विशिष्टता और खंडित संस्थागत कर्मकाण्डों की सीमाओं के परे जाने के लिए चुनिंदे अभयवानों के अन्वेषण का इंतजार करता है। साथ ही, गाँधी के लिए सामाजिक परिवर्तन आधुनिकता से परे एक ज़्यादा मानवीय जीवन हेतु युगांतकारी प्रयाण है, जहाँ आधुनिक युग की विशेषाधिकृत अल्संख्यकों के लिए औद्योगिक-प्राविधिक भौतिकवादी वैभव की प्रभुत्वता जनित वैश्विक युद्धोन्माद प्राकृतिक एवं सामाजिक संसाधन को अमानवीयता के बिंदु तक विखण्डित करने की अपरिमित स्वार्थ सुखवादी भाव-उद्वेगिता की प्रवृति का अभाव हो। गाँधी के लिए परिवर्तन का अर्थ है- चित्तवृत्तियों और इन्द्रियों पर नियंत्रण एवं पराभव के माध्यम से व्यक्तित्वान्तरण। प्रत्यक्षीकरण तथा विश्लेषण विद्यमान तो होता है, लेकिन गौण रूप में। *'प्रयोग'* प्रयोगकर्मी के अंतर तथा बाहर बिना गुप्त विन्यास या अहंकेन्द्रित स्थितवाद के स्व-अहंकार के क्रमिक निष्कासन तथा परमशुद्ध वस्तुनिष्ठता प्राप्ति का उद्देश्य रखता है। परा-बौद्धिकतावाद को स्वीकारते हुए इसके अन्तर्गत प्रमुख बल सम्वृद्ध प्रज्ञा के साथ सह-उत्पाद के रूप में बेहतर विश्लेषणात्मक क्षमता एवं स्मरणशीलता पर होता है; और व्यक्ति अपने स्वभाव का नियंता और प्राधिकारी बनने का उपक्रम करते हुए सप्रकृति दूसरों के साथ सहकारी सम्बंध बनाता है, जिससे चतुर्दिक संतुलन सम्वृद्ध तथा प्रसंस्कृत होता है।

गीता की प्रतिरोध की मान्यता, जो ज्ञान और निःस्वार्थ कर्म के समन्वय पर आधारित है, सामाजिक परिवर्तन की प्रविधि को आध्यात्मीकृत करती है। उसकी विवेकी तर्कणा की अवधारणा जो अज्ञानी और विवेकशील व्यक्ति के कर्म में विभेद करती

है, स्वयं परिवर्तनकामिता की प्रविधि है, जो प्रकृति प्रसूत गुणों के द्वन्द्वों को पार करती है तथा साध्य एवं साधन के वस्तुनिष्ठ नैतिक मान्यता के प्रति निर्विकार रहती है। निष्काम कर्म को ही अकर्म कहा जाता हैं केवल गैर-अहंकारी कर्म में ही स्वपूर्णता है। आंतरिक जीवन तथा बाह्य पेशे के समन्वय में आदमी अपने सच्चे स्वभाव को पाता है। गीता की गैर-अहंकारी कर्म की प्रविधि सुख पाने व दुख से बचने के वस्तुनिष्ठ उपयोगितावादी मापदंड के प्रति उदासीनता बनाए रखने की शिक्षा देती है।

सामाजिक परिवर्तन के सदंर्भ में गीता की निर्लिप्त कर्म की प्रविधि *'नैतिकताविहीन' (amoral)* कदापि नहीं कही जा सकती। गीता व्यक्ति के वस्तुनिष्ठ नैतिक मूल्यों को भी उसके सत्यनिष्ठ सामाजिक-राजनीतिक कर्म के सम्पादन के परिप्रेक्ष्य में देखती है। तद्नुसार कर्तव्य के लिए कर्तव्य करना और दूसरों को उनके अपने सत्यनिष्ठ कर्तव्य को करने में सहायता देना सर्वोच्च सामाजिक कार्यों में एक है। गीता उपदेश देती है कि व्यक्ति को एक निर्लिप्त मनसस्थिति के साथ सामाजिक-राजनीतिक पाप का प्रतिरोध करना चाहिए तथा वह सुनिश्चित करती है कि ऐसा निर्लिप्त दायित्व पाप से मुक्त रहे। वस्तुतः, यह आध्यात्मिक अभिमत वैयक्तिक स्वतन्त्रता के नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों को परिशुद्ध करता है। यह एक ओर, एक सत्यनिष्ठ समाज को प्रोत्साहित करते लौकिक एवं पारलौकिक कर्म, और दूसरी ओर, दुष्ट को दंडित करने के मध्य अन्तर को समाप्त कर सामाजिक परिवर्तन के कार्य को न्यायोचित तरीके से पूर्ण करता है।

गीता के सदृश, गाँधी भी अपने वैयक्तिक बहुआयामता, सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा और उसकी उदार खुले मंचन के कारण प्रत्यक्ष रूप से प्रासंगिक हैं, जो सिद्धान्त और अभ्यास की अंतःक्रिया के परिणामस्वरूप समाजवादी पुनर्संरचना सम्बंधी विश्व के क्रांतिकारी आंदोलनों की आलोचनात्मक प्रश्नवाचकता में गाँधीवाद को सुव्याख्यायित करता है। हम गाँधी द्वारा मनु और मार्क्स को नापते हुए पाते हैं, जिसमें बुद्ध कहीं माध्यांक बिंदु उपलब्ध करा रहे हैं। अतएव, ऐसे अति वैभवशाली एवं वैशिष्ट्यपूर्ण चिंतन विन्यास को किसी एक सामाजिक सिद्धांत या दृष्टिकोण के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। *उन्नीथन कोहेन* के *'प्रणालीय'* सिद्धांतों के *'चातुर्वर्गीकरण' (अर्थात्, विश्लेषणात्मक, आदर्शमूलक, वैज्ञानिक और अतिभौतिक)* को प्रयुक्त करते हुए कहते हैं कि *''गाँधीवादी कथन इन चारों वर्गों में आते हैं तथा उनके लेखों और भाषणों की अनेकानेक सैद्धान्तिक विवेचनाएँ की जा सकती हैं।''*[११२]

निर्विवाद रूप से, गाँधी एक क्रांतिकारी नव प्रयोगधर्मी थे, जिनकी सफलता इस तथ्य से व्युत्पन्न होती है कि वे अपने जीवन-मार्ग और निर्दिष्ट सुधारों के माध्यम से उस समय के भारतीय समाज में प्रवाहित विपरीत धाराओं में मध्यस्थता कर सके। वह भारतीय संवेदना और चिंतन की प्रत्येक धारा को बिना उसके वशीभूत हुए प्रतिबिम्बित करते थे। यह उनके सफलता की पवित्रता थी, यद्यपि संदर्भ जिसमें गाँधी सफल हुए वह मूलतः अलग था। परन्तु, सामाजिक परिवर्तन की वृहद् अवधारणा से सीधे वास्ता रखना गाँधीवादी *'एकीकरणीय'* उपागम को सभी समयों के लिये *'उत्तर' (हल)* बना देता है।

गाँधी की अहिंसा एक विधेयात्मक अवधारणा है क्योंकि अहिंसा का अर्थ है यथार्थ को तद्रूपेण स्वीकार करना। इसीलिये, गाँधी अहिंसा को सत्य का समानार्थी मानते थे। अतएव मूलतः सभी हिंसा यथार्थ के प्रति हिंसा है। हिंसा तब होती है, जब सामाजिक कर्ताओं के बीच प्रबुद्ध संचारण विफल हो जाता है। इसलिये, समय-समय पर, (एक कर्ता या कर्ताओं

का समूह-सम्भवत: मतभेदी) नैतिक साध्यों के द्वारा एक पारस्परिक सहमत यथार्थ की परिभाषा तक पहुँचने के लिये अहिंसा का अवलम्बन लेने की आवश्यकता उठती है। इसके अन्तर्गत *'स्वकष्ट वरण'* तथा *'हृदय-परिवर्तन'* के द्वारा अहिंसक कर्ता आंतरिक सत्य को अभिव्यक्त करता है।

ए. के. सरन ने जोर देते हुये इस कथन को अस्वीकृत किया है कि गाँधी व्यक्ति को *''परिवर्तन का स्रोत''* मानते थे। तद्नुसार गाँधी का अभिमत था कि मनुष्य *''देव-इच्छा का उपकरण''* मात्र है और एक अति मानव व्यवस्था व्यक्ति और समाज दोनो के ही हित में थी। वह आगे रेखांकित करते हैं कि गाँधी एक अनैतिक समाज में एक नैतिक आदमी का निरूपण नहीं करते थे तथा इसके विपरीत सत्य तथा अहिंसा पर आधारित एक सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की प्रकल्पना दी। इन्हें महज वैयक्तिक सद्गुण नहीं माना गया। वह इसे गाँधी के समाजशास्त्र का प्रमुख स्तम्भ मानते हैं।[१९३]

अत: गाँधी ने सामाजिक परिवर्तन के एक संचयी प्रक्रिया के निहितार्थ राजनैतिक कर्म के प्रकारों में नैतिक कर्म और प्रतिरोध के तरीकों को रूपान्तरित किया। उन्होंने समझौता और सुलह के सद्गुण पर बल दिया अतएव *'न्यासी' (ट्रस्टीशिप)* की अवधारणा मिल्कियत का सिर्फ एक वैकल्पिक प्रकार नहीं, बल्कि *'प्रतिनिधित्व'* की समूची अवधारणा का विकल्प है। गाँधी का स्पष्ट मत था कि आधुनिक प्राविधिक समाज तथा सभ्यता द्वारा प्रतिनिधित्व किये जा रहे एक *'वृहद् समाज'* और *''वृहद् मानव''* के रूप में एक नैतिक-आध्यात्मिक समाज प्रणाली संभव नहीं थी। उन्होंने दोनों के मध्य कोई संपक्ष नहीं चाहा और साथ ही प्रविधि के उपकरणीय स्वभाव को खारिज करते हुये उसके उपयोग को केवल *''एक अति न्यून स्तर''* पर स्वीकारा। वास्तव में इसके अपने अस्वीकृति में अपरिग्रह और इच्छाओं के न्यूनीकरण की मान्यताओं पर बल देते हुये वह जड़ों तक चले गये। *सरन* एक अत्यन्त स्पष्ट शैली में एक निष्कर्ष देते हैं कि गाँधी की अन्तर्दृष्टि उदारवादी लोकतान्त्रिक तथा मार्क्सवादी–दोनों ही विश्व दृष्टियों का एक विकल्प है और उस साध्य के लिये अगला कदम आगे नहीं बल्कि पीछे है, जिसे वह *''घड़ी के हाथों को अन्य मध्य दिन के हिसाब से मिलाना''* कहते हैं।[१९४] इस क्रम में *फ्रेड ब्लम* का भी यह निष्कर्ष है कि स्वतन्त्रता एवं एकात्म एक वास्तविकता बन सकता है *''यदि प्रत्येक व्यक्ति का विकास सही हो, यानि प्रत्येक व्यक्ति अपने सत्य स्वरूप को विकसित करने का प्रयास करे।''*[१९५]

एक अन्य सैद्धान्तिक विवेचना गाँधी को *''शक्ति सिद्धान्त''* की छवि में देखती है और *''गाँधी के समाज परिवर्तन के सिद्धान्त में शक्ति को एक केन्द्रीय तत्व के रूप में''* इंगित करती है *(उदाहरणार्थ,उन्नीथन,१९८७)*। इसका निष्कर्ष है कि गाँधी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था को बल और हिंसा पर आधारित तथा द्वन्द्वों एवं विरोधाभासों से भरे एक *''शक्ति संरचना'' (या समीकरण)* के रूप में देखते थे। वह एक अलग प्रकार की शक्ति अर्थात् अहिंसा पर आधारित गुणात्मक रूप से एक श्रेष्ठतर व्यवस्था का निर्माण करना चाहते थे। इसके लिये सत्य और अहिंसा के अनुसार लोगों को कर्म करने की आवश्यकता का भान कराते हुए *''तनाव और द्वन्द्वों को घटाना''* चाहते थे। सत्याग्रह के माध्यम से व्यक्ति अहिंसक शक्ति को विकसित करता है और वह वर्तमान शक्ति संरचना में परिवर्तन लाने के लिये अहिंसक शक्ति को एक साधन के रूप में उत्पन्न करने हेतु लोगों को संगठित भी कर सकता है। यहाँ पर बल शक्ति के व्यावहारिक पहलू अर्थात् ठोस स्थितियों में उसके प्रकटीकरण

पर दिया हुआ प्रतीत होता है। यह वर्णन दोनों ही प्रकार की परिस्थितियों–दुरूपयोग की घटना और शक्ति के दुरूपयोग को रोकने तथा प्रतिरोध के माध्यम से अहिंसक शक्ति की अभिव्यक्ति–पर लागू हो सकती है। अत: गाँधी *सोरोकिन* के[११६] *''सृजनात्मक परार्थवाद''* में प्रयोगों तथा व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं और संस्कृतियों के *''परार्थयीयकरण''* के कार्यक्रम से मतैक्य रखते हुए प्रेम की शक्ति के द्वारा *''संपूर्ण सांसारिक परिस्थितियों को रूपान्तरित''* करने का प्रयास करते हैं।

गाँधीवादी अहिंसक शक्ति संरचना की अवधारणा मूल्य एवं अहिंसा के आदर्शों के प्रति एक शैक्षिक-नैतिक प्रतिबद्धता पर आधारित है। इन मूल्यों और आदर्शों के स्रोत परम्परा में मजबूती से अधिष्ठित हैं। परन्तु, ये मूल्य निरपेक्ष हैं निष्कर्षत: इन दोनों तत्वों के बीच और साथ ही सामाजिक संरचना के बीच भी, अन्तर्सम्बन्धता गाँधी के वर्णाश्रम धर्म के उपचार में अत्यन्त सुन्दरतापूर्वक अभिव्यक्त हुई है। जैसा कि, प्रख्यात गाँधीवादी विचारक *दादा धर्माधिकारी* ने उठाया है, मूल प्रश्न यह है : *''किस प्रकार हम मानव आचरण के ऐसे निरपेक्ष प्रत्ययों के साथ आधुनिक वैज्ञानिक विधि को मिला सकते हैं?''*[११७]

प्रथम दृष्टया गाँधी प्रकार्यात्मक छवि में दिख सकते हैं। वह एक *''नव समाज''* के *काम्टे* की अन्तर्दृष्टि प्रतिबिम्बित करते हैं जिसमें पूँजीवादी वर्ग एक *''निश्चयवादी (Positivist) धर्म''* से युक्त होकर श्रमिकों को अभिभावकीय अनुराग तथा दायित्व बोध के साथ देखेगा; एक नव समाज जिसमें परार्थवाद के साथ स्त्री की सरल, मृदुल, प्रेममयी प्रकृति सामाजिक प्रणाली में परिव्याप्त होगी। वह *सेन्ट साइमन* की चिन्ता कि औद्योगिक समाज अपने साथ *''अत्यधिक नैतिक दुर्व्यवस्था''* लायेगा, के साथ-साथ *दुर्खिम* की भविष्यवाणी कि पूँजीवादी समाज को *''अनन्त आकांक्षाओं की व्याधि''* को प्रोत्साहित करना चाहिये–को प्रतिध्वनित करते हैं। हमारे वर्णाश्रम व्यवस्था की उनकी समझ *दुर्खिम* के *श्रम-विभाजन के सिद्धान्त* से सन्निकटता रखती है, जिसके अनुसार सकर्म श्रम विभाजन सामान्यत: सेवा विनिमय, कर्तव्य, पारस्परिकता और अन्तर्निर्भरता के द्वारा सामाजिक समन्वय प्रोत्साहित करता है, तथा केवल *''हितों के बिखराव''* के कारण जनित अपनी असामान्य अवस्था में वह अनियमबद्धता और व्यापक *''नैतिक अराजकता''* में फलित होती है। दोनों ही इन सामाजिक कुरीतियों के निवारण हेतु *''आध्यात्मिक शक्ति''* की एक प्रणाली का आह्वान करते हुये प्रतीत होते हैं। एक समाज में व्यक्तियों के अंतिम मूल्यों एवं साध्यों के एकीकरण के स्रोत और आधार के रूप में धर्म को सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका आवंटित करने के परिप्रेक्ष्य में गाँधी *आदर्शमूलक* प्रकार्यवादियों के साथ खड़े दिखेंगे।

संक्षेप में, सामाजिक सहमति और एकीकरण तथा अपने जीवन में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा सत्य एवं अहिंसा के मूल्यों की अनुभूति के माध्यम से मानव स्वभाव के निरन्तर मानवीकरण तथा उदात्तीकरण के द्वारा सामाजिक पुनरूत्थान पर बल, सामाजिक परिवर्तन पर गाँधीवादी और प्रकार्यवादी दृष्टिकोणों के बीच एक निकटवर्ती सामञ्जस्य सुझायेगा। सामाजिक परिवर्तन हेतु गाँधीवादी उपागम में सामाजिक संघर्ष की भूमिका के प्रश्न पर उनके व्याख्याकारों की एक बड़ी संख्या पूर्णत: एक *'अपचयनिक' (Reductionalistic)* दृष्टिकोण देते हैं, मानों उनका अकेला नहीं तो मुख्य सरोकार सामाजिक तनावों के बैरोमीटर को नीचे रखना है। वो लोग भी जो सामाजिक परिवर्तन में संघर्ष को ज्यादा सक्रिय भूमिका देते हैं, उनका उपागम *''संघर्षात्मक दृष्टिकोण''* को मान्यता देता है, जैसा कि प्रकार्यात्मक समाजशास्त्र में *लुइस कोज़र* द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया

है, जो संघर्ष के *"सामाजिक प्रकार्यों"* को तनाव-विमुक्तीकरण, सामाजिक परिबन्धीयकरण एवं एकीकरण के रूप में देखता है।

गाँधी की अनेक छवियों में से एक छवि *"आध्यात्मिक आदर्शवादी"* की है; जो सम्भवत: सर्वाधिक प्रभुत्वशाली भी है। निश्चित रूप से ऐसे लोग है, जिनका अभिमत है कि *"सर्वोदय को एक व्यक्ति के रूप में देखा जाना चाहिये, और न कि सभी की सेवा में विमुक्ति के लिये एक संस्थागत रणनीति के रूप में"* तथा *"केवल वैयक्तिक मनोयोगिता (प्रेम, दया, करूणा आदि करने के लिये) के द्वारा ही सर्वोदयी यथार्थ की सामाजिक पुनर्संरचना प्राप्त की जा सकती है।"*[१९८]

प्रकार्यवादियों के बिलकुल असमान, गाँधी का मुख्य सरोकार व्यवस्था निर्वाहन नहीं, बल्कि किसी अनैच्छिक (और अनिर्दिष्ट) परिवर्तन के द्वारा सृजित संकट का समाज प्रणालियाँ किस प्रकार सामना करें - था। यह प्रकल्पित करने का कोई आधार नहीं है कि गाँधी के लिए, निश्चयवादियों के समान, सत्य उपस्थित आनुभविक सत्ता से संवादिता रखता है। वर्तमान समाज के स्थान पर वरीयान समाज तथा परिवर्तनीय कर्मरत होकर सम्भाव्य यथार्थ के मूर्तिकरण हेतु एक अत्यन्त विवेचित *'उपागम' (methodology)* की एक स्पष्ट अन्तरदृष्टि थी।

गाँधी की आदर्शवादी छवि को उनके आर्थिक तत्त्व से उनके सामाजिक चिंतन को विच्छेदित कर और तथाकथित *"परार्थवादी गैर-पदार्थीय"* आयाम को प्रक्षेपित कर गढ़ा गया है।[१९९] यद्यपि वर्तमान हिंसक समाज व्यवस्था के परिवर्तन की प्रक्रिया में स्वैच्छिक सहभागिता के लिए गाँधी परार्थवादी उत्कंठाओं को जागृत करने की वरीयता देते हैं, तथापि उनके समाज व्याख्या को *"अभौतिक तथा परार्थवादी"* सरलीकरण के रूप में चित्रित नहीं किया जा सकता। गाँधीवादी आंदोलन में ही यह अनुभव काफी हुआ है कि एक शोषणकारी समाज में सामाजिक एकीकरण प्राप्त नहीं किया जा सकता है। केवल दो उदाहरण इसको प्रमाणित करने हेतु काफी है : गाँधी का प्रिय हरिजन उत्थान कार्यक्रम तथा विनोबा भावे द्वारा प्रेरित एवं नेतृत्वित भूदान-ग्रामदान आंदोलन, जो गाँधी उपरान्त सर्वाधिक महत्वपूर्ण गाँधीवादी पहल के रूप में मान्य होगा। अंतत: आचार्य विनोबा को अपने आंतरिक स्वत्व में वापस आना पड़ा, लेकिन जयप्रकाश नारायण को करुणा के द्वारा सामाजिक पुनर्संरचना के पथ पर एक अति दु:खदायी पुनर्मूल्यांकन के दौर से गुजरना पड़ा था। इस काल के अन्य 'आंदोलनों' ने नि:संदेह रूप से यह सिद्ध किया कि प्रतिबिंदुत्व प्रकारता का संस्थागत विरोध एक सुरक्षा बल्ब के रूप में कार्य करता है तथा प्रतिष्ठान के चरम हितों की पूर्ति करता है।

गाँधी की *"आध्यात्मिक समाजवादी"* छवि इस विषयवस्तु के लिए प्रासंगिक है। *"ब्लेक-शैली-ओवेन समालोचकों"* तथा गैर-फेबियनवादियों के समान १९१७-२० में आकार ले रही अहिंसा की गाँधीवादी वैचारिकी औद्योगिक क्रांति की प्रारम्भावस्था में उपस्थित विकट दशाओं के सदृश भारत के वातावरण का निरूपण करती है, जिसके अंतर्गत साम्राज्यवादी पूँजी औद्योगिक उत्पादन के लिए कच्चे माल को बटोरने हेतु हमारे देशी हस्तशिल्पों और कुटीर उद्योगों तथा खेतिहर-श्रमिक अर्थव्यवस्था को विनष्ट कर रही थी। प्रामाणिक रूप से गाँधी को भारतीय समाज के भौतिक विरोधाभासों और विशाल अवरवर्ग की समस्याओं; औद्योगिक उत्पादन प्रणाली की संसाधन मांग के द्वारा अदृश्य सीमांत बहुमत की उत्तरजीविता के संकट की

एक गहन समझ थी, जिसकी आस्तित्विक समस्याएँ *"वर्ग सम्बन्धता"* की परिधि से परे थी। निरन्तर यह मान्य हो रहा है कि पिछड़ेपन और विकास के ठोस पहलुओं में उनकी अंतर्दृष्टि विरल थी। गाँधी के *"नैतिक बल"* पर जोर को किसी भी रूप में गाँधीवादी आंदोलन के साध्य के लिए एक अभौतिक आधार नहीं माना जा सकता है। यह तथ्य *सबऐल्टर्न (subaltern)* ढाँचे में कतिपय तृणमूल गाँधीवादी आंदोलनों के अध्ययनों द्वारा उपलब्ध नूतन अंतर्दृष्टियों तथा हाल के वर्षों में *'चिपको'* और अन्य पर्यावरणीय आंदोलनों से प्राप्त नजरिये के माध्यम से स्पष्टत: प्रमाणित हुआ है।

यह निष्कर्षित करने का अधिक बड़ा आधार है कि गाँधी काफी हद तक एक संरचनावादी थे। उन्होंने संघर्ष को एक संघर्षपूर्ण स्थिति में लिप्त व्यक्तियों में नहीं वरन् सामाजिक संरचना में अंतर्निर्मित पाया। उपनिवेशवाद एक संरचना थी। वैसे ही जाति भी। व्यक्तिगत कर्ता उनमें अपनी भूमिका कहें तो, *"विखंडित" (alienated)* व्यक्तियों के रूप में अदा कर रहे थे। अतएव उसके संरचनात्मक आधार को स्वीकारते हुए गाँधी ने एक संघर्ष में शामिल बलशाली और कमजोर पक्ष के बीच अन्तर किया। निराकरण एक संघर्ष के इच्छित परिणाम का केवल एक पहलू था। उसका सर्वोपरि प्रयोजन एक उच्चतर स्तर पर एक नया सम्पक्ष सृजित करना था। वास्तव में, संघर्ष को समाज में एक उत्पादनीय तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया। अत: आमूल समाज परिवर्तन की गाँधीवादी अवधारणा अनिवार्यत: विमुक्तिकरण के द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया को सन्निहित करती है, जिसके सामाजिक विश्लेषण में *लम्बाकारता (verticality), स्तरीकरण (hierarchy)* तथा *संघर्ष (conflict)* के *आयाम* परावर्तित किये जाने चाहिए। लेकिन इसके अंतर्गत ज़ोर संस्थात्मक संरचना को परिवर्तित करने पर नहीं, बल्कि नैतिक या वैचारिक मानदण्डात्मक समूह को लागू कर उनकी प्रकार्यता को परिसीमित करना है, जब तक इस प्रक्रिया में, व्यवहार और कार्यशैली में परिवर्तन, स्वयं संस्थात्मक संरचना में अनिवार्य बदलाव न ले आए। गाँधीवादी उपागम संस्थाओं और व्यक्तियों दोनों का द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण लेता है। वह एक संस्था की संरचना को उसके सामाजिक उपयोग या व्यवहार से अलग करता है। सभी संस्थाएँ, नियम, कानून मानवीय है : न ही वे प्राकृतिक व्यवस्था के हिस्से, आज्ञाएँ या पवित्र हैं। उनके वैकल्पिक मानदंड स्थापित करना मानव क्षमता में निहित है तथा तार्किकत:, उनके उपयोग में परिवर्तन कर उन्हें अप्रासंगिक बनाया जा सकता है।

क्रियाशील परिवर्तन की प्रक्रिया में व्यक्ति एक महत्वपूर्ण कारक बन जाता और गाँधी के अनुभवानुसार व्यक्ति को केवल *"अपने स्वभाव के बेहतर हिस्से को खोजना होगा और अपने हृदयों में प्रविष्ट कर"* स्वयं को रूपांतरित करना है। अर्थात्, एक *'नैतिकतावादी मूल्य प्रणाली'* (न कि क्षणिक अहंवादी) की दृष्टि से, समाज के साथ, अन्य व्यक्तियों के साथ अपने अंतर्सम्बन्ध के विन्यास एवं अपनी भूमिका को मनुष्य द्वारा पुनर्परिभाषित करना होगा। गाँधीवादी व्यवस्था में, यही वैयक्तिक अन्तररूपांतरण सभी वास्तविक सामाजिक एवं क्रांतिकारी परिवर्तनों की गत्यात्मक धुरी है। गाँधी के परिवर्तन की गवेषणा निम्न आकार लेती है :- (क) परिवर्तन के लिए परिवर्तन; (ख) परिवर्तन दूसरों को बदलने के लिए; (ग) स्व-परिवर्तन तथा वापस संसार में लौटना; और (घ) परम सत्य की प्रतिबद्ध प्रदीप्ता में दूसरों के साथ मिलकर यहाँ तथा अभी परिवर्तन की सचेष्टता। यद्यपि गाँधी मूल्यों के प्रति वचनबद्ध है, लेकिन वह अधिनायकवादी नहीं हैं। वह सार्वभौम एवं विशेष दोनों को

मान्यता प्रदान करते है, लेकिन ऐतिहासिक रूप से विकसित आदर्शमूलक प्रणाली प्रस्तुत नहीं करते हैं। इस निरपेक्ष-विशेष अन्तर्सम्बन्धता में, गाँधी परिवर्तन के सिद्धांत में तीन उपगमों का प्रयोग हुआ है :- (क) इतिहास-नायक के रूप में सिद्धांत; (ख) सापेक्षवाद के प्रति दृष्टाभाव; तथा (ग) सचेत चयन और कर्म द्वारा निश्चित मूल्यों के आलोक में ऐतिहासिक उपलब्धियाँ। सापेक्ष को निरपेक्ष करने तथा निरपेक्ष को सापेक्ष करने में एक निरंतर द्वन्द्व बना रहता है। इस नाटक में *"मास्क-परसोना"* *(Mask-Persona)* विभेद के समान है। अपने नकाबों को हटाने हेतु सत्याग्रह तात्विक रूप से एक चुनौती है।

गाँधी परम निरपेक्ष सत्ता में विश्वास करते हैं। उनके लिए, सत्य अर्थात् ईश्वर, परम यथार्थ है। परंतु जब वह सत्य को सामाजिक आवश्यकताओं से सम्पृक्त करते हैं, तो वह सापेक्ष चरित्र वरण कर लेता है। इसीलिए गाँधी कहते हैं कि जब तक वे निरपेक्ष सत्य तक नहीं पहुँचते, तब तक उन्हें सापेक्ष सत्य से ही सन्तुष्ट होना होगा। अतएव उनकी क्रांति इसी सत्य की अवधारणा से प्रवाहित होती है। चूँकि सत्य ही एकमात्र यथार्थ है, इसीलिए वह सामाजिक सम्बंध में अहिंसा को परिवर्तनकामी कार्यक्रम के एक नैतिक मूल्य व्युत्पत्ति के रूप में खोजना चाहते हैं। वस्तुत:, परिवर्तन के मूल्य स्वयं में स्वायत्त है क्योंकि यद्यपि सत्य सापेक्ष है, तथापि वह मार्क्सवादी अर्थ (यानि अधि-संरचनात्मक स्वरूप) में व्युत्पन्न हुआ नहीं है। चूँकि सत्य व्यक्ति-व्यक्ति में भिन्न हो सकता है, अहिंसा उसका अनिवार्य उपप्रमेय है और इसी से क्रांतिकारी परिवर्तन के सम्पूर्ण गाँधीवादी नीतिशास्त्र प्रवाहित होता है। परिवर्तन को प्रत्येक व्यक्ति के सत्य से आरम्भ होना चाहिए और परीक्षित किया जाना चाहिए कि वह परम निरपेक्ष है अथवा नहीं। यह *'स्व-गुप्तीकरण'* से भिन्न *'स्व-प्रकटीकरण'* और *'सह-प्रकटीकरण'* है। अत:, गाँधी के लिए परिवर्तन सदायित्वबोध वचनबद्धता की संघटनात्मक स्थापना है।

पाद-टिप्पणी संदर्भ

१- परिवर्तन के अनेक प्रकार है : (क) वातावरण-सम्बन्धी परिवर्तन (भौतिक, भूगर्भ, नक्षत्र आदि), (ख) शारीरिक परिवर्तन (ग) मानसिक परिवर्तन, (घ) अनुकरण द्वारा परिवर्तन, देखिए एफ० ई० लुमले : सोशियोलॉजी (समाज परिवर्तन अध्याय)

२- प्रमाण की कई प्रकार के हैं–व्यक्तिगत, पुरातात्विक, जातीय, ऐतिहासिक प्रमाण आदि देखिए लुमले, वही

३- विलियम्स, मोनियर : संस्कृत - इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ३२, 'सूर्य सिद्धान्त'–१.६८;२.२८

४- पाणिनी : अष्टाध्यायी सूत्र, ७-३-७३

५- इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रीलिजन एण्ड एथिक्स, खण्ड-१०, पृ० ५२८६

६- इनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज़, खण्ड - १३, पृ० ३६७

७- इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, खण्ड-८, पृ० ८५८ ; खण्ड - १०, पृ० २८२, २२७ ; खण्ड - १५, पृ० ५६६; खण्ड - १२, पृ० ७४९ ; खण्ड - १७, पृ० २२१ ; खण्ड - १८, पृ० ६५६ ; खण्ड - २२, पृ० १२९.

८- दत्ता, डी० एम० : 'फिलॉसाफिकल बेसिस ऑफ सोशल रिवोल्यूशन' इन प्रोसीडिंग ऑफ इंडियन फिलॉसाफिकल कांग्रेस, १९५६, हिबर्ट जर्नल, जुलाई, १९५४

९   जे० बी० कृपलानी : सामाजिक क्रांति और भूदान, पृ० ४७

१०   भगवद्गीता, अध्याय १८.२०

११- नासदीय सूक्त मे कहा गया है-

तम आसीत्तमसा गूढमग्रे

अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

तुच्छयेनाम्वापिहितं यदासीत्

तपसस्तन्महि नाजायतैकम् ।। १०/१२०/३।। ऋग्वेद

१२- अथर्ववेद, १९/५३

१३- तिलक : गीता रहस्य, पृ० ६९७

१४- सिरकार, बिनॉय कुमार : "सम बेसिक आईडियल्स ऑफ पॉलिटिकल थिंकिंग इन ऐन्शिएंट इंडिया", दि कल्चरल हेरिटेज़ ऑफ इंडिया, खण्ड - २, पृ० ५२०

१५- श्री अरविन्द : मैन - स्लेव ऑर फ्री? पांडिचेरी, १९६६, पृ० ३७-३८

१६- तिलक : गीता रहस्य, पृ० ६०९

१७- वही, पृ० ४५६

१८- सिरकार, बी० के० वही, पृ० ५२०

१९- पत्रिकर, के० एम० : दि स्टेट एण्ड दि सिटीज़न, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६०, पृ० ९५

२०- कालेकर : दि गीता ऐज़ जीवन-योग, भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९६७, पृ० १७

२१- मूलर, मैक्स : दि सिक्स सिस्टम्स् ऑफ इंडियन फिलॉसफी, लॉग्समैन, ग्रीन एण्ड क०, लंदन, १९१९, पृ० १११

२२- राधाकृष्णन, एस० : भारतीय दर्शन, भाग - एक, पृ० ५४०

२३- वैन ब्यूटेनेन, जे० ए० बी० : रामानुज ऑन दि भगवद्गीता, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६८, पृ० १४७

२४- स्वामी निखिलानंद (अनु०) : श्री शंकराचार्य का आत्म-बोध, श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९६७, पृ० ६७

२५- स्वामी चिन्मयानन्द : दि भगवद्गीता, अध्याय १४, १५, चिन्मय पब्लिकेशन ट्रस्ट, मद्रास, १९७७, पृ० ८

२६- राधाकृष्णन : रीलिज़न इन ए चेंजिंग वर्ल्ड, जार्ज एलन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, १९४८, पृ० १४९

२७- वही, पृ० २६

२८- वाल्कर, केनेथ : सो ग्रेट ए मिस्ट्री, विक्टर गोलांज़ लिमिटेड, लंदन, १९५८, पृ० ३५७

२९- सम्पूर्णानन्द : इंडियन सोशिलिज़्म, एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६१, पृ० ८

३०- शौरी, अरुण : हिंदूइज़्म - एसेन्स एण्ड कान्सिक्वेन्स, विकास पब्लिशिंग हाउस, साहिदाबाद, १९७९, पृ० ३०५

३१- जेहनर, आर० सी० : दि भगवद्गीता, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, १९७६, पृ० १५

३२- डॉ० सम्पूर्णानन्द : इंडियन सोशलिज्म, पृ० ७

३३- गीता, अध्याय ११:१३ (अनासक्ति योग भाष्य)

३४- राधाकृष्णन : भगवद्गीता, पृ० १६१

३५- महाभारत (हिन्दी अनुवाद), अध्याय १२.२९८.१७

३६- राधाकृष्णन : ईस्टर्न रीलिज़न एण्ड वेस्टर्न थॉट, पृ० १२४

३७- सोरोकिन, पी० ए०, पृ० २०२

३८- गीता, अध्याय ११:८

३९- हार्टशोर्न : रीयलिटी एज़ ए सोशल प्रोसेस, पृ० ३४

४०- व्हाइटहेड, ए० एन० : साइंस एण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड, पृ० ८१

४१- मैकाइवर और पेज़ : सोसाइटी, पृ० ४३

४२- गीता, अध्याय १८:६५

४३- गीता, अध्याय ४:१३ (चातुर्वर्ण्यम् मया सृष्टिम् गुण कर्मविभागशः)

४४- स्वामी प्रभवानंद : दि स्पिरिचुअल हेरीटेज़ ऑफ इंडिया, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लंदन, १९६२, पृ० १०५

४५- भगवद्गीता, अध्याय २:३

४६- वही, अध्याय १८:१७

४७- तिलक : गीता रहस्य, पृ० ५२८

४८- वही, पृ० ९४८

४९- वही, पृ० ५६२

५०- राधाकृष्णन : ईस्टर्न रीलिज़न एण्ड वेस्टर्न थॉट, पृ० १२३

५१- तिलक : गीता रहस्य, पृ० ५२३

५२- गीता, अध्याय ३:२७

५३- वही, अध्याय ३:९

५४- बेसेंट, ऐनी : हिंट्स ऑन दि स्टडी ऑफ दि भगवद्गीता, थियोसोफिकल पब्लिशिंग हाउस, अड्यार, मद्रास, १९६३, पृ० १९

५५- श्री अरविन्द : एसेज़ ऑन दि गीता, पृ० २२८

५६- सिन्हा, एच० एस० : कम्यूनिज़्म एण्ड गीता, दि कन्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, दिल्ली, १९७९, पृ० १२९

५७- पन्निकर, के० एम० : हिंदुइज़्म एण्ड दि वेस्ट, पंजाब यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन ब्यूरो, चंडीगढ़, १९६४, पृ० ४३

५८- सिन्हा : वही, पृ० १-२

५९- पन्निकर, के० एम० : दि फाउंडेशन ऑफ न्यू इंडिया, जार्ज़ एलन एण्ड अनविन लि०, लंदन, १९६३, पृ० ४१

६०- मुंशी, के० एम० : भगवद्गीता एण्ड मार्डन लाइफ, पृ० ३४

६१ भगवद्गीता, अध्याय ४:४२

६२ तिलक : गीता रहस्य, पृ० ९६६

६३ मुंशी, के० एम० : स्पार्कस फ्रॉम दि एनविल, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६२, पृ० १२६

६४- ब्रुक्स, एफ० टी० : दि गास्पेल ऑफ लाइफ, खण्ड - १, व्यास आश्रम, अड्यार, मद्रास, १९१०, पृ० १२९

६५- गांधी : गांधी इन्टरप्रेट्टस दि भगवदगीता, ओरिएन्ट पैपरबैक्स, दिल्ली, पृ० १९०

६६- हरिजन, ८.५.१९३७

६७- वही, २.३.१९४०

६८- वही, ९.१०.१९३७

६९- आत्मकथा, पृ० ३६५

७०- शुक्ला, चन्द्रशंकर (संपा०) : कनवरसेस्न्स् ऑफ गाँधी, नवम्बर, १९३३, बाम्बे : वोरा, १९४९, पृ० २८

७१- यंग इंडिया, अक्टूबर, १९२४

७२- प्यारेलाल : महात्मा गाँधी - दि लास्ट फेज, खंड - २, पृ० १३८

७३- अय्यर, राघवन एन० : दि मॉरल एण्ड पॉलिटिकल थॉट ऑफ गाँधी, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, २००० में उद्धृत, पृ० १०३

७४- पास्तेरनाक, बोरिस : डॉ० ज़िवागो, मैक्स हेवार्ड (अनु०), कालिंस एण्ड हारविल, लंदन, १९५८, पृ० ११७

७५- यंग इंडिया, सितम्बर, १९२६

७६- वही, नवम्बर, १९३१

७७- हिंद स्वराज, नवजीवन, १९३८, पृ० १३०

७८- अय्यर द्वारा उदधृत, वही, पृ० १०४

७९- वही, पृ० १०५

८०- यंग इंडिया, फरवरी, १९२२

८१- मिल्स, सी० डब्लू० : इमेजेस ऑफ मैन (न्यूयार्क : जार्ज ब्रैज़ीलर, १९६०), पृ० ३

८२- यह माना जाता है कि सम्भवतः प्लेटो के 'रिपब्लिक' में डाक्टरों और वकीलों की आलोचना से उस समय प्रभावित हुए थे, जब वह 'ऐपोलजी' का गुजराती में अनुवाद कर रहे थे।

८३- सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड - १०, पृ० २१

८४- वही, खंड - १०, पृ० ३७

८५- हिंद स्वराज, पृ० २५-२६

८६- यंग इंडिया, सितम्बर २२, १९२० और मार्च २३, १९२२

८७- हिंद स्वराज, पृ० ५६, साथ ही देखें एरिक एच० एरिकसन : गाँधीज़ ट्रुथ (न्यूयार्क : नार्टन, १९६९), पृ० २६५-२६९

८८- वही, पृ० ५२

८९- सुल्लिवैन, हैरी स्टैक : दि फ्यूजन ऑफ साइकेट्री एण्ड सोशल साइंस (न्यूयार्क : नार्टन, १९५३)। सुल्लिवैन के अनुसार एक अनैतिक व्यक्ति में उदासीनता, निराशा, भावनात्मक दुर्व्यवस्था, उद्देश्यहीनता, असुरक्षा, असंतुष्टि के गुण दृष्टिगोचर होते है। तद्नुसार, एक व्यक्ति के संसार का महत्वपूर्ण तथा आतंरिक रूपेण विश्वसनीय पहलू का शक्तिपात्त होना अनैतिकीकरण (demoralization) का प्रमुख कारण है।

९०- स्थिर तथा परम्परावादी सभ्यता सम्भाव्य वैयक्तिक द्वंद्वों का सँकरा विस्तार प्रस्तुत करती है। लेकिन जब सभ्यता तीव्रतर परिवर्तित होती है, तो अंतर्विरोधाभासी मूल्य एवं अपसरणीय जीवन पद्धतियाँ अगल-बगल विद्यमान होती है, जो व्यक्ति को कठिन और जटिल विकल्पों से घेर देती है। इस सक्रंमणकालीन अवस्था को हार्ने 'संस्कृति का शक्तिपात' कहतीं हैं। देखें- हार्ने, कैरेन : दि न्यूरॉटिक पर्सनाल्टी ऑफ आवर टाइम (न्यूयार्क : नार्टन, १९३७)

९१- सम्पूर्ण वाङ्मय, खंड - १४, पृ० २६०

९२- पारेख, भिखु : गाँधीज़ पोलिटिकल फिलॉसफी - ए क्रिटीकल एक्जामिनेशन (लंदन : दि मैकमिलन प्रेस लि०, १९८९), पृ० ५३

९३- गांगुली, बी० एन० : गाँधीज सोशल फिलॉसफी - परस्पेक्टिव एण्ड रेलेवेन्स (बम्बई : वाइकिंग पब्लिशिंग हाउस, १९७३), पृ० १२

९४- यंग इंडिया, नवम्बर ११, १९३१

९५- जैनेन्द्र कुमार : सर्वोदय अर्थशास्त्र अंक - सम्पदा (अखिल भारतीय सर्वसेवा संघ प्रकाशन, अहमदाबाद, १९४९), पृ० ५८

९६- भावे, विनोबा : सर्वोदय विचार और समाज शास्त्र, (अ० भा० सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६४), पृ० ५७

९७- भट्टाचार्य, डा० प्रभात कुमार : गाँधी दर्शन (नई दिल्ली : रिसर्च पब्लिकेशन, १९७२), में उद्धृत, पृ० १०८

९८- वही, पृ० १६३

९९- दादा धर्माधिकारी : सर्वोदय दर्शन (वाराणसी : अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, १९५६), पृ० ६१

१००- विनोबा : सर्वोदय विचार और समाजशास्त्र, पृ० १७४

१०१- वही, पृ० ५७

१०२- क्लार्क, डब्लू० एच० : द साइकोलॉजी ऑफ रिलीजन (न्यूयार्क : मैकमिलन, १९५१), पृ० २१७-२१८, हृदय परिवर्तन की तीन अवस्थाएँ हैं- (क) विक्षोभ, (ख) हृदय-परिवर्तन-संकट और (ग) शांति। देखिये, ई० टी० क्लार्क : द साइकोलॉजी ऑफ रिलीज़स अवेकनिंग, पृ०४७

१०३- बासु०, ए० एन० : स्टडीज़ इन गांधीज़्म, पृ० ३४२-३४३

१०४ क्लार्क, डब्लू० एच० : वही, अध्याय ९

१०५- भूदान यज्ञ (हिंदी साप्ताहिक), पटना, ५-१-१९५४

१०६- श्री ए० के० गोपालन, भूतपूर्व विरोधी दल के साम्यवादी नेता का भाषण।

१०७- भूदान यज्ञ (हिन्दी साप्ताहिक), पटना, २-७-१९५४

१०८- भूदान (अंग्रेजी साप्ताहिक), वर्धा, १९-३-१९५८

१०९- क्लार्क : वही, पृ० २१२, मनोवैज्ञानिक सिद्धांत यह है कि हमारे मन में जो विचार, भाव और संवेग उत्पन्न होते हैं, वे कालक्रम से हमारे अर्ध-चेतन मस्तिष्क में जाकर कई प्रकार की सांवेगिक ग्रँथियाँ एवं क्रियाएँ पैदा करके हमारी अभिरूचियों तथा मूल्यो को परिवर्तित कर देती है। जब ये ग्रंथियाँ उभर कर हमारे चेतन मस्तिष्क में आती हैं, तो हम बिलकुल उनके वश मे होकर अपने को आमूल परिवर्तित पाते हैं। जिसके लिये हमें पूर्व में अनासक्ति थी, उसी से आसक्ति हो जाती है। जिससे हम घृणा करते थे, उसी से प्रेम करने लग जाते हैं (उपविरत्, पृ० १६१)। प्रसिद्ध लेखक स्टारबक के अनुसार संपरिवर्तन एक किशोरावस्था की घटना है। जेम्स ने इस सम्बन्ध में अर्द्धचेतन-उद्भव का सिद्धांत दिया है।

११०- भूदान यज्ञ (हिन्दी), २-७-१९५४

१११- वही

११२- लैगंफील्ड, बोरिंग (सम्पा०) : फाउंडेशन ऑफ साइकोलॉजी, पृ० ५७७

११३- उपविरत्, पृ० ५६३

११४- यंग, किम्बल : हैण्डबुक ऑफ सोशल साइकोलॉजी, पृ० ४३१

११५- विनोबा : भूदान-गंगा, भाग-२, पृ० १४३

११६- एक्सट्रैक्ट्स फ्राम द सोवियत फिलॉसफिकल डिक्शनरी, पृ० १४

११७- आवडेकर, शं० द० : सर्वोदय मासिक, अगस्त, १९५४

११८- आवडेकर, शं० द० : सत्याग्रही शक्ति, पृ० ४३

११९- ठक्कर, विमला : दादा का स्नेह-दर्शन, पृ०९

१२०- हरिजन, १५-७-१९१९

१२१- धीरेन्द्र मोहन दत्त : प्रोसिडिंग्स ऑफ इण्डियन फिलॉसफिकल कांग्रेस, (मैसूर, १९५२), पृ० ८

१२२- भूदान - यज्ञ (हिन्दी), २-७-१९५४

१२३- वही : भूदान आरोहण (नारायण देसाई), पृ० ७१

१२४- मजुमदार, धीरेन्द्र : युग की महान चुनौती, पृ० ४०

१२५- बाइंयूरैन्ट, जोन : द कॉनकेवेस्ट ऑफ वॉयलेन्स - द गांधीयन फिलॉसफी ऑफ कनफ्लिक्ट, (बम्बई : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५९), पृ० VII

१२६- नेइस, आर्नी : गाँधी एण्ड द न्यूकिल्यर एज़ (न्यू जर्सी : द बेड-मिनिस्टर प्रेस, १९६५), पृ० ३९

१२७- किंग जूनियर, मार्टिन लूथर : व्हाय वी कान्ट वेट, (न्यूयार्क : द न्यू अमेरीकन लाइब्रेरी, १९६४), पृ० ७९

१२८- फिशर, लुई : द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी (लंदन : जनिथन केप, १९३१) पृ० २९३-२९४

१२९- बार्कर, अर्नेस्ट : प्रिंसीपल्स ऑफ सोशल एण्ड पॉलिटिकल थ्योरी, (ऑक्सफोर्ड : क्लैरेन्डन प्रेस, १९५२), पृ० २७८

१३०- गांधीयन आउटलुक एण्ड टेकनिक्स (नई दिल्ली : भारत सरकार, १९५८), पृ१० ५८-५९

१३१- गाँधी : 'माई एक्सपेरिमेंट्स विद ट्रुथ'

१३२- 'इंडियन ओपिनियन' का गोल्डेन नम्बर, पृ० ९

१३३- हक्सले : 'एण्ड्स एण्ड मीन्स', पृ० १

१३४- 'यंग इंडिया', खण्ड - २, पृ० ४३५

१३५- 'हिन्द स्वराज', पृ० १०५

१३६- डा० सीतारमैया : 'हिस्ट्री ऑफ कांग्रेस', पृ० ९७९

१३७- गोपीनाथ धवन : वही, पृ० १३५

१३८- 'यंग इंडिया,' १४ जनवरी, १९२०

१३९- वही

१४०- वही, ५ नवम्बर, १९१९

१४१- वही, प्रथम - खंड, पृ० १८

१४२- 'सत्याग्रह ऑफ साउथ अफ्रीका', मद्रास, १९२८, पृ० ६

१४३- 'यंग इंडिया', २६ दिसम्बर, १९२४

१४४- 'इंडियन ओपिनियन', गोल्डेन नम्बर, पृ० ९

१४५- वही

१४६- 'यंग इंडिया', १० मार्च, १९२०, पृ० ५३

१४७- 'हरिजन', २८ जनवरी, १९३९, पृ० ४४३

१४८- 'स्पीचेज़', पृ० ७११

१४९- 'यंग इंडिया', द्वितीय खंड, पृ० ८६४

१५०- 'हरिजन', २० मार्च, १९३७, पृ० ४१-४२

१५१- श्रीधरनी, के० एल० : वॉर विदाउट वॉयलेन्स, गोलान्ज़, प्रथम संस्करण, १९६६, पृ० १२

१५२- धवन, गोपीनाथ : 'पॉलिटिकल फिलॉसफी ऑफ महात्मा गांधी', पृ० २६

१५३- यंग इण्डिया, १४ जनवरी, १९२०

१५४- वही

१५५- वही

१५६- वही, ९ फरवरी, १९२२

१५७ वही

१५८- वही, २२ दिसम्बर, १९२०

१५९- वही, २० अप्रैल, १९२१

१६०- वही, १३ अक्टूबर, १९२१

१६१- वही, २० अप्रैल, १९२१

१६२- वही, ११ अगस्त, १९२०

१६३- वही

१६४- वही, २८ नवम्बर, १९२१

१६५- वही, ४ फरवरी, १९२०

१६६- देखिये, करिस्पाँडेन्स विद गवर्नमेन्ट (नवजीवन)

१६७- हरिजन, १० फरवरी, १९४६

१६८- वही

१६९- हरिजन, १० फरवरी, १९४६

१७०- वही, १७ फरवरी, १९४६

१७१- वही, २४ मार्च, १९४०

१७२- वही, २८ मार्च, १९३९

१७३- वही, ११ अप्रैल, १९४६

१७४- वही

१७५- वही

१७६- वही

१७७- 'हरिजन', १८ अगस्त, १९४०, पृ० २५३

१७८- वही

१७९- ग्रेग, रिचर्ड बी०: ए डिसिप्लिन फॉर नॉन-वॉयलेन्स, अहमदाबाद, १९४६, पृ० ३

१८०- वही

१८१- प्लेखानोव, जी० वी०: दि रोल ऑफ दि इन्डिविजुअल इन हिस्ट्री, मास्को, १९४६, पृ० ११

१८२- वही, पृ० ८

१८३ 'यंग इण्डिया', ७ अप्रैल, १९२७

१८४- 'चर्खा संघ का नव संस्करण' (१९४५)

१८५- वही

१८६- वही, पृ० ४

१८७- वही

१८८- वही, पृ० १५

१८९- 'यंग इण्डिया', प्रथम - खंड, पृ० ९३८

१९०- वही, पृ० २२३

१९१- 'हरिजन', २४ सितम्बर, १९३९, पृ० २६६

१९२- उन्नीथन : चेंज विदाउट वॉयलेन्स - गांधीयन थ्योरी ऑफ सोशल चेंज़, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद, १९८७, पृ० ७३

१९३ सरन, ए० के० : 'गाँधीज़ थ्योरी ऑफ सोसायटी एण्ड आवर टाइम्स' इन गाँधी एण्ड सोशल साइन्सेस, (संपा०-एल. पी. विद्यार्थी) बुकहाइव, नई दिल्ली, १९६९

१९४- वही, पृ० ९६

१९५- ब्लम, फ्रेड : इन ए सेन्टेनरी इयर सिम्पोजियम, स्कूल ऑफ नॉन वॉयलेन्स, लंदन, १९६९, पृ० ६४

१९६- सोरोकिन, पी० ए० : रिकन्स्ट्रक्शन ऑफ ह्यूमैनिटी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६९, पृ० ७७

१९७- धर्माधिकारी, दादा : टास्क्स ऑफ सोशल रिसर्च - ए सिम्पोजियम (गाँधियन इन्स्टीच्यूट ऑफ स्टडीज़, वाराणसी, १९६५), पृ० ५९

१९८- कान्टोयवस्की, डी० : सर्वोदय - दि अदर डेवलेपमेन्ट, विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८०, पृ० २१५-१६

१९९- उदाहरणार्थ देखें, उन्नीथन : चेंज विटाउट वॉयलेन्स - गांधीयन थ्योरी ऑफ सोशल चेंज़, पृ० १७

अष्टम अध्याय

उपसंहार

महात्मा गाँधी प्राचीन हिन्दू परम्परा और संस्कृति के अक्षयवट रूपी भगवद्गीता के अद्वितीय अर्वाचीन पल्लवीकरण हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध– *'भगवद्गीता और महात्मा गाँधी के समाज दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन'* का सैद्धान्तिक मूल निहितार्थ है– भगवद्गीता की आदर्श सामाजिक आचार संहिता के सभ्यतामूलक आधार की मान्य प्रतिष्ठापना के आलोक में महात्मा गाँधी द्वारा अपनी समकालीन सामाजिक पारिस्थितिकी की समाज दर्शनमूलक व्यावहारिक आगमनात्मक व्याख्या। उनका समाज दर्शन सामाजिक जीवन के तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में भगवद्गीता के तत्वमीमांसीय स्वप्रमाणित नैतिक आप्तसत्यों का प्रस्तुतीकरण माना जा सकता है।

सम्भवतः, भगवद्गीता वृहत्तर हिन्दू परम्परा में पायी जाने वाली धर्म की अवधारणा का एक ज्यादा विशद एवं प्रबोधनीय वर्णन सन्निविष्ट करती है। तात्विक रूप से धर्म के ऊपर उपदेश में इसके तीन स्तर है जिसके माध्यम से उपाख्यान आगे बढ़ता है, जिसमें प्रत्येक अनुगामी स्तर को पूर्ववर्ती स्तर के एक उच्चतर विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा तृतीय स्तर को सर्वाधिक परिपूर्ण माना गया है। पहले स्तर पर धर्म अनन्य रूप से व्यक्ति की कामनाओं, मनोवृत्तियों प्रलोभनों और दैनंदिनी जीवन के संकीर्ण साध्यों से सरोकार रखता है। कर्म उसके परिणामों अथवा फल के अर्थों में व्यक्ति की कामनाओं की परिपूर्ति के लिये अनिवार्य है। इस स्वकेन्द्रित धर्म को गैर-आदर्शात्मक अर्थ में धर्म का पहला स्तर माना गया है। दूसरा स्तर सार्वभौमिक ब्रह्माण्डीय धर्म का है। यह अतीन्द्रिक सृजनशील सामर्थ्य चिरन्तन ब्रह्माण्डीय नियम से समीकृत होते हुए व्यक्ति के कार्यों और दुश्कार्यों के अनुसार पारितोष एवं दण्ड की वितरण व्यवस्था सुनिश्चित करता है। तृतीय स्तर पर अपने पूर्ण आदर्शमूलक अर्थ में धर्म सामाजिक व्यवस्था के एक स्तरीकृत श्रेणीबद्ध मापदण्ड को रखता है, जिसके अनुसार वैयक्तिक आचरण, कर्तव्य तथा प्रवृत्तियाँ निर्धारित होती हैं। यह धर्म निर्धारित करता है कि व्यक्ति किस वर्ण का और जीवन के किस चरण पर है तथा इसलिये उसके पदानुसार कौन से कर्म उस पर अवलम्बित हैं। यदि किसी भी रूप में धर्म की व्यवस्थित संरचना खतरे में पड़ती है तो धर्म का ह्रास होता है। परम्परावादी जाति व्यवस्था को समाज के एक विकासोन्मुख प्राकृतिक चातुर्वर्ण व्यवस्था में; इच्छा स्वातन्त्र्य को निर्लिप्त मुक्ति में; सामाजिक-राजनैतिक निष्क्रियता को समस्थैतिक सक्रियता में; वस्तुनिष्ठ समता को एक व्यक्तिनिष्ठ सममानसावस्थां में; तथा गुणात्मक स्वतन्त्रता को एक अपरिवर्तनीय, परमनिरपेक्ष मुक्ति की अवधारणा में विस्तृत करते हुये गीता अर्जुन की अवधारणा को नये आयाम में प्रतिष्ठापित करती है।

गीता के प्रति गाँधी का दृष्टिकोण द्वन्द्व के उनके इस गुण विवेचन में प्रदर्शित होता है, जो दैवीय भाव से पृथक् एक असीम ईश्वर की वैयक्तिक आवश्यकता के प्रति उत्तरदायी एक धर्म और उस धर्म के अन्तर में है, जो सभी की पहुँच में एक ऐसे पथ को निरूपित करता है, जिस पर समझौता नहीं किया जा सकता क्योंकि वह अति सरल है। व्यक्ति चाहे साध्य को कैसे भी अभिव्यक्त करना चाहे, दैवोपलब्धि या सत्य गवेषणा किसी भी धर्म में आसान नहीं मानी गई है और गाँधी यह जानते थे। साथ ही, गाँधी मानते थे कि धर्म को वास्तविक जीवन से समीकृत किया जाना चाहिए; भारत की लगभग अलंघ्य

समस्याओं, जिसको उन्होंने वृहद् विश्व की अहम् आवेशित क्रूरता और हिंसा के एक लक्षण के रूप में देखा, को निष्कासित करने में उनकी (धर्म) एक भूमिका होनी चाहिए। धर्म भविष्य के लिये नहीं रखा जाना चाहिए; उसे अभी एक वास्तविक परिवर्तन प्रसूत करना चाहिए। भगवद्गीता में गाँधी ने इन सभी बातों को पाया।

इस परिप्रेक्ष्य में गाँधी ने गीता के सत्यार्थ को न केवल गहन अध्ययन द्वारा निर्धारित उसकी लेखनीयता की परिस्थितियों में तलाशा, अपितु अपने बीसवीं शताब्दी के व्यक्तिगत विश्वसनीय अनुभवों से प्रमाणित भी किया। लेकिन वे अपने को इस अर्थ में सापेक्षवादी नहीं मानते कि उनके द्वारा ग्रन्थ का समझा गया सत्यार्थ महज एक बीसवीं सदी की व्याख्या थी। उनका अभिमत था कि उनके उद्भूत अर्थ अपनी परिस्थितियों की सीमाओं से परे भी हैं, तथा चूँकि वे गीता के तात्विक अर्थ हैं, इसलिये गीता भी अपनी ऐतिहासिक परिस्थितियों में निरपेक्ष हैं। गाँधी के लिये गीता की अपनी विशिष्ट रहस्यवादी व्याख्या व्यक्ति द्वारा अपने जीवन में गीता को जीने के ऐसे स्वानुभूत दर्शन पर आधारित थी, जिसे वे विश्वास के साथ *'सत्य के प्रयोग'* मानते थे। अतएव किसी एक न्यायवाक्य के आधारवाक्य की तरह वे पूर्वमान्यताओं से एक दार्शनिक प्रणाली को निगमित नहीं करते थे। उनकी अवधारणाएँ अस्तित्ववादी है, जो एक विकासात्मक मूल्य इंगित करती हैं और जिनमें समाहित विधि *'स्वज्ञानमूलक' (heuristic)* है, न कि *'पूर्वस्थापनामूलक' (holistic)*।

एक दार्शनिक एवं व्यावहारिक अभिमुखीकृत एक ग्रन्थ के रूप में गीता सत्य और अहिंसा पर गाँधी के लिये शिक्षाओं का आधार निर्मित करती है तथा एक नूतन नैतिक एवं सामाजिक व्यवस्था की उनकी युगदृष्टि को साथ में संपोषित भी करती है। यह मानते हुये भी कि गीता पूर्व वैदिक साहित्य को समेकित करती एक महान कृति है, वह उसे सटीक रूप से हिन्दू धर्म को परिभाषित करता नहीं मानते हैं। यद्यपि गीता एक उत्कृष्ट दृष्टान्त है तथापि वह एक सांकेतिकता रखती है जो हिन्दू परम्परा की नई दिशाओं तथा सम्भावनाओं की ओर व्यक्ति को सचेत करती है। गाँधी का अभिमत है कि परिस्थितियाँ बदलती हैं और धर्मग्रन्थ का अर्थ व्यक्ति की आवश्यकताओं और अनुभवों के साथ परिवर्तित होता है। इसलिये, उन्होंने स्वीकार किया कि गीता की उनकी अपनी समझ एक परिभाषीय प्रबोधन नहीं बल्कि उनके अनुभवों का परिणाम है। इस क्रम में वे इस ग्रन्थ के प्रत्येक शब्द को, श्लोक को दैवानुप्राणित मानकर स्वीकार नहीं करते। कोई भी व्याख्या कितनी भी विशिष्ट क्यों न हो यदि वह तर्कणा और नैतिकता के विपर्यय में है, तो वे उनके लिये अस्वीकार्य है। ग्रन्थों के प्रति उनका दृष्टिकोण समालोचनात्मक है। इसलिये वह गीता को उद्देश्य परिभाषित करता हुआ नहीं, बल्कि एक साधन उपलब्ध कराता हुआ देखते हैं। गाँधी गीता की ओर इसलिये आकर्षित होते हैं क्योंकि वह मूल मानवीय संकटाग्रस्त अवस्था को मान्यता देती है और यह व्यावहारिकता गाँधी के प्रत्येक कथन तथा कृत्य को विशिष्ट रूप से अनुप्राणित करती है, चाहे वह जाति व्यवस्था के आधार पर ग्रन्थों द्वारा अस्पृश्यता की न्यायोचित्यता की उनकी आलोचना हो या स्वधर्म और हिन्दूवादी प्रज्ञा के साथ सुसंगत उनका उदारवादी दृष्टिकोण। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि गीता की तुलना में गाँधी ने भारत की अन्य महान परम्पराओं की उसके नैतिक परिवर्तन के एक ढाँचे को निर्मित करते समय बहुधा अनदेखी की है यद्यपि गाँधी सभी प्रकार के धर्मों से प्रभावित थे परन्तु हिन्दूवाद और गीता उनके लिये विशिष्ट भारतीय पहचान के पीछे एक चलायमान शक्ति बनी रही।

गाँधी का गीता–अध्ययन अपनी परम्परा के प्रति उनके उदारवादी दृष्टिकोण का द्योतक है। गाँधी के लिये वह महत्वपूर्ण था जो कुछ करणीय हो और जिसकी तत्काल वास्तविक उपयोगिता हो। यद्यपि गाँधी गीता के सभी अध्यायों को लाभप्रद मानते थे लेकिन उनके लिये गीता के कथानक का महावाक्य द्वितीय अध्याय के आखिरी बीस श्लोकों और तीसरे अध्याय में उस सन्देश को कार्यान्वित करने का मार्ग सन्निहित है। दूसरा अध्याय निष्काम कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है जबकि तृतीय अध्याय ऐसी निष्कामता को प्राप्त करने के मार्ग को रेखांकित करता है। यद्यपि गीता कर्म, भक्ति और ज्ञान के तीन पारंपरिक योगों का प्रतिपादन करती है, लेकिन गाँधी के लिये गीता की महत्ता उसके *'परित्याग-योग'* या *'अनासक्ति-योग'* में उद्घाटित होती है।

तुलनात्मक दृष्टि से गीता और गाँधी के समाज दर्शन की आधारभूत मान्यताएँ तत्वत: समान हैं, उनमें विभेद केवल उनके वर्णन की विवेचनात्मक शैली में है। इसलिये यह अनिवार्य नहीं, बल्कि रीति सम्बन्धी अन्तर माने जायेंगे। इस सन्दर्भ में निम्नलिखित बिन्दुओं को प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निष्कर्ष के रूप में रखा गया है:–

(i) भौतिकवाद या अध्यात्मवाद, बहुलवाद या एकात्मवाद जैसे एकांगिक अतिवादी तत्वमीमांसीय दृष्टिकोणों को पदार्थ, जीवन एवं मानस के जगत में अभिव्यक्त एक गत्यात्मक, जीवन्त सत्ता के रूप में परम तत्व के दर्शन द्वारा गीता संशोधित करती है, जो *'सबकुछ ब्रह्म है'* जैसे उपनिषदों के धनात्मक शिक्षा पर आधारित है। *'भौतिकवादी नकारता'* तथा *'निवृत्तिमूलक अस्वीकृति'* के मध्य अपनी स्थिति को परिभाषित करते हुये गाँधी अपनी वृहत्तर तात्विक रूपरेखाओं में गीता से सहमत हैं। मध्यम मार्ग अपनाते हुये वह पदार्थमूलक और अध्यात्ममूलक जीवन की सम्पूर्णता से वास्ता रखते हैं। उनका दर्शन गीता के समान पंचकोश के उपनिषदीय सिद्धान्त से एका रखते हुये आध्यात्मिक और लौकिक, आदर्श एवं यथार्थ का एकात्म करता है।

(ii) ईश्वर की अवधारणा के सन्दर्भ में यह विशिष्ट रूप से उल्लेखनीय है कि गीता अवतारवाद की रूढ़िवादी व्याख्या को किनारे रखते हुए व्यक्ति को कृष्ण के उदात्त प्रतीकात्मक स्वरूप की ओर उत्प्रेरित करती है। रूढ़िवादी ईश्वरवाद अथवा कट्टरवादी अनीश्वरवाद के दो अतिवादी दृष्टिकोणों को इस प्रकार समन्वित किया गया है कि ईश्वरवाद इस मात्रा में लौकिक सापेक्ष हुआ है जिससे कि एक अनीश्वरवादी को भी उससे कोई मतभेद नहीं होगा। इसी भावना से अनुप्राणित हो गाँधी भी स्वयं को अनीश्वरवादी का अनीश्वरवाद मानने को तैयार हैं। इस उद्देश्य के लिये गाँधी प्रयास पर अत्यन्त बल देते हैं। न सिर्फ सही और अच्छे को जानना और न ही मृदुल हृदयी प्रवाह को गलत रूप से सच्ची धार्मिक आस्था मान लेना पर्याप्त है। ईश्वरीय प्रेम के महत्व को मानते हुये भी गाँधी उसे केवल कर्म के लिये एक प्रेरक के रूप में देखते हैं; प्रेम का सत्यापित होना कर्मफलित निष्ठा की माँग करता है। गीता में कर्म पर बल गाँधी की इस मान्यता से सीधी अनुरूपता रखता है कि संसार में कर्म के द्वारा किये गये केवल सापेक्ष सत्य के अनुभव के द्वारा ही व्यक्ति मुक्ति के परम सत्य को प्राप्त कर सकता है। इसके अतिरिक्त गीता के समान ही गाँधी ईश्वर के बारे में विरोधाभासी अर्थों में बोलते हैं। ईश्वर सृजनशील है और असृजनशील भी; एक है और अनेक भी; परमाणु

से सूक्ष्मतर है और हिमालय से वृहत्तर भी; वैयक्तिक है और शुद्धतम सत्व भी; धैर्यशील है परन्तु अस्थिर भी; महत्तम लोकतन्त्रवादी के साथ-साथ महत्तम अधिनायकवादी भी तथा न केवल दृष्टिगोचर बल्कि अतीन्द्रिक भी। इसीलिये उन्हें न तो एक शंकरवादी और न एक कट्टरवादी मानना उचित होगा क्योंकि जैसा वे स्वयं कहते हैं कि *'मैं एक अद्वैती हूँ और फिर भी द्वैतवाद का समर्थन कर सकता हूँ।'* उनकी स्थिति वेदान्ती आचार्यों में निम्बार्क की स्थिति के समतुल्य प्रतीत होती है।

(iii) गीता के अनुसार यह हमारे विश्वास पर निर्भर करता है कि यह संसार एक वास्तविक सृजन है अथवा एक भ्रम। यदि हम एक वैयक्तिक ईश्वर में आस्था रखते हैं, तो संसार उनका सृजन और यदि नहीं तो एक भ्रम। इस संसार में गाँधी भी न तो सुन्दर आकारों एवं रूपों की असीम छँटा और न ही विध्वंस, द्वन्द्व तथा मृत्यु की घटनाओं के प्रति अन्धे या अज्ञानी हैं। कोई भी चीज आकस्मिक नहीं है वे अकाट्य कारणता के नियम में विश्वास करते हैं पर साथ ही यह भी मानते हैं कि हम अपने भाग्य-विधाता हैं। यह बुद्धिवाद है लेकिन मनुष्य प्रबुद्ध व भावुक दोनों होता है। इसलिये गाँधी ईश्वरानुकम्पा को सहर्ष स्वीकार करते हैं कतिपय गैर अन्वेषणीय अनिश्चितताओं को जब विज्ञान और तर्क समझाने में असफल होते हैं और उसे यदि एक अंधविश्वास भी माना जाता है तो भी गाँधी उस ईश्वर रूपी अंधविश्वास से चिपके रहेंगे। यह न तो रूढ़िवादी ईश्वरवादी है और न ही कट्टर प्रकृतिवाद, बल्कि यह है ईश्वरवादी प्रकृतिवाद। इस परिप्रेक्ष्य में, वह गीता के समान ही मानव और ईश्वर के मध्य न तो शुद्ध एकता और न ही शुद्ध अन्तर का, बल्कि *'अन्तर-में-एकता' (Identity-in-difference)* का समर्थन करते हैं। *'आदमी खुदा तो नहीं, लेकिन खुदा के नूर से जुदा भी नहीं।'*

(iv) गीता *'योग'* को सामाजिक संयम के अर्थों में व्याख्यायित करती है। प्रत्ययात्मक रूप से *'योग'* का अर्थ है ईश्वर के साथ मानव की आध्यात्मिक समानता और उनके पारस्परिक नि:स्वार्थ प्रेम और बन्धुत्व। यह आदर्श प्रबुद्ध समाज की विशिष्टताओं को निर्मित करते हैं। अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य जैसे योग के नैतिक आदर्श एक योगी के जीवन को सामाजिक बनाते हैं। गीता के अनुसार भौतिक संसार में जीने और एक सीमित मात्रा तक उसका सुखास्वादन करने के लिये व्यक्ति को समाज के साथ संतुलित सम्बन्ध बनाये रखना होगा। तद्नुसार व्यक्ति और समाज दोनों के हितों के सामाजिक समायोजन के द्वारा ही समाज को स्थिर दशा एवं गतिशील दिशा दी जा सकेगी। साथ ही, ऐसे सामाजिक संयम के द्वारा ही गीता व्यक्ति और समाज के हितों की द्वन्द्वता को समाप्त करते हुये सांख्यवादी द्वन्द्वता को भी हल करती है और ईश्वर तथा मानव की अन्तर्क्रिया पर बल देती है। गाँधी भी अपने समकालीन व्यक्तिवादी अभियांत्रिक और समष्टिवादी सामाजिक सिद्धान्तों को नकारते हुए गीता की तरह ही मानते थे कि व्यक्ति को समाज से अलग करना दोनों ही के साथ हिंसा तुल्य है। दोनों को एक साथ उठाना होगा। समाज एक सावयव के सदृश है और मानव शरीर की विभिन्न क्रियाएँ समाज के सामूहिक जीवन के समानान्तर हैं। यह विचार पुरुष-सूक्त में अत्यन्त स्पष्ट रूप से उद्घाटित हुआ है तथा यह आधुनिक सावयवी सिद्धान्त के अत्यन्त निकट है। अत: व्यक्ति और समाज के बीच

द्वन्द्व यथार्थ से ज्यादा प्रतीति है। सभी वस्तुओं का परिमाण बनने के बजाय मनुष्य *'लेवियाथन'* रूपी राज्य के पहिये का एक महज क्षुद्रांश बनकर रह जाता है। अपने समकालीन मनोवैज्ञानिक युग के समान ही गाँधी हमें बड़े अंकों में सोचने के प्रति सचेत करते हैं जिसमें व्यक्ति महज शून्य बनकर रह जाता है। मनुष्य सभी संस्थाओं के ऊपर है जिसके प्राकृतिक अधिकार अनन्य और अडिग निष्ठा के मसले हैं।

(v) गीता ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त की जाति-व्यवस्था को प्रकार्यात्मक सामाजिक समूहों की सावयविक एकता को उजागर, तथा प्रकार्यात्मक वैयक्तिकता को संरक्षित और जाति इकाईयों की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के अर्थों में व्याख्यायित करती है। इसलिये गीता जाति दायित्वों की अव्यवस्था के साथ सामाजिक एवं राजनैतिक अराजकता का जोड़ती है तथा उसे पैदा करने वाली विधियों का दृढ़ता से विरोध करती है। साथ ही, जाति का उसका सामाजिक दृष्टिकोण व्यक्ति, जाति तथा समाज; प्रत्येक इकाई की अनेकता को भी मान्यता देता है। गाँधी की वर्ण–धर्म की समझ सीधे तौर पर गीता आधारित है। यद्यपि गाँधी सामाजिक तथा राजनैतिक दमन के एक संवाहन के रूप में जाति की भर्त्सना करते हैं फिर भी व्यक्तिगत दायित्व को पहचानने के एक माध्यम के रूप में वर्ण धर्म को समर्थित भी करते हैं। वह श्रीकृष्ण की इस उद्‌भावना से पूर्ण रूप से सहमत हैं कि स्व उचित कार्य को करते हुये तथा उस कार्य को करने में आनन्दित होते हुए, एक व्यक्ति सफल होता है, स्वयं को परिपूर्ण करता है। जैसा कि गाँधी ने स्वयं टिप्पणी की है कि वर्ण-धर्म एक ऐसा नियम है जो उसके द्वारा अनुशासित समुदाय के अधिकारों या विशेषाधिकारों को उल्लिखित अनुमति न देकर, अपितु उनके कर्त्तव्यों को देता है। गाँधी इस बात पर बल देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने स्वभावानुसार नि:स्वार्थ होकर अपने कर्तव्य को करे तो वह परिपूर्णता के शिखर पर पहुँच जायेगा। लेकिन गाँधी वर्ण को व्यक्तिगत परिपूर्ति या वैयक्तिक संकल्प स्वातन्त्र्य को अवरुद्ध करती एक प्रक्रिया नहीं मानते थे क्योंकि उनके लिये कर्म का सार अहंकार रहित सचेत चयन था। इसलिये गाँधी के अनुसार स्व अस्तित्व के एक नियम के रूप में वर्ण की परिपूर्ति किसी आदर या शर्म से नहीं बल्कि स्वत: स्फूर्त होनी चाहिए। साथ ही, वर्ण ऊँच नीच का भेद नही करेगा। जहाँ एक ओर गीता में कृष्ण अर्जुन को उपदेश देते हैं कि व्यक्ति को वह कार्य नहीं त्यजना चाहिए जिसके लिये वह पैदा हुआ है। गाँधी का तर्क है, कर्तव्यों की अपेक्षा अधिकारों और विशेषाधिकारों पर बल देने में आधुनिक जाति-व्यवस्था ऐसे प्रथागत बन पड़ी है जैसा कभी गीता का इरादा नहीं था। इसलिये, यद्यपि गाँधी अपने समय में आये जाति-व्यवस्था के स्तरीयकरण में एक कठोर प्रवर्तन के पापों के प्रति संवदेनशील थे लेकिन वे उसे पूरी तरह उखाड़ फेंकना नहीं, बल्कि कतिपय संशोधित और कम कठोर आकार में बनाये रखना चाहते थे। यह सर्वविदित है कि वे परम्परागत चातुर्वर्णीय व्यवस्था से तथाकथित *'अस्पृश्यों' (हरिजनों)* के निष्कासन की आलोचना करते थे। साथ ही उन्होंने निम्नतर जातियों को हिन्दू सामाजिक और धार्मिक जीवन की मुख्य-धारा (तथा ज्यादा सामान्य रूप से अखिल भारतीय जीवन में शक्ति और अधिकारों के आर्थिक एवं राजनैतिक वितरण) में समायोजित करने के लिये कठिन प्रयास भी किया। लेकिन, ऐसी संशोधित समाज व्यवस्था उनकी समाज की समतामूलक अवधारणा से खुले आम विरोध में है; जो

कि एक अत्यन्त विवादित विषय है।

(vi) गीता के अनुसार मानव पशु और दैवीय हाड़-मांस और आत्मा, शुभ और अशुभ दोनों ही है। इसलिये गीता उसके लिये न तो विश्व को नकारते नैराश्यवाद के मत से प्रसूत अतिरेक निवृत्तिवाद और न ही अपरिमित सुखवाद अनुमोदित कर सकती है। उसका उपाख्यान मध्यम मार्ग अथवा मध्यांक के सिद्धान्त पर अवस्थित है। कुछ-कुछ पाश्चात्य आत्मपूर्णतावाद के सदृश गीता एपिक्यूरियनवाद, इन्द्रियवाद और सुखवाद की *'स्कायला' (Scylla)* और निवृत्तिवाद, बुद्धिवाद तथा कठोर प्रणालीवाद की *'चैरीब्डिस' (Charybdis)* रूपी चट्टानों से बचते हुये अपने कथानक के मार्ग को प्रशस्त करती है। इस सन्दर्भ में गीता व्यक्ति और जाति के स्वधर्म के रूप में ब्रह्माण्ड के अकाट्य नैतिक नियम– वैदिक ऋत् को सामाजिक जीवन पर लागू करती है। स्वधर्म व्यक्ति और समाज के आचरण के लिये अकाट्य सामाजिक संहिता निर्मित करता है। जिससे कि जीवन में देवत्व फलीभूत हो सके। स्वतन्त्रता एवं समानता की भावना को संस्थायीकृत करते स्वधर्म में अधिकार और कर्त्तव्य सहसापेक्ष हैं। आगे गीता वैयक्तिक स्वतन्त्रता की मान्यता को उपनिषदीय *'स्वत्व'* की प्रकृति के आधार पर व्याख्यायित करती है। वह वैयक्तिक स्वतन्त्रता को उसकी आत्मा की मुक्तावस्था से अलग करते हुए इंगित करती है कि निरपेक्ष मुक्ति की अपरिवर्तनीय अवस्था सत्य है, न कि उसकी स्वतन्त्रता की गुणात्मक परिवर्तनीय दशा। वैयक्तिक स्वतन्त्रता विकास की एक अवस्था है, जबकि गीता अनुमोदित मुक्ति अपने आप में एक दशा है। गीता उपनिषदीय कर्म के परित्याग को कर्म के फलों के परित्याग के अर्थों में एक धनात्मक व्याख्या देते हुये मानती है कि एक निर्लिप्त मन:स्थिति के साथ लौकिक कर्म करते हुये व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक मुक्ति को विस्तीर्ण और उपलब्ध कर सकेगा। गीता नि:स्वार्थ के भागवद सिद्धान्त को भक्ति या नि:स्वार्थ प्रेम के दर्शन के साथ पवित्र करती है। व्यक्ति के द्वारा एक नि:स्वार्थ दायित्व की परिपूर्ति एक पूजनीय कृत्य भी है। चूँकि, व्यक्ति और समाज दोनों ही पारस्परिक प्रेम एवं एकता से ओत-प्रोत है इसलिये उनके मध्य कोई विलगाव या दुर्भावना नहीं हो सकती।

गाँधी के लिये मसला यह है कि कर्म में अहिंसा के परिभाषित तत्व क्या हैं, तथा यही वह सन्दर्भ है जिसमें गीता इतनी महत्वपूर्ण हो जाती है। यद्यपि गाँधी *'सर्मन आन दि माउंट'* तथा असाई के सेंट फ्रांसिस से उतने ही अभिभूत हुए थे जितना कि गीता से, तथापि गीता का महत्व उसके परित्याग के इस मुख्य अभिकथन में समाहित है, जो गाँधी के अनुसार सत्य एवं अहिंसा के पालन हेतु आवश्यक है। गाँधी ने भी गीता के ही समान कर्मकाण्ड की रूढ़िवादी प्रवृत्तियों तथा निवृत्तिवाद की अतिक्रामकताओं; जो कर्म और सामाजिक दायित्वों को त्यागने के लिये प्रेरित करती है; की भर्त्सना की। गाँधी गीता में हुए कर्म की विवेचना को भारत में विद्यमान परिस्थितियों के संदर्भ में प्रासंगिक मानते थे। उनका दावा था, कि उनकी अपनी सक्रियता तथा कर्म में सतत अनुबन्धन उसकी कर्मयोग की शिक्षाओं से ही प्रेरित थे। पुन: इस क्रम में वो गीता को अक्षरश: उद्धृत करते हुए दिखते हैं। कृष्ण जैसा भक्तों से उनमें मन लगाने के लिए कहते हैं, जिससे वे सभी उनको संपूर्णता में जानकर अपनी सारी शंकाओं का निवारण कर लें; वैसे

ही यद्यपि गाँधी वैयक्तिक प्रयास पर अत्यधिक बल देते हैं, तथापि वे मानते हैं कि ऐसे कर्म को दैवीय सुख तथा अभिप्रेरणा से पृथक् नहीं किया जा सकता एवं ईश्वर के साथ किसी भी सम्बन्ध में यह अन्तर्निहित है कि व्यक्ति की उपलब्धि का मोल केवल ईश्वर के साथ सम्बन्ध में ही है, जो उसके अहंकार को मिटाकर मुक्ति प्रदान करती है। कृष्ण द्वारा युद्ध को न्यायोचित ठहराने के दिखते प्रयास गीता में एक अहम मुद्दा है जो गाँधी को अहिंसा की मूल मान्यताओं से विरोधाभासी प्रतीत होता है। गाँधी ने इस घटनाक्रम के हिस्से को लाक्षणिक रूप से पढ़ते हुए माना कि भगवद्गीता जिस युद्ध के विषय में बात करती थी, वे वास्तव में व्यक्ति के भीतर विभिन्न शक्तियों और भावावेगों के मध्य एक आंतरिक द्वन्द्व तथा संघर्ष का प्रतीक है। जो उसके जीवन क्रम में निरन्तर चलता रहता है तथा अन्ततः जिसमें सत्यनिष्ठता की शक्ति विजित होती है तथा असत्यनिष्ठता की शक्ति कमजोर या पराजित होती है। गाँधी नहीं मानते थे कि गीता तीसरे अध्याय के बाद युद्ध का उल्लेख करती है। उनके लिये वह एक स्वज्ञानमूलक था जो उसी प्रकार संवाद को आगे चलाता रहा जिस प्रकार जल्दी से आधुनिक युद्ध अपने लड़ाकों को सम्मेलन की टेबल (सम्भवतः एक दार्शनिक परिचर्चा कक्ष) तक भी खींच लेता है। चूँकि गाँधी महाभारत को एक ऐतिहासिक रचना नहीं मानते इसलिये उनका अभिमत है कि उसके एक अंश के रूप में गीता भौतिक युद्ध के नियमों की नहीं बल्कि परम परिपूर्ण व्यक्ति को जानने की विधि की शिक्षा देती है। लेकिन, यहाँ यह मानना पड़ेगा कि गाँधी यह तथ्य भूल जाते हैं कि गीता में युद्ध एक निरन्तर उपस्थित कथानक है जिसके बिना धर्म के एक स्तर से दूसरे स्तर पर उपदेशात्मक बदलाव सम्भव नहीं होते और अन्ततः सम्पूर्ण महाभारत अपने उद्देश्य में विफल रह जाता। इतिहासकार *डी० डी० कौशाम्बी* के समान ही गाँधी महाभारत में युद्ध के धार्मिक महत्व को नहीं परख सके फिर भी उन्होंने गीता के निष्काम कर्म की अवधारणा की समुचित विवेचना कर उसको अपने सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों के एक सहयोगी वर्ग के रूप में पाया। वे स्पष्ट रूप से समझ पाये कि नैतिक अर्थों में कर्म के परिणामों की ओर गीता न तो एक प्रकार की उदासीनता और न ही अकर्मण्यता की एक मनोवृत्ति सुझाती है। गाँधी गीता को यह प्रस्तावित करते हुए मानते हैं कि यह धर्म है जो कर्म को मान्य करता है तथा इसलिये साध्य भी धर्म ही होना चाहिए। अतएव गाँधी उसको झिड़कते हैं जो कर्म के प्रति गैर–दायित्वपूर्ण उदासी तथा तनिक भी सुस्त मानसिकता दिखाता है। उन्होंने गीता को व्यावहारिक जीवन के एक गंभीर सरोकार और उसकी अनेक अन्तर्क्रियाओं को उजागर करते, तथा कतिपय *'पवित्रता'* के मानक के रूप में सम्यक् जीवन-यापन में सहायक सभी कर्मों हेतु मनुष्य को अभिप्रेरित करता माना है। गीता के साथ सहमति में वे मानते हैं कि जो व्यक्ति निःस्वार्थ कर्म में रत है, वो कर्म के प्रभाव बन्धन के अधीन नहीं रह जाता। पर, वो यह नहीं देख पाते कि किस प्रकार व्यक्ति का स्वभाव परम सत्व के साथ पूर्णतः एक हो गया हो जिससे वह *'अहं ब्रह्मास्मि'* पुकार सके तथा कर्म से विरतता को न्यायोचित ठहरा सके। उनका सोचना था कि न्यूनतम मात्रा का कर्म भी स्वउचित कर्म न करने से अधिक फलदायी होता है।

आगे, गाँधी अन्तर्मुखी *'यज्ञ के रूप में कार्य'* और *'आराधना के रूप में कार्य'* के मध्य एक सम्बन्ध स्थापित

करते हैं, जिसके अनुसार, (इस अभिकथन के उद्‌भव की सत्यता के साथ) वह अपने आश्रमों को चलाते थे। यहाँ यह मानना होगा कि गाँधी भगवद्‌गीता की कर्म की अवधारणा में कुछ नया नहीं जोड़ते हैं। कर्मकाण्डीय अनुष्ठानवाद या वास्तविक बलि को सन्निहित करने, कर्म की रूढ़िवादी अवधारणा को निरन्तर प्रश्नांकित करने तथा भगवद्‌गीता की तुलना में *'कर्म में कुशलता'* की मान्यता को लौकिक जीवन में ज्यादा विस्तीर्ण करने के कार्य में गाँधी का योगदान सन्निविष्ट है। उनका अपना जीवन स्वयं इस सिद्धान्त जिसे वो ज्यादा वृहत्तर और ज्यादा ठोस उपयोगशील मानते थे, की अनुकरणीय प्रकृति को अभिप्रमाणित करता है। अुर्जन को युद्ध रत करने की कृष्ण द्वारा समवाणी में दी गई सलाह में युद्ध के प्राधिकार-निबन्धन का उनका निरावृतिकरण यद्यपि नूतन नहीं, अपितु अत्यन्त महत्वपूर्ण है, चूँकि कुरुक्षेत्र की भूमि में लड़े गए समय की तुलना में युद्ध की अवधारणा क्या है, कैसे लड़ा जाता है, तथा उसके क्या (नैतिक और भौतिक) परिणाम होते हैं, सब कुछ काफी नाटकीय रूप से परिवर्तित हो चुका है, और आधुनिक मानदण्डों के हिसाब से अर्जुन का युद्ध अप्रचलित ठहराया जाएगा। गाँधी ने समझदारी दर्शाते हुए कर्म के एक न्यायोचित विधि के रूप में युद्ध पर जोर नहीं दिया इसके अलावा यह (युद्ध) अहिंसा के उनके द्वितीय सिद्धान्त से भी गंभीर द्वन्द्व में है, जिसे गीता ने भी कतिपय प्रतीत्य विसंगति के साथ उपदिष्ट किया है। अत: हम पाते हैं कि गीता और गाँधी दोनो ही कर्म स्वातंत्र्य को न तो सोपाधिक, न उदासीन और न ही स्वत: स्फूर्त मानते हैं; इसके विपरीत उनके लिये कर्म स्वातन्त्र्य एक साध्य है जो उस अवस्था में उपलब्ध होता है जब कर्म को उत्तरदायित्व और निष्कामता के भाव से युक्त होकर सम्पादित किया जाता है। दूसरे शब्दों में, विमुक्तीकरण कर्म की अनुभव निरपेक्ष दशा है जो बुद्धि प्रज्ञेय है।

(vii) गीता के प्रबुद्ध लोकतन्त्र में जैसा कि वह दावा करती है कि प्रत्येक व्यक्ति के वैयक्तिक आस्था का आदर होगा, तथा जातियों की व्यावसायिक स्वतन्त्रता एवं अनेकता को प्रोत्साहित किया जायेगा। जाति व्यवस्था का स्वशासन समाज में अराजकता के उत्थान की रोकथाम करेगा और वह शासन में जनप्रतिनिधित्व के राजनैतिक अधिकार को प्रतिरक्षित भी करेगा। इसकी तुलना में गाँधीवादी रामराज्य जो सर्वोदय की भावना पर आधारित है, न तो हिंसक शक्ति और न ही राज्य शक्ति बल्कि जन शक्ति पर निर्भर करता है। रामराज्य अपने आप में साध्य नहीं, बल्कि सार्वभौमिक उत्थान को सुनिश्चित करने का एक साधन है। जिसके अन्दर शक्ति का विकेन्द्रीकरण तथा स्वपोषित स्थानीय सामाजिक इकाईयों पर बल दिया गया है। अत: गाँधीवाद एक राज्य रहित समाज, एक राज्य रहित लोकतन्त्र अथवा एक प्रबुद्ध अराजकता की आदर्शाकांक्षा रखता है।

(viii) गीता की *'लोकसंग्रह'* की अवधारणा जो सार्वभौमिक कल्याण को प्रोत्साहित करती है राष्ट्रों के स्थायित्व, विकास और एकता का निरूपण करती है। विश्व तनाव के प्रति गाँधीवादी उपागम भी इसी भावना को प्रतिबिम्बित करता है। आज जब दुनिया विभिन्न खेमों में बँटी है यदि कोई आपसे सहमत नहीं तो दुष्ट है; यदि कोई देश आपके देश से सहमत नहीं है, तो दुष्ट है; कोई बीच का मार्ग नहीं है तटस्थता एक अपराध है; सहिष्णुता एक दुर्गुण। देश आपस में अपने मतभेदों के कारण लड़ रहे हैं, लेकिन उनके दृष्टिकोण अलग होंगे ही क्योंकि वे अलग-अलग परिस्थितियों

के द्वारा निर्दिष्ट हैं। इसलिये स्वयं को निरपेक्ष रूप से उचित और दूसरे को निरपेक्ष रूप से गलत सोचना असंगत है। यह चिन्तन में आक्रमणकारिता या साम्राज्यवाद है। शान्ति एक नई सभ्यता, एक नई सरलता, एक नये संन्यास की माँग करती है। यह जैनियों के स्यादवाद के सदृश *'न यह–न वह' (Neither-Nor)* का दर्शन है जो बौद्धिक क्षेत्र में सरल रूप से अहिंसा का एक विस्तार है।

(ix) वैदिक स्वयंसाध्य कर्मकाण्डीय संपृक्तीकरण के प्रति गीता की आलोचनात्मक प्रतिक्रिया ने उसके धार्मिक उदारवाद के बीज बोये। वह धार्मिक मूल्यों और भौतिक लाभों की क्षणिक प्रकृति का अन्वेषण करते हुये इंगित करती है कि कामनायुक्त धार्मिक अनुष्ठान स्वयं साध्य नहीं होते हैं। तार्किकत: व्यक्ति और समाज को प्रचलित धार्मिक विश्वासों और अन्ध विश्वासों के अधीन अपनी तार्किकता को नहीं रखना चाहिए। उपरोक्त आलोचना के बावजूद धार्मिक कर्म की वैदिक आज्ञा अर्थात् *'यज्ञ'* के परिक्षेत्र को सामाजिक उदारवाद में विस्तीर्ण करती है। तद्नुसार यज्ञ वैयक्तिक नहीं बल्कि एक सामूहिक सामाजिक प्रयास है। वह *'यज्ञ'* को समाजोन्मुख करते हुये पारस्परिक आर्थिक सहायता, सामाजिक सहयोग एवं एकीकरण का निरूपण करती है। यज्ञ की गीता की यह सामाजिक मान्यता एक स्वैच्छिक आधार पर वितरणात्मक अर्थव्यवस्था का पक्ष प्रस्तुत करती है, जिसके अन्तर्गत यद्यपि सम्पत्ति वैयक्तिक है, तथापि उसका उपयोग समुदाय के सेवार्थ *(लोकसंग्रह)* किया जाता है। *'यज्ञ'* की उसकी यह व्याख्या वैयक्तिक पहल एवं सामाजिक दायित्व, खुली अर्थव्यवस्था तथा सामाजिक–एकत्ववादी समाजवादी व्यवस्था का पुनर्मिलन कराती है। इस *'लोकसंग्रह'* की अवधारणा में गीता वैदिक *'यज्ञ'* को उपनिषदीय परित्याग की मान्यता के साथ अपनी नवरीति बद्ध व्याख्या में धनात्मक रूप से संयुक्त करती है। आगे गीता अपनी समता की अवधारणा को आत्मा की उपनिषदीय मान्यता से उपाख्यायित करते हुये उसे व्यक्तियों की एकात्म समता के अर्थों में रखती है। सभी प्राणियों की आत्मा एक समान है क्योंकि सभी परमात्मा के अंश हैं। उसका यह समतामूलक दृष्टिकोण तब प्रमाणित होता है जब वह कहती है कि परमात्मा सभी प्राणियों का *'सम्भावी मित्र'* है और कोई भी उसके लिये घृणित या प्रिय नहीं है। उसकी समता की यह मान्यता परम स्वतन्त्रावस्था और सर्वप्राणीमय समएकत्वता दोनों को समन्वित करती है। इस प्रकार गीता का समाजवाद यज्ञ के माध्यम से प्रत्येक और सबके लिये निष्काम कर्म एवं समान धन वितरण का अनुमोदन करता है। गीता और मार्क्स दोनों ही वैयक्तिक कर्म को शारीरिक कर्म के अर्थों में व्याख्यायित करते हैं तथा अतिरिक्त धन संचयन की चोरी और पाप के रूप में भर्त्सना करते हैं लेकिन गीता *'काम के अधिकार'* को उच्चतर पारिश्रमिक की माँग के अर्थों में व्याख्यायित नहीं करती। श्रेणी-संघ समाजवाद के समान कार्य की उसकी अवधारणा पारिश्रमिक के लिये नहीं बनी है।

गाँधी जोर देते हैं कि एक मौलिक आचरण संहिता उपलब्ध कराकर गीता ने हिन्दू धर्म में नये प्राण का संचार किया है। इसके अनुसार वैदिक यज्ञ सेवा के लिये शारीरिक श्रम में परिवर्तित हुआ है, और संन्यासी का पद घोर निवृत्तिवाद का अनुसरण करने वाले के लिये नहीं, अपितु उसके लिये प्रयुक्त होता है जो कर्मरत होते हुए उस कर्म

में फल का त्याग करता है। अत: गाँधी यह इंगित करते हैं कि किस प्रकार गीता का संन्यास सर्वकर्म होते हुए भी कोई कर्म नहीं है। गाँधी का यह अभिकथन स्वयं गीता को प्रतिध्वनित करता है जो कहती है कि जो व्यक्ति स्व उचित कार्य को करते हुये फल का संचय नहीं करता है, वह परित्याग करते हुये भी कर्म रत रहता है, वो व्यक्ति नहीं जो कोई यज्ञाग्नि का निर्माण और कोई कार्य नहीं करता।

गाँधी का आर्थिक आदर्श पूँजीवाद और समाजवाद की आलोचना और समन्वय दोनों ही करता है। आलोचना के स्तर पर, पूँजीवाद मुक्त उद्योग या मुक्त प्रतिस्पर्धा है, इसलिये बुरा है लेकिन स्वयं समाजवाद भी राजकीय-पूँजीवाद है। एक ओर स्वतन्त्रता लेकिन विषमता भी, दूसरी और तानाशाही है। लेकिन, यदि धन के स्वामित्व के बजाय संरक्षणवाद हो तो एक हल निकल सकता है। सम्पत्तिवानों के लिए कर्त्तव्य हैं तथा गरीबों के पास उनके अधिकार। यह ट्रस्टीशिप की व्यवस्था है। संरक्षकों के समान सामाजिक हित के लिये अपनी प्रतिभाओं को विकसित करने तथा न्यायोचित हिस्से के रूप में उसके एक भाग हेतु दावा करने के लिये इस व्यवस्था में नैतिक स्वतन्त्रता सुनिश्चित है। अपने पड़ोसियों के प्रति प्रेम और विश्वास की मनोवृत्ति पर आधारित ट्रस्टीशिप एक प्रकार का वर्ग-सहयोगात्मक पूँजीवाद है। यह आर्थिक आदर्शवाद तथा आध्यात्मिकता तथा भौतिकता का सर्वाधिक उपभोग्य समन्वयन है। ट्रस्टीशिप की योजना सरलता, विकेन्द्रीकरण और उत्पादनात्मक मानव-श्रम पर आधारित होगी; न तो पूँजीवाद और न ही समाजवाद इन तीनों में से किसी के लिये भी चिन्ता करता है। मूलत: वे आक्रामक उद्योगवाद या युद्ध की अर्थव्यवस्था से जुड़े हैं क्योंकि वह विदेशी बाज़ारों के शोषण पर निर्भर होते हैं जो प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देते हुये अन्तत: युद्ध में परिणत होते हैं। चूँकि उद्योगवाद और केन्द्रीयवाद एक साथ चलते हैं इसलिये तानाशाही अवश्यंभावी हो जाती है। फिर औद्योगिक श्रमिकों की तानाशाही की भी कोई गारन्टी नहीं है अत: कम्यूनिस्टों, फासिस्टों आदि शब्दों में कोई अर्थ नहीं। यह अन्तर केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीकरण के बीच होनी चाहिए तथा यदि हम राजनीति में एक लोकतन्त्र को ऊपर उठा रहे हैं तो हमें अर्थव्यवस्था में भी एक लोकतन्त्र रखना चाहिए। पुन: अतिरिक्त मूल्य सिद्धान्त और श्रम सिद्धान्त के बीच एक बराबर वास्तविक लड़ाई है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था भूमि के लिये किराया, श्रम के लिये मजदूरी, पूँजी के लिये लाभांश, संस्था के लिये मासिक-आय और उद्योग के लिये मुनाफे को मान्यता देती है। मार्क्स के लिये श्रम सर्वोच्च आर्थिक मूल्य है परन्तु वो श्रम के दो वर्गों–हस्तश्रमिकों तथा बुद्धि श्रमिकों–को मानता है। इसलिये एक अन्वेषी अभियन्ता, एक प्रबन्धक और एक सामान्य कार्मिक का भुगतान इनमें एक पूँजीवादी देश के समान ही बड़ा अन्तर बना रहेगा। एक वर्ग रहित समाज का पवित्र स्वप्न एक मृग मरीचिका ही बनकर रह जायेगा। अत: गाँधी सभी के लिये समान भुगतान के सिद्धान्त को मानते हैं क्योंकि कोई भी कार्य उच्चतर या निम्नतर नहीं होता। यह *'साम्यवाद' (सिद्धान्त में समानता)* की अपेक्षा *'साम्य-योग' (व्यवहार में समानता)* है। पूँजीवाद और समाजवाद हस्तश्रमिकों और बौद्धिक श्रमिकों के एक सामाजिक अन्तर को पैदा करते हैं मानव जैसे मानव या तो सिर्फ शरीर है या सिर्फ मस्तिष्क। इसलिये गाँधी कहते हैं यदि सभी अपने उदर पोषण के लिये मिलकर काम करेंगे

तो पद के अन्तर समाप्त हो जायेंगे। चूँकि गाँधी व्यक्ति स्वातन्त्र्य के साथ समाजवाद को समीकृत करते हैं इसलिये उन्हें *'एक अन्तर के साथ एक समाजवादी'* माना जाता है।

(x) चूँकि, उपनिषदीय आत्मा निर्सम्बन्ध है समस्थैतिक व्यक्ति बिना किसी दुर्भावना और क्रोध के सामाजिक और राजनैतिक असत्यनिष्ठत्वता का प्रतिरोध करता है। गीता सामाजिक क्रिया की उसकी प्रविधि को वयैक्तिक समतुल्य दृष्टिकोण के आधार पर प्रकल्पित करती है। तद्नुसार समतुल्यता योग है। पुनः चूँकि व्यक्ति की वेदान्तिक स्वतन्त्रता सर्वतन्त्रवाद विरोधी है, इसलिये गीता सामाजिक और राजनैतिक निरंकुशता एवं अन्याय के प्रति अशुभ रहित सत्यनिष्ठ प्रतिरोध का संस्थायीकरण करती है। गीता के अनुसार विवेकवान सत्यनिष्ठ अल्पसंख्यकों द्वारा किया गया ऐसा प्रतिरोध भी परिवर्तनकामी क्रान्ति की भावना को उत्प्रेरित करता है।

गुणात्मक रूप से गाँधी ने जो कुछ भी किया उसमें सिद्धान्त से ज्यादा वो प्रयोग से वास्ता रखते थे, और गीता, जो सत्याग्रह पर उनके विचारों का आधार स्तम्भ बनी, के मामले में निश्चिततः यही है। यद्यपि सत्याग्रह पर उनके विस्तृत अनेकानेक लेख गीता पर विशिष्ट रूप से अभिकेन्द्रित नहीं, तथापि दैनंदिनी संसाधनों–किस प्रकार गीता का आदर्श प्राप्य है–पर वे स्पष्टतः गाँधी के विचारों को प्रतिबिम्बित करते हैं। परित्याग का गाँधी का प्रबोधन सत्याग्रह में विशिष्ट रूप ग्रहण करता है, जो दु:ख उत्पन्न करने वाले अहं की बेड़ियों को तोड़ने के लिये रचित सर्वोपभोगी सत्यान्वेषण की ओर इंगित करता है। इसके परे उसका उद्देश्य मानव अवसाद का निवारण एवं समाज का नैतिक रूपान्तरण है। सत्याग्रह के मूल में गाँधी की यह मान्यता थी कि दु:ख वास्तव में प्रथम स्थान में दु:ख से बचने के व्यक्ति के प्रयास द्वारा जनित होता था; दूसरे शब्दों में व्यक्ति आनन्दान्वेषण जो क्षणिक है, केवल उत्सुकता तथा क्षति के भाव को ही उत्पन्न करता है। पुनः दूसरे शब्दों में यह अति स्वार्थ भरा कृत्य ही होता है, जिसमें व्यक्ति कर्मों के फल से ही केवल सरोकार रखता है। गाँधी का उद्देश्य आत्मा के बन्धनों को तोड़ने तथा नैतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक परिवर्तन का सूत्रपात करने के एक माध्यम के रूप में कष्ट वरण की संस्तुति करना था; जैसा कि गाँधी इंगित करते हैं कि दु:ख वरण जंगल के कानून की तुलना में असीम रूप से ज्यादा शक्तिशाली है। इस परिप्रेक्ष्य में गाँधी के लिये सत्याग्रह का अहिंसक असहयोग गीता में प्रतिपादित निष्काम कर्म की एक अभिव्यक्ति है। असहयोग से गाँधी का अभिप्राय उन सभी कानूनों तथा प्राधिकार की अवज्ञा है जो सभी लोगों की समानता को नहीं मानती। वे कहते हैं कि ऐसी अवज्ञा अनुलंघनीय निर्णीत अंतिम कर्तव्य हो जाता है जब वह ईश्वरीय कानून से संघर्ष में आता है। गीता में व्यक्त एक कर्मयोगी का व्यक्तित्व अपने पूर्ण अर्थ में एक सत्याग्रही का पर्यायवाची है।

यद्यपि गाँधी विमुक्ति की एक अतीन्द्रिक अवस्था के रूप में मोक्ष के उपनिषदीय दृष्टिकोण की महत्ता को मानते हैं, तथापि उनके लिये यह अतीन्द्रिक उद्देश्य सामाजिक परिवर्तन से भी सीधे तौर पर जुड़ा है। यह सभी व्यक्तियों द्वारा सभी अन्य व्यक्तियों और वस्तुओं के एक सहानुभूतिपूर्ण प्रबोधन के बिना सम्भव नहीं है। अपने इस मत को गाँधी कृष्ण के इस अभिकथन, कि– *'जो मुझे सर्वज्ञ देखता है, जो मुझमें सर्व देखता है, न मैं उसके लिये खोया हुआ हूँ,*

न वो मेरे लिये खोया हुआ है। जो एकता पर सुदृढ़ता के साथ खड़ा होकर सभी प्राणियों में रहने वाले मेरे साथ प्रेम-में-सहवास करता वह चाहे किसी भी अवस्था में क्यों न हो, आत्मा का वह खिलाड़ी मुझमें निवास करता है' (६:३०-३१), में निहित मानते हैं। सभी चीजों में देवत्व को देखना विमुक्ति है, तथा गीता यह उद्घाटित करती हुई एक कृति है कि कैसे लौकिक जगत में व्यक्ति देवत्व की अनुभूति कर सकता है। गाँधी के लिए गीता प्रतिपादित निष्काम कर्म का आदर्श वैयक्तिक मनोविज्ञान में क्रांतिकारी परिवर्तन प्रसूत करता है जो समाज में पारस्परिक अन्तर्सम्बन्धता में कतिपय मौलिक परिवर्तन को सम्भव बनाने के लिए अनिवार्य है। गाँधी की स्वराज्य (व्यापकतम् अर्थ में स्वतन्त्रता) की अवधारणा का यही सन्दर्भ है। स्वराज्य अर्थात् स्वशासन का तात्कालिक ध्यान भारत की राजनैतिक और आर्थिक स्वतन्त्रता था। *'सर्वोदय'* या *'सर्वकल्याण'* के आदर्श में निहित सर्वसमानता भी समानरूपेण महत्वपूर्ण थी। लेकिन ऐसी बाह्य आजादियाँ अज्ञानता तथा पूर्वाग्रह से आंतरिक मुक्ति के बिना सम्भव नहीं। अनिवार्यत: सब कुछ अहिंसा में वापस लौटती है, जो साधन एवं साध्य दोनों अर्थों में, ईश्वर के साथ भागेदारी की अनुमति प्रदान करता है, और यह पुन: गीता में अभिव्यक्त तथा अभिपुष्ट हुआ है।

उपरोक्त तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गीता और गाँधी के समाज दर्शन में अन्तर गुणात्मक है, न कि तात्विक। यह अन्तर अनेक राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक के साथ-साथ धार्मिक भी है। किन्हीं कारणों से आधुनिक भारत में धार्मिक परिवर्तन पर विचार प्रकट हुआ है और यही पवित्र ग्रंथ भगवद्गीता के प्रबोधन में आये परिवर्तनों के लिये उत्तरदायी है। इन परिवर्तनों के बाद भी गाँधी जैसे व्याख्याकारों के लिये यह ग्रन्थ महत्वपूर्ण बना रहा है, तो यह उनके द्वारा अपने धर्म ग्रन्थीय परम्पराओं में बने रहने की इच्छा को इंगित करता है। परन्तु, इसका यह अर्थ भी होगा कि इन व्याख्याकारों के जीवनदृष्टियों के सत्य, जो कम से कम कालक्रमिक रूप से परिवर्तनों का एक भाग और आधुनिक युग के सरोकार हैं, तथा फिर भी किसी प्रकार से भगवद्गीता जैसे दो हजार वर्ष पुराने एक धार्मिक क्लासिकी में पाये जाते हैं, को अभिपुष्ट करने के लिए इस ग्रन्थ के मूल-पाठ को काफी दूर तक खींचना पड़ेगा।

भगवद्गीता तथा गाँधी के मध्य, *'प्रोटेस्टेन्ट नैतिकता'* से ज्यादा *'काण्टवाद'* दिखता है। यदि हम काण्ट के बौद्धिक सत्य तथा उसके ज्ञान और श्रद्धा के निराद्वैत से अलग होकर दोनों दार्शनिकों के नैतिक सत्य तथा उसका ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से विचार करें, तो गाँधी के व्यावहारिक आदर्शवाद और काण्ट के नैतिक व्यावहारिक प्रज्ञा के बीच काफी समानता है। *काण्ट* के लिये सद्-इच्छा सर्वोच्च नैतिक मूल्य है जबकि गाँधी ने भी अहिंसा को सदिच्छा या शुभ-संकल्प के तुल्य माना है। काण्ट ने व्यावहारिक प्रज्ञा को मुख्यत: अहिंसामूलक माना है। लेकिन एक अर्थ में गाँधी काण्ट से आगे की बात करते हैं। जहाँ काण्ट धर्मदर्शन में केवल वैयक्तिक ईश्वर की कल्पना ही मुख्य है, वहीं गाँधी का ईश्वर सत्य, धर्म या नीति का पर्याय है। सम्भवत:, एक इच्छा की स्वायत्तता हेतु एक सैद्धांतिक आधार, (जिसके द्वारा मानव-कर्म को निर्धारित किया जा सके) को प्राप्त करने में अनुवर्ती विफल रहा हो, किन्तु जिस प्रकार ब्राह्मणवादी कट्टरता स्पष्टत: संलिप्त दिखती थी, उस प्रकार की समान अतियों को तर्कसंगत ठहराने के प्रयास के साथ गाँधी अपना बेमाना सरोकार नहीं रखते। एक ओर, न तो वे अकर्मण्यता को, और

न ही असम्यक् अनुसरण; जिसमें कर्म-साधन के द्वारा पुरस्कारों, लाभों, और विपुलताओं को यहाँ भोगने अथवा अगले जीवन के लिए संचयन समाविष्ट है, को न्यायोचित ठहराने का प्रयास करते हैं।

अत: गाँधी सामाजिक जीवन की समस्याओं के लिए गीता प्रेरित एक *'अधिसामाजिक' (metasocial)* उपागम की स्तुति करते हैं। उनके समाज-दर्शन की मूल्य-मीमांसक विशेषताएँ हैं–

१- प्रत्येक मूल्य का त्रयिक निहितार्थ है – व्यक्तिगत, सामाजिक तथा सांस्कृतिक;

२- अहिंसा सभी मूल्यों का सार्वभौम लक्षण हैं;

३- मूल्यों में अन्तर्वायी सम्बन्ध है, एक मूल्य के हनन में अन्य मूल्यों का हनन होता है;

४- वे मूल्य मानव चेतना की अनुभूति के विषय हैं अर्थात् व्यावहारिक है तथा उनके पालन में ही मानव जीवन की सार्थकता एवं पूर्णता है;

५- मूल्यों का एक आदर्शात्मक रूप है, युक्लिड बिन्दु है, जिन तक सतत साधना और प्रयोग से ही पहुँचा जा सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में, समग्र गाँधीवादी समाज-दर्शन आध्यात्मिक एकता के नियम से उपाख्यायित है। अतएव गाँधी के सत्यज्ञान का मुख्य स्रोत *'अन्तर्ज्ञान'* या *'प्रज्ञा'* है, जो सत्यानुभूति, ईश्वरानुभूति या धर्मानुभूति, सार्वभौम या युक्तिपूर्ण अनुभूति, एकरूप अनुभूति, व्यावहारिक अनुभूति आदि जैसी विशिष्ट अर्थबोधकता में अभिव्यक्त हुआ है। एकता का यह नियम उस समन्वयन की धुरी है, जिसमें सामाजिक चिंतन एवं क्रिया आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टियों तथा मूल्यों के साथ एकीकृत हुई है। अत: इस सामंजस्य एवं समन्वयी दृष्टि के परिप्रक्ष्य में इसको गाँधी की *'अवयवी दृष्टि' (Organismic Vision)* या *'आध्यात्मिक अनुभववाद' (Spiritual Empiricism)* की संज्ञा प्रदत्त करना उचित होगा। उनकी प्रवृति में ही निवृति है जो मानव जीवन के विभिन्न रूपायामों का समन्वय करती हुई उसके परे जाती है, तथा जिसमें एक तरफ ज्ञान, भक्ति और कर्म तथा दूसरी तरफ इन्द्रिय, बौद्धिक तथा नैतिक शक्तियों का संतुलन एवं सुसंगत सम्पूर्णता है। आगे, गाँधी का सत्य धार्मिक दिव्यानुभूति के सत्य के सदृश नहीं है। उसकी विधि सतत् गहन आत्मनिरीक्षण, पूर्ण परीक्षण तथा प्रत्येक मनोवैज्ञानिक परिस्थिति के विश्लेषण और व्याख्या की है। तब भी वह अपने सत्य के प्रयोग को कभी अन्तिम सत्य नहीं मानते। उन्होंने यहाँ तर्क को सीमित स्थान दिया है, जिसे हृदय को नहीं हथिया लेना चाहिए। गाँधी के आध्यात्मिक ज्ञान में रहस्यवाद का पुट है, परन्तु वह परम्परागत अर्थ में रहस्यवादी नहीं हैं। उनको सत्य की अनन्त प्रचण्ड शक्ति का आभास और झलक मिलना तथा अन्तरात्मा की आवाज का सतत झंकृत होते रहना उनके रहस्यवादी होने का संकेत देते हैं। फिर भी वह इस अथक आंतरिक प्रयास-मंथन को ध्वन्यात्मक प्रतिभास या मन की उड़ान नहीं मानते।

गीता को वैचारिक संदर्भ ग्रन्थ मानने वाले गाँधी का अनुभव शब्द भारतीय चिन्तन परम्परा के अनुबन्ध है और उसी की एक समुन्नत एवं वृहत्तर दृष्टि है। निष्कर्ष रूप में, परम सत्ता या सत्येश्वर का आभास तथा मात्र झलक मिलना तथा उसके साथ तादात्मयता या चित्त की निर्विकार स्थिति हेतु अनवरत साधना, सत्य-अहिंसा के परम सिद्धान्तों पर आधारित जीवन

आदर्शों और मूल्यों की स्पष्ट परिकल्पना तथा व्यवहार जगत में उन मूल्यों के सतत शोध एवं प्रयोग द्वारा परीक्षित विराट् एवं गहन अनुभूति और मानवता की आवाज के साथ उसकी अनुरूप्यता का सतत् बोध और अहिंसा दर्शन के मानव-मुक्ति का अंतिम निर्यात में दृढ़ विश्वास–यह है गाँधी की आध्यात्मिक अनुभूति का रहस्य। गाँधी की इस अनुभूति में मानव चेतना के विभिन्न समाज दर्शनात्मक रूपों–लौकिक तथा पारलौकिक, अध्यात्म और विज्ञान, श्रद्धा तथा बुद्धि, स्वधर्म और विश्वधर्म, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, देशहित और सर्वहित, आदर्श तथा व्यवहार का एक अद्भुत समन्वय है और इसी में निहित है मनुष्य का एक संतुलित एवं सुसंगत समग्र जीवन दर्शन।

अंत में, समकालीन भारत वास्तव में विरोधाभासी विचारों और आदर्शों, शक्तियों तथा भावावेगों की रणभूमि बन गया है, वह विभिन्न हिस्सों से आते दृष्टिकोणों तथा नियमों के एक दावानल में झुलस रहा है और सिद्धांत की हवाएँ उसकी भूमि की लम्बाई-चौड़ाई के ऊपर बह रही हैं। उसके सम्मुख अपनी समस्याओं का विस्तार आज की फौरी जरूरतों से लेकर इतिहास के चिरन्तन प्रश्नों तक फैला हुआ है। उसके राजनीतिक और सामाजिक जीवन के ज्वलंत सवाल भी महज उपयोगिता के स्तर पर हल नहीं किये जा सकते हैं; उनको प्रभावी तथा स्थाई होने के लिए एक ऐसे दर्शन के सन्दर्भ में उत्तरित होना होगा जिसे वह अपना कह सके और धारण कर सके। समाज की समस्याओं के प्रति एक प्रामाणिक भारतीय उपागम की यह आवश्यकता एक सिद्धान्तकार की महज निठल्ली माँग नहीं है। हमारे सम्मुख प्रस्तुत प्रत्यक्ष मुद्दों के परिप्रेक्ष्य में इसे आप्रांसगिक नहीं ठहराया जा सकता है। जैसा इतिहास हमें शिक्षा देता है, ऐसा एक संकीर्ण अनुभववाद जो केवल बीतते पल पर ही दृष्टि लगाये होता है वह सर्वदा निरर्थक सिद्ध होता है। कार्यकारिता के अर्थों में भी, हमें आज अपने सामाजिक प्रत्ययों तथा विचारों के लिये एक दार्शनिक और तत्वमीमांसीय आधार चाहिए। परन्तु हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान प्रचलनों की ऐसी एक दार्शनिक औचित्यता को यह कार्य आवंटित नहीं किया जा सकता है। इसके विपरीत, इस कार्य के लिये मूलतः हमें अपने बीते हुए कल के अन्तःकरण से बीजाङ्कुरित करना चाहिए। जिसके पास हमारे ऐतिहासिक संचेतना के विश्वास-पत्र हों और जो उसकी सूचियों को प्रामाणिक रूप हमें हस्तगत करा सके। उसे ऐसा कुछ होना चाहिए जिसमें हम निरन्तरता के तारों को ताड़ सके, जो यद्यपि अदृश होते हुए भी आत्मिक रूप से हमारी पूर्व पीढ़ियों से हमें सम्पृक्त कर सके। केवल इसी अर्थ में ही ऐसा एक समाज दर्शन प्रामाणिक रूप से भारतीय होने का दावा कर सकता है।

महात्मा गाँधी में हम स्वयं भारत की चेतना की ध्वनि को सुन सकते हैं। उनमें भारत का प्राचीन विवेक अभी भी इतना सख्त और स्पष्ट है कि उसके आध्यात्मिक संस्कृति की जीवन्तता सम्भवतः उसमें सर्वश्रेष्ठ रूप से अभिव्यक्त हुई है, जिसके कारण वर्तमान की समस्याओं के सन्दर्भ में उनके विचार-मनन की महत्तम प्रासंगिकता है। इस अनिश्चितता और संक्रमण के समय में महात्मा हमें परम परिपूर्णता एवं प्रशान्ति का पथ निर्दिष्ट करते हैं।

ग्रन्थानुक्रमणिका

ग्रन्थानुक्रमणिका (Bibliography)

१- प्राथमिक या मूल स्रोत (Primary or Original Sources)

(A) - संस्कृत एवं हिन्दी सन्दर्भ-ग्रन्थ

ऋग्वेद (संस्कृत) : सायणभाष्य सहित, **महामना राजाराम शास्त्री बोडस** तथा **शिवराम शास्त्री गोरे (संपा०)**, ८ खण्डों में, [बम्बई, गुजरात प्रिन्टिंग प्रेस,१८८२]

अभिज्ञान शाकुन्तलम् (कालिदास) : **कपिल देव द्विवेदी (संपा०)**, [साहित्य संस्थान, इलाहाबाद, १९८४]

ईशादि नव उपनिषद् (हिन्दी) : **एच० आर० गोयन्दका (अनु०)**, [गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५९]

कामसूत्र : **वात्स्यायन**, [चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५१]

गीतामृतम् : **पांडुरंग अठावले**, [गीता प्रेस, गोरखपुर, १९९५]

गौतम धर्मसूत्र : **एल० श्री निवासाचार्य (संपा०)**, [गवर्नमेण्ट ओरिएंटल लाइब्रेरी सीरीज, मैसूर, १९१७]

छान्दोग्य उपनिषद् (हिन्दी) : [गोरखपुर, गीता प्रेस, १९५५]

तैत्तरीय उपनिषद् (हिन्दी) : [गोरखपुर, गीता प्रेस, १९५५]

मनुस्मृति : **पी० एच० पांड्या (संपा०)**, [गुजरात प्रिन्टिंग प्रेस, बम्बई, १९१३]

श्रीमद्भगवद्गीता : (साधारण भाषा टीका सहित) [गीता प्रेस, गोरखपुर, १९८७]

: **रामानुज भाष्य**, [गीता प्रेस गोरखपुर, सवंत् २००८]

: **शंकर भाष्य** [गोरखपुर, गीता प्रेस, सवंत् २०१७]

: (पुरूषार्थ बोधिनी भाषा टीका), **दामोदर सातवलेकर**, [स्वाध्याय मण्डल, बलसाड, महाराष्ट्र, १९८३]

श्रीमहाभारतम् (संस्कृत) : नीलकण्ठी टीका सहित, **पं० रामचन्द्र शास्त्री किंजवडेकर (संपा०)**, ७ खण्डों में, [चित्रशाला प्रेस, पुणे, १९२९-३६]

श्रीरामचरितमानस : **तुलसीदास**, [गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५९]

याज्ञवल्क्य स्मृति (संस्कृत) : **वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर (संपा०)**, तृतीय संस्करण, [निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९२६]

वाल्मीकि रामायण (हिन्दी) : [गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५९]

वृहदारण्यक उपनिषद् (हिन्दी) : [गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५५]

श्वेताश्वरोपनिषद् (हिन्दी) : [गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५५]

वैशेषिक सूत्र (हिन्दी) : **कणाद,** [चौखम्बा विद्याभावन, वाराणसी, १९६७]

(B) English Reference - Books

Atharva Veda : **Griffith, R.T.H. (Trans.),** 2 Vol, [E. J. Luzzrus & Co. Varanasi, 1896]

Arthasastra **(Kautilya)** : **Shamshastri, R. (Trans.),** III ed. [Mysore, 1929]

Panchtantra : **Ryder, Arthur W. (Trans.),** [Motilal - Banarasidas, Delhi, 1969]

Politics (Trans.) : **Aristotle**, [London, J. M. Dent & Co., 1912, Book- I]

Saundarya Lahari : **S. Subrahmanyam & T. R. Srinivasa** [Madras, Theosophical, 1948]

Srimad Bhagavad Gita : **Jaya Dayal Goyandka (ed.)** [Gita Press, Gorakhpur, 1969]

The Mahabharata : **P. C. Roy (Trans.)** [Dutta Bose & Co., Calcutta, 1927]

(C) गाँधी, एम० के० (Gandhi , M.K.)

(i) हिन्दी पुस्तकें

: *अनासक्ति योग* [नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद १९४५]

: *अस्पृश्यता,* [नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५४]

: *गीता बोध,* [सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९९९]

: *गीताबोध और मंगल प्रभात,* [सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, छठाँ संस्करण, १९९९]

: *नीति, धर्म, दर्शन,* [उत्तर प्रदेश गाँधी स्मारक निधि सेवापुरी, वाराणसी, १९६८]

: *मेरा समाजवाद,* [नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९६०]

: *सृजनात्मक कार्यक्रम,* [नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९६०]

: *हिन्द स्वराज,* [नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९६२]

: *हिन्दू धर्म क्या है?* [नेशनल बुक ट्रस्ट ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, १९९३]

(ii) English

a) Books, Collected Speeches and Writings

: *An Autobiography or The Story of My Experiments with Truth,*

[Navjivan Publishing House, Ahmedabad, 1961]

: *Ashram Observances In Action,* [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1959]

: *Caste Must Go And Practice of Untouchability,* [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1964]

: *Caste Must Go And The Sin of Untouchability,* [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1964]

: *Discourses on The Gita,* [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1960]

: *Ethical Religion,* [Madras, Ganeshan, 1968]

: *Gandhi Interprets The Bhagavad-Gita,* [Orient Paperbacks, Delhi, 1960]

: *In Search of The Supreme, Vol-I,* [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1961]

: *My Religion*, **B. Kumarappa (ed.),** [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1955]

: *My Picture of Free India*, [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1962]

: *Sarvodaya,* **Bharatan Kumarappa (ed.)**, [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1958]

: *The Teaching of The Bhagvad-Gita,* **Hingorani, Aanand T. (ed.),** [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1971]

: *Truth is God,* **Prabhu, P.K. (ed.)**, [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1955]

: *Tursteeship*, [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1960]

The Collecled Works of Mahatma Gandhi : [Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, Navjivan, Ahmedabad, 1958]

Conversations of Gandhiji : **Chandrashankar Shukla (ed.)** [Bombay, Vora, 1949]

More Conversations of Gandhiji : **Chandrashankar Shukla (ed.)** [Bombay, Vora, 1950]

Delhi Diary : [Navjivan, Ahmedabad, 1948]

The Diary of Mahadev Desai : **V. G. Desai (trans.),** Vol-I, [Navjivan Pub. House, Ahmedabad, 1953]

Satyagraha in South Africa : **V. G. Desai (Trans.)**, [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1948]

The Speeches and Writings of Mahatma Gandhi, Second Edition : [Madras, Natesan, 1918]

The Speeches and Writings of Mahatma Gandhi, Fourth Edition : [Madras, Natesan, 1934]

From Yeravda Mandir : **V. G. Desai (Trans.)**; [Navjivan, Ahmedabad, 1952]

b) Correspondence

Letters from and to Gandhi at the Sabarmati Sangrahalaya, Ahmedabad.

Letters from and to Gandhi at the Gandhi Smarak Nidhi, New Delhi.

Letters from and to Gandhi at the Office of the Collected Works of Gandhi, New Delhi [Ministry of Information, Goverment of India]

Birla, G. D. : *In the Shadow of the Mahatma Gandhi,* [Orient longman Ltd., 1953]

Jack, Homer (ed.) : *The Gandhi Reader* [Bloomington, Indiana University Press, 1956]

Kalelkar, Kaka (ed.) : *To a Gandhian Capitalist,* [Bombay, Hind Kitabs Ltd., 1951]

Mira (ed.) : *Bapu's Letters to Mira,* [Navjivan, Ahmedabad, 1949]

Nag, Kalidas : *Tolstoy and Gandhi,* [Pustak Bhandar, Patna, 1950]

c) Journals (Edited by Gandhi)

Indian Opinion, Natal, South Africa, (1903-1914)

Young India, Ahmedabad, India, (1919-1932)

Harijan, Ahmedabad, India, (1933-1948)

(D) विश्वकोश एवं शब्दकोश (Encyclopaedias & Dictionaries)

(i) हिन्दी

आदर्श-हिन्दी-संस्कृत-कोश : **डॉ० रामस्वरूप 'रसिकेश'**, [चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण, १९७९]

लोकभारती प्रामाणिक हिन्दी कोश : **आचार्य रामचन्द्र वर्मा** (संशोधन तथा परिवर्तन **डॉ० बदरीनाथ कपूर**), तृतीय संस्करण [लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९९६]

(ii) English

Encyclopaedia Britannica

Encyclopaedia of Religion and Ethics

Encyclopaedia of Social Sciences

Hindu Dictionary of Thoughts : **Carlton,** [Standard Book Co., New York, 1984]

Sanskrit-English-Dictionary : **Williams, Monier** [(1899), OUP, 1974]

Soviet Philosophical Dictionary, [Moscow, 1966]

The Oxford Dictionary of Philosophy : **Simon Blackburn (ed.)** [Oxford University Press, New York, 1996]

The Oxford Dictionary of Politics, [Oxford University Press, New York, 1996]

The Oxford Dictionary of Psychology, [Oxford University Press, New York, 1996]

The Oxford Dictionary of Sociology, [Oxford University Press, New York, 1996]

२- सहायक या द्वितीयक स्रोत (Secondary or Supplementary Sources)

(A) हिन्दी सन्दर्भ-ग्रन्थ

आत्रेय, शान्ति प्रकाश : *गीता दर्शन*, [मनमोहन प्रकाशन, गोण्डा, १९६५]

कृपलानी, जे०बी० : *गाँधी चिन्तन*, [ओरिएन्ट लाँगमैन्स, नई दिल्ली, १९६१]

: *गाँधी-जीवन और दर्शन*, [भारत सरकार सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय - मुद्रण विभाग,

नई दिल्ली, १९७८]

: *सामाजिक क्रान्ति और भूदान,* [नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५९]

कुबेर, डब्ल्यू० एन० : *डॉ० अम्बेडकर - एक आलोचनात्मक अध्ययन,* [पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९७३]

जैनेन्द्र कुमार : *सर्वोदय अर्थशास्त्र - अंकसम्पदा,* [अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, अहमदाबाद, १९४९]

टिकेकर, डॉ० इन्दु : *सर्वोदय दर्शन तथा समाज परिवर्तन - कल और आज,* [सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९९७]

ठक्कर, विमला : *दादा का स्नेह दर्शन,* [सर्व सेवा संघ, वाराणसी, १९९६]

तिलक, बाल गंगाधर : *गीता रहस्य,* [लोकमान्य तिलक मंदिर प्रकाशन, पूना, (२३वाँ संस्करण), १९९१]

दादा धर्माधिकारी : *अहिंसक क्रान्ति की प्रक्रिया,* [सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९८४]

: *सर्वोदय दर्शन,* [अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९५६]

देवराज, एन० के० : *दर्शन, धर्म, अध्यात्म और संस्कृति,* [भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, (प्रथम संस्करण), २००१]

: *भारतीय संस्कृति - महाकाव्यों के आलोक में,* [भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९५]

देसाई, प्रविणा &
भाविनी पारेख (संपा०) : *गीता-प्रवचन करते गुंजन,* [आश्रम पवनार, वर्धा, महाराष्ट्र, १९८७]

देसाई, महादेव : *भारतीय गांवों में गाँधी जी,* [नवजीवन प्रकाशन, अहमदाबाद, १९५६]

निखिलानन्द, स्वामी (अनु०) : *श्री शंकराचार्य का आत्मबोध,* [श्री रामकृष्ण मठ, मद्रास, १९६७]

नौटियाल, डा० जगदीश &
पाण्डेय, सतीश दत्त : *भगवद्गीता का योग,* [नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, १९८३]

पाण्डेय, संगमलाल : *गाँधी का दर्शन,* [दर्शन पीठ, इलाहाबाद, १९८५]

पण्डित, एम०पी० : *दर्शनशास्त्र के संस्थापक,* [प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, नई दिल्ली, १९७५]

प्रधान, डॉ० रामचन्द्र : *समन्वययोग,* [भगवद्गीता अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, १९९३]

प्रभु, पनधारीनाथ एच० : *हिन्दू समाज की व्यवस्था,* [पॉपुलर प्रकाशन प्रा० लि०, जवाहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्युटर्स, नई दिल्ली, १९७३]

बंग, ठाकुरदास : *गाँधी-विचार,* [सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९९२]

बुल्के, फादर कामिल : *रामकथा,* (द्वितीय संस्करण), [हिन्दी प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६२]

भावे, विनोबा : *स्थितप्रज्ञ-दर्शन,* [सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९९९]

: *सर्वोदय विचार और समाजशास्त्र,* [अखिल भारतीय सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वाराणसी, १९६४]

मशरूवाला, किशोर : *गाँधी विचार-दोहन,* [सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १९९९]

मुखर्जी, राधाकुमुद : *हिन्दू संस्कृति में राष्ट्रवाद,* [एस० चन्द & कम्पनी, दिल्ली (द्वितीय संस्करण), १९६७]

राधाकृष्णन, एस० : *भगवद्गीता,* [जार्ज एण्ड अनविन लि०, लन्दन, १९५३]

: *भारतीय दर्शन, भाग-I,* [ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, १९८९]

राव, पी० नागराज : *समकालीन भारतीय दर्शन,* [भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९७०]

वर्मा, वेद प्रकाश : *महात्मा गाँधी का नैतिक दर्शन,* [इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९७९]

शर्मा, मक्खन लाल : *श्रीमद्भगवद्गीता,* [हितकारी प्रकाशन, नई दिल्ली, १९९६]

सिंह, रामजी : *गाँधी विचार,* [मानक पब्लिकेशन प्रा० लि०, १९९५]

: *गाँधी विचार और सामाजिक पुनर्रचना,* [मिश्रा ट्रेडिंग क०, वाराणसी, १९९७]

सुमन, रामनाथ : *गाँधीवाद की रूपरेखा,* [रिसर्च पब्लिकेशन्स, जयपुर, १९८४]

स्वामी विवेकानन्द : *भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता,* [रामकृष्ण मठ, नागपुर, २०००]

: *स्वामी विवेकानन्द सम्पूर्ण वाङ्मय, खण्ड-I,* [अद्वैत आश्रम, कलकत्ता, १९६२]

स्वामी रामसुखदास : *गीता की विभूति और विश्वरूप-दर्शन,* [गीताप्रेस, गोरखपुर, १९८०]

(B) English Reference Books

Ahluwalia, B.K. : *Gandhi and Gita,* [K. K. Sagar Pub., N. Delhi, 1968]

Aiyer, Balasubramaniyam K. : *The Fundamental Aspirations of Man According to Indian Thought,* [Madras, Kuppuswami Shastri Shodha Sansthan, 1959]

Alice, R. S. : *The Psychology of Individual Differences,* [Hutchinson, New York, 1930]

Ambedker, B. R. : *Annihilation of Caste,* [Thacker & Co., Bombay, 1946]

: *Mr. Gandhi and the Emancipation of the Untouchables,* [Thacker & Co. Bombay, 1945]

: *Who Were the Shudras?,* [Thacker & Co., Bombay, 1940]

Andrews, C. F. (ed.) : *Mahatma Gandhi's Ideas,* [Macmillan Ltd., Londan, 1929]

Ashe, Geoffrey : *Gandhi - A Study In Revolution,* [Asia Pub. House, Bombay, 1968]

Aurobindo : *Essays on the Gita,* [Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1950]

: *Life Divine, Vols. I & II* [Pondicherry, 1951]

: *Man - Slave or free?,* [Pondicherry, 1966]

: *On The Veda,* [Pondicherry, 1964]

: *The Human Cycle, the Ideal of Human Unity, War and Self-Determination,* [Pondicherry, 1977]

: *The Ideal of the Karmayogin,* [Pondicherry, 1950]

Bahm, A. J. : *The Bhagwad Gita or the Wisdom of Krishna* [Somayya Pub. Pvt. Ltd., Bombay, 1970]

Barker, Ernest : *Principles of Social and Political Theory* [Oxford, Clarandon Press, 1952]

Basu, A. N. : *Studies In Gandhism* [Kornark, N. Delhi, 1989]

Besant, Annie : *Hints on the Study of the Bhağavad Gita,* [Theosophical Publishing House, Adyar, Madras, 1963]

: *Indian Ideals,* [Adyar, Madras, 1965]

Betai, R. S. : *Gita and Gandhi,* [Gujrat Vidyapith Prakashan, Ahmedabad, 1970]

Bhattacharya, Dr. Prabhat Kumar : *Philosophy of Gandhi,* [Research Pub., N. Delhi, 1972]

Bhave, Vinoba : *Bhoodan Yajna,* [Navjivan Pub. House, Ahmedabad, 1957]

: *Revalutionary Sarvodaya,* [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1964]

Blum, Fred : *In a Centenary Year Symposium,* [School of Non-Violence, London, 1969]

Bondurant, Joan : *Conquest of Violence,* [Berkeley, University of California Press, 1965]

Bose, Avinash Chandra : *The Call of the Vedas,* [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1960]

Bose, N. K. : *Selections From Gandhi,* [Navjivan, Ahmedabad, 1957]

Bowes, Pratima : *The Hindu Intellectual Tradition,* [Allied Publishers Pvt. Ltd., N. Delhi, 1977]

Brooks, F. T. : *The Gospel of Life, Vol. I - An Introduction to the Study of the Bhagavad Gita and The Upanishads,* [Vyasashram, Adyar, Madras, 1910]

Carver, T. N. : *The Essential Factors of Social Evolution,* [Harvard University Press, 1935]

Chinmayananda, Swami : *The Bhagavad Gita,* [Chinmaya Publication Trust, Madras, 1977]

Clark, E. T. : *The Psychology of Religious Awakening* [Mcmillan, New York, 1948]

Clark, W. H. : *The Psychology of Religion,* [Mcmillan, New York, 1951]

Cooley, C. H. : *Social Organization - A Study of the Larger Mind,* [Scribbners, New York, 1929]

Crick, B. : *In Defence of Politics,* [Penguin Books, London, 1964]

Damodarana, K. : *Indian Thought - A Critical Survey,* [Motilal Banarasidas, Delhi, 1978]

Dandeker, R. M. : *Insights Into Hindusim,* [Ajanta Publication, N. Delhi, 1979]

Dasgupta, S. N. : *History of Indian Philosophy, Vol-II,* [Cambridge University Press, London, 1963]

Datta, D. M. : *The Philosophy of Mahatma Gandhi,* [Madison, University of Wisconsin Press, 1953]

Daya Krishna (ed.) : *India's Intellectual Traditions - Attempts at Conceptual Reconstructions,* [Motilal Banarsidas, Delhi, 1988]

Desai, Mahadev : *The Gita According to Gandhi,* [Navjivan Pub. House, Ahmedabad, 1956]

Deutsch, Eliot : *The Bhagavad Gita,* [Holt, Rinehart & Winston, New York, 1968]

Dewy, John : *Individualism - Old and New,* [Capricorn Books, New York, 1962]

Dhawan, G. N. : *The Political Philosophy of Mahatam Gandhi,* [Navjivan, Ahmedabad, 1951]

Diwakar, R. R. : *A Practical Philosopher,* [Hind Kitabs, Bombay, 1946]

: *Satyagraha - Its Technique and Theory* [Hind Kitabs, Bombay, 1946]

Doke, J. J. : *M. K. Gandhi - An Indian Patriot* [Madras, Natesan, 1909]

Durrany, K. S. : *Man in the Bhagavad Gita - A Humanitarian Approach to the Scripture,* [Three Men's Pub., Aligarh, 1969]

Edgerton, Franklin : *Bhagavad Gita,* [Harvard University Press, Cambridge, 1972]

Erikson, Erik H. : *Childhood and Society,* [Trayad Paladin, 1977]

: *Gandhi's Truth,* [Norton, New York, 1969]

Fischer, Louis : *Gandhi and Stalin,* [Harper and Collins Bros., New York, 1947]

: *The Life of Mahatma Gandhi,* [Harper and Collins Bros., New York. 1950]

Ganguly, B. N. : *Gandhi's Social Philosophy - Perspective and Relevance,* [Vyking Pubulishing House, Bombay, 1973]

Ghosh, P. C. : *Mahatma Gandhi - As I Saw Him,* [S. Chand & Co., Delhi, 1968]

Ginsberg, M. : *Studies In Sociology,* [Methuen, London, 1932]

Gokhale, B. G. : *Indian Thought Through the Ages,* [Asia Publishing House, Bombay, 1961]

Gopalan, A. K. : *Gandhian Outlook and Techniques,* [N. Delhi, Govt. of India, 1969]

Gopalan, S. : *Hindu Social Philosophy,* [Wiley Eastern Limited, N. Delhi, 1979]

Greg, Richard B. : *A Discipline for Non-Violence,* [Ahmedabad, Navjivan Pub., 1946]

Gupta, R. K. : *Social Action and Non-Violence,* [Allied Publishers Ltd., N. Delhi, 1995]

Hamilton, Daniel : *India's Case for Swaraj,* [Wiley, New York, 1932]

Hartshorne : *Reality As a Social Process,* [Norton, New York, 1947]

Hirsman, Alberto : *The Passions and the Interests - Political Arguments for Capitalism Before its Triumph,* [Princeton, Princeton University Press, 1978]

Holmes, W. H. G. : *The Twofold Gandhi* [New York, Harper & Bros., 1952]

Horney, Karen : *The Neurotic Personality of Our Time*, [Norton, New York, 1937]

Husain, S. Abid : *The Way of Gandhi and Nehru* [London, Asia Pub. House, 1959]

Huxley, Aldous : *Ends and Means,* [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1962]

Iyer, R. N. : *The Moral and Political Thought of Mahatma Gandhi,* [Oxford University Press, 1973]

Jaikar, M. R. : *Talking of Gandhiji,* [Navjivan Pub. House, Ahmedabad, 1950]

Kalelkar, Kaka : *The Gita as Jeevan Yoga,* [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1967]

Kantoyavasky, D. : *Sarvodaya - The Other Development,* [Vikas Publishing House, N. Delhi, 1980]

King Jr., Martin Luther: *Why We Can't Wait,* [The New American Library, New York, 1964]

Kriplani, J. B. : *Krishna - Gandhi - A Life,* [Navjivan Pub. House, Ahmedabad, 1952]

Lal, R. B. : *The Gita in the Light of Modern Science,* [Somayya Pvt. Ltd., Bombay, 1970]

Langfield, Boarding (ed.) : *Foundation of Psychology,* [University of Michighan Press,

Michighan, 1948]

MacIver, R. M. : *Community,* [Mac Millan, London, 1959]

MacIver, R. M. & Page, C. H. : *Society - An Introductory Analysis,* [London, Macmillan, 1962]

Maitra, S. K. : *Ethics of the Hindus,* [Calcutta University Press, 1925]

Malik, B. K. : *Gandhi - A Prophecy,* [Hind Kitabs, Bombay, 1948]

Mannheim, Karl : *Man and Society,* [Keagun Paul, London, 1949]

Mathur, J. S. (ed.) : *Non-Violence and Social Change,* [Navjivan Pub., Ahmedabad, 1977]

Maurer, Herrymon : *Great Soul* [New York, Doubleday, 1948]

Merchant, Vijay : *Gandhiji on Trusteeship Management* [Asia Publishing House, Bombay, 1969]

Mills, C. W. : *Images of Man,* [George Braziller, New York, 1960]

Minor, Robert A. : *Bhagavad Gita - An Exegetical Commentary,* [Heritage Pub., N. Delhi, 1982]

Mishra, Vikas : *Hinduism and Economic Growth,* [Oxford University Press, Bombay, 1962]

Mishra, Umesh : *The Bhagavad Gita : A Critical Study,* [Tira Bhukti Pub., Allahabad, 1967]

Mukherjee, H. N. : *Gandhi, Ambedker and the Extirpation of Untouchability,* [People's Pub. House, N. Delhi, 1982]

Mukherjee, K. P. : *The State,* [Theosophical Pub. House, Madras, 1952]

Muller, Max : *The Six Systems of Indian Philosophy* [Longman's Green & Co. ,London, 1919]

Munshi, K. M. : *Bhagavad Gita and Modern Life,* [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1962]

: *Sparks from the Anvil,* [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1962]

Namboodiripad, E. M. S. : *The Mahatma and the Ism* [New Delhi, People's Pub. House, 1958]

Nanda, B. R. : *Mahatma Gandhi - A Biography,* [Allen & Unwin Ltd., London, 1958]

Narayan, J.P. : *A Plea for the Reconstruction of Indian Polity,* [Bombay, Bhartiya Vidya Bhavan, 1960]

Neis, Arnie : *Gandhi and the Nuclear Age,* [New Jersey, The Bed-Minister Press, 1965]

Nivedita, Sister : *Civic and National Ideals,* [Udbodhana Office, Calcutta, 1967]

: *The Web of Indian Life,* [Advaita Ashram, Almora, 1950]

Ostergaard, G. & M. Currell : *The Gentle Anarchists* [Oxford Univ. Press, 1949]

Painter, Briak S. : *Gandhi Against Maciavellism,* [Asia Pub. House, Bombay, 1960]

Pal, Bipin Chandra : *Memories of My Life and Times, Vols. I & II,* [Bipin Chandra Pal Institute, Calcutta, 1973]

: *The Soul of India,* [New Indian Printing and Publishing Co. Ltd., Calcutta, 1940]

Panchanadikar, K.C. : *Determinants of Social Structure and Social Change In India,* [Popular Prakashan, Bombay, 1970]

Panikkar, K.M. : *Hinduism and the West,* [Punjab University Publication Bureau, Chandigarh, 1964]

: *The Foundations of New India,* [George Allen & Unwin Ltd., London, 1963]

: *The State and the Citizen,* [Asia Pub. House, 1960]

Parekh, Bhikhu : *Gandhi's Political Philosophy-A Critical Examination,* [The Macmillan Press Ltd., London, 1989]

Pasternak, Boris : *Dr. Zhivago,* **Max Hayward (Trans.),** [Collins & Harvell, 1958]

Patil, V.T.(ed.) : *Studies on Gandhi,* [Sterling Pub. Pvt. Ltd., New Delhi, 1983]

Phil, Joseph P. : *Heidegger and Sartre - An Essay on Being and Place,* [Columbia University Press, New York, 1979]

Plekhnov, G. V. : *The Role of Individual in History,* [Moscow, Progress Pub.,1946]

Polak, H. S., Brailsford, H. N. & Lord Penthick- Lawrence : *Mahatma Gandhi,* [London, Odhams Press, 1949]

Prabhu, R. K. & U. R. Rao : *The Mind of Mahatma Gandhi* [Navajivan, Ahmedabad, 1967]

Prasad, Mahadev : *Social Philosophy of Mahatma Gandhi,* [Vishwavidyalaya Prakashan, Gorakhpur, 1958]

Prasad, Rajendra : *At the Feet of Mahatama Gandhi,* [Bombay, Hind Kitabs, 1955]

Prasad, Rajendra : *Varnadharma, Niskama Karma and Pràctical Morality,* [D.K. Print-World (P) Ltd., New Delhi, 1999]

Pyarelal : *Mahatma Gandhi - The Last Phase, 2-Vols.,* [Navjivan, Ahmedabad, 1958]

: *Towards New Horizon,* [Navjivan, Ahmedabad, 1957]

Radhakrishnan, S. : *Eastern Religion and Western Thought,* [Oxford University Press, London, 1939]

: *Kalki,* [Allen & Unwin, London, 1929]

: *Mahatma Gandhi - Essays and Reflections on His Life and Works,* [Allen & Unwin Ltd., London, 1949]

: *Mahatma Gandhi - 100 Years,* (ed.) [Gandhi Peace Foundation, N. Delhi, 1968]

: *Our Heritage,* [Hind Pocket Books, Delhi, 1973]

: *Philosophy of East & West, Vol-I,* [Allen & Unwin, London, 1949]

: *Religion and Society,* [George Allen & Unwin, London, 1948]

: *Religion in a Changing World,* [George Allen & Unwin, London, 1967]

Radhakrishnan, S. & Raju, P.T. : *The Concept of Man,* [Oxford University Press, 1969]

Raghav, N.A. : *The Moral & Political Thought of Mahatma Gandhi,* [Oxford University Press, 1973]

Rajagopalachari, C. : *Upanishads,* [Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1963]

Ranadey, R. D. : *A Constructive Survey of Upnisadic Philosophy,* [Poona, Oriental Book Agency, 1926]

Rao, Nagaraj P. : *The Bhagavad Gita and Changing World,* [Shri Ram Krishna Seva Samiti, Ahmedabad, 1953]

Ray, B.G. : *Gandhian Ethics,* [Navjivan, Ahmedabad, 1958]

Reflections on "Hind Swaraj" by Western Thinkers, [Bombay, Theosophy Co., 1948]

Reynolds, Reginald : *To Live in Mankind - A Quest for Gandhi,* [London, Andre Deutsch, 1951]

Rishabchand (Ed.) : *The Message and Mission of India by Sri Aurobindo,* [Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1964]

Rolland, Romain : *Mahatma Gandhi,* [Allen & Unwin Ltd., London, 1924]

Roszak, Joseph : *Person Planet - The Creative Disintegration of Industrial Society,* [Victor Golanz Ltd., 1979]

Rothermund, Indira : *The Philosophy of Restraint* [Popular Prakashan, Bombay, 1963]

Roy, Krishna & Chhanda Gupta (Eds.) : *Essays in Social and Political Philosophy,* [Allied Publishers Ltd., New Delhi, 1995]

Roy, M.N. : *New Humanism,* [Renaissance Pub., Calcutta, 1947]

: *Problem of Freedom,* [Renaissance Pub., Calcutta, 1945]

Ruskin, John : *Unto This Last,* [Laxmi Narayan, Agra, 1927]

Sampurnanand : *Indian Socialism,* [Asia Publishing House, Bombay, 1961]

Saxena, Sushil K. : *Ever Unto God - Essays on Gandhi and Religion,* [Pragati Pub., New Delhi, 1995]

Scarr, John H. : *Escape From Authority - The Perspectives of Eric Fromm,* [The Basic Book, New York, 1961]

Schweitzer, Albert : *Indian Thought and its Development,* [Wilco Publishing House, Bombay, 1980]

Sharan, M.K. : *Bhagavadgita and Hindu Sociology,* [Bharat-Bharti Bhandar, 1977]

Sharma, B.S. : *Gandhi as a Political Thinker,* [Indian Press Pub. Pvt. Ltd., Allahabad, 1956]

Sheean, Vincent : *Lead Kindly Light* , [Random House, New York, 1949]

Shourie, Arun : *Hinduism - Essence and Consequence,* [Vikas Publishing House, Sahidabad, 1979]

Singh, Balbir : *Foundations of Indian Philosophy,* [Orient Longman's Ltd., New Delhi, 1977]

Singh, I.P. : *The Gita - A Workshop on the Expansion of Self,* [Somaiyya Pub. Pvt. Ltd., Bombay, 1974]

Sinha, Braj M. : *The Contemporary Essays on the Bhagavad Gita,* [Siddharth Pub., New Delhi, 1986]

Sinha, H.S. : *Communism and Gita,* [The Concept Publishing Co., Delhi, 1979]

Sirkar, Benoy Kumar : *The Cultural Heritage of India, Vols.I& II,* [The Ramakrishna Institute of Calcutta, 1969]

Sitaramayya, Pattabhi : *The History of the Indian National Congress, 2 Vols,* [Indian Press, Allahabad, 1935, 1947]

Small, A.W. : *General Sociology,* [Norton, New York, 1920]

Sondhi, M.S. : *Modernity, Morality and the Mahatma,* [Haranand Pub. Pvt.

Ltd., New Delhi, 1971]

Sorokin, P.A. : *Modern Historical and Social Philosophies,* [Dutton, New York, 1943]

: *The Reconstruction of Humanity,* [Beacon Press, Boston, 1948]

Spratt, Philip : *Gandhism - An Analysis* [Madras, Huxley Press, 1939]

Sridharni, K.L. : *War Without Violence,* [Gollanz, London, 1966]

Srinivasa Iyengar : *Thoreau's Walden,* [Andhra University, Waltair, 1953]

Srinivasacharya, P. N.: *Ethical Philosophy of Gita* [Srikrishna Library, Madras, 1948]

Sullivan, Harry Stack : *The Fusion of Psychitry and Social Science,* [Norton, New York, 1953]

Swami Chidbhavananda : *The Bhagavad Gita,* [Tapovanam Pub. House, Tirupparai-thurai, 1967]

Swami Prabhavananda: *The Spiritual Heritage of India,* [George Allen & Unwin Ltd., London, 1962]

Swami Ranganathananda : *Eternal Values for a Changing Society,* [Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay, 1971]

Tandon, Vishwanath : *The Social and Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi,* [Sarva Seva Sangh Prakashan, Varanasi, 1965]

Telang, K.T. : *Sacred Books of the East, 8 Vols.,* [Motilal Banarsidas, Delhi, 1965]

Tendulkar, D.G. : *Mahatma - Life of Mohandas Karam Chand Gandhi, 8 Vols.,* [V.K. Jhaveri and D.G. Tendulkar, Bombay, 1951-54]

Unnithan : *Change Without Violence - Gandhian Theory of Social Change,* [Gujrat Vidyapith, Ahmedabad, 1987]

Van Buitenen, J.A.B. : *Ramanuja on the Bhagavad Gita,* [Motilal Banarsidas, Varanasi, 1968]

Venketraman, K. : *Nagarjuna's Philosophy,* [Motilal Banarasidas, New Delhi, 1978]

Voylee, John : *India at the Parting of the Ways,* [Lincoln Williams, 1934]

Walker, Kenneth : *So Great a Mystery,* [Victor Gollanz Ltd., London, 1958]

Watson, Francis & Brown, Maurice (eds.) : *Talkings of Gandhiji* [Orient Longmans, Calcutta, 1957]

Whitehead, A.N. : *Science and the Modern World,* [George Allen & Unwin Pvt. Ltd., London, 1927]

Williams, Monier : *Hinduism,* [Susil Gupta Ltd., Calcutta, 1951]

Wistermark (Ed.) : *Moral Ideas, Vol-I,* [Wiley, New York, 1906]

Wood, Micksons Elan : *Mind and Politics - An Approach to Meaning of Libral and Socialist Individualism,* [Berkeley, University of California Press, 1972]

Young, Kimbell : *Handbook of Social Psychology, III ed.* [Craft's New York, 1956]

Zaehnar, R. C. : *The Bhagavad-Gita,* [Oxford University Press, London, 1976]

Zimmer, Heinrich : *Philosophies of India, Bollingen Series, XXVI,* [Pantheon Books, New York, 1953]

(C) **लेख, व्याख्यान, संगोष्ठी-कार्यवाहियाँ और सिम्पोज़ियम (Articles, Seminar - Proceedings, Symposiums & Memorial Lectures)**

Ali, Sadiq : "A Gandhian Approach to Current Problems" *Mainstream,* [Vol. XXXI, 47], October 1993, pp. 7-14 & 13.

Bulke, Fr. Kamil : "Ramcharitmanas and its Relevence to the Modern Age", *International Ramayan Seminar,* New Delhi, 1975.

Chakravarty, Nikhil : "Gandhi's Lonely Furrow", *Mainstream,* [Vol.-XXXV, 35], August 1997, pp. 4-5.

Chaturvedi, Vibha : "Causality of Karmic Justice", *JICPR* [Vol. XVIII, No. 3], July-September, 2001, pp. 130-156.

Datta, D.M. : "Philosophical Basis of Social Revolution" in the *Proceedings of Indian Philosophical Congress, 1956,* [*Hibbert Journal*, July, 1959]

: Proceeding of Indian Philosophical Congress, [Mysore, 1952].

Davis Kingsley & Moore, W.E. : "Some Principles of Stratification", *American Sociology Review,* [April 1945].

Daya Krishna : "Yajna and the Doctrine of Karma" in *Indian Philosophy : A Counter Perspective,* [New Delhi, Manohar Pub., 1991], pp. 175.

Dharmadhikari, Dada : "Tasks of Social Research -A Symposium", [Gandhian Institute of Studies, Varanasi, 1965].

Dhawan, G.N. : "Goodness Politics" in *Politics of Persuasion,* K.P. Mishra & R. Awasthi (Eds.), [Bombay, Manaktalla, 1967].

Eva Rosenfield : "Social Classification in Classless Society", *American Sociology Review,* [December, 1951].

Jayashannukham, N. : "The Two Types of Devotees in the Gita", *Journal of Indian Council of Philosophical Research* [Vol. XVII, No. 3], May - August, 2000, pp. 123-130.

Kher, V.B. : "Introduction to Economic and Industrial Life and Relations", *A Compilaton of Some of Gandhi's Speeches and Writings, Vol. I,* [Gujrat Vidyapeeth, Ahmedabad,1959].

Krishnan, Y. : "Comments" on the article entitled 'Yajna and the Doctrine of Karma : A Contradiction in Indian Thought and Action', published in the *JICPR,* Vol. VI, No. 2, *JICPR* [Vol. XVIII, No. 1], January - March, 2001, pp.227-234.

Kunjuru, H.N. : "Spiritualize Politics", *Mahatma Gandhi – 100 years,* Radhakrishnan (ed.), [Gandhi Peace Foundation, New Delhi, 1968].

Meritain, J. : "Challenges and Renewals, *Selected Readings,*" Editors : J.W Ivans & L.R. Ward, [University of Notre Dame Press, Notre Dame, 1966].

Panda, Kamalakant : "Gandhian Concept of Conflict Resolution : An Analysis" *Mainstream,* [Vol-XXXV, No. 44] October 1997, pp.11-12.

Pande, Malabika : "Relevence of Trusteeship and Bread Labour", *Mainstream,* [Vol. XXXII, No. 14], February 1994, pp. 21-23.

Pathak, Avijit : "Need for a Dialogue with Gandhi", *Mainstream,* [Vol. XXVIII, No. 25], March 1989, pp. 27-29.

Prasad, Rajendra : "Can a Nishkama Karma have really no effects?" [Notes & Queries], *JICPR,* [Vol. XVIII, No. 1], January - March, 2001, pp. 242.

Saran, A.K. : "Gandhian Theory of Society of our Times" in *Gandhi and Social Science,* L.P. Vidyarthi (ed.), [Bookhive, New Delhi, 1969].

Sethi, J.D. : "Gandhi on Poverty and Employment", *Mainstream,* [Vol. XXVII, No. 12], December 1988, pp. 11-14 & 26.

Swami Vireswarananda : "The Bhagavad Gita - Its Synthetic Character", *The Cultural Heritage of India,* Vol. II.

Taylor, Charles : "The Concept of a Person", *B.N. Ganguli Memorial Lecture,* [Center for the Study of Developing Societies, New Delhi, 1981].

Vandana, Shiva : "Globalisation, Gandhi and Swadeshi", *Mainstream,* [Vol. XXXVI, No. 22], May 1998, pp. 13-23.

(D) शोध पत्रिकाएँ एवं समाचार पत्र (Journals & Newspapers)

(i) हिन्दी

कल्याण (हिन्दू संस्कृति अंक), गीता प्रेस, गोरखपुर, १९४९, खण्ड - १-२४.१

कल्याण (महाभारत विशेषांक), गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५८

गाँधी मार्ग, नई दिल्ली

परामर्श (हिन्दी त्रैमासिकी), पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन, पुणे

भूदान यज्ञ (हिन्दी साप्ताहिक), पटना

भूदान गंगा (हिन्दी पाक्षिक), पटना

योजना (मासिक पत्रिका), नई दिल्ली

सर्वोदय (हिन्दी मासिक), वर्धा

सत्याग्रही (हिन्दी), गोरखपुर

(ii) English

American Sociology Review (ASR)

Amrita Bazar Patrika (Daily News paper), Allahabad.

Darshan International (DL)

Darshan Samachar / Philosophica (DS/P)

Hibbert Journal (HJ)

Indian Journal of Philosophy (IJP)

Indian Philosophical Annual (IPA)

Indian Philosophical Congress Proceedings (IPCP)

Indian Philosophical Review (IPR)

Journal of Indian Academy of Philosophy (JIAP)

Journal of Indian Council of Philosophical Research (JICPR)

Journal of the Philosophical Association (JPA)

Mainstream, New Delhi

Philosophical Quarterly (PQ)

Research Journal of Philosophy (RJP)

University of Allahabad Studies (Philosophy Section)

Visva-Bharti Journal of Philosophy (VBJP)